इकाई 1 स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था

- 1.2.1 ब्रिटिश-पूर्व भारत में ग्रामीण व्यवस्था का स्वरूप
- 1.2.2 ब्रिटिश-पूर्व भारत में शहरी व्यवस्था का स्वरूप
- 1.2.3 निष्कर्ष

1.3 भारत में अंग्रेज़ों का आगमन

1.4 स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

- 1.4.1 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय कृषि की दशा
- 1.4.2 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय उद्योगों की दशा
- 1.4.3 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर करेंसी एवं बैंकिंग व्यवस्था की दशा
- 1.4.4 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर औद्योगिक उपरिढाँचे की दशा
- 1.4.5 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर सामाजिक संस्थाओं की दशा

1.5 स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

- 1.5.1 भारतीय अर्थव्यवस्था : एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था
- 1.5.2 भारतीय अर्थव्यवस्था : एक पराश्रित अर्थव्यवस्था

1.6 भारत का विभाजन

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- आर्थिक विकास की समस्या को ऐतिहासिक परिवेश में देखने की उपयोगिता जान सकेंगे;
- ब्रिटिश-पूर्व भारत की ग्रामीण एवं शहरी व्यवस्था की विशेषताओं की पहचान कर सकेंगे;
- अंग्रेज़ों के भारत आगमन के समय ऐसी क्या परिस्थितियाँ थीं जो तेज़ गति से विकास के अनुकूल थीं उनकी पहचान कर सकेंगे;
- उन परिस्थितियों की समीक्षा कर सकेंगे जिनमें अंग्रेज़ भारत में प्रवेश पा सके;
- स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों की स्थिति की जाँच कर सकेंगे;
- स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर गरीबी के स्वरूप एवं आकार की समीक्षा कर सकेंगे; तथा
- आर्थिक विकास पर पड़ने वाले देश के विभाजन के प्रभावों की चर्चा कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

भारत में गरीबी विशाल रूप से फैली हुई है। भारत को एक गरीब देश की संज्ञा दिया जाना उचित भी है। भारत में गरीबी अंग्रेज़ी राज की देन है। अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ एवं स्वाबलम्बी थी। अनेक विदेशी यात्रियों के उस समय के वृतान्त से हमें मालूम होता है कि अन्य देशों की तुलना में भारत आर्थिक दृष्टि से कहीं अधिक विकसित देश था। यहाँ के कला-कौशल तथा औद्योगिक जानकारी की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की गई है। वैसे भी प्राचीन भारत "सोने की चिड़िया" के नाम से प्रसिद्ध था ही। किंतु 200 वर्षों के विदेशी शासन ने भारतीय अर्थव्यवस्था को जर्जरमात्र बनाकर रख दिया।

प्रस्तुत इकाई में उन परिस्थितियों का वर्णन करेंगे जिनके दबाव में भारत की अर्थव्यवस्था का सुडौल, सुदृढ़ एवं स्वाबलम्बी ढाँचा टूट गया और परिणामस्वरूप भारत एक पिछड़ा हुआ देश कहलाने लगा। हम इस क्रम में देखेंगे कि अंग्रेज़ों ने किस तरह भारतीय अर्थव्यवस्था को लूटा और इसे जीर्ण-शीर्ण बनाकर रख दिया। इकाई के अंतिम भाग में अंग्रेज़ी राज के दुष्परिणामों का सार प्रस्तुत करते हुए स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था के स्वरूप की समीक्षा करेंगे।

इस प्रकार के वर्णन एवं समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आर्थिक विकास की समस्या का अध्ययन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में बहुत उपयोगी हो सकता है। स्वतंत्रता उपरान्त पिछले पाँच दशकों में इस समस्या के समाधान के लिए जो प्रयास किए गए हैं उनकी उचित समीक्षा भी इसी पृष्ठभूमि में की जा सकती है।

1.2 अठारहवीं शताब्दी के मध्य में भारतीय अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश-पूर्व भारत की आर्थिक प्रणाली की जानकारी लेने के लिए हम उस समय की ग्रामीण एवं शहरी व्यवस्था की समीक्षा करना चाहेंगे।

1.2.1 ब्रिटिश-पूर्व भारत में ग्रामीण व्यवस्था का स्वरूप

ब्रिटिश-पूर्व भारत में ग्रामीण समाज एक आत्मनिर्भर व्यवस्था के रूप में संगठित थे। इनका प्रमुख पेशा खेती-बाड़ी था। खेती में प्रचलित तरीकों और पुराने उपकरणों का प्रयोग किया जाता था। हथकरघा आदि भी सीमित मात्रा में जीविका के साधन थे तथा इनमें भी वही सीधी-सादी उत्पादन प्रणालियाँ प्रयोग में लाई जाती थीं।

इस प्रकार की ग्रामीण व्यवस्था अनेक शताब्दियों पूर्व भारत में स्थापित हो पाई थी। वे आत्मनिर्भर आर्थिक इकाइयाँ थीं। समय के साथ-साथ इनके स्वरूप में थोड़े-बहुत परिवर्तन जरूर हुए किंतु इनके आत्मनिर्भर स्वरूप को कोई चुनौती नहीं दी गई। अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के साथ ग्रामीण व्यवस्था के इस मौलिक ढाँचे को ही खतरा बन आया।

ग्रामीण समाज मुख्यत: कृषकों का समूह था। गाँव की समस्त भूमि ग्रामीण समुदाय के अधिकार में होती थी। ग्रामीण समुदाय का प्रतिनिधित्व गाँव-सभाएँ किया करतीं थीं। गाँव सभाएँ सभी गाँववासियों में उपलब्ध भूमि बाँट दिया करती थीं। प्रत्येक परिवार के हिस्से में आने वाली भूमि की इकाई को जोत कहा जाता था। प्रत्येक जोत पर कृषक परिवार खेती किया करते थे। वे अपने ही परविार के सदस्यों के सहयोग से यह काम करते थे। वे प्राय: प्राचीन एवं सरल कृषि उपकरणों का ही प्रयोग करते थे। परिवार द्वारा जोती गई भूमि पर परिवार के स्थायी अधिकार होते थे तथा भूमि पर उत्तराधिकारियों का पूर्व-अधिकार होता था। कृषि उत्पादों का प्रयोग कृषकों द्वारा अपने परिवार तथा ग्रामीण समुदाय की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। ग्रामीण समुदाय में कृषकों के अलावा, दूसरे पेशे वाले लोग भी रहते थे, जैसे, धोबी, नाई, जुलाहा, कुम्हार, तेली, बढ़ई, मोची आदि। ये सभी ग्रामीण समुदाय के लिए काम करते थे।

गाँव में उत्पादित समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं का आदान-प्रदान एक गाँव की सीमा तक ही सीमित रहता था तथा गाँव से बाहर प्राय: लेन-देन नहीं किए जाते थे। जो थोड़ा-बहुत लेन-देन होता था उसके लिए प्रत्येक सप्ताह एक निर्धारित दिन में किसी बड़े गाँव में बाज़ार का आयोजन किया जाता था जिसमें कि आसपास के अनेक गाँवों से ग्रामवासी आते थे तथा वस्तुएँ खरीदते और बेचते थे।

1.2.2 ब्रिटिश-पूर्व भारत में शहरी व्यवस्था का स्वरूप

भारत प्रमुख रूप से गाँवों में ही रहता था लेकिन फिर भी थोड़े-बहुत शहर भी विकसित हो चुके थे। इन शहरों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है : (1) राजनैतिक भूमिका रखने वाले शहर; (2) धार्मिक महत्त्व वाले शहर; एवं (3) व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण शहर। शहरों में विकसित हस्तकला के उद्योग पाए जाते थे। इन उद्योगों में समाज के सम्पन्न वर्ग के लिए विलासितापूर्ण कलाकृतियों का निर्माण किया जाता था। इन कारीगरों द्वारा युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र एवं सेना की आवश्यकता की आपूर्ति के लिए साज-सामान बनाया जाता था। इन्हीं कारीगरों द्वारा विशालकाय सेना के किलों के निर्माण के अलावा, शानदार महलों, बड़े-बड़े मंदिरों एवं ताजमहल तथा कुतुब मीनार जैसी अनूठी इमारतों का भी निर्माण किया गया। शहरी उद्योगों द्वारा बड़ी-बड़ी नहरें भी बनाई गईं। संक्षेप में, कला की दृष्टि से भारतीय उद्योग चरम शिखर पर पहुँच चुके थे। ये विश्व-प्रसिद्ध उद्योग थे तथा बहुत बड़ी मात्रा में इनके उत्पादों की विदेशी बाजारों में माँग की जाती थी।

1.2.3 निष्कर्ष

संक्षेप, अंग्रेज़ों के भारत आने से पहले भारतीय अर्थव्यवस्था स्वाबलम्बी और संतुलित स्वरूप की थी। आधुनिक दृष्टि से उस समय की अर्थव्यवस्था को हम विकसित अर्थव्यवस्था तो नहीं कह सकते लेकिन इतना जरूर था कि उस समय की अर्थव्यवस्था पर्याप्त दर से आगे बढ़ रही थी। कृषि और उद्योगों के विकास में एक सराहनीय संतुलन था यानि कि दोनों क्षेत्र ही एक दृष्टि से आगे बढ़ रहे थे।

हालाँकि, अगर उस समय की अर्थव्यवस्था में विकसित तकनीक आरंभ कर दिया जाता और पर्याप्त आधारिक ढाँचे (infrastructure) की सेवाएँ उपलब्ध करवा दी जातीं तो तेज गति से आर्थिक विकास संभव हो पाता।

1.3 भारत में अंग्रेज़ों का आगमन

अंग्रेज़ों का व्यावसायिक अभियान 31 दिसम्बर, 1600 को आरंभ हुआ जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पूर्व क्षेत्रीय व्यापार का एकाधिकार प्रदान किया गया। यह कम्पनी धीरे-धीरे भारत के समस्त व्यापारिक क्षेत्र पर छाने लगी। सन् 1757 में प्लासी के युद्ध में बंगाल के नवाब को हराकर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राजनैतिक सत्ता भी हड़प ली। सन् 1858 में राजनैतिक सत्ता ब्रिटिश सरकार के हाथों चली गई और भारत ब्रिटिश शासन की बस्ती (colony) मात्र बन गया। अंग्रज़ों ने भारत में एक नई आर्थिक व्यवस्था स्थापित करने के प्रयास किए। ये बाज़ार-व्यवस्था थी।

बाज़ार व्यवस्था की स्थापना के परिणामस्वरूप उससे पूर्व कृषि और औद्योगिक क्षेत्रों का संतुलन गड़-बड़ा गया। कृषक, व्यापारी एवं उत्पादक, कारीगर, कृषि-श्रमिक एवं औद्योगिक श्रमिक आदि सब वर्ग के लोगों को बाज़ार के थपेड़ों की मार सहन करनी पड़ी। किंतु बाज़ार प्रणाली के माध्यम से अंग्रेज़ों द्वारा भारतीय अर्थव्यवस्था के औपनिवेशवादी शोषण के सारे रास्ते खुल गए। शोषण इतने बड़े स्तर पर किया गया कि इसे राष्ट्रीय सम्पदा के निष्कासन की संज्ञा दी गई।

बोध प्रश्न 1

1) ब्रिटिश-पूर्व भारतीय समाज की मौलिक विशेषताएँ संक्षेप में बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) ग्रामीण उत्पादों के विनिमय का क्या स्वरूप था?

.....

.....

.....

3) भारतीय उद्योगों द्वारा निर्मित उत्पादों के विनिमय का क्या स्वरूप था?

.....

.....

.....

.....

4) क्या ब्रिटिश-पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक विकसित अर्थव्यवस्था थी?

.....

.....

.....

.....

1.4 स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था

200 वर्षों तक लगातार चलने वाले औपनिवेशिक शोषण और आर्थिक निष्कासन की प्रक्रिया ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त करके छोड़ दिया। स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था एक पिछड़ी हुई जड़ व्यवस्था थी जहाँ गरीबी विकराल रूप में फैली हुई थी। संपूर्ण अर्थव्यवस्था इंग्लैण्ड और अंग्रेज़ों के हितों के अनुरूप ढाली जा चुकी थी। अर्थव्यवस्था पूरी तरह से पराश्रयी (dependent) बन चुकी थी। देश के विभाजन ने बाकी बची-खुची कमियाँ भी पूरी कर दीं और देश को अनगिनत समस्याओं को सामना करना पड़ा। हम इन सभी पहलुओं की यहाँ समीक्षा करेंगे।

1.4.1 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय कृषि की दशा

भारत में कृषि जीविका का प्रमुख साधन रही है। स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भी स्थिति कुछ ऐसी ही थी। कुल श्रम-शक्ति में लगभग 70 प्रतिशत कृषि क्षेत्र पर जीविका के लिए निर्भर थे। राष्ट्रीय उत्पाद के लगभग 50 प्रतिशत भाग का सृजन इसी क्षेत्र में किया जाता था। निवल जोती गई भूमि का क्षेत्रफल लगभग 1270 लाख हैक्टेयर था जो कि कुल भौगोलिक क्षेत्र के 43.6 प्रतिशत के बराबर था। खेती के अन्तर्गत कुल क्षेत्रफल के 80 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न फसलों की खेती की जाती थी जबकि गैर-खाद्यान्न फसलों के अन्तर्गत केवल 19 प्रतिशत भाग ही 471 प्रमुख फसलें थीं। गेहूँ, धान, मोटे अनाज, गन्ना, कपास एवं पटसन। विश्व के 41 प्रतिशत और धान के 27 प्रतिशत भाग का उत्पादन भारत में होता था। भारत मूँगफली, गन्ना एवं पटसन का विश्व में सबसे बड़ा उत्पादक और अमरीका और चीन के बाद कपास का सबसे बड़ा उत्पादक देश था।

उपरोक्त के बावजूद, भारतीय कृषि में उत्पादकता का स्तर बहुत भिन्न था जैसा कि तालिका-1 मे स्पष्ट है:

तालिका : 1 प्रति हेक्टेयर उत्पादन (वर्ष 1946)
(क्विंटल में)

देश	धान	गेहूँ	बाजरा	मक्का
इटली	41.7	13.3	9.7	15.1
स्पेन	42.2	9.6	12.9	14.3
अर्जेन्टीना	33.9	10.0	11.9	22.3
जापान	36.9	9.7	10.7	12.5
भारत	12.3	6.0	7.9	6.2
कुल विश्व की औसत	**16.7**	**10.3**	**11.1**	**15.2**

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय कृषि की उत्पादकता बहुत ही निम्न दर्जे की थी। कृषि की निम्न उत्पादकता के लिए अनेक कारक जिम्मेदार थे जिनमें दो प्रमुख थे :

i) भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता दबाव एवं

ii) भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषि-सुधारों की अवहेलना।

i) **भूमि पर जनसंख्या का बढ़ता दबाव :** बहुत सारे भारतीय दस्तकार ब्रिटिश उद्योगों की वस्तुओं के आगमन से बर्बाद हो गए। भारतीय कृषक परंपरावादी तथा प्राचीन उत्पादन तरीकों के सहारे ही खेती-बाड़ी में लगा रहा। कृषि मात्र जीविका का साधन बनकर रह गई। किंतु दस्तकारों और हस्तशिल्पों के बढ़ते विनाश के परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में कारीगर शहरों से गाँवों की ओर पलायन करने लगे। कृषि-भूमि पर जनसंख्या का दबाव निरंतर बढ़ता गया और इस क्षेत्र की उत्पादकता क्रमश: गिरती गई। भूमि जोतों का विखण्डन और उप-विभाजन होने लगा। कृषक की स्थिति दयनीय होती गई। उनकी आय जो भी थोड़ा-बहुत साधन था वह भी खत्म होता चला गया और किसान की स्थिति बदतर होती चली गई। स्वभावत: दीन-हीन किसानों से खेती-बाड़ी में किसी तरह के सुधारों की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। संक्षेप में, स्वतंत्रता के समय भारतीय कृषि पिछड़ी हुई थी तथा यहाँ उत्पादकता निम्न स्तर की थी।

ii) **भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा कृषि-सुधारों की अवहेलना :** स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय कृषि में जो संस्थागत एवं संरचनात्मक ढाँचा पाया गया वह कृषि-विकास के अनुकूल नहीं था। अंग्रेज़ों द्वारा भारत में जमींदारी प्रथा लागू की गई थी। यह प्रणाली देश के कुल के 62 प्रतिशत भाग पर लागू की गई। शेष 38 प्रतिशत भाग में रैयतवाड़ी प्रणाली लागू थी। ज़मीदार किसानों का शोषण करने में लग गए, कुल उत्पादन का बड़ा हिस्सा ज़मीदारों द्वारा हथिया लिया जाता था जबकि किसानों के पास भूमि-व्यवस्था में सुधार के लिए कुछ नहीं बच पाता था।

इसी तरह, हालाँकि नहरों का जाल बिछाया गया लेकिन आवश्यकताओं की तुलना में यह सर्वथा अपर्याप्त था। कुल कृषि क्षेत्रफल के केवल 17 प्रतिशत भाग में ही यह सुविधा उपलब्ध थी। कृषि उत्पादों की बिक्री की समुचित व्यवस्था का अभाव था। इसी वास्ते कोई सरकारी व्यवस्था भी नहीं की गई थी। वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसान स्थानीय साहूकारों पर निर्भर करता था।

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

संक्षेप में, समूचा कृषि क्षेत्र ह्रास एवं जड़ता की दलदल में जकड़ा हुआ था। किसान की दशा बहुत ही दयनीय थी। इस तरह की व्यवस्था भावी विकास के रास्ते में गम्भीर गतिरोध ही बन सकती थी, अत: इस व्यवस्था में तत्काल सुधार लाने की आवश्यकता थी।

1.4.2 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय उद्योगों की दशा

ब्रिटिश-पूर्व भारत में हस्तशिल्पियों और कारीगरों की धाक जमी हुई थी। ब्रिटिश-राज के दौरान भारत में मशीनों का प्रयोग करने वाले उद्योगों की स्थापना की गई। किंतु, भारत में औद्योगीकरण की मात्रा अपर्याप्त एवं एक-तरफा ही रही।

भारत के औद्योगिक पिछड़ेपन का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वर्ष 1948-49 में भारत की कुल राष्ट्रीय आय का केवल 6.6 प्रतिशत भाग फैक्ट्री क्षेत्र से प्राप्त होता था। फैक्ट्री क्षेत्र में लगभग 24 लाख श्रमिक लगे हुए थे जो देश की कुल कार्यशील जनसंख्या के केवल 1.8 प्रतिशत के बराबर थे। हालाँकि निरपेक्ष रूप से औद्योगिक उत्पाद की मात्रा काफी बड़ी प्रतीत होती थी किंतु प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पाद की मात्रा नगण्य थी। प्रथम विश्व-युद्ध से पहले भारत में जो बड़े उद्योग विकसित हो पाए थे उनमें कपड़ा एवं पटसन उद्योग प्रमुख थे। इन उद्योगों में भारत को प्राकृतिक श्रेष्ठता प्राप्त थी। बीसवें विश्व-युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगों में विद्यमान उत्पादन क्षमता का भरपूर उपयोग करने के अवसर मिले। परिणामत: औद्योगिक उत्पादन के स्तर में असाधारण वृद्धि हुई।

किंतु, युद्ध के परिवेश में औद्योगिक ढाँचे को प्रभावित करने वाले दीर्घकालिक कारकों की अवहेलना की गई। इस दौरान, उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की स्थापना पर ही जोर दिया गया जबकि मौलिक एवं पूँजीगत वस्तु उद्योगों की अवहेलना की गई। लौह-इस्पात, एल्मुनियम, रसायन, उर्वरक, पेट्रोल-पदार्थों आदि के उत्पादन के अभाव में औद्योगिक-क्षेत्र में सीमित विकास की संभावनाएँ ही बनी रहीं। बिजली-उत्पादन, रसायन, दवाएँ आदि क्षेत्रों में भी कुछ अधकचे प्रयास किए गए।

मशीनों के निर्माण के क्षेत्र में केवल सूती कपड़ा मशीन निर्माण का ही विकास सम्मत हो पाया था। ऊर्जा-निर्माण क्षेत्र का विकास विदेशों से मशीनों के आपात पर पूरी तरह से निर्भर था। कृत्रिम दवाओं, रसायनों, रंगों आदि के निर्माण का भाग छोटे-छोटे स्तर पर ही आरम्भ हो पाया था।

संक्षेप में, अन्तर-क्षेत्रीय दृष्टिकोण एवं अन्तर-औद्योगिक दृष्टिकोण किसी भी रूप में संतुलित औद्योगिक विकास सम्भव नहीं हो पाया था। भारतीय उद्योग अपनी समस्त आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए विदेशों से आयात पर निर्भर कर रहे थे।

1.4.3 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर करेंसी वं बैंकिंग व्यवस्था की दशा

अंग्रेज़ों के आने से पहले भारत में विभिन्न स्थानों पर सोने और चाँदी के अलग-अलग सिक्के चला करते थे। सन् 1806 में ईस्ट इण्डिया कंपनी ने चाँदी के रुपए को मानक सिक्के के रूप में मान्यता दी। सन् 1835 में रुपए की परिभाषा इस प्रकार की गई : रुपया चाँदी का वह सिक्का जो वज़न में 150 कण द्वारा और जिसकी शुद्धता 11/12 वाँ भाग थी। साथ ही, रुपए को एकमात्र वैध मुद्रा (Legal tender) घोषित कर दिया गया। उसके बाद रुपए का स्वरूप बदलता रहा, किंतु भारत में एक ही मुद्रा-प्रणाली प्रचलित रही।

18वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में और 19वीं शताब्दी के दौरान भारत में अनेक आधुनिक बैंक स्थापित किए गए। ये बैंक यूरोपीय ढंग से काम करते थे। 19वीं शताब्दी के चौथे दशक में बंगाल (1840), बम्बई (1840) और मद्रास (1843) में प्रेसीडेंसी बैंकों की स्थापना की गई। इन बैंकों ने सरकार के बैंकों के रूप में कार्य किया। इसके साथ ही, अनेक दूसरे व्यापारिक बैंकों की स्थापना हुई। 1935 में रिज़र्व बैंक ऑफ इण्डिया की भी स्थापना की गई। आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास बाज़ार के विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ।

1.4.4 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर औद्योगिक उपरिढाँचे की दशा

देश में असंतुलित औद्योगिक विकास के लिए बहुत कुछ उपयुक्त उपरिढाँचे की अनुपलब्धि को भी ज़िम्मेदार ठहराया जा सकता है। निःसंदेह अंग्रेजी शासन के दौरान सिंचाई, रेल, सड़क, टेलिफोन आदि उपरिढाँचे की सेवाओं के विस्तार के प्रयास किए गए। लेकिन आवश्यकताओं की तुलना में यह अपर्याप्त ही सिद्ध हुए। सम्भवत: नहरों के विस्तरित जाल के अलावा उपरिढाँचे के नाम से सभी सेवाओं का घोर अभाव था। संचार सेवाएँ समय से पिछड़ गईं थीं और आर्थिक संव्यवहारों के योग्य नहीं रह गईं थीं। नई क्षमता के निर्माण के अभाव में, ऊर्जा की आपूर्ति आवश्यकताओं की तुलना में कहीं कम थी। यह तेज गति से औद्योगिक विकास के लिए पूर्णत: प्रतिकूल थी। इसी तरह से रेल प्रणाली और भाड़ा नीति पत्तनों से शहरों की ओर एवं शहरों से पत्तनों की ओर कच्चे माल और निर्मित माल के परिवहन के अनुकूल थीं, सामान्य आर्थिक विकास नहीं। परिणामत: घरेलू उपयोग की अपेक्षा कच्चे माल का निर्यात कर दिया जाता था तथा घरेलू उपभोग के वास्ते निर्मित माल का आयात किया जाता था। संक्षेप में, उपरिढाँचे की व्यवस्था स्वतंत्रता-उपरान्त सबसे पहली माँग थी।

1.4.5 स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर सामाजिक संस्थाओं की दशा

स्वतंत्रता के समय भारत की सामाजिक परिस्थिति डाँवाडोल थी। अंग्रेज़ों के भारत आने से पहले यहाँ की तीन प्रमुख सामाजिक व्यवस्थाएँ निम्नलिखित थीं : आत्मनिर्भर गाँव, जाति-प्रथा एवं संयुक्त, परिवार प्रणाली। जब अंग्रेजों ने भारत छोड़ा, गाँव अपना स्वतंत्र, आत्म-निर्भर स्वरूप खो बैठे थे। जाति-प्रथा बढ़ते आर्थिक दबावों में अपना अस्तित्व खोती जा रही थी। संयुक्त परिवार प्रणाली गाँवों में तो बनी हुई थी लेकिन शहरों में समाप्त होती जा रही थी। संक्षेप में, सामाजिक व्यवस्था बदल रही थी। लेकिन यह तेज़ गति से आर्थिक विकास के अनुकूल नहीं थी।

बोध प्रश्न 2

1) कृषि की निम्न उत्पादकता के प्रमुख कारकों की संक्षेप में समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

2) ब्रिटिश राज के दौरान भारत का औद्योगिक विकास एकतरफा और अधूरा था। समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) किस तरह के उद्योग अर्थव्यवस्था की उत्पादन-क्षमता में संवृद्धि करते हैं?

.....

.....

.....

.....

1.5 स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ

भाग 1.4 में हमने स्वतंत्रता की पूर्व-संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थिति की चर्चा की है। उपरोक्त विवरण के आधार पर उस समय की भारतीय अर्थव्यवस्था की विशेषताओं का विश्लेषण दो उपवर्गों में किया जा सकता है : (i) भारतीय अर्थव्यवस्था एक अविकसित एवं पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था, एवं (ii) भारतीय अर्थव्यवस्था एक पराश्रयी अर्थव्यवस्था। पिछड़ापन एवं पराश्रयता के कारण भारतीय अर्थव्यवस्था गरीबी उन्मूलन एवं सामान्य जन को उपयुक्त जीवन-स्तर के साधन उपलब्ध करवाने में असमर्थ है। स्थिति इस संदर्भ में और जटिल हो गई जब अंग्रेज़ों ने जाते-जाते देश का दो हिस्सों में बँटवारा कर दिया। देश के विभाजन के परिणामों का अध्ययन हम अलग से अगले भाग में करेंगे। प्रस्तुत भाग में हम उपरोक्त दो उपवर्गों के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं का विश्लेषण करेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.5.1 भारतीय अर्थव्यवस्था : एक अल्प-विकसित अर्थव्यवस्था

इस वर्ग की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित थीं :

i) **निम्न प्रति व्यक्ति आय, व्यापक गरीबी एवं बार-बार होने वाले अकाल**– निम्न प्रति व्यक्ति आय आर्थिक पिछड़ेपन की द्योतक थी। वर्ष 1950-51 में भारत की प्रति व्यक्ति, आय 238 रुपए अनुमानित की गई अर्थात् प्रति माह औसतन प्रत्येक व्यक्ति को मात्र 20 रुपये अथवा प्रतिदिन केवल साठ पैसे की आय ही प्राप्त होती थी। साथ ही आय के वितरण में घोर विषमताएँ पाई जाती थीं। अर्थात् कुछ लोगों को साठ पैसे की आय भी नहीं प्राप्त होती थी। परिणामत: जनसंख्या के बड़े हिस्से की आर्थिक स्थिति दयनीय थी। अपर्याप्त एवं असंतुलित भोजन, पिछड़ी हुई आवास परिस्थिति या आवास का कुल अभाव, तन ढकने के लिए कपड़े का अभाव, नंगे पैर, कमर-तोड़ मेहनत, क्षीण स्वास्थ्य, अज्ञानता, सामाजिक सुरक्षा का अभाव, व्यापक बेरोज़गार, शोषण, कमर-तोड़ लगान का बोझ, बढ़ते कर्ज, प्रशासन से सहयोग का अभाव इन सब बातों से मिलकर आम जीवन यातनापूर्ण बनकर रह गया था।

अंग्रेजी शासन के दौरान अकालों की बारम्बारता से आम आदमी पीड़ित था। सूखा, बाढ़ एवं टिड्डी-दल के प्रकोप किसी भी कारण से अलग फसल नष्ट हो जाती थी तो खाद्यान्न की अनुपलब्धि तथा आय के अभाव में भुखमरी फैल जाती थी। अंग्रेज़ी शासन के आखिरी दौर में ही केवल अकालों में कुछ कमी दिखलाई दी। यह नहरों के जाल के विस्तार, रेलों के विस्तार और कुछ प्रशासनिक कार्यवाई से ही सम्भव हो पाया। लेकिन सन् 1943 के अकाल ने पुन: स्पष्ट कर दिया कि भारत को अकाल से पूर्णत: मुक्ति नहीं मिल पाई थी।

ii) **भारतीय अर्थव्यवस्था में व्याप्त गतिहीनता**– ब्रिटिश शासन के दौरान न केवल गरीबी सब तरफ फैल गई थी, बल्कि उससे भी बुरी बात थी कि गरीबी बढ़ती जा रही थी और उससे निपटने के लिए कोई उपाय नहीं सोचा जा रहा था। अर्थव्यवस्था जड़ और गतिहीन हो गई थी। गतिहीनता का बोध ब्रिटिश काल में प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि-दर से भी लगाया जा सकता है।

तालिका-2 : प्रति-व्यक्ति आय की वार्षिक वृद्धि-दर (प्रतिशत)

अवधि	दर
1860-1890	0.64
1890-1920	0.72
1920-1940	0.16
1940-1950	(-) 0.13

स्रोत : वी.बी. सिंह (संपा.) की पुस्तक "इकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इण्डिया 1857-1956" में एम. मुखर्जी का "नेशनल इनकम" पर लेख।

तालिका-2 से स्पष्ट है कि इस दौरान भारत की प्रति-व्यक्ति आय में नगण्य वृद्धि हुई। गतिहीनता का एक और प्रमाण कृषि उत्पादन की मात्रा तथा उत्पादकता में भी मिलता है। कृषि उस समय जीविका का एकमात्र साधन थी। 1893-94 से 1945-46 के 52 वर्षों की अवधि में कृषि उत्पादन में कुल केवल 10 प्रतिशत की वृद्धि हुई। खाद्यान्न का सूचकांक जोकि 1893-94 में 100 था, 1936-37 से 1945-46 की अवधि में कम होकर 93 रह गया था। इसी अवधि में खाद्यान्न की प्रति-व्यक्ति उपलब्धता 587 पौंड से कम होकर 300 पौंड रह गई थी, अर्थात् इसमें लगभग 32 प्रतिशत की कमी हुई। कृषि क्षेत्र में गतिहीनता घर किए हुए थी जो विस्तृत रूप से फैली हुई गरीबी में दिखाई देती थी। गतिहीनता और बढ़ती हुई गरीबी का निम्न बातों से पता चलता था : बार-बार अकाल की परिस्थितियों का पाया जाना, किसानों पर ऋणग्रस्तता का बढ़ता हुआ बोझ, खेतिहर किसानों से गैर-खेतिहर व्यक्तियों के हाथों भूमि का चला जाना, आदि। ये सब घटनाएँ यह सिद्ध करती हैं कि भारत में गरीबी का विस्तार हो रहा था।

iii) **व्यापक अज्ञानता एवं जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर**– गरीबी एवं पिछड़ापन व्यापक अज्ञानता एवं ऊँची जन्म तथा मृत्यु-दर में भी स्पष्ट दिखलाई देते थे। 1941 की जनगणना के अनुसार भारत में साक्षरता दर मात्र 17 प्रतिशत थी (कुल जनसंख्या में 10 वर्ष से एक आयु वाले बच्चों को शामिल नहीं किया गया था)। ग्रामीण क्षेत्रों एवं स्त्रियों में तो साक्षरता दर राष्ट्रीय औसत से कहीं कम थी। बच्चों में से अधिक स्कूल नहीं जाते थे, विशेषरूप से लड़कियाँ।

पिछली हुई अर्थव्यवस्थाओं में जैसा सामान्य होता है भारत में भी ऊँची जन्म-दर एवं मृत्यु-दर की स्थिति पाई जाती थी। 1931-41 में भारत में जन्म-दर 45.2 प्रति हज़ार जोकि अधिकतम संभव स्तर के ही लगभग बराबर थी। 1911-21 के दशक में मृत्यु-दर 40 प्रति हज़ार थी। अगले तीन दशकों में मृत्यु-दर में कमी आई। 1921-31 में यह 36.3 तथा 1931-41 में 31.3 प्रति हज़ार हो गई। मृत्यु-दर में सुधार सामान्य जीवन में सुधार का द्योतक न होकर मात्र (i) अकालों को दूर करने की योग्यता, तथा (ii) महामारियों पर काबू पाने की योग्यता का ही परिणाम था। मृत्यु-दर में कमी के परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि-दर तेज़ हो गई और भारत को बढ़ती हुई जनसंख्या की स्थिति का सामना करना पड़ा।

iv) **शहरीकरण का अभाव**– अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन शहरीकरण के अभाव में झलकता था। सभी विकसित देशों में शहरी क्षेत्रों का प्रभुत्व होता है। जनसंख्या का बड़ा भाग शहरी क्षेत्रों में निवास करता है। किन्तु ब्रिटिश शासन के दौरान भारत में जनसंख्या का बड़ा भाग ग्रामों में ही निवास करता था चूँकि कृषि ही जीवन-निर्वाह का प्रमुख साधन थी। 1941 में देश की कुल जनसंख्या का केवल 14.2 प्रतिशत भाग ही शहरों में रहता था। इस तरह प्रत्येक सात व्यक्तियों में से छः व्यक्ति गाँवों में रहते थे जहाँ आधुनिक सुविधाएँ प्रायः उपलब्ध नहीं थी।

v) **असंतुलित व्यावसायिक ढाँचा**– व्यावसायिक ढाँचे से यह अभिप्राय है कि देश की कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न व्यवसायों में वितरण किस प्रकार का है। विभिन्न व्यवसायों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है : (क) कृषि अथवा प्राथमिक क्षेत्र, (ख) उद्योग अथवा द्वितीयक क्षेत्र, एवं (ग) सेवा अथवा तृतीयक क्षेत्र। विर्कसित देशों की जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों में लगा होता है। इसके विपरीत, अल्पविकसित देशों की कार्यशील जनसंख्या का बड़ा भाग प्राथमिक क्षेत्र से अपनी जीविका प्राप्त करता है।

ब्रिटिश शासन के दौरान, जैसा कि हमने पहले भी देखा है, ग्रामीण एवं शहरी दस्तकारियों का तेज़ गति से पतन हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रमिक कृषि की ओर भागने लगे। कृषि पर आश्रित रहने वाले व्यक्तियों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई। सन् 1891 में भारत की कुल कार्यशील जनसंख्या का केवल 60 प्रतिशत भाग ही कृषि पर निर्भर रहता था। 1901 में यह बढ़कर 65 प्रतिशत और 1951 में 72 प्रतिशत हो गया। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट होता है कि भारत अवनति की ओर जा रहा था। देश में कृषि-योग्य भूमि की कमी महसूस की जाने लगी। बढ़ती जनसंख्या के दबाव में कृषि की उत्पादकता में गिरावट में आई। फलस्वरूप, हम खाद्यान्न की आवश्यकताओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर हो गए।

गैर-कृषि क्षेत्र न केवल बहुत छोटा था बल्कि असंतुलित भी था। इस क्षेत्र में विभिन्न सेवाएँ (जैसे व्यापार, साहूकारी, परिवहन एवं संचार, प्रशासनिक सुरक्षा एवं सामाजिक सेवाएँ) पाई जाती थीं न कि उद्योग। उद्योग प्रमुखत: लघु आकार के ही थे आधुनिक बड़े आकार के कारखाने नहीं थे। बड़े आकार के उद्योग जो थे भी उनके हल्की उपभोक्ता वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। जबकि विकसित देश औद्योगिक क्रांति से गुज़र रहे थे, भारत इस सबसे अछूता रहा और प्रमुखत: कृषि-प्रधान देश बना रहा।

vi) **नई सामन्ती अर्थव्यवस्था**– नई सामन्ती अर्थव्यवस्था आर्थिक पिछड़ेपन की एक और द्योतक थी। यह परिस्थिति कृषि एवं गैर-कृषि दोनों क्षेत्रों में पाई जाती थी। कृषि में पूँजीवादी तत्त्व प्रवेश पा चुके थे जो कि इस बात से सिद्ध होता था कि अब खेती बड़े-बड़े ज़मीदारों के हाथों आती जा रही थी जोकि मज़दूरी के बदले में किसानों से अपने खेतों पर खेती-बाड़ी का काम करवाते थे। साथ ही मज़दूरी प्राप्त खेतिहर श्रमिकों के वर्ग का आकार तेज़ गति से बढ़ने लगा।

इसी तरह, विदेशी पूँजी एवं उपक्रम ने पूँजीवादी क्षेत्र के निर्माण में प्रत्यक्ष योगदान दिया। 19वीं सदी के मध्य से बाज़ार अर्थव्यवस्था की प्रवृत्ति तेज़ होने के साथ ही भारतीय पूँजीवादी क्षेत्र का विकास होने लगा। ब्रिटिश शासन के अंतिम दौर तक पहुँचने पर गैर-कृषि क्षेत्र में भी पूँजीवादी तत्त्व अपना स्थान बना चुके थे।

संक्षेप में, ब्रिटिश शासन के दौरान अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में पूँजीवादी तत्त्व प्रवेश पा चुके थे। किन्तु ये इतने सुदृढ़ नहीं हो पाए थे कि वे सामन्तवादी ताकतों को समूल उखाड़ फेंकते।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.5.2 भारतीय अर्थव्यवस्था : एक पराश्रयी अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश शासन के दौरान भारत के साथ एक कॉलोनी जैसा ही व्यवहार किया गया। हालाँकि इस दौरान भारत में अनेक महत्त्वपूर्ण आर्थिक परिवर्तन आए लेकिन मोटे तौर पर भारतीय अर्थव्यवस्था पराश्रयी अर्थव्यवस्था ही बनी रही जैसाकि निम्नलिखित संकेतकों से स्पष्ट होता है।

i) **विदेशी व्यापार की संरचना एवं दिशा**– किसी देश के विदेशी व्यापार की संरचना से पता चलता है कि वह देश किस प्रकार की वस्तुओं में व्यापार करता है। आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के आधार पर हम देश की आर्थिक प्रगति की भी समीक्षा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, विकसित देशों से सामान्यत: मशीनों तथा मशीन-निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया जाता है जबकि इन देशों के आयात में कच्चे माल तथा सोना-चाँदी आदि का अधिक भाग रहता है। इसके विपरीत, अल्प-विकसित देशों के निर्यात मुख्यत: कच्चे माल और सोना-चाँदी के होते हैं जबकि इनके आयात में मशीनें और निर्मित वस्तुएँ ही प्रमुख होती हैं।

अंग्रेज़ों के भारत आने से पहले यहाँ के कपड़े और अनेक विलासिता एवं आरामदायक वस्तुओं का भारी मात्रा में निर्यात होता था। अन्य देशों से इनके बदले में सोना और चाँदी प्राप्त होता था। अंग्रेज़ी शासन की स्थापना के साथ ही भारत के विदेशी व्यापार की संरचना बदल गई। भारत उन वस्तुओं का आयात करने के लिए मजबूर हो गया जोकि कुछ समय पहले ही यह दूसरे देशों को भेजता था। इसी तरह, देश से भारी मात्रा में कृषि-जन्य पदार्थों और कच्चे माल का निर्यात किया जाने लगा। विदेशी व्यापार की संरचना से यह प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि देश के संसाधनों का अंग्रेज़ों ने दुरुपयोग किया।

इसी तरह, भारत के विदेशी व्यापार का अर्थ एकमात्र इंग्लैण्ड से लेन-देन तक ही सीमित रह गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में भारत के कुल आयात का लगभग 69 प्रतिशत भाग केवल इंग्लैण्ड से ही प्राप्त होता था। भारत के कुल निर्यातों का 29 प्रतिशत भाग इसी देश को जाता था। प्रथम विश्व युद्ध

के बाद से अंग्रेज़ों की पकड़ कुछ ढीली पड़ने लगी। अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों के साथ भारत के व्यापारिक संबंध धीरे-धीरे बढ़ने लगे। किंतु, इसके बावजूद भी भारत का विदेशी व्यापार बहुत हद तक इंग्लैण्ड के साथ बँधा हुआ था।

ii) **विदेशी पूँजी का प्रभुत्व**– भारत के औपनिवेशवादी स्वरूप का एक अन्य द्योतक यह था कि भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी प्रमुख क्षेत्रों में विदेशी पूँजी का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। विदेशी पूँजी निवेश निम्नलिखित ढाँचों तक केंद्रित रहा :

क) आर्थिक उपरिव्यय जैसे रेलें, पत्तन, व्यापारिक जलरानी एवं सार्वजनिक सेवाएँ जैसे विद्युत-उत्पादन एवं जल-आपूर्ति।

ख) प्राथमिक उत्पादन एवं निर्यात के लिए हल्के निर्माण जैसे चाय, कॉफी, रबड़ बागान, पटसन की मिलें, चमड़े के कारखाने आदि।

ग) कोयला एवं स्वर्ण खनन।

घ) बैंकिंग, वित्त, बीमा एवं व्यापार।

च) घरेलू बाज़ार के आपूर्ति के लिए कुछ निर्माण उद्योग जैसे सूती एवं नरम कपड़ा, तम्बाकू, कागज़, छपाई-उद्योग, इंज़ीनियरींग वर्कशॉप, विनिर्माण आदि।

ब्रिटिश पूँजी उन उद्योगों तक केंद्रित रही जोकि इंग्लैण्ड के उद्योगों के पूरक के रूप में काम करते थे। अर्थात् अंग्रेज़ सरकार इंग्लैण्ड के हितों की पोषक थी न कि भारत के हितों की। दूसरे विश्व-युद्ध के परिणामस्वरूप विदेशी स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था विदेशी पूँजी के प्रभाव से जकड़ी हुई थी।

iii) **पूँजीगत सामान के लिए विदेशों पर निर्भरता**– आर्थिक पिछड़ेपन के परिणामस्वरूप भारत आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजीगत सामान की आपूर्ति के वास्ते विदेशों पर पूर्णत: निर्भर था। घिसी हुई पूँजीगत सामान का प्रतिस्थापन भी आयात द्वारा ही हो पाता था। उपभोग की अनेक आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति भी आयातों द्वारा ही सम्भव हो पाती थी। सुरक्षा के सामान एवं राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अन्य सभी साधनों के लिए भी भारत विदेशों पर ही निर्भर था।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1.6 भारत का विभाजन

भारत छोड़ने से पहले अंग्रेज़ों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को एक और चोट पहुँचाई। अंग्रेज़ों ने देश का टुकड़ों में विभाजन कर दिया। ये दो टुकड़े भारत संघ और पाकिस्तान के नाम से जाने जाते हैं। पाकिस्तान के दो बड़े भाग थे : पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी पाकिस्तान। सन् 1971 में पाकिस्तान का पूर्वी भाग पश्चिमी भाग से अलग हो गया। यह स्वतंत्र देश अब "बंग्लादेश" के नाम से जाना जाता है। देश के विभाजन के बाद भारत संघ के हिस्से में अविभाजित भारत की कुल भूमि का 77 प्रतिशत हिस्सा और और कुल जनसंख्या का 82 प्रतिशत हिस्सा आया।

भारत के विभाजन से देश में पूरी तरह अव्यवस्था फैल गई। बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू और मुसलमान अपने-अपने ठिकानों को छोड़कर चले गए। इतने बड़े पैमाने पर जनसंख्या का स्थानांतरण शायद ही पहले कभी हुआ था। इस स्थानांतरण के कारण अनेक गंभीर समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इसमें पाकिस्तान से भारत में आए शरणार्थियों को पुन: बसाने की समस्या सबसे अधिक गंभीर और विकट थी। सरकार से पर्याप्त सहायता और प्रोत्साहन दिए जाने के परिणामस्वरूप इस समस्या के समाधान में बहुत समय नहीं लगा।

विभाजन से देश की अर्थव्यवस्था पर कुछ और भी प्रभाव पड़े जिनके कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इनमें से प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित थीं :

1) **खाद्यान्न की कमी (Food shortage)** : सन् 1937 में बर्मा के भारत से अलग हो जाने के बाद से ही देश में खाद्यान्न की कमी महसूस की जाने लगी थी। बर्मा में चावल का उत्पादन बहुत मात्रा में होता था और इसकी आपूर्ति सारे देश में की जाती थी। पश्चिमी पंजाब और सिंध के क्षेत्र अविभाजित भारत के "अनाज के भण्डार" कहे जाते थे। इन क्षेत्रों से भारत के दूसरे भागों को अनाज की आपूर्ति

की जाती थी। विभाजन के बाद ये क्षेत्र पाकिस्तान में चले गए। परिणामस्वरूप, भारत में खाद्यान्न की गंभीर समस्या महसूस की जाने लगी। ऐसा अनुमान है कि उस समय भारत में लगभग 25 से 30 लाख टन खाद्यान्न की कमी थी, जबकि दूसरी ओर पाकिस्तान में लगभग 7.5 लाख टन अतिरिक्त खाद्यान्न उपलब्ध था।

2) **कच्चे माल की कमी :** अनेक कृषि-जन्य पदार्थों की आपूर्ति उन क्षेत्रों से की जाती थी जोकि विभाजन के बाद पाकिस्तान में चले गए। इसके विपरीत, इन पदार्थों को कच्चे माल के रूप में उपयोग करने वाली अधिकांश मिलें भारत में ही स्थित थीं। इन मिलों को कच्चा माल उपलब्ध नहीं हो पाया और अनेक कारखाने बंद हो गए। प्रभावित उद्योगों में प्रमुख थे– सूती कपड़ा उद्योग, कागज़, चमड़ा और कुछ रसायन आदि।

3) **औद्योगिक ढाँचे में अव्यवस्था :** विभाजन के कारण देश का समस्त औद्योगिक ढाँचा बिगड़ गया। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे :

   i) कच्चे माल की आपूर्ति का अभाव;

   ii) विभाजन के बाद अनेक समृद्ध और सम्पन्न क्षेत्रों के अलग हो जाने के बाद अनेक उद्योगों के बाज़ार का आकार बहुत संकुचित हो गया। इनमें प्रमुख थे– सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ा, हौज़री, साबुन, रबड़ की वस्तुएँ आदि;

   iii) विभाजन के बाद भारी संख्या में निपुण कारीगर भारत छोड़कर चले गए। इनकी कमी महसूस होने लगी; और

   iv) विभाजन के परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्र, जो अन्यथा औद्योगिक रूप से विकसित थे, असुरक्षित हो गए। अनेक कारखाने जोकि सीमा के आस-पास स्थित थे, ऐसे क्षेत्रों से हटाए जाने लगे।

संक्षेप में, विभाजन के परिणामस्वरूप समस्त औद्योगिक ढाँचा बिगड़ गया। पंजाब और बंगाल में स्थिती विशेष रूप से गंभीर थी।

4) **रेल पर प्रभाव (Effects on Railways) :** विभाजन से रेल-व्यवस्था पर भी बुरे प्रभाव पड़े। संयुक्त भारत में उस समय 31,565 मील लंबी रेल लाइन बिछी हुई थी। इनमें से भारत को 24,565 मील लंबी लाइन मिली। विभाजन से प्रभावित क्षेत्रों में यह आवश्यक हो गया कि रेल लाइनों का पुनर्गठन किया जाए। अन्य लाइनें जोकि पाकिस्तान की सीमा के दूसरी ओर जाती थीं हटाई गईं। इन क्षेत्रों में रेल व्यवस्था को नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाने में अधिक खर्च करना पड़ा।

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि विभाजन से भारतीय अर्थव्यवस्था पर बहुत बुरे प्रभाव पड़े। भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में अव्यवस्था फैल गई। कृषि, उद्योग, परिवहन, संचार आदि विभिन्न क्षेत्रों की गतिविधियों में रुकावट आई। विभाजन का सबसे भयंकर परिणाम यह हुआ कि देश में गरीबी की जड़ें और मज़बूत हो गईं। भारत पहले ही गरीब और पिछड़ा हुआ देश था। इस नई चोट के कारण गरीबी ने विकराल रूप धारण कर लिया।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में विकराल रूप से फैली गरीबी के लिए ज़िम्मेदार नीति के चार पहलू बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) किन्हीं चार ऐसी विशेषताओं को उल्लेख कीजिए जिनसे यह आभास होता है कि स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर भारतीय अर्थव्यवस्था एक निर्भर अर्थव्यवस्था थी।

.....

.....

.....

.....

3) देश के विभाजन के परिणामस्वरूप उत्पन्न चार प्रमुख समस्याएँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

4) आर्थिक क्रिया के उन चार क्षेत्रों का उल्लेख कीजिए जिनमें ब्रिटिश शासन के दौरान विदेशी पूँजी केंद्रित रही।

.....

.....

.....

.....

1.7 सारांश

संक्षेप में, स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था पूरी तरह से अंग्रेज़ों के चंगुल में फँसी हुई थी। पराधीनता और निर्भरता के काले बादल भारतीय अर्थव्यवस्था पर मंडराने लगे। अर्थव्यवस्था पूरी तरह से पिछड़ी हुई थी। बढ़ती जनसंख्या के दबाव में खेतिहर भूमि की भारी कमी महसूस की जा रही थी। उद्योग एवं संबंधित धंधे पहले ही लगभग पूरी तरह समाप्त हो चुके थे। कोई भी औद्योगिक ढाँचा ऐसा नहीं था जिसका कि वर्णन किया जा सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय, भारत के विभाजन से खाद्यान्नों की कमी, कच्चे माल की कमी और औद्योगिक ढाँचे में अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हुई थी। विदेशी व्यापार विदेशियों के हितों का साधन मात्र बनकर रह गया था।

1.8 शब्दावली

आत्म-निर्भर ग्राम : ऐसी ग्रामीण व्यवस्था जिसमें समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप सभी वस्तुओं का उत्पादन करना संभव होता है।

जोत : खेती की एक इकाई।

विकसित अर्थव्यवस्था : वह अर्थव्यवस्था जिसमें प्रमुख रूप से विकसित तकनीक की सहायता से औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है।

बाज़ार प्रणाली : वह व्यवस्था जिसमें सभी आर्थिक इकाइयाँ अपने बारे में निर्णय लेने में स्वतंत्र होती हैं।

व्यावसायिक फसलें : वे कृषि उत्पाद जो प्रमुखत: विनिर्माण उद्योग में कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त होते हैं।

स्टर्लिंग : इंग्लैण्ड की मौद्रिक इकाई।

निष्कासन : अंग्रेज़ों द्वारा भारत के संसाधनों का औपनिवेशिक शोषण।

प्रति-व्यक्ति आय : राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से भाग देने पर जो परिणाम प्राप्त होता है।

अकाल : मात्र जीवन-निर्वाह के लिए खाद्यान्न की अनुपलब्धि।

व्यावसायिक ढाँचा : कार्यशील जनसंख्या का विभिन्न व्यवसायों में वितरण।

1.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dutt R. C. (1976). *Economic History of India*, Volume I and II, Publication Division, Government of India, New Delhi.

Gadgil D.R. (1938). *Industrial Evolution of India*, Oxford University Press, Bombay.

First Five Year Plan 1951-56, (1952) Planning Commission, Government of India, New Delhi.

Dharma Kumar (ed) (1982). *Cambridge Economic History of India, Vol. II*, Orient Longamns, Hyderabad.

Singh V.B. (ed) (1975). *Economic History of India*, Allied Publishing House, New Delhi.

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 1.2.1 देखिए।

2) गाँव आत्म-निर्भर उत्पादन की इकाई थे। सभी उत्पादन का उपभोग गाँव में ही कर लिया जाता था। बाहरी लेन-देन सीमित मात्रा में ही होते थे। उप-भाग 1.2.1 देखिए।

3) उप-भाग 1.2.2 देखिए।

4) उप-भाग 1.2.3 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 1.4.1 अच्छी तरह से पढ़िए।

2) उप-भाग 1.4.2 अच्छी तरह से पढ़िए।

3) उप-भाग 1.4.2 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 1.5.1 देखिए।

2) उप-भाग 1.5.2 देखिए।

3) उप-भाग 1.6 देखिए।

4) उप-भाग 1.5.2 देखिए।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

इकाई 2 भारतीय अर्थव्यवस्था में संवृद्धि और संरचनात्मक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 आजादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति

2.3 'संवृद्धि' और 'विकास' में अंतर

- 2.3.1 संवृद्धि का अर्थ
- 2.3.2 संवृद्धि की दर मापने का सूत्र
- 2.3.3 आर्थिक विकास का अर्थ

2.4 आर्थिक संवृद्धि की माप

- 2.4.1 वर्तमान कीमत और स्थिर कीमत आंकलनों में अंतर

2.5 भारत में राष्ट्रीय आय में वृद्धि दर और अन्य देशों के साथ तुलना

- 2.5.1 भारत में संवृद्धि दर
- 2.5.2 अन्य देशों के साथ तुलना

2.6 आर्थिक संवृद्धि के कारक

- 2.6.1 आर्थिक कारक
- 2.6.2 आर्थिकेतर कारक
- 2.6.3 हाल में नीति परिवर्तन

2.7 संरचनात्मक परिवर्तन

- 2.7.1 संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ
- 2.7.2 वस्तु बनाम सेवा क्षेत्रक
- 2.7.3 प्रमुख क्षेत्रकों में संरचनात्मक परिवर्तन
- 2.7.4 सकल घरेलू उत्पाद के अन्य संघटक
- 2.7.5 क्षेत्रकों में रोज़गार
- 2.7.6 अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

MADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

2.0 उद्देश्य

इस पाठ में हम पिछले लगभग 50 वर्षों में भारत में हुई आर्थिक संवृद्धि और संरचनात्मक परिवर्तनों के संबंध में विचार करेंगे। इस विषय पर चर्चा करने के पूर्व आज़ादी के समय अर्थव्यवस्था की स्थिति के संबंध में विचार किया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप इस स्थिति में हो जायेंगे कि :

- 'आर्थिक संवृद्धि' के अर्थ की व्याख्या कर सकेंगे;
- आर्थिक 'संवृद्धि' और 'विकास' के बीच भेद स्पष्ट कर सकेंगे;

- राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि दरों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- आर्थिक संवृद्धि से संबद्ध कारकों का वर्णन कर सकेंगे; तथा
- भारतीय अर्थव्यवस्था में हुए संरचनात्मक परिवर्तनों का परीक्षण कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

भारत में अंग्रेजों के शासन के अंतर्गत भारतीय कृषि क्षेत्रक बहुत पिछड़ा हुआ था तथा उद्योग-क्षेत्रक अविकसित था। आज़ादी के बाद 1950-51 में प्रति व्यक्ति आय बहुत कम थी। जन्म दर और मृत्यु दर दोनों काफी ज्यादा थे। मेडिकल सुविधाओं की कमी और गरीबी के कारण पोषाहार भोजन का स्तर भी निम्न था।

उस समय भारतीय अर्थव्यवस्था एक गरीब एवं कृषि पर आधारित अर्थव्यवस्था थी। औद्योगिक विकास का स्तर बहुत नीचा था। जो भी थोड़ा बहुत औद्योगिक विकास हुआ वो एक तरफा था। औद्योगिक प्रतिदर्श निम्न पूँजी-प्रखरता (Intensity) वाला था। किसी देश के आर्थिक विकास के लिए मजबूत आधारिक संरचना (Infrastucture) जैसे कि बैंकिंग, बीमा, यातायात, इत्यादि की जरूरत होती है। आजादी के समय यह सब सुविधाओं की भारत में कमी थी और इन सब सुविधाओं का विकास बढ़ती हुई कृषि और औद्योगिक उत्पादन की पहली जरूरत होता है। आज़ादी के बाद, 50 साल के आयोजन में भारतीय अर्थव्यवस्था के ढांचों में काफी परिवर्तन आए हैं। राष्ट्रीय आय की रचना में संरचनात्मक परिवर्तन, आर्थिक संवृद्धि का एक परिणाम है। जबकि संरचनात्मक परिवर्तन धीमी गति से हो रहा है।

2.2 आजादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति

भारत में अंग्रेजों के शासन का मुख्य प्रयोजन था भारतीय अर्थव्यवस्था का उपयोग सस्ते कच्चे माल के स्रोत के रूप में करना तथा अपने उद्योगों में विनिर्मित माल को भारत के बाज़ारों में बेचना। इसीलिए ब्रिटिश शासकों ने भारतीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने का प्रयास नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कृषि क्षेत्रक पिछड़ा रह गया तथा उद्योग-क्षेत्रक भी अविकसित बना रहा।

1950-51 में तत्कालीन कीमतों पर भारत में प्रतिव्यक्ति आय केवल 240 रु0 थी। निरक्षरता बहुत अधिक थी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के शुरू होने के ठीक पहले आबादी के 17 प्रतिशत से भी कम लोग साक्षर थे।

चिकित्सा-सुविधाओं के अभाव एवं अत्यधिक गरीबी के फलस्वरूप पोषक आहार के स्तर के नीचा होने के कारण मृत्यु-दर एवं जन्म-दर दोनों ही बहुत अधिक थीं। 1941-51 के बीच जन्म दर 3.99 प्रतिशत से अधिक थी और मृत्यु-दर 2.74 प्रतिशत थी। इस प्रकार आबादी में सहज वृद्धि-दर प्रतिवर्ष लगभग 1.25 प्रतिशत थी।

आज़ादी के समय भारत की अर्थव्यवस्था अभावग्रस्त कृषि पर आधारित थी। आबादी का 75 प्रतिशत कृषि क्षेत्रक में कार्यरत था। इसकें बावजूद भी भारत खाद्यान्नों के उत्पादन के संबंध में स्वावलंबी नहीं था। कृषि क्षेत्रक सिंचाई के लिए पूर्णत: वर्षा पर आधारित था। मानसून या सरदी के समय जब वर्षा नहीं होती थी तब देश में सूखा की स्थिति हो जाती थी।

भारत के उद्योगों का भी विकास नहीं हो पाया। उद्योगों के कार्यकलाप का स्तर बहुत नीचा था। उद्योगों का बहुत बड़ा भाग कुछ नगरों तक ही केंद्रित था। उदाहरणार्थ, औद्योगिक विकास बंबई और कलकत्ता के इर्द-गिर्द ही हुआ। ये बागानों के स्थान थे (कलकत्ता के आस-पास चाय के बागान और सूती वस्त्र बंबई के आस-पास)। यदि किसी देश में प्रति व्यक्ति आय बहुत ही कम होती है तो इसके फलस्वरूप वहाँ दरिद्रता का दुश्चक्र (Vicious circle of poverty) उत्पन्न होता है, अर्थात् बचत की निम्नदर, निवेश की निम्न दर, कम उत्पादन और प्रतिव्यक्ति कम आय। आज़ादी के समय भारत में यही स्थिति थी। इसके फलस्वरूप पूँजी निर्माण (निवेश) का स्तर बहुत ही नीचा रहा। इसी लिए उद्योग में गतिरोध (stagnation) की स्थिति रही।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जितना भी औद्योगिक विकास हुआ वह असंतुलित था। पूँजीगत उद्योग अविकसित था। विनिर्माण उद्योगों में जो उत्पादन होता था उसमें उत्पादक वस्तु उद्योगों की अपेक्षा उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की प्रधानता थी। 1950 में उपभोक्ता वस्तुओं और उत्पादक वस्तुओं के बीच का अनुपात 62:38 था।

अंतत: भारत में औद्योगिक स्वरूप इस प्रकार का था कि उसमें पूँजी की सघनता कम थी। पूँजी की कम सघनता केवल बेकरी, वस्त्र, चीनी आदि उपभोक्ता उद्योगों में ही नहीं बल्कि लोहा और इस्पात जैसे पूँजीगत उद्योगों में भी प्रतिलक्षित होती थी।

किसी देश के आर्थिक विकास के लिए बैंकिंग, बीमा, परिवहन, संचार, बिजली आदि जैसी सशक्त आधारिक संरचना की आवश्यकता होती है। आज़ादी के समय इन सुविधाओं का अभाव था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत में पंचवर्षीय योजनाओं को शुरू करने के पहले अर्थव्यवस्था की यह स्थिति थी। गरीबी को दूर करने के लिए सबसे पहली प्राथमिकता कृषि और उद्योग का विकास करना था, जिनके लिए परिवहन, संचार, बैंकिंग और व्यापार जैसी आधारिक संरचनाओं को भी विकसित करना आवश्यक था। कृषि का तेज़ी से विकास करना आवश्यक था क्योंकि इससे एक ओर तो उद्योग के लिए कच्चा माल प्राप्त होता है और दूसरी ओर देश की आबादी के लिए खाद्यान्न मिलता है। इसी प्रकार औद्योगिक संवृद्धि से अर्थव्यवस्था की संवृद्धि को बल मिलता है तथा संवृद्धि प्रक्रिया सतत जारी रहती है। ये सभी प्रतिव्यक्ति आय को बढ़ाने में सहायक होते हैं। औद्योगिक विकास के लिए छोटे पैमाने के उद्योगों और भारी उद्योगों दोनों ही का विकास करना आवश्यक था। दीर्घकाल में भारी उद्योग पूँजीगत माल का निर्माण करते हैं और अधिक औद्योगीकरण में सहायक होते हैं। इस प्रकार दोनों के विकास के बीच संतुलन रखना आवश्यक होता है।

कृषि और उद्योग के साथ-साथ परिवहन, बिजली, बैंकिंग, संचार एवं आधुनिक अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रकों का विकास करना आवश्यक था। अर्थव्यवस्था के विकास के लिए संतुलित दृष्टिकोण की आवश्यकता को देखते हुए भारत में योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था को अपनाया और 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत की गई।

बोध प्रश्न 1

1) 1950-51 में भारत में प्रतिव्यक्ति आय केवल ..... रु. थी

2) 1950-51 में जन्म-दर और मृत्य-दर दोनों ही ..... के कारण ऊँची थी।

3) एक वाक्य में बताइए कि गरीबी का दुश्चक्र क्या है?

.....

.....

.....

.....

4) किसी देश के आर्थिक विकास के लिए सशक्त ..... की आवश्यकता होती है।

2.3 'संवृद्धि' और 'विकास' में अंतर

2.3.1 संवृद्धि का अर्थ

'संवृद्धि' शब्द का उपयोग आर्थिक प्रगति की मात्रात्मक अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। इसका अर्थ है कि हम सकल या निवल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP या NNP) के संबंध में विचार कर रहे हैं और यह देखते हैं कि यह एक के बाद दूसरे वर्ष तक किस दर से घटती या बढ़ती है। निवल राष्ट्रीय उत्पाद को राष्ट्रीय आय भी कहा जाता है। जब हम कुल राष्ट्रीय उत्पाद (राष्ट्रीय आय) को जनसंख्या से विभाजित करते हैं तब प्रतिव्यक्ति आय प्राप्त होती है। आर्थिक संवृद्धि के छात्र के रूप में हमारी रुचि किसी देश में प्रतिव्यक्ति आय में परिवर्तन या वृद्धि की दरों की गणना करने में भी रहती है। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पाद में या प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि दर मात्रात्मक शब्द है। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि 2000-2001 में भारत के राष्ट्रीय

उत्पाद में वृद्धि 6 प्रतिशत की दर से हुई या प्रतिव्यक्ति आय (per capita income) में 4 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई तब हमारा अभिप्राय होता है कि 2000-2001 में राष्ट्रीय उत्पाद 1999-2000 के राष्ट्रीय उत्पाद से 6 प्रतिशत अधिक था।

2.3.2 संवृद्धि की दर को मापने का सूत्र

संवृद्धि की दर की गणना के लिए अर्थशास्त्री जिस सूत्र का प्रयोग करते हैं, वह सरल है। यदि एक ही वर्ष की संवृद्धि दर की गणना करनी है, अर्थात् 1999-2000 पर 2000-2001 की, तब निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया जाता है

$$\text{संवृद्धि दर (g.r.)} = \frac{\text{2000-2001 में राष्ट्रीय आय (NP)}}{\text{1999-2000 में राष्ट्रीय आय (NP)}} - 1 \times 100$$

यहाँ पर g.r. से अभिप्राय संवृद्धि दर से होता है और NP से अभिप्राय राष्ट्रीय उत्पाद से होता है। चूँकि संवृद्धि दर की अभिव्यक्ति आमतौर पर प्रतिशत रूप में की जाती है अत: अंश को 100 से गुणा कर दिया जाता है।

परंतु संवृद्धि दर की गणना जब काल श्रेणियों के लिए की जाती है, अर्थात् 5 वर्ष, 10 वर्ष, 15 वर्ष या उससे अधिक, तब चक्रवृद्धि ब्याज के समान एक अन्य सूत्र का प्रयोग किया जाता है। वह सूत्र नीचे दिया जा रहा है संवृद्धि दर और चक्रवृद्धि ब्याज दर की गणना करने का सूत्र एक ही समान है। अत: जो छात्र चक्रवृद्धि ब्याज दर की गणना करने का सूत्र जानते हैं वे इसे छोड़ सकते हैं।

एक से अधिक वर्ष की संवृद्धि दर की गणना करने का सूत्र निम्नलिखित है :

हमारे पास है

$$Y(t) = Y(o)(1+r)^n$$

जिससे हम प्राप्त करते हैं

$$\text{Log } Y(t) = \log Y(o) + n \log (1+r)$$

$$\text{या } \log (1+r) = \frac{\log Y(t) - \log Y(o)}{n}$$

इसलिए

$$\text{या } r = (\text{anti} - \log \frac{\log Y(t) - \log Y(o)}{n} - 1) \times 100$$

लेकिन वास्तविक गणना इस प्रकार की जाती है

$$g.r = (\text{anti} - \log \frac{\log Y(t) - \log Y(o)}{n} - 1) \times 100$$

g.r. की गणना करने के चरण इस प्रकार हैं :

- अंतिम वर्ष की संख्या को लें
- इसे आधार वर्ष की संख्या से विभाजित करें
- गुणांक का लघुगणक लें
- वर्षों की संख्या से विभाजित करें
- इसका प्रतिलघुगणक लें
- एक घटा दें और शेष को 100 से गुणा करें

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

उदाहरणार्थ, निम्नलिखित वर्षों में GDP इस प्रकार है

1980-81 = 122, 427 (करोड़ रु0 में)

1990-91 = 212, 253 (करोड़ रु0 में)

10 वर्षों (1990-91 — 1980-81) के g.r. की गणना निम्नलिखित प्रकार से की जाती है:

1) 212, 253/ 122, 427 का अनुपात लें जो 1.73371 है

2) अनुपात (अर्थात् 1.73371) का लॉग लें। यह है 0.23898

3) वर्षों की संख्या से विभाजित करें यानि कि 10 से। यह है = 0.023898

4) इसका प्रतिलघुगणक लें = 1.05657

5) घटाएँ 1.05657–1 = 0.05657

6) 100 से गुणा करें = 5.66

अवधि 1980-81 से 1990-91 के दौरान यह प्रतिवर्ष प्रतिशत चक्रवृद्धि संवृद्धि दर है 5.66।

2.3.3 आर्थिक विकास का अर्थ

'आर्थिक विकास' की कोई भी परिभाषा पूर्णत: संतोषजनक नहीं है। फिर भी संक्षिप्त उत्तर निम्नलिखित हो सकता है : आर्थिक विकास वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी अर्थव्यवस्था का अंतरण आर्थिक प्रक्रिया के निम्नस्तर से प्रक्रिया के उच्च स्तर तक होता है। विकास 'प्रक्रिया' का अर्थ होता है कुछ शक्तियों का कार्यशील होना। ये शक्तियाँ एक अवधि तक कार्य करती हैं और इससे कुछ चरों में परिवर्तन होता है। इस प्रक्रिया का सामान्य परिणाम होता है अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीय उत्पाद में संवृद्धि।

जब हम राष्ट्रीय आय की केवल संवृद्धि पर ही जोर देते हैं तब विकास प्रक्रिया के मूल परिणाम के संबंध में विचार करते हैं। परंतु यदि हम प्रक्रिया का अधिक विस्तार रूप से परीक्षण करें, तो देखेंगे कि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ अनेक अन्य परिवर्तन भी होते हैं। इनका वर्गीकरण हम मूल 'कारक पूर्तियों' में परिवर्तन और 'उत्पादों की माँग की संरचना' में परिवर्तनों के रूप में कर सकते हैं। कारक पूर्तियों में परिवर्तन से अभिप्राय हैं:

(i) अतिरिक्त संसाधनों की खोज, (ii) पूंजी संचयन, (iii) जनसंख्या वृद्धि, (iv) उत्पादन की नई और अच्छी तकनीकों को काम में लाना, (v) कौशल में सुधार, और (vi) अन्य संस्थागत और संगठनात्मक परिवर्तन।

उत्पादों की मांग की संरचना में विशेष परिवर्तन के साथ निम्नलिखित में भी परिवर्तन होता है :

(i) जनसंख्या का आकार और आयु संघटन, (ii) आय का स्तर और उसका वितरण, (iii) रुचि तथा (iv) अन्य संस्थागत एवं संगठनात्मक व्यवस्थाएँ।

उपर्युक्त को ध्यान में रखते हुए आर्थिक विकास की व्याख्या 'कारक पूर्तियों' और 'उत्पाद माँग' में विशेष परिवर्तन के रूप में की जा सकती हैं। 'संवृद्धि' का अर्थ होता है उस आर्थिक विकास का मात्रात्मक मूल्यांकन जिसकी माप राष्ट्रीय उत्पाद के रूप में की जाती है, जबकि 'विकास' की संकल्पना का स्वरूप गुणात्मक होता है। इसके अंतर्गत प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि जैसे मात्रात्मक परिवर्तन तो आते ही हैं, उसके साथ ही साथ अर्थव्यवस्था में हुए वे परिवर्तन भी आते हैं जिनकी मात्रा का अंदाज नहीं लगाया जा सकता, जैसे कि जनसंख्या के स्वास्थ्य के स्तर में विकास, निम्न स्तर की वस्तुओं की माँग के स्थान पर उच्च स्तर की वस्तुओं की माँग होने लगना, शिक्षा का प्रसार, आदि। विकास की संकल्पना का क्षेत्र संवृद्धि की संकल्पना के क्षेत्र की तुलना में अधिक व्यापक होता है। वास्तव में संवृद्धि को किसी अर्थव्यवस्था के विकास समूह का एक उप-समूह माना जा सकता है।

इसलिए, छात्रों के लिए आवश्यक होता है कि वे इन शब्दों को भलीभाँति समझ लें। जो लोग इन दोनों शब्दों के बीच के संकल्पनात्मक अंतर को नहीं जानते वे इनमें से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग कर जाते हैं। परंतु अर्थशास्त्र का छात्र होने के नाते आपके लिए आवश्यक है कि आप इन शब्दों को अलग-अलग रखें।

बोध प्रश्न 2

1) संवृद्धि दर शब्द की व्याख्या कीजिए। किसी अर्थव्यवस्था में संवृद्धि दर को मापने के सूत्र बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) 'संवृद्धि' और 'विकास' शब्दों में अंतर दिखाइए।

.....

.....

.....

.....

3) किसी अर्थव्यवस्था के 'विकास' से क्या अभिप्राय है? इस पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.4 आर्थिक संवृद्धि की माप

आर्थिक 'संवृद्धि' की माप सामान्यत: चार प्रकार से की जा सकती है :

वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि : आर्थिक संवृद्धि की मापों में से एक है एक निश्चित अवधि के दौरान किसी अर्थव्यवस्था के वास्तविक राष्ट्रीय उत्पाद या आय में वृद्धि। लेकिन यह संतोषजनक माप नहीं है क्योंकि इसमें इसी अवधि में जनसंख्या में हुई वृद्धि पर ध्यान नहीं दिया जाता।

प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि : आर्थिक संवृद्धि की दूसरी माप है प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि। इससे अभिप्राय यह है कि वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर से अधिक होनी चाहिए। लेकिन प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि के फलस्वरूप आम व्यक्ति का वास्तविक जीवन स्तर उंचा नहीं भी उठ सकता है। यह संभव है कि जब प्रतिव्यक्ति वास्तविक आय बढ़ रही हो तब प्रतिव्यक्ति उपभोग कम हो जाए। ऐसा तब संभव होता है जब आय में हुई वृद्धि गरीब लोगों को हाथों में न जाकर कुछ थोड़े से धनी लोगों के हाथों में जाए। ऐसी स्थिति में यह विधि भी दोषपूर्ण हो जाती है।

उपभोग में वृद्धि : आर्थिक संवृद्धि की माप आर्थिक कल्याण की दृष्टि से भी की जा सकती है। यह वह प्रक्रिया होती है जिसमें व्यक्तिओं द्वारा वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग में वृद्धि होती है। लेकिन यह विधि भी दोषों से मुक्त नहीं है। पहली बात यह है कि वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग व्यक्तिओं की रुचियों और पसंदों पर निर्भर करता है। दूसरी बात है कि आर्थिक कल्याण की माप के लिए केवल यही विचार नहीं करना होता कि किस वस्तु का उत्पादन हो रहा है, बल्कि यह भी देखना होता है कि किस प्रकार से उत्पादन हो रहा है। यह भी हो सकता है कि उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में वास्तविक लागतें और सामाजिक लागतें बढ़ गई हों।

सामाजिक संकेतक : अर्थशास्त्री गण आर्थिक संवृद्धि की माप सामाजिक संकेतकों के रूप में भी करते हैं। ये संकेतक विकास प्रक्रिया की गुणवत्ता पर जोर देते हैं। इसके अंतर्गत निम्नलिखित प्रमुख हैं : स्वास्थ्य, भोजन और पोषण, शिक्षा, रोज़गार, आवास, वस्त्र, परिवहन, सामाजिक सुरक्षा, आदि। लेकिन इस संबंध में समस्या यह होती है कि ऐसे सूचक में कितनी वस्तुओं को शामिल किया जाए।

अब प्रश्न यह उठता है कि आर्थिक संवृद्धि की वास्तविक माप क्या होनी चाहिए? सभी मापों के अपने-अपने सापेक्ष गुण और दोष होते हैं। लेकिन मुख्य चुनाव 'राष्ट्रीय आय' और 'प्रतिव्यक्ति आय' में से करना होता है। हमारा मत तो यह है कि विकसित देशों में राष्ट्रीय आय में वृद्धि को आर्थिक संवृद्धि का सूचक मानना चाहिए, जबकि विकासोन्मुख देशों में वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि को आर्थिक संवृद्धि का सूचक मानना चाहिए। परंतु अधिकतर अर्थशास्त्री प्रतिव्यक्ति आय को आर्थिक संवृद्धि का संकेतक मानना उपयुक्त समझते हैं।

2.4.1 वर्तमान कीमत और स्थिर कीमत आकलनों में अंतर

आगे विचार करने के पूर्व छात्रों के लिए आवश्यक है कि वे वर्तमान कीमतों के आकलन और स्थिर कीमतों के आकलन का अर्थ समझ लें।

वर्तमान कीमत आकलनों को तैयार करने की विधि है उत्पादित माल की मात्रा को उसे वर्तमान कीमतों से गुणा करना। इसका अर्थ हैं कि यदि 1999-2000 एक साइकिल की कीमत, 1,000 रु. हैं तो वर्तमान कीमत पर कुल उत्पादन 10 लाख रुपये का है।

अब विचार करें कि आकलन 1980-81 कीमतों पर करना है। इस स्थिति में हम 1999-2000 में उत्पादित 1,000 साइकिलों को लेंगे और उन्हें 1980-81 की कीमतों से गुणा करेंगे। मान लीजिए कि 1980-81 कीमतों पर एक साइकिल की कीमत 800 रु. थी। उस स्थिति में 1980-81 कीमतों पर 1999-2000 में उत्पादन 8,00,000 रु. होगा।

छात्रों को याद रखना चाहिए कि राष्ट्रीय आय की माप मुद्रा मूल्यों में की जाती है। इसके अंतर्गत अर्थव्यवस्था में उत्पादित कोयला, वस्त्र, रसायन, कासमेटिक, कागज आदि अनेक प्रकार की वस्तुएँ और सेवाएँ आ जाती हैं। इन वस्तुओं और सेवाओं को एक साथ जोड़ा नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, साइकिलों के उत्पादन को पुस्तकों के उत्पादन के साथ जोड़ा नहीं जा सकता, हालाँकि दोनों ही राष्ट्रीय उत्पाद के अंश हैं। लेकिन उनके मुद्रा मूल्य को आसानी से जोड़ा जा सकता है।

लेकिन उत्पादन के मूल्य का उपयोग जब दो अवधियों, जैसे 1980-81 और 1999-2000, में संवृद्धि दर की माप के लिए किया जाता है तब एक समस्या उत्पन्न होती है। इन दो वर्षों में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य एक समान नहीं होते। उपर्युक्त उदाहरण में साइकिलों की कीमतें दोनों वर्षों में एक जैसी नहीं है। 1999-2000 में 1,000 साइकिलों के उत्पादन का कुल मूल्य 10,00,000 रु. है तथा 1980-81 में उतनी ही साइकिलों का 8,00,000 रु. है। साइकिलों को उत्पादन के मूल्य का अनुपात बताता है कि 1980-81 की तुलना में 1999.2000 में साइकिलों का उत्पादन 1.25 गुना अधिक है। क्या यह सही है? सच्चाई तो यह है कि केवल साइकिलों की कीमत में 1.25 गुनी वृद्धि हुई है। उत्पादन में कोई भी वृद्धि नहीं हुई। वह 1,000 साइकिलें हैं। यदि इन दोनों वर्षों के उत्पादन का मूल्य समान कीमतों पर लगाया जाए तो स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। यह मूल्यांकन स्थिर कीमतों पर लगाया जाता है अर्थात् स्थिर या आधार वर्ष के आधार पर। दूसरे शब्दों में, मूल्यांकन उस वर्ष की कीमतों के आधार पर किया जाता है जिसमें उत्पादन होता है। ऐसी स्थिति में तुलना के अंतर्गत कीमतों में परिवर्तन का प्रभाव आ जाता है।

इस अंतर को ध्यान में रखना चाहिए क्योंकि अर्थव्यवस्था में वास्तविक संवृद्धि को सदा स्थिर कीमतों पर लिया जाता है। वर्तमान कीमत संवृद्धि के अंतर्गत कीमतों में वृद्धि भी आ जाती है अत: इसमें किसी अर्थव्यवस्था की वास्तविक संवृद्धि परिलक्षित नहीं होती। नीचे हम स्थिर कीमतों (1980-81) पर संवृद्धि का विश्लेषण करेंगे।

अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं में परिवर्तन को साथ-साथ सी.एस.ओ. समय-समय पर आधार वर्ष में परिवर्तन करता रहता है। प्रारंभ में 1952-53 कीमतों का प्रयोग स्थिर कीमतों के रूप में हुआ। उसके बाद वर्ष 1960-61, 1970-71, 1980-81 और 1993-94 का प्रयोग स्थिर कीमत आधार के रूप में हुआ। 1985.86 तक सी.एस.ओ. ने 1970-71 स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय प्राक्कलनों को तैयार किया। लेकिन

1988 में सी.एस.ओ. ने 1980-81 को आधार वर्ष लिया तथा अब वर्ष 2000 में 1993-94 को आधार वर्ष माना गया है। इस नई श्रेणी में 1950-51 से लेकर अब तक की समस्त अवधि के लिए राष्ट्रीय उत्पाद का प्राक्कलन तैयार किया गया है।

बोध प्रश्न 3

1) आर्थिक संवृद्धि की माप की चार विधियाँ कौन-कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) संवृद्धि की माप के लिए वर्तमान कीमतों और स्थिर कीमतों में अंतर को स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2.5 भारत में राष्ट्रीय आय की संवृद्धि दर और उसका अन्य देशों के साथ तुलना

2.5.1 भारत में संवृद्धि दर

अब हम भारत में राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि दर की प्रवृत्तियों के संबंध में अध्ययन करेंगे।

केंद्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) एक सरकारी संगठन है और यह भारत की राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय के वार्षिक प्राक्कलन को तैयार करता है। इन प्राक्कलनों को यह 'नेशनल एकाउंट स्टैटिस्टिक्स' में प्रकाशित करता है। सी.एस.ओ. इनका प्राक्कलन वर्तमान कीमतों और स्थिर कीमतों दोनों ही पर करता है। स्थिर कीमतों पर प्राक्कलन एक निश्चित अवधि के दौरान राष्ट्रीय आय में वृद्धि का सही चित्र प्रस्तुत करता है।

तालिका-1 में आर्थिक कार्यकलापों के द्वारा 1980-81 कीमतों पर सकल देशीय उत्पाद की वृद्धि दर को दिखाया गया है। इसमें दिखाया गया है कि भारत के योजनाबद्ध विकास के प्रथम तीन दशकों में संवृद्धि की दर बहुत नीची थी। 1970 के दशक में वार्षिक संवृद्धि दर 3.9 प्रतिशत थी। 1980 और 1990 के दशकों में बहुत अधिक प्रगति हुई है। 1980 के दशक में संवृद्धि दर 5.6 प्रतिशत थी और 1990 के दशक के प्रथम आधे भाग में 5.3 प्रतिशत थी। साढ़े चार दशकों में तुलना करने पर हम पाते हैं कि सकल देशीय उत्पाद (GDP) 1970 के दशक में सबसे कम था तथा 1990 के दशक में सबसे अधिक था। प्रथम तीन दशकों में वार्षिक संवृद्धि दर 3.4 प्रतिशत तक सीमित रही जब कि पिछले डेढ़ दशकों में यह बढ़कर 5.5 प्रतिशत हो गई, जो डेढ़ गुनी से अधिक वृद्धि थी। ऐसा लगता है कि संवृद्धि दर में यह वृद्धि मछली पकड़ना, खनन, उत्खलन, विनिर्माण, बैंकिंग, बीमा, लोक प्रशासन और रक्षा जैसे अनेक गैर-कृषि क्षेत्रकों में काफी प्रगति के कारण हुई है।

तालिका-1
1980-81 कीमतों पर राष्ट्रीय उत्पाद में संवृद्धि दर
(प्रतिशत प्रतिवर्ष)

क्षेत्रक	1950-51 से 1960-61 तक	1960-61 से 1970-71 तक	1970-71 से 1980-81 तक	1980-81 से 1990-91 तक	1990-91 से 1998-99 तक
I. प्राथमिक क्षेत्रक	3.0	2.3	1.5	3.6	2.5
1. कृषि	3.3	2.2	1.7	3.9	2.4
2. वानिकी	0.3	3.0	(-) 0.9	(-) 1.0	(-) 1.7
3. मछली पकड़ना	5.5	3.5	2.8	5.7	7.8
4. खनन और उत्खनन	5.6	3.9	4.9	6.7	4.4
II. द्वितीयक क्षेत्रक	6.2	5.4	4.0	6.7	6.2
5. विनिर्माण	6.0	5.2	4.0	7.2	6.4
6. निर्माण	6.3	5.5	3.0	3.6	3.8
7. बिजली, गैस और आपूर्ति	10.3	11.1	6.8	9.0	8.5
III. तृतीयक क्षेत्रक या सेवा क्षेत्रक	4.1	4.6	4.3	6.6	6.8
8. परिवहन, संचार और व्यापार	5.3	5.0	4.7	6.4	7.8
9. बैंकिंग, बीमा और स्थावर संपत्ति	3.0	3.4	4.0	7.2	7.3
10. लोक प्रशसन और रक्षा	3.1	3.9	3.0	5.5	3.6
11. अन्य सेवाएँ सकल देशीय उत्पाद	3.1	3.9	3.0	5.5	5.5
	3.9	3.7	3.1	5.7	5.3

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1980-81 कीमतों पर प्रतिव्यक्ति आय को और उसके संवृद्धि दरों की नीचे तालिका-2 में दिखाया जा रहा है।

तालिका-2
1980-81 कीमतों पर प्रतिव्यक्ति आय और संवृद्धि दर वर्ष

	प्रतिव्यक्ति आय (रु0)	संवृद्धि दर (प्रतिशत प्रतिवर्ष)
1950-51	1,127	—
1960-61	1,350	1.8
1970-71	1,520	1.2
1980-81	1,630	0.7
1990-91	2,222	3.1
1995-96	2,454	2.2
1998-99*	9,738	5.0

* नई शृंखला : आधार वर्ष . 1993-94.

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 1999-2000, भारत सरकार, वित्त मंत्रालय के आँकड़ों पर आधारित।

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि 1990 के दशक में सबसे अधिक थी और 1970 के दशक में सबसे कम थी।

2.5.2 अन्य देशों के साथ तुलना

अन्य देशों के साथ तुलना के लिए 1980 से 1994 के बीच की अवधि को लिया गया है। अंतर्राष्ट्रीय तुलना के लिए सकल घरेलू उत्पाद (GDP) को अमरीकी डालर में लिया गया है।

तालिका-3
चुने हुए संवृद्धि संकेतक, 1980-94

देश	जी डी पी (यू.एस. डालर : बिलयिन)		जी.डी.पी. : औसत वार्षिक संवृद्धि दर (%)		प्रतिव्यक्ति आय डालर में
	1994	1980	1990-94	1980-90	1995
भारत	293.6	172.3	3.8	5.8	340
यू एस ए	6648.0	2708.1	2.5	3.0	26,980
जापान	4591.0	1059.2	1.2	4.1	39,640
जर्मनी	2046.0	819.1*	1.1	2.2	27,510
फ्रांस	1330.4	664.6	0.8	2.4	24,990
इटली	1024.6	452.6	0.7	2.4	19,020
यू के	1017.3	537.4	0.8	3.2	18,700
चीन	522.2	201.7	12.9	10.2	620
कोरिया गंणतंत्र	376.5	63.7	6.6	9.4	9,700
आस्ट्रेलिया	332.0	159.7	3.4	3.5	1,872
इंडोनेशिया	174.6	78.0	7.6	6.1	980
थाईलैंड	143.2	32.3	8.2	7.6	2,740
इजरायल	77.8	22.7	6.2	3.5	15,920
मलेशिया	70.6	24.5	8.4	5.2	3,890
सिंगापुर	68.9	11.7	8.3	6.4	26,730
फिलिपाइंस	64.2	32.5	1.6	1	1,050
पाकिस्तान	52.0	23.7	4.6	6.3	460
इजिप्ट	42.9	22.9	1.1	5	790
बांग्लादेश	26.2	12.9	4.2	4.3	240
श्रीलंका	11.7	4.0	5.4	4.2	700
किनिया	6.9	7.3	0.9	4.2	280

* यह जर्मनी के एकीकरण से पूर्व के फेडरल रिपब्लिक जर्मनी का है।

1995 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय 340 डालर थी तालिका-3 विकसित देशों की तुलना में यह बहुत ही कम है। जापान की प्रतिव्यक्ति आय 39,640 डालर है जो सबसे अधिक है। अन्य विकसित देश हैं यू.एस. ए, यू.के, जर्मनी आदि। 1995 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय पाकिस्तान से कम थी, हालाँकि ये दोनों देश एक

MAADHYAM IAS

ही साथ आज़ाद हुए थे।

बोध प्रश्न 4

1) 1980-81 और 1990-91 के बीच प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि ..... प्रतिशत थी।

2) 1995 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय ..... यू.एस. डालर थी, इसकी तुलना में जापान की प्रतिव्यक्ति आय ..... यू.एस. डालर थी।

2.6 आर्थिक संवृद्धि के कारक

आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया का निर्धारण व्यापक रूप से दो प्रकार के कारकों से होता है : आर्थिक कारक और आर्थिकेतर कारक। आर्थिकेतर कारकों का वर्गीकरण सामाजिक और राजनैतिक कारकों के रूप में किया जा सकता है। ये कारक जब तक संवृद्धि में योगदान नहीं करेंगे तब तक आर्थिक संवृद्धि होना संभव नहीं है।

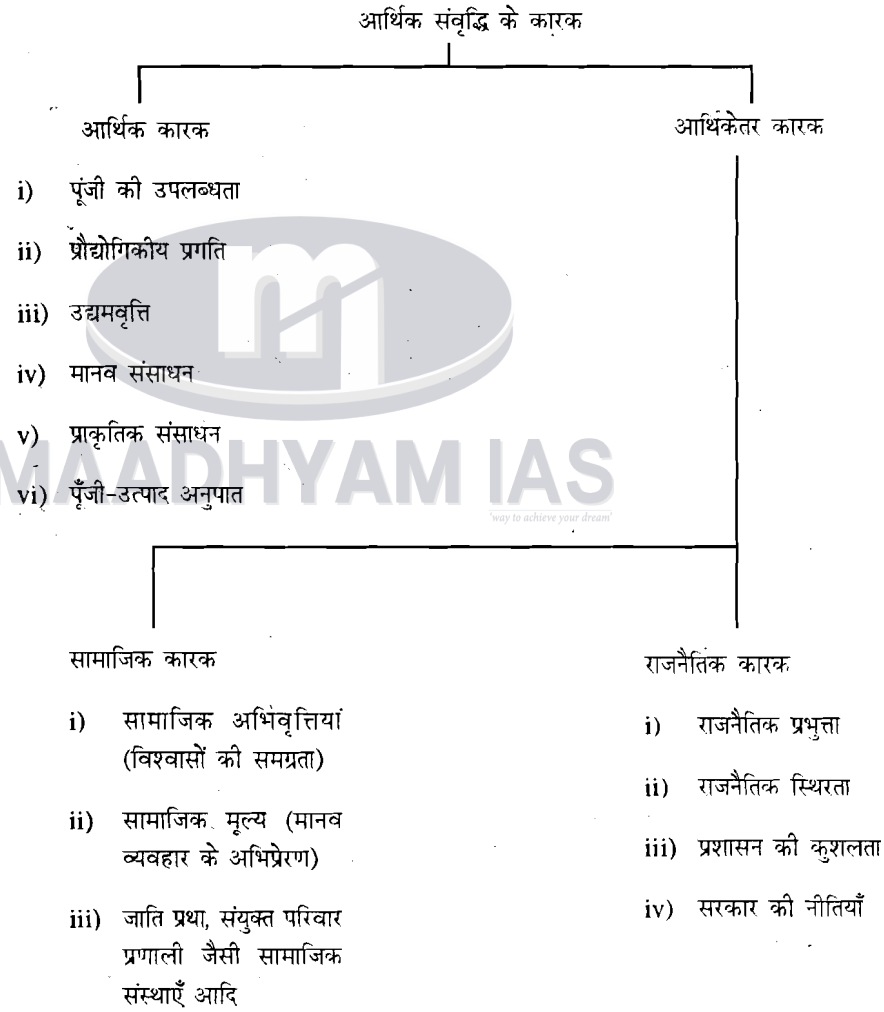

2.6.1 आर्थिक कारक

1950, 1960 और 1970 को दशकों में जिन कुछ प्रमुख आर्थिक कारकों के कारण भारत की आर्थिक संवृद्धि में बाधाएँ आई हैं उन्हें नीचे दिया जा रहा है:

i) **पूँजी की उपलब्धता :** भारत की अर्थव्यवस्था की संवृद्धि में प्रमुख अवरोध पर्याप्त मात्रा में पूँजी का उपलब्ध न होना रहा है। पर्याप्त मात्रा में पूँजी के उपलब्ध न होने की स्थिति में भारत पर्याप्त रूप में आर्थिक प्रगति नहीं कर सका। पूँजी का स्टॉक पर्याप्त मात्रा में न होने के साथ-साथ पूँजी निर्माण की दर भी अत्यंत कम थी।

iii) **प्रौद्योगिकीय प्रगति :** इस कारक का अर्थ है नवीन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप उत्पादन की विधियों में परिवर्तन। इसके फलस्वरूप श्रम और पूँजी की उत्पादिता बढ़ती है। प्रौद्योगिकीय रूप में भारत की अर्थव्यवस्था पिछड़ी रही है जिसके कारण उत्पादिता सीमित रही है। 1991 में भारत द्वारा अपनाई गई विश्व-व्यापीकरण और उदारीकरण की नीति के फलस्वरूप आशा की जाती है कि विदेशी पूंजी का आगमन होगा एवं प्रौद्योगिकी में सुधार होगा जिसके फलस्वरूप और अधिक पूंजी उपलब्ध हो सकेगी।

iv) **उद्यमवृत्ति :** आर्थिक संवृद्धि के लिए गत्यात्मक उद्यमवृत्ति अनिवार्य कारक मानी जाती है, परंतु ऐसी उद्यमवृत्ति भारत में कम है। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं : (क) बाज़ार की अपूर्णता, (ख) संपत्ति अधिकारों की रक्षा का अभाव, (ग) वित्तीय संस्थाओं का अभाव, और (घ) प्रतिकूल सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण।

v) **मानव संसाधन :** भारत में मानव संसाधन अल्प विकसित है। अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास के लिए जिस कौशल और ज्ञान की आवश्यकता होती है उसका इस देश के लोगों में अभाव है। वे लोग देश की भौतिक पूँजी का उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। इसके फलस्वरूप उत्पादन की मात्रा एवं गुणवत्ता में सुधार नहीं हो पा रहा है।

v) **प्राकृतिक संसाधन :** आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया में प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता का बहुत बड़ा योगदान होता है। किसी देश की आर्थिक संवृद्धि भूमि की उपलब्धता, मिट्टी की किस्म, वनों और खनिज संसाधनों पर निर्भर करती है। भारत में प्राकृतिक संसाधनों का बाहुल्य है। परंतु खेद की बात यह है कि इनका उचित उपयोग नहीं हो पा रहा है। आर्थिक और प्रौद्योगिकीय पिछड़ेपन के कारण अधिकतर प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग नहीं हो पा रहा है।

2.6.2 आर्थिकेतर कारक

आर्थिक कारकों के साथ-साथ आर्थिकेतर कारक भी आर्थिक संवृद्धि को प्रभावित करते हैं नीचे प्रमुख आर्थिकेतर कारकों के संबंध में विवेचन किया गया है:

i) **सामाजिक कारक :** सामाजिक अभिवृत्तियों, मूल्यों और संस्थाओं जैसे सामाजिक कारक आर्थिक समृद्धि को प्रभावित करते हैं। भारत के लिए ये कारक अनुकूल नहीं हैं। धार्मिक विश्वासों के चलते लोग कठिन परिश्रम नहीं कर पाते। लोग अपने परंपरागत रीति-रिवाजों को अधिक महत्व देते हैं। इसके अतिरिक्त जाति-प्रथा जैसी सामाजिक संस्थाओं ने व्यावसायिक गतिशीलता पर प्रतिबंध लगा दिया है। इसी प्रकार संयुक्त परिवार प्रणाली लोगों को स्वतंत्र आर्थिक निर्णय लेने से रोकती है। इन कारकों ने संवृद्धि की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है।

ii) **राजनैतिक कारक :** आर्थिक समृद्धि की प्रक्रिया में राजनैतिक कारकों की भी बहुत बड़ी भूमिका होती है। ब्रिटेन, जर्मनी, यू.एस.ए., जापान और फ्रांस में तेजी से आर्थिक संवृद्धि होने का मुख्य कारण यह है कि 19वीं सदी से ही इन देशों में राजनैतिक स्थिरता रही है तथा यहां का प्रशासन सशक्त रहा है।

2.6.3 हाल में नीति-परिवर्तन

भारत में प्रशासन और राजनैतिक ढांचे के कमजोर होने के कारण आर्थिक संवृद्धि के मार्ग में अनेक रुकावटें आई हैं। इसके अतिरिक्त सरकार की पहले की आर्थिक नीतियाँ आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त नहीं थीं। 1950 के दशक, 1960 के दशक एवं 1970 के दशक में भारत में जो आर्थिक नीतियाँ अपनाई गईं वे मुख्यत: अंत:मुखी, सरंक्षणात्मक एवं केंद्र द्वारा निर्देशित थी। इन नीतियों से भारत को योजनाबद्ध विकास में सीमित मात्रा में ही सहायता मिली। विकास की क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया जा सका। नीति में परिवर्तन करना अत्यंत आवश्यक था। इसीलिए 1980 के दशक के शुरू के वर्षों में भारत में अर्थव्यवस्था के विनियमन का कार्य प्रारंभ हुआ। 1991 में इस नीति परिवर्तन की गति को और तेज़ किया गया, जब नई उद्योग नीति अपनाई गई। आशा की जाती है कि भारत की इस नई आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश के औद्योगीकरण और आर्थिक संवृद्धि को बहुत अधिक बल मिलेगा। 1995-96 में सकल देशीय उत्पाद (GDP) में 7 प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई। बचत और पूँजी-निर्माण की दरों में भी वृद्धि हुई है। पूँजी का अंत: प्रवाह भी बहुत अधिक बढ़ा है।

MAADHYAM IAS

बोध प्रश्न 5

1) आर्थिक संवृद्धि के आर्थिक कारकों का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) 1991 में शुरू की गई विश्व-व्यापीकरण की नीति से भारत में पूंजी-निर्माण की दर को बढ़ाने में किस प्रकार से सहायता मिलेगी?

.....

.....

.....

.....

3) भारत में आर्थिक संवृद्धि को बढ़ाने के लिए हाल में जो नीति परिवर्तन किए गए हैं, उन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

2.7 संरचनात्मक परिवर्तन

2.7.1 संरचनात्मक परिवर्तन का अर्थ

संरचनात्मक परिवर्तन से अभिप्राय होता है अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के सापेक्ष महत्व में परिवर्तन। संरचनात्मक परिवर्तन तब होता है, जब देश के राष्ट्रीय उत्पाद में प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक जैसे विभिन्न क्षेत्रकों के अंशदान में परिवर्तन होता है। इस प्रकार संरचनात्मक परिवर्तन से अभिप्राय होता है उत्पादन की सरंचना में परिवर्तन।

राष्ट्रीय उत्पाद के प्राक्कलन के लिए सी.एस.ओ. ने भारतीय अर्थव्यवस्था को निम्नलिखित प्रमुख क्षेत्रकों में बाँटा है :

प्राथमिक क्षेत्रक में कृषि, वानिकी, मछली पकड़ना, खनन, उत्खनन आदि जैसे आर्थिक कार्य-कलाप आते हैं।

द्वितीयक क्षेत्रक में विनिर्माण, निमार्ण, बिजली, गैस, जलपूर्ति आदि जैसे कार्य-कलाप आते हैं।

तृतीयक क्षेत्रक में जो कार्य-कलाप आते हैं वे हैं : (i) व्यापार, परिवहन और संचार (ii) बैंकिंग, बीमा, स्थावर संपत्ति और व्यवसाय, (iii) लोक प्रशासन और अन्य सेवाएँ, और (iv) विदेश व्यापार।

विकास का काम जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे देश के राष्ट्रीय उत्पाद में इन क्षेत्रकों के प्रतिशत अंशदान में परिवर्तन होता जाता है। इस प्रकार आर्थिक संवृद्धि की दर में जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे कृषि और प्राथमिक क्षेत्रक का अंशदान घटता जाता है। अल्पविकसित देशों में कृषि और प्राथमिक क्षेत्रक का महत्व अपेक्षाकृत अधिक होता है। आगे दी गई तालिका-4 में पिछले पांच दशकों में भारत के राष्ट्रीय उत्पाद में विभिन्न क्षेत्रकों के प्रतिशत अंशदान को दिखाया गया है।

तालिका-4
सकल घरेलू उत्पाद (जी डी पी) में विभिन्न क्षेत्रकों के अंश

(1980-81 की कीमतों पर)

(प्रतिशत में)

क्षेत्रक	1950-51	1970-71	1980-81	1990-91	1999-00*
1. प्राथमिक क्षेत्रक	55.3	44.5	38.1	31.6	27.5
2. द्वितीयक क्षेत्रक	16.1	23.6	25.9	28.7	24.7
3. तृतीयक क्षेत्रक	28.5	31.9	36.0	39.6	47.8
I. वस्तु क्षेत्रक (1+2)	71.4	68.1	64.0	60.4	52.2
II. सेवा क्षेत्रक	28.5	31.9	36.0	39.6	47.8

स्रोत : नेशनल एकाउंटस स्टैटिस्टिक्स

* नोट : 1993-94 की कीमतों पर

प्राथमिक क्षेत्रक (कृषि, वानिकी, मछली पकड़ना और खनन) : 1950-51 में राष्ट्रीय उत्पाद में इन कार्यकलापों का सबसे बड़ा अंश था। परंतु समय गुजरने के साथ.साथ इनका प्रतिशत कम हो गया है। 1999-00 तक इनका अंश घटकर 27 प्रतिशत हो गया। प्राथमिक क्षेत्रक में सबसे बड़ा अंश कृषि का होता है। कृषि के सापेक्ष महत्त्व का घट जाना आर्थिक संवृद्धि का द्योतक होता है। हम यह भी देखते हैं कि संवृद्धि दर में वृद्धि के फलस्वरूप पिछले 15 वर्षों में कृषि के अंश में बहुत अधिक गिरावट आई है।

द्वितीयक क्षेत्रक (विनिर्माण, निर्माण, बिजली) : भारत के कुल राष्ट्रीय उत्पाद में द्वितीयक क्षेत्रक का अंशदान लगभग 30 प्रतिशत है। 1950-51 में यह अंश 16 प्रतिशत था। समय गुजरने के साथ-साथ 1999-00 तक यह अंश बढ़कर लगभग 25 प्रतिशत से अधिक हो गया। इन कार्य-कलापों में विनिर्माण का स्थान प्रमुख है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तृतीयक क्षेत्रक : 1950-51 में इस क्षेत्रक का अंश लगभग 28 प्रतिशत था। समय गुजरने के साथ-साथ 1999-00 तक बढ़कर यह 48 प्रतिशत हो गया।

2.7.2 वस्तु बनाम सेवा क्षेत्रक

राष्ट्रीय उत्पाद के संघटन के संबंध में विचार करने की दूसरी विधि है - वस्तु बनाम सेवा क्षेत्रक। प्राथमिक क्षेत्रक और द्वितीयक क्षेत्रकों को मिलाकर उत्पादन वस्तु क्षेत्रक बनता है जबकि तृतीयक क्षेत्रक को सेवा क्षेत्रक भी कहा जाता है।

विकास की प्रक्रिया में प्राथमिक क्षेत्रक में जैसे-जैसे कृषि का अंश घटता जाता है, वैसे-वैसे स्वयं वस्तु क्षेत्रक का अंश भी कम होता जाता है और इसके फलस्वरूप सेवा क्षेत्रक का अंश बढ़ता जाता है। 1950-51 में भारत में वस्तु क्षेत्रक का अंश 70 प्रतिशत से अधिक था। 1995-96 तक यह अंश घटकर 52 प्रतिशत हो गया (तालिका-4 देखिए)। इसके फलस्वरूप सेवा क्षेत्रक का अंश 1950-51 के 28 प्रतिशत से बढ़ कर 1999-00 तक 48 प्रतिशत हो गया।

2.7.3 प्रमुख क्षेत्रकों में संरचनात्मक परिवर्तन

जैसा कि ऊपर विवेचन किया गया है अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के बीच परस्पर संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं, परंतु इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रकों के अंदर भी प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं। उनके संबंध में नीचे विवेचन किया जा रहा है।

कृषि क्षेत्रक में परिवर्तन : आज़ादी के समय से भारत की कृषि में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। निर्वाह कृषि (subsistence farming) का स्थान वाणिज्यिक कृषि ने ले लिया। किसान लोग पहले अपने उपभोग के लिए ही खेती करते थे परंतु अब वे बाज़ार के लिए उत्पादन करते हैं। खाद्य फसलों की तुलना में कपास, जूट आदि जैसी नकदी फसलों का महत्व बढ़ गया है। खेती की पुरानी और परम्परागत विधियों का स्थान अब नई और आधुनिक विधियों ने ले लिया है और इस प्रकार हरित क्रांति को लाना संभव हो सका है।

उद्योग क्षेत्रक में परिवर्तन : योजना की अवधि में उद्योग क्षेत्रक में भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। आज़ादी के बाद से इस्पात, मशीनरी, रसायन, उर्वरक, पेट्रोलियम आदि अनेक महत्त्वपूर्ण बुनियादी उद्योगों की स्थापना हुई। इसके अतिरिक्त रेफ्रिजरेटर, टी.वी. सेट, स्कूटर, एयर कंडिशनर, मोटर गाड़ी आदि जैसी टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन देश के अंदर ही होने लगा है। लघु उद्योगों का भी आधुनिकीकरण किया जा रहा है।

सेवा क्षेत्रक में परिवर्तन : भारत में सेवा क्षेत्रक में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ परिवहन, बैंकिंग, विद्युत, संचार, सिंचाई आदि में बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है। बहु-उद्देशीय नदी घाटी योजनाओं का जाल देश भर में फैला हुआ है। बैंकिंग का भी ग्रामीकरण किया गया है। रेलवे, एयरवेज़, रोड, शिपिंग आदि जैसे परिवहन के साधनों में बहुत अधिक विकास हुआ है। इनका आधुनिकीकरण भी हुआ है। विदेश व्यापार के संघटन में मूल रूप में परिवर्तन हुए हैं। अब भारत से विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात बहुत बड़ी मात्रा में होता है। आयात तो अब मुख्यत: पूँजीगत पदार्थों और कच्चे माल का ही होता है।

2.7.4 सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) के अन्य संघटक

राष्ट्रीय आय के क्षेत्रक वितरण में जो संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं, वे आर्थिक संवृद्धि की उस प्रक्रिया के परिणाम हैं जिसकी शुरुआत भारत की पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में की गई। भारतीय अर्थव्यवस्था में संवृद्धि के साथ-साथ अन्य क्षेत्रकों के अंशदान में भी परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ, संगठित क्षेत्रक (अर्थात् वे सभी उद्यम जो पंजीकृत हैं या वार्षिक लेखा रखते हैं) का सापेक्ष अंशदान 1950-51 से 1995-96 के दौरान 25.6 प्रतिशत से बढ़कर 36.1 प्रतिशत हो गया। उसी प्रकार, राष्ट्रीय आय में सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र के अंशदान में भी परिवर्तन हुए हैं। उदाहरणार्थ, 1960-61 में जी डी पी में सार्वजनिक क्षेत्र का योगदान 10.7 प्रतिशत था जो 1999-00 तक बढ़कर 25.0 प्रतिशत हो गया। इसी अवधि में निजी क्षेत्र का योगदान 89.3 प्रतिशत से घटकर 74.0 प्रतिशत हो गया (1991-92 के आँकड़ों के अनुसार)।

2.7.5 क्षेत्रकों में रोज़गार

अर्थव्यवस्था में जब विकास होता है। तब अनेक प्रकार के रोज़गार के अवसर मिलते हैं। लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में इस आशा से आने लगते हैं कि अर्थव्यवस्था के द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रकों में उन्हें रोज़गार मिलेगा। नीचे के विवरण में दिखाया गया है कि भारत की अर्थव्यवस्था की व्यावसायिक संरचना में क्या परिवर्तन हुए हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तालिका - 5

कार्यशील जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण

(प्रतिशत में)

क्षेत्रक	1951	1961	1971	1981	1991
प्राथमिक	72.1	72.3	72.0	69.0	65.5
द्वितीयक	10.6	11.7	11.2	12.0	14.5
तृतीयक	17.3	16.6	16.8	19.0	20.0

स्रोत : 'सेंसज आफ इंडिया' (भारतीय आंकड़े), भारत सरकार, 1994-95

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि 1951-71 की अवधि में भारत की अर्थव्यवस्था में कोई बहुत बड़ा संरचनात्मक परिवर्तन नहीं हुआ। जनसंख्या का व्यावसायिक वितरण लगभग ज्यों का त्यों बना रहा। 1981 में जाकर कुछ वांछित परिवर्तन देखने में आए। प्राथमिक क्षेत्रक में काम करने वाली जनसंख्या घटकर 69 प्रतिशत हो गई तथा द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रकों में काम करने वाली जनसंख्या बढ़कर क्रमश: 12 प्रतिशत और 19 प्रतिशत हो गई। 1991 की जनगणना के आंकड़ों के अनुसार इस प्रवृत्ति को और बल मिला। इस जनगणना के अनुसार कार्यशील जनसंख्या का 65.5 प्रतिशत प्राथमिक क्षेत्रक में, 14.5 प्रतिशत द्वितीयक क्षेत्रक में और शेष 20 प्रतिशत सेवा क्षेत्रक में कार्य कर रहा था। यह संरचनात्मक परिवर्तन आर्थिक प्रगति का द्योतक है।

2.7.6 अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ

इस पाठ के प्रारंभ में ही हमने स्पष्ट किया है कि अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे विकास के उच्चतर स्थिति की ओर जाती है, वैसे-वैसे कृषि क्षेत्रक का योगदान कम होता जाता है तथा सेवा क्षेत्रक का अंश बढ़ता जाता है। अनेक देशों के जी डी पी के संघटन में तुलना के द्वारा इसे और स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है। इस संबंध में आंकड़े तालिका-6 में दिए गए हैं। तालिका में देशों को उनके विकास स्तर के लगभग आरोही क्रम से दिखाया गया है।

इसमें भारत का स्थान सबसे ऊपर है जहाँ जी डी पी का 30 प्रतिशत कृषि से आता है। इस तालिका में जैसे-जैसे हम नीचे जाते हैं विकास का स्तर जैसे-जैसे बढ़ता जाता है और कृषि का अंश घटता जाता है। फ्रांस, यू.एस.ए., इंग्लैंड, जर्मनी आदि जैसे अत्यधिक विकसित देशों के जी डी पी में कृषि का अंश 2 से 3 प्रतिशत ही है।

इसके विपरीत सेवाओं का अंश बढ़ता जाता है। विकसित देशों में यह 60-70 प्रतिशत है। फ्रांस में यह सबसे अधिक अर्थात् 70 प्रतिशत है। समय बितने के साथ-साथ भारत में यद्यपि यह प्रतिशत बढ़ा है यानी 42 प्रतिशत है फिर भी यह तालिका में दिए गए देशों की तुलना में सबसे कम है।

अर्थव्यवस्था के विकास स्तर के बढ़ने के साथ-साथ विनिर्माण के प्रतिशत में पहले वृद्धि होती है। लेकिन एक स्तर के बाद यह 30-35 प्रतिशत पर स्थिर हो जाती है। तालिका में हम देखते हैं कि जी डी पी में उद्योग का सबसे ऊँचा स्तर चीन में है। भारत में जी डी पी में उद्योग का स्तर 28 प्रतिशत है, जो बंग्लादेश, कीनिया, पाकिस्तान और कुछ अन्य देशों से अधिक है।

तालिका-6
उत्पादन संरचना, 1994 की अंतर्राष्ट्रीय तुलनाएँ

	सकल देशीय उत्पाद का वितरण (प्रतिशत)			
	कृषि	उद्योग	सेवाएँ	कुल
भारत	30	28	42	100
बांग्लादेश	30	18	52	100
कीनिया	39	17	54	100
पाकिस्तान	35	25	50	100
श्रीलंका	24	25	51	100
फिलिपिन्स	22	33	45	100
चीन	21	47	32	100
इजिप्ट	20	21	59	100
इंडोनेशिया	17	41	42	100
ब्राजिल	13	39	49	100
थाईलैंड	10	39	50	100
मेक्सिको	8	28	64	100
रूस	7	38	55	100
कोरिया गणतंत्र	7	43	50	100
दक्षिण अफ्रीका	5	31	65	100
इटली	3	31	66	100
आस्ट्रेलिया	3	30	67	100
फ्रांस	2	28	70	100
जापान	2	40	58	100
स्वीडन	2	30	68	100
यू के	2	32	66	100
यू एस ए	2	29	69	100
जर्मनी	2	38	61	100
सिंगापुर	1	36	64	100

स्रोत : वर्ल्ड डिवलपमेंट रिर्पोट, 1999.

MADHYAM IAS

नोट : कृषि के अंतर्गत वानिकी, शिकार और मछली पकड़ना आता है। उद्योग के अंतर्गत खनन, विनिर्माण, निर्माण, विद्युत, जल और गैस आते हैं। बैंकिंग सेवा प्रभार, आयात शुल्क आदि सहित आर्थिक कार्य-कलापों की अन्य शाखाओं में वर्धित मूल्य को सेवा की श्रेणी में रखा जाता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि योजना की अवधि में राष्ट्रीय उत्पाद में अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के सापेक्ष अंश में बहुत परिवर्तन हुए हैं। ये परिवर्तन इस बात के द्योतक हैं कि भारत आर्थिक पिछड़ेपन की जंजीरों से मुक्त हो रहा है। फिर भी अभी यह अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है। ऐसा इसलिए है कि अमरीका, इंग्लैंड, जर्मनी आदि जैसे विकसित देशों की तुलना में भारत के राष्ट्रीय उत्पाद में कृषि का अंशदान बहुत अधिक है।

बोध प्रश्न 6

1) किसी अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) (i) प्राथमिक क्षेत्रक, (ii) द्वितीयक क्षेत्रक, और (iii) तृतीयक क्षेत्रक शब्दों की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) वस्तु क्षेत्रक और सेवा क्षेत्रक में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

4) भारत में, 1991 में भी, कुल श्रमशक्ति का ..... प्रतिशत प्राथमिक क्षेत्रक में काम करता था।

.....

.....

.....

.....

5) 1994 में कुल जी डी पी का ..... प्रतिशत कृषि क्षेत्रक से था, जिसकी तुलना में यू.एस.ए. में ..... प्रतिशत तथा चीन में ..... प्रतिशत था।

2.8 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में पिछले 50 वर्षों से आए आर्थिक संवृद्धि और संरचनात्मक परिवर्तनों के बारे में पढ़ा है। स्वतंत्रता के समय भारत में एक पिछड़ा हुआ कृषि क्षेत्रक और अल्पविकसित औद्योगिक क्षेत्रक था। जन्म और मृत्यु दर काफी ऊँचे थे और औद्योगिक क्रियाओं का स्तर काफी निम्न था। गरीबी से छुटकारा पाने

के लिए कृषि और उद्योगों का विकास करना प्राथमिकता थी जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हो। कृषि व औद्योगिक विकास के लिए जरूरी था कि यातायात, बैंकिंग और व्यापार जैसी आधारिक संरचना (Infrastructure) का विकास किया जाए।

संवृद्धि दर चाहे वो राष्ट्रीय उत्पाद और प्रति व्यक्ति आय में हो, एक मात्रात्मक शब्द (Quantitative term) है। आर्थिक विकास एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक अर्थव्यवस्था निम्न स्तर की आर्थिक गतिविधि (Activity) से ऊपर उठती है। विकास संवृद्धि से ज्यादा term है।

दूसरे शब्दों में संवृद्धि को विकास का एक उपभाग (subset) कहा जाता है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया दो तरह के कारकों से निर्धारित की जाती है। आर्थिक कारक व आर्थिकेतर कारक। आर्थिकेतर कारकों को आगे सामाजिक व राजनैतिक कारकों में विभाजित किया जा सकता है। आर्थिक विकास इन कारकों के विकास के बिना संभव नहीं है। 50, 60 व 70 के दशकों में भारत की आर्थिक नीतियाँ अंतर्मुखी (inward looking) थी। 80 के दशक में भारत में अर्थव्यवस्था को नियंत्रण मुक्त (deregulate) करना शुरू किया। 1991 में नई औद्योगिक नीति को अपनाने के साथ ही इन नीतियों तथा परिवर्तनों में तेजी आई है। संरचनात्मक परिवर्तन, उत्पादन के ढांचे में परिवर्तन के बारे में संकेत करते हैं।

2.9 शब्दावली

आर्थिक संवृद्धि (Economic Growth) : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा दीर्घकाल में वास्तविक राष्ट्रीय आय और प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होती रहती है।

राष्ट्रीय आय (National Income) : वर्तमान बाज़ार कीमतों पर किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का कुल अंतिम उत्पाद।

प्रतिव्यक्ति आय (Per Capita Income) : किसी देश के लोगों की औसत वार्षिक आय।

संरचनात्मक परिवर्तन (Structural Change) : किसी अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के सापेक्ष महत्व में परिवर्तन होना।

प्राथमिक क्षेत्रक (Primary Sector) : कृषि, वानिकी, मछली पकड़ना आदि से संबंधित आर्थिक कार्य-कलाप इसके अंतर्गत आते हैं।

द्वितीयक क्षेत्रक (Secondary Sector) : इसके अंतर्गत विनिर्माण, निर्माण, विद्युत, गैस और जलपूर्ति से संबंधित कार्य आते हैं। इस क्षेत्रक में विनिर्मित वस्तुओं का उत्पादन होता है।

तृतीयक क्षेत्रक (Tertiary Sector) : यह क्षेत्रक अर्थव्यवस्था के प्राथमिक और द्वितीयक क्षेत्रकों को उपयोगी सेवाएँ, प्रदान करता है। इसके अंतर्गत परिवहन, संचार, बैंकिंग, बीमा, भंडारण, व्यापार, लोक प्रशासन आदि सेवाएँ आती हैं।

वस्तु क्षेत्रक (Commodity Sector) : वह क्षेत्रक जिसमें भौतिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। यह किसी अर्थव्यवस्था के कृषि और उद्योग क्षेत्रकों का योग होता है।

गैर-वस्तु क्षेत्रक (Non-Commodity Sector) : किसी अर्थव्यवस्था का तृतीयक क्षेत्रक जिसमें वस्तुओं के स्थान पर सेवाओं का उत्पादन होता है।

MAADHYAM IAS

संगठित क्षेत्रक (Organised Sector) : इसके अंतर्गत वे सभी इकाइयां आ जाती है जो अपने आर्थिक कार्य-कलापों के नियमित लेखा रखती हैं।

असंगठित क्षेत्रक (Unorganised Sector) : इसके अंतर्गत वे सभी इकाइयां आ जाती हैं जो अपने आर्थिक कार्यकलापों का कोई लेखा नहीं रखतीं।

व्यावसायिक संरचना (Occupational Structure) : कृषि, उद्योग और सेवा जैसे विभिन्न व्यवसायों में कार्यशील जनसंख्या का वितरण।

पूंजी (Capital) : मानव-निर्मित उत्पादन के साधन। यह वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में सहायक है तथा भविष्य में आय-सृजन को प्रोत्साहित करता है।

2.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Government of India, Ministry of Finance, Economic Survey, 1996-97.

World Bank, 1997: *World Development Report.*

Central Statical Organisation (1999): *National Accounts Statistics.*

Kuznets, Simon (1959): *Six Lectures on Economic Growth* (Lecture 1), The Free Press of Glencoe.

Kindleberger, Charles, P. (1965): *Economic Development,* chapters 1 & 2; McGraw-Hill Book Company, New York.

Meier, Gerald. M. and Robert E. Baldwin, (1957): *Economic Development,* pp. 1-16, John Wiley & Sons, London.

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) 240 रु. उस समय की प्रचलित कीमतों पर

2) चिकित्सीय सुविधाओं का अभाव, घोर गरीबी के कारण पोषाहार भोजन का निम्न स्तर।

3) शक्तियों का ऐसा नक्षत्रीय प्रवाह जिसके अंतर्गत वे एक-दूसरे के प्रति इस प्रकार क्रिया एवं प्रतिक्रिया करती हैं जिससे एक निर्धन देश गरीबी की अवस्था में बना रहता है।

4) मज़बूत आधारभूत संरचना का आधार जैसे ऊर्जा, परिवहन और संचार, वित्त, बीमा सिंचाई की सुविधाएँ इत्यादि।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 2.2.1 एवं 2.2.2 देखें।

2) आर्थिक वृद्धि का अभिप्राय वास्तविक सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि से है जबकि आर्थिक विकास परिवर्तन के साथ वृद्धि को बताता है। इस प्रकार आर्थिक विकास एक वृहद् अवधारणा है क्योंकि इसमें अर्थव्यवस्था में हुए मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन शामिल होते हैं।

3) एक अर्थव्यवस्था का विकास एक ऐसी प्रक्रिया को बताता है जिसके द्वारा एक लम्बे समय में देश की वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि होती है। इसके साथ ही गरीबी रेखा से नीचे रहने वाली व्यक्तियों की संख्या में कमी होनी चाहिए तथा आय के वितरण में समानता भी होनी चाहिए। इसके साथ ही लोगों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थितियों में सुधार भी होना चाहिए। विकास सतत भी होना चाहिए, जिसका अभिप्राय है वर्तमान पीढ़ी की आवश्यकताओं को भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं से समझोता किए बिना पूरा करना।

बोध प्रश्न 3

1) आर्थिक वृद्धि को मापने के चार तरीके हैं (i) वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि; (ii) प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि; (iii) उपभोग में वृद्धि; (iv) सामाजिक संकेतकों जैसे स्वास्थ्य, भोजन, पोषाहार, शिक्षा, रोज़गार, आवास, वस्त्र, परिवहन, सामाजिक सुरक्षा इत्यादि में सुधार।

2) उप-भाग 2.3.1 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) 1980-81 से 1990-91 के दौरान प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि दर 3.1 प्रतिशत थी।

2) 1995 में भारत की प्रतिव्यक्ति आय 340 अमेरिकी डालर और जापान की प्रतिव्यक्ति आय 39,640 अमेरिकी डालर थी।

बोध प्रश्न 5

1) वृद्धि के लिए उत्तरदायी आर्थिक कारक इस प्रकार हैं :

   (1) पूँजी की उपलब्धता (2) तकनीकी प्रगति (3) उपक्रमता

   (4) मानवीय संसाधन (5) प्राकृतिक संसाधन (6) पूँजी तथा पूँजी-उत्पादन अनुपात

2) वैश्वीकरण की नीति, विकास की बहिर्मुखी रणनीति है। इसमें वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी, तकनीकी तथा श्रम का बिना किसी नियंत्रण के आवागमन शामिल होता है। विदेशी विनियोग तथा पूँजी के आने के साथ ही बचत तथा पूँजी निर्माण में वृद्धि की प्रत्याशा रहती है।

3) अर्थव्यवस्था में हाल ही में हुए नीतिगत परिवर्तन जुलाई 1991 में औद्योगिक नीति की घोषणा के साथ ही शुरू हुए। इसके साथ ही अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों जैसे व्यापार, वित्त, बीमा बैंकिंग, कर दरों इत्यादि में महत्त्वपूर्ण नीतिगत परिवर्तन भी किए गए हैं।

बोध प्रश्न 6

1) ढाँचागत परिवर्तन अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में किए गए अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हैं। ढाँचागत परिवर्तन तब होते हैं जबकि विभिन्न क्षेत्रों जैसे प्राथमिक क्षेत्र, विनिर्माण क्षेत्र तथा सेवा क्षेत्र का राष्ट्रीय उत्पाद, में आनुपातिक भाग बदलता है। इस प्रकार ढाँचागत परिवर्तन उत्पादन के ढाँचे में हुए परिवर्तन को व्यक्त करता है।

2) उप-भाग 2.6.1 देखें और उत्तर दें।

3) उप-भाग 2.6.2 को देखें और उत्तर दें।

4) 1991 में प्राथमिक क्षेत्र में कुल कार्यशील जनसंख्या का 65.5 प्रतिशत लगा हुआ था।

5) 1974 में भारत में सकल घरेलू उत्पाद का 30 प्रतिशत भाग कृषि से आता था जबकि संयुक्त राज अमेरिका में तथा चीन में यह प्रतिशत क्रमशः 2 से 3 प्रतिशत तथा 21 प्रतिशत था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 3 वर्तमान समस्याएँ एवं विचारणीय मुद्दे

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 गरीबी, बेरोज़गारी एवं असमानता की समस्या

- 3.2.1 गरीबी का माप
- 3.2.2 गरीबी का आकार
- 3.2.3 गरीबी के कारण
- 3.2.4 सरकारी नीति

3.3 जनसंख्या की समस्या

3.4 आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि

3.5 बढ़ती कीमतों की समस्या

3.6 सरकार की भूमिका एवं सार्वजनिक उपक्रम

3.7 काली अर्थव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार

3.8 निम्न उत्पादकता की समस्या

3.9 भुगतान-शेष की समस्या

3.10 राजकोषीय बाधाएं

3.11 विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ

3.12 पर्यावरण ह्रास की समस्या

3.13 सारांश

3.14 शब्दावली

3.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- भारतीय अर्थव्यवस्था की विद्यमान संरचना का वर्णन कर सकें,
- अंतरराष्ट्रीय परिवेश में भारतीय अर्थव्यवस्था में उपलब्ध स्थिति की समीक्षा कर सकें,
- अर्थव्यवस्था के समक्ष विभिन्न समस्याओं का विश्लेषण कर सकें,
- आर्थिक नीति-निर्धारकों द्वारा जिन कठिनाइयों का सामना करना होता है, उनकी चर्चा कर सकें; तथा
- अर्थव्यवस्था के विभिन्न पहलुओं में पाए जाने वाले परस्पर संबंधों का वर्णन कर सकें।

3.1 प्रस्तावना

अपने अध्ययन में हम अब तक इकाई-1 और इकाई-2 में यह जानकारी प्राप्त कर सके हैं कि

क) स्वतंत्रता के साथ देश में विकराल रूप से फैली गरीबी हमें धरोहर के रूप में मिली; तथा

ख) गरीबी से निपटने के लिए हमने विकास कार्यक्रम आरंभ किए। इस क्रम में 1 अप्रैल, 1951 को पहली पंचवर्षीय योजना आरंभ की गई। योजनावधि में भारत के आर्थिक ढाँचे में अनेक तरह के मौलिक परिवर्तन दिखलाई दे रहे हैं। किंतु, साथ ही, भारतीय अर्थव्यवस्था के समक्ष अनेक समस्याएँ भी आ खड़ी हुई हैं जिनके गहन अध्ययन करने की आवश्यकता है। इनमें से कुछ समस्याएँ और मुद्दे तो हमें निपटने के लिए ही हमने योजनाबद्ध विकास के कार्यक्रम को अपनाया। इन समस्याओं में प्रमुख है– विस्तृत रूप से फैली गरीबी की समस्या, जिसके साथ जुड़ी हैं बेरोज़गारी एवं आय में विषमता की समस्या। कुछ अन्य समस्याओं का हमें विकास-क्रम के दौरान आभास हुआ है अर्थात् ये विकास-क्रम में उदित हुईं जैसे बढ़ती कीमतों की समस्या, सार्वजनिक उपक्रमों की निम्न दर्जे की निष्पादनता, पर्यावरण-ह्रास, आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि, क्षेत्रीय विषमताएँ, वित्तीय संसाधनों की अपर्याप्तता आदि। वैसे तो हम इन सभी मुद्दों की विस्तृत जानकारी इस पाठ्यक्रम के दौरान अलग-अलग इकाइयों में देते रहेंगे, किंतु यहाँ पर हम एक जगह इन सभी मुद्दों की संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करेंगे। इस प्रकार के अध्ययन से विद्यार्थीगण भारतीय अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।

3.2 गरीबी, बरोज़गारी एवं असमानता की समस्या

पिछली कुछ शताब्दियों से चिर-स्थायी गरीबी हमें घेर रही है। योजनावधि में किए गए भरसक ठोस प्रयासों के बावजूद भी इस परिस्थिति से पूरी तरह से निपटना हमारे लिए अभी तक संभव नहीं हो सका है।

3.2.1 गरीबी का माप

गरीबी के आकार के बारे में जानकारी "गरीबी-रेखा" की अवधारणा की सहायता से ली जा सकती है। गरीबी-रेखा अथवा गरीबी की रेखा आय का वह स्तर है जिससे उपभोक्ता अपने पात्र जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ जुटा पाता है। भारत में गरीबी-रेखा का निर्धारण निम्न प्रकार किया जाता है :

i) जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक न्यूनतम पोषण की मात्रा निर्धारित कर दी गई है। ग्रामीण क्षेत्र में एक व्यक्ति को प्रतिदिन अपने जीवन निर्वाह के लिए 2400 कैलोरी के बराबर पोषक तत्त्व मिलने चाहिए जबकि शहरी क्षेत्रों में यह मात्रा 2100 कैलोरी हो सकती है। ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक पोषक तत्त्वों की आवश्यकता इस कारण से होती है कि ग्रामीण लोगों द्वारा की जाने वाली दैनिक क्रियाओं में अधिक शारीरिक शक्ति का प्रयोग किया जाता है।

ii) इस न्यूनतम मात्रा में पोषक तत्त्व प्राप्त करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में 1973-74 की कीमतों पर प्रति व्यक्ति मात्र 49.1 रुपये की आय की आवश्यकता होती है जबकि शहरी क्षेत्रों में 56.6 रुपये की आवश्यकता होती है। आय की यह मात्रा 1973-74 की कीमतों के आधार पर निर्धारित की गई है। यदि कीमतों में वृद्धि हो जाती है तो आय की मात्रा भी बढ़ानी होती है और गरीबी-रेखा के स्तर में भी परिवर्तन आता है। उदाहरण के तौर पर, 1992-93 की कीमतों पर ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों के लिए यह क्रमश: 228.00 रुपये और 264.00 रुपये प्रति माह निर्धारित की गई थी।

iii) गरीबी-रेखा की परिभाषा परिवार के स्तर पर की गई है। एक परिवार में सामान्यत: 5 सदस्य रहते हैं। इस प्रकार, उस ग्रामीण परिवार को गरीबी रेखा के नीचे माना जाता है जिसकी वार्षिक आय 1992-93 की कीमतों पर 13,680.00 रुपये से कम होती है। इस आय-स्तर का निर्धारण निम्न प्रकार किया गया है :

228.00 रुपये × 5 सदस्य × 12 माह = 13,680.00 रुपये

इसी प्रकार, शहरी परिवारों के लिए यह सीमा 15,840.00 रुपये पर निर्धारित की गई है। यह गणना निम्न प्रकार की गई है :

224.00 रुपये × 5 सदस्य × 12 माह = 15,840.00 रुपये

3.2.2 गरीबी का आकार

उपरोक्त रूप से परिभाषित गरीबी-रेखा को आधार मानकर योजना आयोग समय-समय पर भारत में गरीबी-रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुमान लगाता रहा है। इन अनुमानों का संक्षिप्त ब्यौरा तालिका-1 में प्रस्तुत किया गया है :

तालिका-1 : गरीबी-रेखा के नीचे रहने वाली जनसंख्या का अनुपात

प्रतिशत

क्षेत्र	1972-73	1977-78	1987-88	1993-94
ग्रामीण	54.10	51.20	39.09	37.27
शहरी	41.20	38.20	38.20	32.36
कुल	51.50	48.30	38.86	35.97

तालिका-1 से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

1) भारत की एक-तिहाई से अधिक जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे रहती है।

2) ग्रीमीण क्षेत्रों की अपेक्षा गरीबी का आकार अधिक विकराल है।

3) पिछले दशक में हालाँकि गरीबी के अनुपात में गिरावट आई है, लेकिन, चूँकि भारत की जनसंख्या तेज़ गति से बढ़ती रही है, परिणामस्वरूप गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले व्यक्तियों की संख्या भी बराबर बढ़ती रही है।

3.2.3 गरीबी के कारण

भारत में विस्तृत रूप से फैली गरीबी का प्रमुख कारण है– धीमी गति से आर्थिक विकास। साथ ही, रोज़गार के अवसरों में धीमी गति से वृद्धि तथा आय-वितरण में पाई जाने वाली विषमताओं ने भी गरीबी के प्रसार में योगदान दिया है।

MADHYAM IAS

i) **आर्थिक विकास की धीमी दर** : योजनावधि के दौरान आर्थिक विकास की औसत वार्षिक दर लगभग 4 प्रतिशत रही है। चूँकि इस अवधि में जनसंख्या भी लगभग 2 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ती रही है, परिणामस्वरूप 1951-99 की अवधि में प्रति-व्यक्ति आय में मात्र 2 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है। विकास की यह दर अनेक दृष्टियों से अपर्याप्त समझी जानी चाहिए :

   क) यह विकास दर विभिन्न योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों से कम रही है;

   ख) यह विकास दर द0 कोरिया, ताइवान, मलेशिया, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड, सिंगापुर, हांगकांग, आदि अन्य विकासशील देशों की विकास दर की तुलना में बहुत कम रही है।

   ग) विकास की यह दर हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम रही है।

विकास-दर की अपर्याप्तता इस बात से पूरी तरह सिद्ध हो जाती है कि हालाँकि योजनावधि में भारतीय अर्थव्यवस्था में अनेक मौलिक संरचनात्मक और संस्थागत परिवर्तनों का आविर्भाव हुआ है, किंतु गरीबी का आकार लगभग पूर्ववत् ही बना हुआ है।

ii) **रोज़गार के अपर्याप्त अवसर** : भारतीय अर्थव्यवस्था में नए रोज़गार के अवसरों के निर्माण करने की सीमित क्षमता ही बनी रही है। श्रम-बहुलता एवं अति-जनसंख्या वाली भारतीय अर्थव्यवस्था में गरीबी पर उसी परिस्थिति में काबू पाया जा सकता है जबकि आर्थिक विकास के साथ-साथ रोज़गार के नए-नए अवसरों का निर्माण हो। रोज़गार के नए अवसरों की निर्माण दर कार्यशील जनसंख्या की वृद्धि दर से अधिक होनी चाहिए। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में न केवल विद्यमान श्रम-शक्ति को रोज़गार मिल पाता है, बल्कि बढ़ती हुई श्रम-शक्ति आर्थिक विकास में रोज़गार के माध्यम से सक्रिय योगदान दे पाती है। इस तरह गरीबी स्वत: ही मिट जाती है।

किंतु यदि इसके विपरीत, रोज़गार के नए-नएं अवसरों की वृद्धि दर श्रम-शक्ति की वृद्धि-दर से कम होती है तो बढ़ती हुई श्रम-शक्ति का एक हिस्सा बेरोज़गार बना रहता है।

बेरोज़गार का अर्थ है– आय के साधन का अभाव जो गरीबी का पर्यायवाची है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में रोज़गार-सृजन की शक्ति बहुत ही सीमित रही है। विशेष रूप से विनिर्माण उद्योगों में तो यह नगण्य रही है। परिणामत: बढ़ती श्रम-शक्ति अपने लिए जीवन-निर्वाह के साधन जुटाने के वास्ते कृषि पर निर्भर बनी रही है। कृषि क्षेत्र में भी उत्पादकता का स्तर निम्न दर्जे का होने का कारण अतिरिक्त श्रमिकों को रोज़गार प्रदान करने की क्षमता सीमित ही बनी रही है। परिणामस्वरूप बेरोज़गारी और गरीबी का प्रसार होता रहा है। (विस्तृत अध्ययन के लिए खंड-8 की इकाई संख्या-20 देखिए)

iii) **आय वितरण में विषमताएँ :** स्थिति का अध्ययन करते समय हमें भारत में आय-वितरण पर भी ध्यान देना होगा। योजनावधि में अतिरिक्त आय का नि:संदेह निर्माण हुआ है, लेकिन, चूँकि गरीबी मिट नहीं पाई है इसलिए इसका यह अर्थ भी लगाया जा सकता है कि इस दौरान जिस अतिरिक्त आय का निर्माण किया गया वह सारी आय या उसका बड़ा हिस्सा कुछेक व्यक्तियों के हाथों में चला गया और शेष इसके उपयोग से वंचित रह गए। स्पष्ट रूप से सम्पन्न वर्ग इस प्रक्रिया से लाभान्वित हुआ है जबकि विपन्न वर्ग ताकता रहा है। यह बात इस विषय से सम्बद्ध अनेक अध्ययनों से साफ झलकती है। हम इनमें से कुछ के परिणाम तालिका-2 में प्रस्तुत कर रहे हैं :

तालिका-2 : भारत में आय का वितरण

स्रोत	NCAER(1964-65)	विश्व-बैंक(1994)
ऊपर के 10% वर्ग का हिस्सा	33.5	25.0
नीचे के 20% वर्ग का हिस्सा	7.5	9.2

तालिका-2 से स्पष्ट है कि उच्च आय वर्ग द्वारा राष्ट्रीय आय का बड़ा हिस्सा हथिया लिया गया है। जबकि उच्च आय वर्ग में 10 प्रतिशत लोग देश की कुल आय के लगभग 25 प्रतिशत भाग का उपयोग कर पाते हैं। निम्न आय वर्ग के 20 प्रतिशत लोगों के हाथ मात्र 9 प्रतिशत आय ही आ पाती है।

VAADHYAM IAS
way to achieve your dream

आय के असमान वितरण के लिए ज़िम्मेदार प्रमुख कारण है सम्पत्ति के स्वामित्व में पाए जाने वाली विषमताएँ। ग्रामीण जीवन तो पूरी तरह से भूमि के स्वामित्व से जुड़ा हुआ है। यदि आपके पास भूमि है तो आप सम्पन्न हैं, यदि आप भूमि-विहीन हैं तो आप विपन्न वर्ग से हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि के स्वामित्व में तीखी विषमताएँ पाई जाती हैं। जबकि कुल जोतों की संख्या में 10 हेक्टेयर या इससे बड़ी आकार वाली जोतों का अनुपात मात्र 5 प्रतिशत है, किंतु इनके अधीन कुल खेती-योग्य भूमि का 50 प्रतिशत हिस्सा है। इसके विपरीत, 2.5 हेक्टेयर या उससे छोटी जोतें कुल जोतों की 55 प्रतिशत से अधिक हैं किंतु उनके अंतर्गत कुल भूमि का केवल 10 प्रतिशत हिस्सा ही है। ये तथ्य ग्रामीण क्षेत्रों में व्याप्त विषमताओं का सही परिचायक है।

इसी तरह, शहरी क्षेत्रों में पूँजी, तकनीक और दक्षता आदि में विभिन्नता के रूप में विषमताएँ दिखलाई देती हैं। वे व्यक्ति अथवा वर्ग-समूह जिनके पास ये संसाधन प्रचूर मात्रा में उपलब्ध हैं, वे धनी और सम्पन्न हैं। इन संसाधनों से विहीन वर्ग गरीब है।

3.2.4 सरकारी नीति

गरीबी के स्वरूप और कारणों के अनुरूप भारत में सरकार की नीति को ढाला गया है। इस दृष्टिकोण से हम 1951-99 की समस्त अवधि को दो भागों में बाँट सकते हैं : (क) 1951-75 की अवधि; और (ख) 1975 के बाद की अवधि। आइए, अब इन दोनों भागों पर पृथक-पृथक विचार किया जाए।

क) 1951-75 की अवधि में गरीबी से निपटने के लिए सरकार प्रमुख रूप से तीव्र आर्थिक विकास पर ही अपने प्रयास केंद्रित रखी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि तेज़ गति से आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में जिस अतिरिक्त आय का सृजन होगा उससे गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवार भी लाभान्वित होंगे और इस प्रकार गरीबी को मिटाना संभव हो पाएगा। तेज़ गति से

आर्थिक विकास में गरीबी को मिटाने की क्षमता के बारे में सरकार का विश्वास एक अन्य मान्यता पर आधारित था। इस मान्यता को हम "नीचे की ओर प्रवाह" (Trickle-down) का नाम देते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आय किसी भी स्तर पर निर्मित की जाए इसका कुछ भाग अनिवार्य रूप से नीचे के स्तर की ओर प्रवाहित होता है जिसके लाभ निम्न आय वर्ग को प्राप्त होते हैं। आर्थिक विकास के साथ-साथ कुछ राजकोषीय उपाय भी अपनाए गए जिनका उद्देश्य आय एवं उत्पादक निधियों का पुनर्वितरण करना था। साथ ही, रोज़गार के नए अवसरों के निर्माण के भी प्रयास किए गए। किंतु, यह स्पष्ट है कि गरीबी से निपटने की इस युक्ति से हमें सीमित सफलताएँ ही प्राप्त हुईं। गरीबी का भार पूर्ववत् बना रहा।

ख) 1975 के बाद की अवधि में सरकार गरीबों के पक्ष में सीधे हस्तक्षेप की नीति का पालन कर रही है। इसके लिए सरकार ने अनेक गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों का आयोजन किया है। जैसे, समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP), जवाहर रोज़गार योजना (JRY), रोज़गार वायदा स्कीम (EAS), प्रधानमंत्री रोज़गार योजना (PMRY) आदि। विभिन्न गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रमों के समक्ष लक्ष्य है– रोज़गार के अवसरों का निर्माण करना। इन रोज़गार के अवसरों के लाभ गरीबी रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों को उपलब्ध करवाए जाते हैं। रोज़गार के अवसरों का निर्माण दो तरीकों से किया जा सकता है। (i) सरकार किन्हीं पूँजीगत परियोजनाओं का आयोजन करती है और गरीब परिवार के लोगों को मज़दूरी के बदले रोज़गार प्रदान करती है; और (ii) सरकार अपेक्षित हितार्थियों को वित्तीय सहायता प्रदान करती है जिसके द्वारा ये परिवार अपने लिए कुछ छोटे-मोटे धंधे का प्रबंध कर पाते हैं। इन सभी कार्यों के लिए सरकार द्वारा अपने बजट में से अथवा वित्तीय संस्थाओं से संसाधनों की व्यवस्था की जाती है।

नई आर्थिक नीति एवं न्यूनतम आर्थिक कार्यक्रम में इस बात को दोहराया गया है कि सरकार गरीब वर्ग के पक्ष में सीधे हस्तक्षेप की नीति को जारी रखेगी।

बोध प्रश्न 1

1) हम देश में गरीबी के आकार का अनुमान किस तरह लगा सकते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) गरीबी-रेखा के नीचे रहने वाले वर्गों की पहचान करें।

.....

.....

.....

.....

3) भारत में गरीबी के तीन प्रमुख कारण बतलाएँ।

.....

.....

.....

3.3 जनसंख्या की समस्या

गरीबी के साथ ही जुड़ी हुई बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या है। वस्तुत: गरीबी बढ़ती जनसंख्या का परिणाम भी है और कारण भी।

सामान्यत: बड़े आकार की और बढ़ती हुई जनसंख्या को आर्थिक विकास के अनुकूल माना जाना चाहिए। जनसंख्या ही सर्वप्रमुख और सबसे अधिक सक्रिय उत्पत्ति के संसाधन, अर्थात् श्रम की आपूर्ति का स्रोत है। श्रम की पर्याप्त आपूर्ति की अवस्था में अर्थव्यवस्था में उपलब्ध अन्य संसाधनों, विशेष रूप से प्राकृतिक संसाधनों, का समुचित प्रयोग संभव हो पाता है। श्रम के अभाव में उपलब्ध संसाधन बेकार पड़े रहते हैं और अर्थव्यवस्था की विकास-क्षमताएँ अप्रयुक्त रहती हैं।

इसी तरह, बड़े आकार की जनसंख्या वाले देश में बड़े आकार के उत्पादन से प्राप्त वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग की अपार शक्ति होती है जोकि उपक्रमियों के निवेश करने की प्रेरणा प्रदान करती है। निवेश की प्रेरणा अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास के अवसर प्रदान करती है जिससे आय, उपभोग, बचत और पूँजी निर्माण के स्तर में सुधार आ पाता है।

उपरोक्त कारणों से यह सामान्य धारणा बनी रही है कि जनसंख्या की वृद्धि आर्थिक विकास के अनुकूल समझी जानी चाहिए।

किंतु भारत जैसे देशों में परिस्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। यहाँ जनसंख्या का आकार बड़ा है और जनसंख्या आगे भी बढ़ रही है। किंतु ऐसे देशों में, विकास के लिए आवश्यक अन्य पूरक साधन जैसे विशेष रूप से पूँजीगत सामान पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। पूरक संसाधनों की अनुपब्धि की परिस्थिति में जन-शक्ति का एक बड़ा भाग बेरोज़गार बना रहता है। जन-शक्ति का यह भाग राष्ट्रीय उत्पाद के निर्माण में तो किसी तरह का योगदान नहीं करता, किंतु इनके जीवन-निर्वाह के लिए राष्ट्र को इनके उपभोग पर व्यय करना पड़ता है। इस प्रकार के व्यय को हम "जनसांकिकीय निवेश" (Demographic investment) का नाम देते हैं। इस प्रकार के निवेश से राष्ट्रीय उत्पादन क्षमता का कोई विस्तार नहीं होता। कुल राष्ट्रीय निवेश में इस प्रकार के निवेश का जितना अधिक हिस्सा होगा राष्ट्र की आर्थिक विकास की दर उतनी ही धीमी पड़ती रहेगी।

भारतीय परिस्थितियों में बढ़ती जनसंख्या हमारे आगे बढ़ते कदमों की गति को बाँधे रखती है। अत: इस समस्या का यथाशीघ्र हमें कोई उपाय ढूँढ निकालना होगा।

बोध प्रश्न 2

1) बढ़ती जनसंख्या तीव्र गति से आर्थिक विकास में किस प्रकार योगदान देती है? दो तरीके बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) बढ़ती जनसंख्या आर्थिक विकास में क्या बाधाएँ प्रस्तुत करती हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3.4 आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि

वे सभी मुद्दे और समस्याएँ जो कि भारतीय अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं और जिनके बारे में हम अब तक बाते करते हैं उन सबका शीघ्र ही निपटारा हो जाता है यदि हम देश में आर्थिक विकास की गति तेज़ कर पाते।

किंतु, आर्थिक विकास मंद गति से ही हो पाया है। मंद गति से आर्थिक विकास के लिए ज़िम्मेदार प्रमुख कारण है समुचित आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धता। आधारिक ढाँचे से अभिप्राय उन समस्त सहयोगी सेवाओं से है जो कृषि, उद्योग आदि प्रत्यक्ष उत्पादन इकाइयों की उत्पादन क्रियाओं को निरंतरता प्रदान करने में सहायक होती हैं।

ढाँचे आधारिक को हम दो भागों में बाँट सकते हैं : (क) आर्थिक आधारिक ढाँचा; एवं (ख) सामाजिक आधारिक ढाँचा।

आर्थिक आधारिक ढाँचे में हम इन सेवाओं को जोड़ते हैं जैसे ऊर्जा, परिवहन एवं संचार की सेवाएँ, सिंचाई, औद्योगिक बस्तियाँ, तकनीकी पार्क आदि।

सामाजिक आधारिक ढाँचे में इसके विपरीत, उन सेवाओं को जोड़ा जाता है जो मानवीय संसाधनों के विकास में योगदान देती हैं जैसे शिक्षा, चिकित्सा की सुविधाएँ, सफाई, पीने के पानी की व्यवस्था, मल-निकासी आदि।

आधारिक ढाँचे की अपर्याप्तता विकास-क्रम में अनेक बाधाएँ प्रस्तुत करती हैं, जैसे यदि बंदरगाहों में पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध न हों तो माल के आवागमन में अनेक रुकावटें आएँगी, भीड़ बढ़ेगी और परिणामस्वरूप निर्यात के सामान ठीक समय से बाहर नहीं भेजे जा सकेंगे। इसी प्रकार, यदि देश में प्रशिक्षण और उच्च शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएँ नहीं हैं तो व्यापारिक क्षेत्र एवं उद्योगों की प्रशिक्षित श्रमिकों की आवश्यकताएँ पूरी नहीं की जा सकेंगी और उनका विकास रुकेगा।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आधारिक ढाँचे की उपलब्धि इसकी जरूरतों से कहीं कम रही हैं। जरूरतों और उपलब्धि में यह अंतर निरंतर बढ़ता रहा है। इस बात के अनेक प्रत्यक्ष प्रमाण सामने हैं जैसे सभी प्रकार की सेवाओं पर बढ़ते दबाव, सड़कों पर भारी भीड़, रेलों, पत्तनों एवं हवाई सेवाओं की अपर्याप्त आपूर्ति, ऊर्जा की कटौती, संचार की पुरानी व्यवस्था, विस्तृत अशिक्षा, निम्न-स्तरीय जीवन आदि।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि के लिए ज़िम्मेदार प्रमुख कारण यह है कि हम अपनी योजनाओं में आधारिक ढाँचे की सेवाओं के विस्तार के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधनों की व्यवस्था नहीं कर पाए। दूसरी ओर, चूँकि अर्थव्यवस्था में सामान्य विकास-प्रक्रिया जारी है, परिणामत: आधारिक ढाँचे की आवश्यकताएँ क्रमश: बढ़ती जा रही हैं।

वर्तमान में जबकि आर्थिक परिवेश बदल चुका है और भारतीय अर्थव्यवस्था विश्वीय अर्थव्यवस्था के साथ तेज़ गति से जुड़ती जा रही है, यह आवश्यक है कि आधारिक ढाँचे की कमियों को यथाशीघ्र दूर किया जाए। यदि हम इस क्षेत्र में शीघ्र ही सफल नहीं हो पाते तो हम अंतरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में बहुत ज्यादा पिछड़ जाएँगे और भारत दूसरे देशों की तुलना में बहुत पिछड़ा देश बनकर रह जाएगा। अत: आवश्यक है कि आधारिक ढाँचे के विकास के लिए पर्याप्त वित्तीय एवं अन्य संसाधनों की शीघ्र ही व्यवस्था की जाए। (विस्तृत अध्ययन के लिए खंड-3 की इकाई संख्या-11 देखिए)

3.5 बढ़ती कीमतों की समस्या

गरीबी-उन्मूलनों और आर्थिक विकास दोनों ही दृष्टियों से कीमतों के निरंतर बढ़ने की प्रवृत्ति चिंता का विषय है। कीमतों के लगातार बढ़ने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति को मुद्रा-स्फीति का नाम दिया जाता है। भारत में पाँचवे दशक के मध्य में विकास कार्यक्रमों की कोख में से मुद्रा-स्फीति उदित हुई और उसके बाद से सामान्य कीमत-स्तर के निरंतर बढ़ने की प्रवृत्ति बनी रही है, हालाँकि कीमत-वृद्धि की दर में कम वृद्धि होती रही है।

एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए मुद्रा-स्फीति बहुत बड़ी चिंता का विषय नहीं होना चाहिए। यह विशेष रूप में उस परिस्थितियों में सच होगा जबकि निवेशक-वर्ग और उपभोक्ता-वर्ग मुद्रा-स्फीति की दर का पूर्वानुमान लगाने के योग्य होते हैं एवं उसके अनुरूप अपने आचरण को ढाल लेते हैं। किंतु, वास्तव में होता क्या है कि समुचित संगठनों के अभाव में जिस प्रकार आर्थिक संस्थाएँ और प्रशासनिक प्रणालियाँ काम करती हैं बढ़ती कीमतों पर काबू पा लेना असंभव हो जाता है। जब कीमतें बेकाबू हो जाती हैं तो ये अस्थिरता को जन्म देती है। अस्थिरता के साथ ही जुड़ी है अनिश्चितता जोकि निवेशकर्त्ताओं को बाध्य करती है कि निवेश संबंधी निर्णय कुछ समय के लिए टाल दिए जाएँ। आर्थिक क्रियाएँ अपनी गति खो बैठती हैं, आर्थिक विकास रुक जाता है।

भारत के अनुभवों से यह स्पष्ट है कि मुद्रा-स्फीति पर लगाम लगाना एक दुष्कर कार्य है।

मुद्रा-स्फीति की समस्या से निपटने के लिए आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था में उत्पादकता और उत्पादन की मात्रा में सुधार किया जाए। मुद्रा-स्फीति उत्पादों के माँग-आपूर्ति में पाए जाने वाले असंतुलन को परिलक्षित करती है। यदि इसी असंतुलन को दूर कर दिया जाए तो मुद्रा-स्फीति काबू में आ जाएगी। (विस्तृत अध्ययन के लिए अगली इकाई यानि कि इकाई-4 देखिए)

3.6 सरकार की भूमि एवं सार्वजनिक उद्यम

जैसा कि हम पहले भी अध्ययन कर आए हैं कि स्वतंत्र भारत को एक दुर्बल पिछड़ी हुई अर्थव्यवस्था धरोहर के रूप में मिली। स्वतंत्र भारत में हमारे प्रयास "सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास" पर केंद्रित रहे। प्रस्तावित लक्ष्य की प्राप्ति सरकार के सक्रिय योगदान के बिना संभव नहीं थी। अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में सरकार के सक्रिय योगदान की अपेक्षा की जा रही थी, भले ही यह उद्योग हों अथवा व्यापार। सरकार से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अर्थव्यवस्था में उपलब्ध संसाधनों के समुचित विकास की योजना बनाएगी एवं उस योजना को लागू करने के लिए पर्याप्त साधन जुटाएगी। सरकार से यह भी अपेक्षा की जाती थी कि निर्धारित क्षेत्रों में सरकारी स्वामित्व वाले कारखानों की स्थापना की जाएगी।

आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाओं को माध्यम बनाया गया। अर्थव्यवस्था की बागडोर सार्वजनिक क्षेत्र को सौंपने की व्यवस्था की गई। निजी पूँजी एवं उद्यम को पूर्व-निर्धारित दिशाओं में प्रवाहित करने के लिए नियंत्रणों एवं नियमनों की विस्तृत शैली तैयार की गई। अंदर की ओर उन्मुख व्यापार नीति अपनाई गई। हमारी व्यापार नीति का केंद्र-बिंदु आयात-प्रतिस्थापन रहा न कि निर्यात-संवर्द्धन। ऊँचे संरक्षनात्मक तटकरों द्वारा घरेलू उद्योगों को बढ़ने-फूलने के अवसर दिए गए। विदेशी पूँजी के अंतर्वाह (Inflow) पर रोक लगा दी गई। विदेशी पूँजी को या तो ऋणों के रूप में प्राप्त किया गया अथवा घरेलू उद्यमियों के साथ अल्पमत शेयरधारी के रूप में संयुक्त रूप से कार्य करने की अनुमति दी गई।

स्पष्ट रूप से आर्थिक विकास का बीड़ा सरकार ने अपने ऊपर उठाया। आर्थिक क्रियाओं से सम्बद्ध सभी निर्णय सरकार की ज़िम्मेदारी बनकर रह गए। सरकार का कार्य-क्षेत्र और ज़िम्मेदारी अर्थव्यवस्था में डबलरोटी और दूध के उत्पादन से लेकर बड़े-बड़े बिजली के संयंत्रों और अन्य सारी पूँजीगत सामान के उत्पादन एवं आपूर्ति तक फैल गए।

समस्याएँ उस समय उठ खड़ी हुईं जब सरकार अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप पर्याप्त मात्रा में संसाधन जुटाने में असमर्थ सिद्ध हुई। घरेलू वित्तीय संसाधनों की आपूर्ति के लिए बड़ी मात्रा में घरेलू ऋणों की व्यवस्था की जरूरत आ पड़ी। इस प्रकार से प्राप्त पूँजी का उपयोग वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति में किया गया। इसी तरह, विदेशी ऋणों के बोझ में चालू खातों के भुगतान-शेष के घाटे गंभीर रूप धारण करते गए। घरेलू उत्पादन ढाँचा विदेशी प्रतिस्पर्धा के थपेड़ों को सहन करने में असमर्थ था चूँकि इसका तो सारा लालन-पालन ही एक असहाय शिशु के रूप में संरक्षण द्वारा हुआ था।

नवें दशक के आरंभ में यह महसूस किया गया कि सरकार की भूमिका पर पुन: गौर करना होगा। विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों से सरकार की वापसी का क्रम आरंभ हो गया। इसकी जगह निजी पूँजी एवं उद्यमी को आगे बढ़ने के लिए उत्साहित किया जाने लगा। यह प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। किंतु सरकार के पीछे हटने के साथ ही कुछ नई समस्याएँ और मुद्दे हमारे सामने आ चुके हैं। इन मुद्दों में विचारणीय है कि आधारिक ढाँचे में निवेश कौन करेगा, सामाजिक क्षेत्रों का बीड़ा कौन उठाएगा, वे क्षेत्र जो कि निजी पूँजी की दृष्टि से कम प्राथमिकता वाले क्षेत्र हैं तथा इनकी अवज्ञा कर दी जाएगी, समाज के दुर्बल और दीन वर्ग के लिए आर्थिक सुरक्षा का प्रबंध कौन करेगा, क्या सामाजिक न्याय और आत्म-निर्भरता के उद्देश्यों को तिलांजलि दे दी जाएगी।

इन विभिन्न मुद्दों पर अभी विचार करना बाकी बचा है। भविष्य की नीति-निर्धारण की प्रक्रिया इन मुद्दों से प्रभावित होगी।

MUKHERJEE IAS
'way to achieve your dream'

3.7 काली अर्थव्यवस्था एवं भ्रष्टाचार

व्यापक सरकारी नियत्रण प्रणाली तथा सर्वत्र राज्य की प्रमुखता के दुष्परिणाम स्वरूप हमें भ्रष्टाचार एवं काली अर्थव्यवस्था जैसी काली घटनाओं को सहन करना पड़ा है। विश्व-भर में 54 देशों के एक सर्वेक्षण से पता चला है कि भारत उन पाँच देशों में है जहाँ भ्रष्टाचार घोर रूप में फैला हुआ है।

भ्रष्टाचार की उत्पत्ति अनेक कारकों से होती है जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

1) आर्थिक संव्यवहारों में पारदर्शिता का अभाव,

2) वस्तुओं और सेवाओं की दुर्लभता और उनके वितरण पर नियंत्रण;

3) लालफीताशाही जो रिश्वत आदि को बढ़ावा देती है, एवं

4) पुराने कानूनों एवं की जटिलता एवं उनकी अव्यवहार्यता।

भ्रष्टाचार के दुष्परिणाम के रूप में उपलब्ध संसाधनों का कुशल उपयोग संभव नहीं हो पाता। आदर्श उपयोग के अभाव में आर्थिक विकास की गति धीमी पड़ जाती है।

भ्रष्टाचार काली अर्थव्यवस्था को बढ़ावा देता है। काली अर्थव्यवस्था में उन आर्थिक संव्यवहारों को शामिल किया जाता है जिनका हिसाब किसी लेखा-जोखा में नहीं रखा जाता और इसकी जानकारी संबंधित सरकारी अधिकारियों को नहीं दी जाती। स्पष्ट रूप से ऐसा करों से बचने के लिए किया जाता है, अन्यथा ऐसे संव्यवहार अवैध होते हैं जिनकी कानून स्वीकृति प्रदान नहीं करता है।

पिछले दशकों में भारत में काली अर्थव्यवस्था के आकार में निरंतर विस्तार होता है और अब यह गंभीर चिंता का विषय बन चुकी है। काली अर्थव्यवस्था जितनी फैलती जाती है सरकारी नियमनों और कानूनों की प्रभावशीलता और कुशलता उसी अनुपात में कम होती जाती है। यह बात अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के लिए समान होती है भले ही यह मौद्रिक पहलू हों या वित्तीय या फिर अन्य कोई।

काले बाज़ार के विस्तार के लिए अनेक कारण जिम्मेदार हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

i) करों की उच्च दरें एवं परोक्ष करों पर प्रत्यक्ष करों की तुलना में अधिक निर्भरता:

ii) प्रजातांत्रिक प्रणाली के अनुरूप चुनावों की प्रणाली जिसमें राजनैतिक दलों को चुनाव लड़ने के लिए भारी राशि खर्च करनी होती है और स्पष्ट रूप से उस राशि की व्यवस्था करनी होती है; एवं

iii) सामान्य नैतिकता के स्तर में आई आम गिरावट।

काली अर्थव्यवस्था से निपटने के लिए सरकार समय-समय पर प्रोत्साहनों एवं दण्डों की संयुक्त नीति का प्रयोग करती रही है। काले धन एवं काली आय वाले लोगों का समय-समय पर अवसर प्रदान किए गए हैं कि वे समानांतर अर्थव्यवस्था के रास्ते को छोड़कर नियमित मार्ग पर चलना शुरू कर दें। किंतु, इस तरह की नीति को कोई विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई है जो इस बात से स्पष्ट है कि काली अर्थव्यवस्था के विस्तार की प्रक्रिया बराबर जारी है।

3.8 निम्न उत्पादकता की समस्या

अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में निम्न दर्जे की उत्पादकता का पाया जाना धीमी गति से आर्थिक विकास का एक प्रमुख कारण है। विभिन्न क्षेत्रों में चाहे व कृषि हो या उद्योग या फिर सेवा क्षेत्र, उत्पादकता का स्तर इस कारण से निम्न दर्जे का है कि यहाँ उत्पादन की पिछड़ी हुई तकनीकों का प्रयोग किया जाता है तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी का अभाव है।

कृषि क्षेत्र में, अपर्याप्त पूँजी निर्माण के कारण नई बेहतर तकनीकों का प्रयोग करना संभव नहीं हो गया है। भारतीय कृषक वर्ग प्रमुख रूप से कृषि को जीवन-निर्वाह का ही साधन समझते आए हैं ताकि वे अपनी दो जून की आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। उनके पास किसी तरह की बचत की गई सम्पत्ति या पूँजी नहीं होती।

इसके विपरीत, बड़े-बड़े किसान खेती-बाड़ी से बड़ी मात्रा में आय कमाते हैं। लेकिन यह वर्ग भी अर्जित आय का प्रयोग खेती-बाड़ी में सुधार के लिए न करके गैर-कृषि कार्यों में अपनी बचत खर्च कर देते हैं। आधुनिक तकनीकी जानकारी एवं उपकरणों के प्रयोग से वंचित कृषि-क्षेत्र में उत्पादकता निम्न दर्जे की बनी रहती है।

इसी तरह, औद्योगिक क्षेत्र में आधुनिक पूँजीगत सामान और तकनीकों के प्रयोग के अभाव के कारण उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। आधुनिक तकनीक पूँजी-गहन तकनीक हैं। इन तकनीकों का प्रयोग प्रमुख रूप से उन उद्योगों में किया जाता है जिन्हें पैमाने की मितव्ययिताएँ प्राप्त होती हैं। तकनीक के पूँजी-गहन स्वरूप का यह भी तात्पर्य है कि बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए उत्पादन-संगठन को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय संसाधनों की आपूर्ति की भी समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। ये सुविधाएँ प्राय: हमारे उद्योगों को उपलब्ध नहीं होतीं। इसी तरह, बड़े पैमाने की मितव्ययिताएँ उसी परिस्थिति में प्राप्त की जा सकती हैं जबकि बाज़ार का विस्तृत आकार उपलब्ध हो। लेकिन, घरेलू बाज़ार की सीमितता तथा विदेशी बाज़ारों में अपना बेचने की अक्षमता के कारण बाज़ार का आकार सीमित ही बना रहता है।

पुन:, सामाजिक और आर्थिक आधारिक ढाँचे के अभाव में उत्पादकता का स्तर नीचे दर्जे का बना रहता है।

उत्पादकता के निम्न स्तर की परिस्थिति में उत्पादन लागत अपेक्षाकृत ऊँची होती है। ऊँची लागतों के कारण प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। पिछड़ा हुआ उत्पादक प्रतिस्पर्धा के दबाव में और पिछड़ता जाता है और उसकी उत्पादकता का ह्रास होता रहता है।

विभिन्न विकास कार्यक्रमों की सफलता बहुत कुछ उत्पादकता के स्तर में सुधारों पर निर्भर करती है। उत्पादकता के स्तर में सुधार से ही आर्थिक विकास की गति तेज़ करना संभव हो पाएगा। उत्पादकता-सुधार से संसाधनों की उपलब्धि बढ़ेगी जिसके परिणामस्वरूप उन सभी समस्याओं का अपने-आप ही समाधान निकल आएगा जो कि संसाधनों की सीमीत उपलब्धता के कारण उत्पन्न होती है।

3.9 भुगतान-शेष की समस्या

भुगतान-शेष (BOP), वार्षिक विवरणिका है जिसमें एक देश के शेष-विश्व के साथ होने वाले आर्थिक संव्यवहारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है। इन संव्यवहारों को गुप्त के रूप में मापा जाता है। एक देश द्वारा टेकनालॉजी समेत विविध वस्तुओं एवं सेवाओं का निर्यात किया जा सकता है जिसके बदले में इसे विदेशों से सामान्य रूप से स्वीकार्य विदेशी मुद्रा (जिसे सुदृढ़ विदेशी मुद्रा का नाम दिया जाता है) प्राप्त होती है। इसी तरह, इस देश द्वारा आयात की गई समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के भुगतान विदेशी मुद्रा में किए जाते हैं। स्पष्टत: देश की बढ़ती हुई आयात आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि निर्यातों की मात्रा बढ़ाई जाए जिससे कि आवश्यक विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सके।

दूसरे शब्दों में, निर्यात के बदले प्राप्त विदेशी मुद्रा के अन्तर्वाह आयात के बदले भुगतान किए गए विदेशी मुद्रा के बहिर्वाह के बराबर होने चाहिए। यदि अन्तर्वाह की राशि बहिर्वाह से कम होती है तो देश के भुगतान-संतुलन में घाटे की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस घाटे का वित्तीयन उपलब्ध विदेशी मुद्रा रिज़र्वों से किया जा सकता है। अन्यथा इसका वित्तीयन विदेशों से ऋण लेकर या विदेशियों द्वारा घरेलू बाज़ार में निवेश को प्रेरित कर किया जा सकता है। इस तरह भुगतान-शेष के घाटे अल्पकाल में विकास प्रक्रिया पर किसी तरह की रोक नहीं लगाते हालाँकि दीर्घकाल में ऋण-सेवा और निवेश आय के वापिस जाने से उत्पन्न बोध असहनीय हो सकता है।

ऐसी परिस्थिति में जबकि भुगतान शेष के घाटों का वित्तीयन नहीं किया जा सकता है। यह अनिवार्य होगा कि आयात की मात्रा में कटौती की जाए। आयातों में कमी से देश में विकास-प्रक्रिया धीमी पड़ जाती है।

भारत की भुगतान-शेष की स्थिति को उपरोक्त संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। प्रथम पंचवर्षीय योजना के साथ आयोजनबद्ध विकास कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

इस दौरान घरेलू आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए भारी मात्रा में उपभोक्ता एवं पूँजीगत वस्तुओं तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात की आवश्यकता बन पड़ी। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि समस्त आयातों का भुगतान निर्यातों के बदले प्राप्त विदेशी मुद्रा द्वारा करना सम्भव

हो पाएगा। परिणामत: बड़ी मात्रा में विदेशी पूँजी निवेश को हतोत्साहित किया गया। बढ़ते विदेशी ऋणों के बोझ में भुगतान-शेष के घाटे बढ़ते गए। हम इसी आशा से नए और नए ऋण लेते गए कि हम जल्दी ही निर्यात-योग्य अतिरेक का निर्माण कर आवश्यक विदेशी मुद्रा कमाने में समर्थ हो जाएँगे।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। हमारे निर्यातों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि सम्भव नहीं हो पाई। हमारा ऋण-बोझ निरन्तर बढ़ता गया। ऋण-सेवा के रूप में हमारे विदेशी मुद्रा के खर्चे बढ़ते गए। आवश्यक आयातों के लिए उपयुक्त मात्रा में विदेशी मुद्रा का प्रबन्ध करने में हम असमर्थ रहे। विकास-प्रक्रिया में विदेशी मुद्रा की कमी सबसे बड़ा गतिरोध बनकर खड़ा हो गई।

नवें दशक के आरम्भ में हमने आर्थिक विकास के मार्ग में भुगतान-शेष के घाटे रूपी प्रतिरोध को दूर करने के लिए नई युक्ति अपनाई। इस युक्ति के अनुसार आर्थिक विकास के हमारे प्रयासों में निर्यात सम्वर्धन को उच्चतम प्राथमिकता प्रदान की गई। साथ ही विदेशी पूँजी के प्रति हमारे व्यवहार में भी परिवर्तन आया। विदेशी पूँजी का हम खुले दिल से स्वागत करने लगे और इस वास्ते अनेक तरह के प्रोत्साहन भी किए। परिणामत: बदलते आर्थिक परिवेश में विदेशी पूँजी के अन्तर्वाह बढ़ने लगे। साथ ही निर्यातों की मात्रा में भी वृद्धि होने लगी। कुल मिलाकर, भुगतान-शेष के घाटे जो कुछ समय पहले तक एक बहुत गम्भीर गतिरोध बने हुए थे धीरे-धीरे अपना प्रभाव खोते जा रहे हैं।

किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि हमने भुगतान-शेष सम्बन्धी समस्या का अन्तत: निवारण कर लिया है। भुगतान-शेष की समस्या के स्थायी निवारण के वास्ते हमें निर्यातों की इतनी मात्रा करनी होगी जिससे कि हम वाहन क्षेत्र के समस्त दायित्वों की आपूर्ति कर सकें।

जैसा कि हम पहले वर्णन कर आए हैं कि संसाधनों की स्वल्पता से निपटने के लिए हमें आधुनिकतम तकनीकों को अपनाकर उत्पादकता के स्तर में पर्याप्त सुधार लाने होंगे। किंतु, अर्थव्यवस्था में आधुनिकीकरण एवं उत्पादकता-सुधार के सभी कार्यक्रमों को विदेशी मुद्रा के अभाव की स्थिति का सामना करना पड़ता है।

एक विकासशील अर्थव्यवस्था की आयात की आवश्यकताएँ बहु-आयामीय होती हैं। किंतु विदेशी मुद्रा अर्जित करने की इसकी क्षमता सीमित होती है। परिणामस्वरूप विकासशील देशों की चालू खातों पर घाटों से निपटना होता है। चालू खाते के घाटों का वित्त-पोषण शेष-विश्व से पूँजी-अंतर्वाह (capital inflows) द्वारा किया जाता है। पूँजी के ये अंतर्वाह यदि ऋणों के रूप में हैं तो इन ऋणों पर ब्याज देना पड़ता है अर्थात् ऋणों की सेवा करनी पड़ती है। ऋण सेवा का बोझ निरंतर बढ़ता जाता है और भुगतान-शेष के घाटे आर्थिक विकास के मार्ग में भारी रुकावट बनकर सामने आते हैं।

MAB IYAMIAS
way to achieve your dream

भारत भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं रहा है। अर्थात्, भारत को अपने विकास-क्रम में भुगतान-शेष के घाटों से उत्पन्न रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। भुगतान-शेष के घाटों के वित्तीयन के लिए भारत भारी मात्रा में विदेशी ऋण लेता रहा है। परिणामस्वरूप, विदेशी ऋणों को लौटाने और ऋण-सेवा की आपूर्ति के लिए भारत कठोर शर्तों पर नए ऋण लेने के लिए मजबूर हो गया था। ऐसी परिस्थिति में उपलब्ध विदेशी-मुद्रा को सोच-समझकर नियोजित तरीके से ही खर्च किया जा सकता है।

3.10 राजकोषीय बाधाएँ

विकास के लिए आवश्यक सरकार के पास घरेलू वित्तीय संसाधनों की अनुपलब्धि भी तीव्र गति से आर्थिक विकास के रास्ते में भारी बाधा सिद्ध हो रही है। घरेलू वित्तीय संसाधनों की पर्याप्त अनुपलब्धि का प्रमुख कारण यह है कि पिछले तीन दशकों में लगातार सरकार अपने पैर अपनी चादर से बाहर फैलाती रही है। अर्थात् पिछले तीन दशकों के दौरान प्रत्येक वर्ष सरकार के चालू खाते के खर्चे सरकार की चालू वार्षिक आय से अधिक ही रहे हैं। सरकार के चालू खाते के खर्चों में हम जिन मदों को शामिल करते हैं उनमें प्रमुख हैं– प्रतिरक्षा, लोक-प्रकाशन, सामाजिक एवं आर्थिक सेवाएँ, ब्याज के भुगतान एवं अनुदान। इनमें से किसी भी मद पर सरकारी खर्च में कटौती करना संभव नहीं हो पाया है और यदि सरकार बिना सोचे-समझे इन खर्चों में कमी कर दे तो अनेक तरह की विकृतियों को बढ़ावा मिलने की आशंका से इंकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर, अतिरिक्त साधन जुटाने की ओर पिछले दशकों के दौरान सरकार ने कोई विशेष प्रयत्न नहीं किए हैं। बल्कि, सरकार लोक ऋण और घाटे की वित्त व्यवस्था जैसी सरल बैसाखियों का सहारा लेती रही है। ऐसा करने से सरकार की तात्कालिक मुश्किलें तो दूर हो जाती हैं, किंतु इनसे दीर्घकालिक संभावनाओं की

अवहेलना होती है। परिणाम यह है कि अतीत में इस तरह से किए गए वित्तीयन वर्तमान में विकास मार्ग में अनेक बाधाएँ प्रस्तुत कर रहें हैं। स्फीतिकारी प्रवृत्तियों और ऋण-सेवाओं के बढ़ते बोझ ने सरकार के हाथ इस कदर बाँध रखे हैं कि सरकार न तो पूँजी-निर्माण के लिए पर्याप्त संसाधनों की व्यवस्था कर पा रही है और न ही सामाजिक कल्याण के कार्यों के लिए पर्याप्त धन की आपूर्ति संभव है। उल्लेखनीय है कि यदि इन कार्यों के लिए पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध नहीं हो पाते तो चल रहे आर्थिक सुधार कार्यक्रम को अनेक बड़ी बाधाओं का सामना करना होगा।

बोध प्रश्न 3

1) आर्थिक आधारिक ढाँचे से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक आधारिक ढाँचे के प्रमुख घटक बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि किस प्रकार आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक सिद्ध होती है?

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS

4) मुद्रा-स्फीति की समस्या के समाधान के लिए आप क्या सुझाव देंगे?

.....

.....

.....

.....

.....

5) भारत में भुगतान-शेष में घाटे की समस्या के कारण बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3.11 विकास में क्षेत्रीय विषमताएँ

क्षेत्रीय असंतुलन से अभिप्राय होता है किसी देश के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों का असमान या असमानुपातिक विकास। भारत में क्षेत्रीय असंतुलन का अनुमान लगाने के लिए अनेक संकेतों का प्रयोग किया जा सकता है। सारणी-3 में क्षेत्रीय असंतुलन के कुछ सामाजिक-आर्थिक कारकों को दिया गया है। राज्यों को प्रति व्यक्ति आय के अनुसार अवरोही क्रम में रखा गया है।

सारणी-3

भारत के विभिन्न राज्यों के चुने हुए सामाजिक-आर्थिक संकेतक

भारत के प्रदेश	1980-81 कीमतों पर प्रतिव्यक्ति आय (1991-92)	कुल जनसंख्या में गरीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का प्रतिशत	कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत (1991)	प्रति लाख जनसंख्या फैक्टरी श्रमिकों का औसत दैनिक नियोजन (1995)	निवल फसल बोए गए क्षेत्र में निवल सींचित क्षेत्र का प्रतिशत (1990-1991)	प्रति व्यक्ति किलोवाट बिजली की खपत (1992-1913)
1. गोआ	4800	23.5	41	NA	15	663
2. पंजाब	3869	12.7	30	1400	93	863
3. हरियाणा	3455	16.6	25	1630	73	673
4. महाराष्ट्र	3381	40.1	39	1750	11	524
5. अरुणाचल प्रदेश	3012	37.5	12	NA	21	128
6. गुजरात	2412	32.3	34	1890	27	622
7. तमिलनाडु	2322	45.1	34	1400	43	431
8. कर्नाटक	2255	38.1	31	1340	20	357
9. हिमाचल प्रदेश	2074	15.5	9	NA	17	296
10. पश्चिम बंगाल	2015	44.5	27	1510	36	165
11. मनीपुर	-	-	-	-	-	-
12. मेघालय	2002	32.9	28	NA	46	140
13. नागालैण्ड	1900	34.9	17	NA	31	100
14. असम	1887	36.8	11	400	21	91
15. केरल	1826	32.1	26	1080	15	255
16. आंध्र प्रदेश	1788	27.2	27	910	39	365
17. राजस्थान	1733	34.6	24	520	24	320
18. त्रिपुरा	1689	36.8	15	NA	15	84
19. जम्मू और कश्मीर	1687	23.2	24	NA	41	380
20. मध्य प्रदेश	1621	43.4	23	750	22	312
21. उत्तर प्रदेश	1589	42.0	20	470	61	209
22. उड़ीसा	1512	55.6	13	400	31	226
23. बिहार	1091	53.4	13	600	44	61
24. मिजोरम	NA	32.5	46	NA	12	126
25. सिक्किम	3369*	34.7	9	NA	17	--
अखिल भारतीय	2229	39.3	26	1050	33	330

स्रोत : सी एम आई ई, सटैटिस्टिक्स रिलेटिंग टू दि इंडियन इकॉनामी, वोलुम II (1994), ड्राफ्ट मिड-टर्म एप्रेजल ऑफ दि एटथ फाइव इयर प्लान (1992-97), रिपोर्ट ऑफ दि एक्सपर्ट ग्रुप ऑन-एस्टिमेशन ऑफ प्रोपोर्शन एंड नम्बर ऑफ दि पूअर (1993)।

राज्यों में प्रतिव्यक्ति आय में अंतर

इन आँकड़ों से पता चलता है कि 1980-81 कीमतों पर 1991-92 में भारत में प्रतिव्यक्ति आय 2.229 रु. थी, लेकिन आठ राज्यों, गोआ, पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र, गुजरात, अरुणाचल प्रदेश, तमिलनाडु और कर्नाटक की प्रतिव्यक्ति आय अखिल भारतीय औसत से अधिक थी। दूसरे छोर पर बिहार था, जिसकी प्रतिव्यक्ति आय केवल 1,091 रु. थी। उसके बाद उड़ीसा (1,512 रु.) और उत्तर प्रदेश (1,589 रु.) थे। यदि हम गोआ की विशेष श्रेणी के एक छोटे राज्य में रूप में ले लें तो भी पंजाब की प्रतिव्यक्ति आय (3,869 रु.) बिहार के प्रति व्यक्ति आय की 3.5 गुनी थी। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि 1980-81 में पंजाब की प्रतिव्यक्ति आय 2,474 रु. थी और बिहार की 917 रु. थी। इसका अर्थ यह है कि 1980-81 में अधिकतम न्यूनतम अनुपात 2.9 था। इससे यह स्पष्ट है कि पंजाब में प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि दर बिहार में बहुत अधिक थी। इसी के फलस्वरूप क्षेत्रीय असमानता बहुत अधिक बढ़ गई है।

विभिन्न राज्यों में गरीबी का अनुपात

वर्ष 1987-88 के लिए गरीबी की रेखा के नीचे की जनसंख्या के प्रतिशत संबंधी आँकड़ों से पता चलता है कि समस्त देश के लिए यह 39.3 प्रतिशत थी, लेकिन महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल उड़ीसा, बिहार, मध्य-प्रदेश और उत्तर-प्रदेश ऐसे राज्य हैं जिनमें गरीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का अनुपात अखिल भारतीय औसत से अधिक है। बिहार में जनसंख्या का 53.4 प्रतिशत और उड़ीसा में 55.6 प्रतिशत लोग गरीब है। 1987-88 में कुल गरीब लोगों की संख्या 31.28 करोड़ थी, जिनमें 71 प्रतिशत (22.25 करोड़) सात राज्यों– महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु बिहार और उड़ीसा में रहते थे (सारणी-4 देखिए)।

सारणी-4 में दिए गए आँकड़ों से पता चलता है कि 1973-74 और 1987-88 के बीच गरीबी की रेखा से नीचे की जनसंख्या का अनुपात 54.9 प्रतिशत घट गया। इस प्रकार गरीबी के अनुपात में प्रतिवर्ष 1.1 प्रतिशत की कमी हुई। लेकिन इन आँकड़ों को गौर से देखने पर हम पाते हैं कि गिरावट की अधिकतम दर 2.0 प्रतिशत केरल में थी तथा न्यूनतम दर 0.6 प्रतिशत बिहार में थी।

इस संबंध में सुखद बात यह है कि पंजाब में गरीबी का अनुपात गिरकर 12.7 प्रतिशत हो गया, लेकिन दु:ख की बात यह है कि आज़ादी के 40 वर्षों बाद भी उड़ीसा और बिहार में यह अनुपात क्रमश: 55-6 प्रतिशत और 53.4 प्रतिशत था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

आधुनिकीकरण के संकेतक

किसी देश या क्षेत्र के आधुनिकीकरण के संबंध में तीन प्रमुख संकेतक हैं : शहरी जनसंख्या का अनुपात, प्रति लाख जनसंख्या पर फैक्टरी श्रमिकों का औसत प्रतिदिन नियोजन और बिजली की प्रतिव्यक्ति खपत। इन आँकड़ों का ध्यान से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि 191 में शहरीकरण की मात्रा कुल जनसंख्या की 26 प्रतिशत थी, परंतु राज्य के स्तर पर इसमें बहुत विभिन्नताएँ थीं। एक ओर हिमाचल प्रदेश, आंध्र-प्रदेश, असम, त्रिपुरा, उड़ीसा, सिक्किम और बिहार में कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या 15 प्रतिशत से कम थी, दूसरी ओर जिन राज्यों में कुल जनसंख्या का 30 प्रतिशत से अधिक शहरों में था वे थे पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, तमिलनाडु, कर्नाटक और मिजोरम। (सारणी-3 देखिए)

बिजली का प्रतिव्यक्ति उपभोग

उद्योगीकरण का एक प्रमुख संकेतक है बिजली का प्रतिव्यक्ति उपभोग। इसके संबंध में राज्यों के बीच बहुत अधिक अंतर है। बिहार में प्रतिव्यक्ति बिजली का उपभोग 61 किलोवाट है जबकि पंजाब में यह 863 किलोवाट है। इसका अर्थ है बिहार और पंजाब के बीच 1:14 का अनुपात। राष्ट्रीय औसत 330 किलोवाट था, परंतु पश्चिम बंगाल में यह केवल 165 किलोवाट था, जो राष्ट्री औसत का केवल आधा ही था। अन्य जिन राज्यों में बिजली की खपत की स्थिति बहुत खराब थी वे हैं अरुणाचल प्रदेश, मनीपुर, नागालैण्ड, असम त्रिपुरा और मिजोरम। देश के उत्तर पूर्वी क्षेत्रों में बिजली की बहुत कम उपभोग उसके पिछड़ेपन का संकेतक हैं। (सारणी-3 देखिए)

फैक्टरी श्रमिकों का औसत प्रतिदिन नियोजन

उसी प्रकार प्रतिलाख जनसंख्या पर फैक्टरी श्रमिकों के प्रतिदिन औसत नियोजन को उस राज्य के उद्योगीकरण का सूचक कहा जा सकता है। इस दृष्टि से अखिल भारतीय स्तर 1050 है। इसके विपरीत जो राज्य

फैक्टरियों में अधिक रोज़गार पैदा कर सकते हैं वे हैं गुजरात, हरियाणा, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, पश्चिम बंगाल और केरल। इस कसौटी के आधार पर सबसे अधिक पिछड़े राज्य हैं– उड़ीसा, असम, राजस्थान और उत्तर प्रदेश। उनके बाद बिहार, मध्य प्रदेश और आंध्र प्रदेश का स्थान आता है। (सारणी-3 देखिए)

सारणी-4

गरीबों की संख्या और उनका प्रतिशत : 1987-88 गरीबी अनुपात के आधार पर आरोही क्रम में

	लाखों में गरीबों की संख्या		गरीबी अनुपात (जनसंख्या का प्रतिशत)		गरीबी में कमी का प्रतिशत	
	1973-74	1987-88	1973-74	1987-88	14 वर्ष	रकम
1. पंजाब	40.4	24.6	28.08	12.70	15.38	1.1
2. हिमाचल प्रदेश	9.7	7.6	26.40	15.46	10.94	0.8
3. हरियाणा	38.2	25.9	35.24	16.63	18.60	1.3
4. जम्मू और कश्मीर	21.4	16.4	42.59	23.20	19.39	1.4
5. गोआ	4.1	2.7	44.04	23.42	20.62	1.5
6. आंध्र प्रदेश	227.5	167.8	49.25	27.20	22.05	1.6
7. केरल	135.3	92.2	59.71	32.08	27.63	2.0
8. गुजरात	135.7	128.6	47.21	32.33	14.88	1.1
9. मिजोरम	1.8	2.0	50.33	32.52	17.81	1.3
10. मनीपुर	5.9	5.5	50.01	32.93	17.08	1.2
11. मेघालय	5.5	5.5	50.25	34.60	15.65	1.1
12. राजस्थान	129.0	141.2	46.33	34.60	11.73	0.8
13. सिक्किम	1.2	1.4	50.91	34.67	16.24	1.2
14. नागालैंड	2.9	3.4	50.87	34.85	16.02	1.1
15. त्रिपुरा	8.5	9.0	51.03	36.84	14.19	1.0
16. असम	81.9	85.4	51.23	36.84	14.39	1.0
17. अरुणाचल प्रदेश	2.7	2.8	51.96	37.47	14.49	1.0
18. कर्नाटक	170.3	162.4	54.34	38.14	16.20	1.2
19. महाराष्ट्र	285.8	294.2	52.94	40.10	12.84	0.9
20. उत्तर प्रदेश	538.9	537.0	56.98	41.99	14.99	1.1
21. मध्य प्रदेश	276.8	265.9	61.90	43.40	18.50	1.3
22. पश्चिम बंगाल	299.1	276.7	53.39	43.99	19.40	1.4
23. तमिलनाडु	246.4	243.2	56.51	45.13	11.38	0.8
24. बिहार	369.8	439.8	61.78	55.37	8.41	0.6
25. उडीसा	154.6	168.0	66.24	55.61	10.63	0.7
अखिल भारतीय	3216.0	3127.5	54.93	39.34	15.59	1.1

स्त्रोत : योजना आयोग, रिर्पोट ऑन एक्सपर्ट ग्रुप आन एस्टिमेशन ऑफ प्रोपोशन एंड नम्बर ऑफ पूवर (1993) से संकलित और परिकलित।

MADHYAM IAS way to achieve your dream

3.12 पर्यावरण ह्रास की समस्या

आर्थिक विकास के कारण उत्पन्न एक और समस्या जिसकी ओर विचारकों एवं नियोजकों का ध्यान जाना स्वाभाविक है, यह पर्यावरण से संबंधित है। आर्थिक विकास की क्रिया जैसे-जैसे गति पकड़ती जाती है प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग और शोषण भी बढ़ता जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि एक ओर बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की आपूर्ति का प्रावधान करने की आवश्यकता होती है और दूसरी ओर जीवन-स्तर में सुधार के लिए जब प्रयास किए जाते हैं तो अधिक मात्रा में संसाधनों का प्रयोग किया जाता है।

यदि उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का सुनियोजित तरीके से समुचित उपयोग न किया जाए, बल्कि इनके प्रयोग में मनमानी बरती जाए तो थोड़े ही समय में अर्थव्यवस्था के समक्ष पर्यावरण-असंतुलन (Ecological imbalance) की समस्या सिर उठा लेती है। परिणामस्वरूप, उपलब्ध संसाधनों का कुशल प्रयोग संभव नहीं हो पाता और अनेक तरह की बाह्य प्रभाव अथवा बाह्यताएँ (externalities) उत्पन्न हो जाती हैं। जैसे वायु, जल, ध्वनि के प्रदूषण की समस्या। इन बाह्यताओं की लागत का बोझ समस्त समाज को उठाना पड़ता है।

अन्य सभी देशों की तरह भारत में भी पर्यावरण के ह्रास की समस्या धीरे-धीरे गंभीर रूप धारण करती जा रही है। नीति-निर्धारकों, अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, राजनेताओं एवं वैज्ञानिकों में यह सहमति है कि उन सबको मिलकर इस समस्या पर विचार करना होगा और समुचित हल खोज निकालना होगा। अन्यथा भावी पीढ़ियाँ हमें हमारी बहुत महँगी सिद्ध होने वाली भूल के लिए कभी क्षमा नहीं करेंगी। (विस्तृत अध्ययन के लिए खंड-3 की इकाई-2 देखिए)

बोध प्रश्न 4

1) भारत में क्षेत्रीय असंतुलन के पाँच संकेतकों की सूची बनाइए। अर्थव्यवस्था के उद्योगीकरण के साथ इनमें से किनका प्रत्यक्ष संबंध होता है?

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3.13 सारांश

गरीबी चिरकाल से चली आ रही हमारी समस्या है। योजनावधि में विकास कार्यक्रमों के आयोजन के परिणामस्वरूप गरीबी के आकार में कुछ कमी तो हो पाई है लेकिन इस समस्या से पूरी तरह से निपटना संभव नहीं हो पाया है। वस्तुत: गरीबी धीमी गति से आर्थिक विकास, रोज़गार के अपर्याप्त अवसरों तथा आय की बढ़ती विषमताओं का परिणाम है। विकास-प्रक्रिया में हमारे सामने कुछ अन्य समस्याएँ और मुद्दे भी उठाए हैं जैसे कि बढ़ती हुई कीमतें, निम्न उत्पादकता, भुगतान-शेष की समस्याएँ, राजकोषीय समस्याएँ आधारिक ढाँचे की अपर्याप्त उपलब्धि इत्यादि। इनके बारे में विचार करने की आवश्यकता है जिससे कि इन समस्याओं और मुद्दों से सरलता से निपटा जा सके।

3.14 शब्दावली

गरीबी-रेखा : आय का वह स्तर जिससे कोई व्यक्ति अपने मात्र निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकता है।

अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तन : अर्थव्यवस्था में विभिन्न उत्पादक क्षेत्रों के सापेक्ष महत्त्व में परिवर्तन।

सीमांत जोत : खेती की वह इकाई जिसका आकार 1 हेक्टेयर से कम है।

छोटी जोत : 1 हेक्टेयर से 2.5 हेक्टेयर वाली खेती की जोत।

नीचे की ओर बहाव : वह क्रिया जिसके द्वार उच्च आय वर्ग से सृजित आय गरीब-वर्ग की ओर प्रवाहित होती है।

जनांकिकीय निवेश : सकल निवेश का वह भाग जोकि बढ़ती जनसंख्या की आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए किया जाता है।

आधारिक ढाँचा : वे सभी सहयोगी सेवाएँ जोकि कृषि, उद्योग आदि उत्पादन क्रियाओं में योगदान देती है।

मुद्रा-स्फीति : सामान्य कीमत स्तर में बढ़ने की दीर्घकालिक प्रवृत्ति।

भुगतान-शेष : एक देश के शेष-विश्व के साथ एक निश्चित आर्थिक संव्यवहारों के मौद्रिक मूल्य का लेखा-जोखा।

3.15 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Government of India (1992): *Eighth Five year Plan 1992-97*, Planning Commission, New Delhi.

Government of India (2000): *Economic Survey* (annual), Department of Economic Affairs, Ministry of Finance, New Delhi.

Dhingra, I.C. (2000): *Indian Econmic Environment*, Sultan Chand & Sons, New Delhi.

Jalan Bimal (1996): *Indian Economic Policy*, Viking, New Delhi.

Joshi Vijay & IMD Little (1996): *Indian Economic Reforms*, 1991-2001, Oxford University Press, New Delhi.

3.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 3.2.1 देखिए।

2) उप-भाग 3.2.3 देखिए।

3) उप-भाग 3.2.4 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 3.3 देखिए।

2) भाग 3.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 3.4 देखिए।

2) भाग 3.4 देखिए।

3) भाग 3.4 देखिए।

4) भाग 3.5 देखिए। अंतिम पैरा देखिए।

5) भाग 3.9 देखिए।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 3.11 देखिए।

इकाई 4 भारत में मुद्रास्फीति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भारत में मुद्रा-स्फीति की माप

4.3 भारत में कीमत प्रवृत्तियाँ

- 4.3.1 1951-66 की अवस्था
- 4.3.2 1966-90 की अवस्था
- 4.3.3 1990 के आगे की अवस्था

4.4 भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण

- 4.4.1 माँग पक्ष में कारक
- 4.4.2 पूर्ति पक्ष में कारक

4.5 भारत में मुद्रा-स्फीति के परिणाम

4.6 उपचार

- 4.6.1 मुद्रा-नीति
- 4.6.2 राजकोषीय नीति
- 4.6.3 उत्पादन और वितरण नीति
- 4.6.4 प्रशासित कीमत नीति
- 4.6.5 वाणिज्य नीति
- 4.6.6 आय नीति

4.7 नई थोक कीमत सूचकांक (WPI) श्रेणियों पर एक नोट

4.8 सारांश

4.9 शब्दावली

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में आपको 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना की शुरुआत के समय से भारत में सामान्य कीमत स्तर की प्रवृत्तियों से अवगत कराया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- भारतीय अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की दिशा की व्याख्या कर सकें;
- भारतीय अर्थव्यवस्था में मुद्रा-स्फीति की प्रवृत्तियों के कारणों को पहचान सकें;
- विकास कीमतों पर मुद्रा-स्फीति के परिणामों को समझ सकें; तथा
- ऐसी नीति बना सकें जो मुद्रा-स्फीति को नियंत्रण में रख सकें।

4.1 प्रस्तावना

भारत में आर्थिक आयोजना का एक प्रमुख उद्देश्य रहा है कीमत स्थिरता के पर्यावरण में आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा देना। कीमत स्थिरता से अभिप्राय होता है सामान्य कीमत स्तर में अनियमित और अनियोजित

उतार-चढ़ाव, स्फीतिकारी या अवस्फीतिकारी, का न होना। आमतौर पर माना जाता है कि आर्थिक संवृद्धि के लिए संयत मुद्रा-स्फीति का होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त किसी भी मात्रा में योजनाबद्ध मुद्रा-स्फीति चिंता का विषय नहीं भी हो सकती क्योंकि योजना के अंतर्गत आवश्यक सुधारक उपायों की भी व्यवस्था होती है।

परंतु मुद्रा-स्फीति की दर जब योजनाबद्ध स्तर से ऊपर हो जाती है तब उसके भयंकर परिणाम होते हैं। यह योजना के समस्त ढाँचे को बिगाड़ सकती है। इसीलिए मुद्रा-स्फीति को संकट का सूचक माना जाता है। पिछले लगभग चार दशकों से भारत इस स्थिति से गुजर रहा है। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि रोग का निदान किया जाए और उसके उपचार के लिए उपयुक्त उपाय किए जाएँ।

4.2 भारत में मुद्रा-स्फीति की माप

भारत में मुद्रा-स्फीति को थोक कीमत सूचकांक (WPI) की सहायता से मापा जाता है। भारत सरकार WPI का संकलन साप्ताहिक आधार पर करती है। WPI 447 वस्तुओं का संयुक्त सूचकांक है। इन वस्तुओं को तीन वर्गों में बाँटा गया है - (i) प्राथमिक वस्तुएँ, (ii) ईंधन वर्ग और (iii) विनिर्मित वस्तुएँ। प्राथमिक वस्तुओं की भारिता 32.3 प्रतिशत है, जबकि ईंधन वर्ग और विनिर्मित वस्तुओं की भारिता क्रमश: 10.7 प्रतिशत और 57.0 प्रतिशत है। इस समय WPI का आकलन 1993-94 की आधार वर्ष कीमतों के अनुसार किया जाता है।

4.3 भारत में कीमत प्रवृत्तियाँ

भारत के प्रत्येक योजना प्रलेखों में यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है कि योजना की अवधि में मुद्रा-स्फीति का दबाव न हो और समाज के गरीब तबके के लोगों के जीवन स्तर को सुरक्षा प्रदान किया जाए। फिर भी हालाँकि आर्थिक आयोजना का मुख्य उद्देश्य कीमत स्थिरता को बनाए रखना रहा है फिर भी जैसा कि हम नीचे के आँकड़े में देखेंगे इस उद्देश्य की पूर्ति कभी भी नहीं हो पाई है।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

1951-99 की समस्त अवधि को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है।

i) 1951-66,

ii) 1966-90 और

iii) 1990 के आगे।

4.3.1 1951-66 की अवस्था

इस अवधि में यद्यपि मुद्रा-स्फीति संयत रूप में था फिर भी 1950 के दशक के बीच में भारी निवेश कार्यक्रमों के शुरू होने के साथ-साथ मुद्रा-स्फीति की दर बढ़ने लगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की अवधि में WPI गिर कर 22 प्रतिशत हो गया था लेकिन दूसरी पंचवर्षीय योजना की 5 वर्ष की अवधि में यह लगभग 30 प्रतिशत बढ़ गया और तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि में यह और 35 प्रतिशत बढ़ गया।

यह कहा जा सकता है कि इस अवधि में WPI की बढ़ने की प्रवृत्ति के कारण विकास कार्यक्रमों का स्फीतिकारी वित्तीयन तथा उत्पादन में गिरावट (विशेषत: कृषि उत्पादों का) थे। 1960 के दशक में बाहरी आक्रमण के प्रति रक्षा पर किए गए खर्चों के कारण भी स्फीतिकारी दबाव बढ़े।

4.3.2 1966-90 की अवस्था

इस अवधि में सभी योजनाओं के काल में कीमतों में उतार-चढ़ाव होता रहा और कीमतों में अत्यंत परिवर्तनशीलता रही। 1966-90 की अवधि में कीमतों में उतार-चढ़ाव की सात उप-अवस्थाएँ देखी जा सकती हैं।

मुद्रा-स्फीति की दरें 1966-67 में (13.9%) और 1967-68 में (11.6%) बहुत ही ऊँची रही। उसके बाद 1971-72 तक ये दरें गिरती गईं या इनमें बहुत ही कम वृद्धि हुई।

1972-73 से 1974-75 तक सामान्य कीमत स्तर में अचानक ही बहुत तेज वृद्धि (25.2%) हुई। उसके बाद के चार वर्षों (1975-76 से 1978-79 तक) में अपेक्षाकृत कीमत स्थिरता रही। वर्ष 1979-80 और 1980-81 में कीमतें पुन: क्रमश: 17.1% और 18.2% की दर से बढ़ गई। 1981-82 में गिर कर 9.3% हो गई, हालांकि यह अभी ऊँची थी।

इसके बाद 1982-83 से 1986-87 तक कीमतों में वृद्धि संयत रूप से रही तथा उसके बाद के तीन वर्षों (1987-88 से 1989-90 तक) में कीमतों में वृद्धि पुन: बहुत तेज दर से हुई।

कीमतों में वृद्धि संबंधी उपर्युक्त समीक्षा में हम देखते हैं कि भारत में मुद्रास्फीति का स्वरूप अत्यंत ही दिलचस्प रहा है। मुद्रा-स्फीति की ऊँची दर की अवधि के बाद कीमत स्थिरता की अवधि आती है। ऐसा होना भारत की आर्थिक संरचना का तर्कसम्मत परिणाम है। ऐसा इसलिए होता है कि सरकार उन आर्थिक गड़बड़ियों के संबंध में उपाय करती हैं जो समष्टि आर्थिक और क्षेत्रकों संबंधी असंतुलन ला सकते है।

4.3.3 1990 के आगे की अवस्था

सुधार के बाद की अवधि में मुद्रा-स्फीति बनी रही है। 1990-91 समष्टि आर्थिक अव्यवस्था का वर्ष था तथा इस वर्ष में WPI में 12.1% की वृद्धि हुई। अगले राजकोषीय वर्ष में दो चरणों में रुपये का अवमूल्यन हुआ। इसमें WPI में 13.6% की वृद्धि हुई। वर्ष 1992-93 में खाद्यान्नों के उत्पादन में 6.9% की वृद्धि हुई तथा समस्त कृषि उत्पादन में 3.9% की वृद्धि हुई और मुद्रा-स्फीति दर घटकर 6% हो गई। इसके अगले दो वर्षों में मुद्रा-स्फीति की औसत दर 10.6% थी।

WPI के तीन भाग हैं– प्राथमिक वस्तुएँ (32.29% की भारिता), ईंधन वर्ग (10.66% की भारिता) और विनिर्मित वस्तुएँ (57.4% की भारिता)। प्राथमिक वस्तुएँ, जिनसे अभिप्राय अप्रक्रमित खाद्य फसलों, रेशेदार वस्तुओं और पशुधन से होता है, प्राकृतिक शक्तियों पर निर्भर रहती हैं। ईंधन वर्ग के अंतर्गत आते हैं खनिज तेल, बिजली और कोयला। इस वर्ग में मुद्रा-स्फीति सदा ही ऊँची रहती है। पिछले दस वर्षों में से 6 वर्षों में ईंधन वर्ग में मुद्रा-स्फीति की दर औसतन 10% से अधिक रही है। लेकिन पिछले दो वर्षों में इस में कमी हुई है। वर्ष 1998-99 में मुद्रा-स्फीति दर औसतन 4.3% थी तथा 1999-2000 वर्ष में (फरवरी तक) यह 8% के लगभग थी।

मुद्रा-स्फीति की दर (WPI द्वारा मापित) को नीचा रखने में सबसे बड़ा योगदान 'विनिर्मित पदार्थों' के वर्ग का रहा है, जिसमें 1998-99 के 4.6% की तुलना में 1999-2000 में कीमतें केवल 0.4% बढ़ी। इस प्रकार इस वर्ष में मुद्रा-स्फीति की दर बहुत अधिक गिरी। मुद्रा-स्फीति के घटकों में विनिर्मित वस्तुओं का बहुत अधिक महत्त्व है। इसके दो कारण हैं– भारिता का अधिक होना तथा इस वर्ग द्वारा अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों का शिकार होना। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस वर्ग की वस्तुएँ प्राथमिक वस्तु वर्ग की तुलना में नीतियों से अधिक प्रभावित होती हैं। विनिर्मित उत्पादों में मुद्रा-स्फीति की दर क्यों नीची होती है? इस संबंध में सामान्य तौर पर निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होता। इस वर्ग में मुद्रा-स्फीति की दर यदि नीची है तो इसके कुछ निश्चित कारक हैं, जैसे कि आगतों की कीमतें कम होना, माँग को बढ़ाने के संबंध में उत्पादक के प्रयास या प्रतिस्पर्धी दबाव।

अंतिम कारक बहुत अधिक महत्त्व का है, क्यों मुद्रा-स्फीति के व्यवहार के संबंध में इसका दीर्घकालीन आशय होता है। संकेतों से पता चलता है कि विनिर्माण-मुद्रा-स्फीति को नीचा रखने में देश के अंदर के और आयातों के प्रतिस्पर्धी दबावों का बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। यदि यह सही है तो निकट भविष्य में विनिर्माण मुद्रा-स्फीति में अत्यंत शीघ्रता से वृद्धि की संभावना नहीं है।

कुल मिलाकर भारत का विनिर्माण क्षेत्रक देश के अंदर के तथा बाहर के प्रतिस्पर्धी दबावों का अधिक शिकार रहा है। WPI में योगदान करने वाली लगभग 35% घटकें अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता का शिकार हो सकती हैं और यदि हम सीमेंट, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं और मोटरगाड़ी जैसे क्षेत्रकों में देश के अंदर की प्रतियोगिता को शामिल कर लें तो विनिर्माण क्षेत्रक के बहुत बड़े भाग की कीमत-निर्धारण शक्ति प्रतिस्पर्धी दबावों से प्रभावित होगी। भविष्य में मुद्रा-स्फीति की दिशा क्या होगी? प्राथमिक वस्तुओं के संबंध में पहले से सही

MAADHYAM IAS

रूप में अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि यह नर्म अप्रत्याशित होता है। पिछले दस वर्षों में से चार वर्षों में इस वर्ग में मुद्रा-स्फीति 10% से अधिक हो गई तथा पिछले केवल दो वर्षों में ही यह 5% से कम पर स्थिर हो गई। इसलिए यदि हम संभाव्यता के नियम के अनुसार जाते हैं तो इस वर्ग में मुद्रा-स्फीति के बढ़ने की संभावना है।

ईंधन वर्ग की वस्तुओं की कीमतों में लगातार वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है, अत: मुद्रा-स्फीति में वृद्धि लगभग 8-10% रहेगी। जहाँ तक विनिर्माण क्षेत्रक का संबंध है, उसका एक बहुत बड़ा भाग विश्वव्यापी चक्र के साथ जुड़ा है। अत: माँग के पुन: प्रवर्तन से विनिर्माण मुद्रा-स्फीति के बढ़ने की स्थितियाँ पैदा हो सकती है, परंतु यह भी संभव है कि 2001 में यह 4-5% के स्तर पर रहेगी, जैसा कि यह पिछले चार वर्षों में थी। कुल मिलाकर हम देखते हैं कि अगले वर्ष में WPI 5-6% रहेगी। भारत के लिए इस दर को नीची कहा जा सकता है।

1990 के दशक के मध्य के वर्षों में मुद्रा-स्फीति की दर में गिरावट आई। यद्यपि WPI ऊँचा तो होता गया, फिर भी इसमें वृद्धि की दर संयत रही। यह 1995-96 में 7.7%, 1996-97 में 6.4%, 1997-98 में 4.8% तथा 1998-99 में 6.9% की दर से बढ़ी।

उपर्युक्त विवरण में हम देखते हैं कि 1950 के दशक के मध्य में भारत ने कीमतों में वृद्धि के युग में प्रवेश किया। उसके बाद कीमतों में लगातार वृद्धि होती रही। इस संबंध में अंतर यह रहा है कि विभिन्न समयों में वृद्धि की दरें अलग-अलग रही हैं। 1950 और 1960 के दशकों में तो वृद्धि की दरें अलग-अलग रही हैं। 1950 और 1960 के दशकों में तो मुद्रा-स्फीति संयत रूप में होती थी तथा स्थिर कीमतों और कीमतों में वृद्धि की अवस्थाएँ कभी-कभी एक साथ मिल जाती थी। मुद्रा-स्फीति की दर 1970 के दशक के मध्य में बढ़ने लगी तथा 1980 के दशक में और 1990 के दशक के शुरू के पाँच वर्षों में इसमें बहुत तेजी से वृद्धि हुई। 1995 के बाद के वर्षों में कीमत रेखा में उतार-चढ़ाव कम रहा है।

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक संवृद्धि के लिए मुद्रा-स्फीति अच्छी होती है या बुरी?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में मुद्रा-स्फीति की माप कैसे की जाती है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1990 के दशक में भारत में मुद्रा-स्फीति की दिशा के संबंध में विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4.4 भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण

भारत में मुद्रा-स्फीति माँगजन्य (demand pull) और लागतजन्य (cost push) इन दोनों ही कारकों का मिश्रण रही है।

4.4.1 माँग पक्ष में कारक

माँग पक्ष की ओर से जो प्रमुख कारक भारत में मुद्रा-स्फीति के कारण रहे हैं वे निम्नलिखित है :

1) **सरकार के घाटे का स्फीतिकारी वित्तीयन :** प्रथम पंचवर्षीय योजना के शुरू होने के समय से ही सरकार के बढ़ते हुए खर्च के फलस्वरूप राजकोषीय घाटे हुए। इस घाटे के बहुत बड़े भाग की पूर्ति देश के बाहर से और देश के अंदर से सुलभ और सहज ऋणों को लेकर की जा सकी। लेकिन इसके साथ ही साथ इस कार्य के लिए नई करेन्सी नोटों को भी छापना होता है। कभी-कभी ऐसी करेन्सी नोटों में वृद्धि की मात्रा वस्तुओं और सेवाओं में वृद्धि के अनुपात से अधिक हो जाती है, जिससे वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढ़ जाती है और इन सबके फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर बढ़ जाता है।

2) **बैंक उधार की बहुत अधिक पूर्ति :** संवृद्धि की प्रक्रिया में उत्पादन क्षेत्रक की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उधार लेने की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार विश्वव्यापीकरण के होने ओर वित्तीय प्रणाली से मध्यस्थों के हटाने के फलस्वरूप बैंकिंग प्रणाली के बाहर नये बैंकिंग प्रपत्र बड़ी तेजी से आते जा रहे हैं। इन सबके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में मुद्रा का प्रसार हो रहा है।

3) **गैर-ऋण विदेशी पूँजी का बहुत बड़ी मात्रा में अंत:प्रवाह :** विदेशों से कारक आय, प्रत्यक्ष और पोर्टफोलियों निवेश के रूप में बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी पूँजी के अंत:प्रवाह के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में नकदी की उपलब्धता में वृद्धि हो जाती है। इसके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की नई माँगें होने लगती हैं।

4) **काला धन :** इस शब्द से आशय उस धन से होता है जिसे कर अपवयन द्वारा प्राप्त किया जाता है। काले धन का उपयोग प्राय: अनुत्पादक कार्यों के वित्तीयन के लिए किया जाता है, जैसे कि स्थावर संपत्ति का क्रय-विक्रय, सोना की तस्करी, जमाखोरी, भोग-विलास का जीवन व्यतीत करना आदि। इन कार्यों से संसाधनों का प्रवाह उत्पादक कार्यों से अनुत्पादक कार्यों की ओर होता है और इन सबके फलस्वरूप वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति अधिकतम मात्रा में नहीं हो पाती है।

4.4.2 पूर्ति पक्ष में कारक

पूर्ति पक्ष की ओर से प्रमुख कारक निम्नलिखित हैं :

1) **प्रशासित कीमतों में वृद्धि :** हमारी अर्थव्यवस्था में बाजार का बहुत बड़ा भाग सरकार के कार्यों द्वारा प्रभावित और नियंत्रित होता है। यह बात कृषि क्षेत्रक और उद्योग क्षेत्रक इन दोनों ही के लिए सही है। कृषि क्षेत्रक में सरकार न्यूनतम गारन्टित समर्थन कीमत, वसूली कीमत आदि उपायों द्वारा बाजार शक्तियों का विनियमन करती है। उसी प्रकार उद्योगों के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण मध्यवर्ती वस्तुओं और कच्चे माल की कीमतें सरकार निश्चित करती है। भारत में मुद्रा-स्फीति का प्रमुख कारण निर्देशित कीमतों में समय-समय पर वृद्धि होना है।

2) **आधारिक संरचना सुविधाओं का अस्तव्यस्त होना :** इसमें कोई संदेह नहीं कि अर्थव्यवस्था को आधारिक संरचना संबंधी सहायता देने के संबंध में काफी प्रयास किए गए हैं और इस संबंध में प्रगति भी हुई है, फिर भी माँग और पूर्ति के बीच अंतर बना हुआ है, जिससे वस्तुओं के समस्त उत्पादन और पूर्ति पर दुष्प्रभाव पड़ता है। इन सबके फलस्वरूप बेरोजगारी बढ़ती है तथा वास्तविक उत्पादन की दर घट जाती है।

3) **अनिवार्य वस्तुओं की आयात कीमतों में वृद्धि :** अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के बढ़ने के साथ-साथ देश के अंदर की कीमतों को अंतरराष्ट्रीय कीमतों से अलग नहीं रखा जा सकता, विशेषत: ऐसी स्थिति में जब कि आयात कीमतें बढ़ती जा रही है। इन सबका देश के अंदर की लागत और कीमत ढाँचे पर स्फीतिकारी प्रभाव पड़ता है।

MADHYAM IAS

4) **दोषपूर्ण और अप्रभावी प्रबंध :** अपने लाभ की मात्रा को बढ़ाने के प्रयास में निजी उद्यमकर्ता जमाखोरी, सट्टा बाजार की कार्यवाहियों, बेनामी लेनदेनों, चोर बाजारी आदि का आश्रय लेते हैं। इन सब कार्यों के फलस्वरूप बाजार शक्तियों के मुक्त रूप से कार्य करने में बाधा पड़ती है। और इनके फलस्वरूप कृत्रिम दुर्लभता की स्थिति पैदा होती है। जिसका लाभ केवल निजी उद्यमकर्ता ही उठाते हैं। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) की कार्यवाहियाँ अकुशल और भ्रष्ट प्रशासन से ग्रस्त हैं।

बोध प्रश्न 2

1) भारत में मुद्रा-स्फीति माँग और पूर्ति की शक्तियों का संयुक्त परिणाम है। इस कथन पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) माँग पक्ष के उन तीन कारकों के संबंध के संबंध में विवेचन कीजिए जिनके कारण भारत में मदा-स्फीति होती है।

.....

.....

.....

.....

.....

MADHYAM IAS

3) पूर्ति पक्ष के उन तीन कारकों के संबंध में विवेचन कीजिए जिनके फलस्वरूप भारत में मुद्रा-स्फीति होती है।

.....

.....

.....

.....

.....

4.5 भारत में मुद्रा-स्फीति के परिणाम

भारत में मुद्रा-स्फीति के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित हो सकते हैं :

एक, नियत आय वर्ग के लोगों के सामान्य उपभोग मापदंड पर बढ़ती हुई कीमतों के प्रभाव प्राय: गंभीर होते हैं। इस वर्ग के अंतर्गत भूमिहीन कृषकों की एक बहुत बड़ी संख्या भी आ जाती है जिनकी मजदूरी नकदी में दी जाती है। धनी वर्ग के लोग तो विभिन्न प्रकार की संपत्तियों में लेनदेन करके तथा मुद्रा-स्फीति के साथ कीमतों में वृद्धि होने वाली संपत्तियों को खरीद कर मुद्रा-स्फीति के प्रभाव से अपना बचाव कर सकते हैं।

दो, मुद्रा-स्फीति से स्थानाश्रित वस्तुओं (positional goods) की माँग बढ़ती है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव गरीब वर्ग के लोगों के उपभोग की वस्तुओं पर पड़ता है क्योंकि नगरों और गाँवों के मध्यम वर्ग के लोग अपने उपलोग के योग्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए अधिक दबाव डाल सकते हैं। भारत जैसे संसाधनों की कमी वाले देश में कीमतों में वृद्धि की स्थिति में गरीबों की हालत और भी खराब हो सकती है।

तीन, भारत जैसे देश में जहाँ जनता की बहुत बड़ी संख्या निवल ऋणी है, कीमतों में क्रमिक वृद्धि से उनके ऋण का भार कम हो जाना चाहिए। लेकिन इस समय उत्पादन और विपरण का जो ढाँचा है उसमें बिचौलियों और महाजनों का बीच में आ जाने के कारण कृषकों और कारीगरों को उच्च कीमतों के लाभ का एक अत्यंत छोटा भाग ही प्राप्त हो पाता है।

चार, उच्च कीमतों के फलस्वरूप उत्पादन को प्रेरकों की मात्रा संरचनात्मक और संस्थागत बाध्यताओं द्वारा सीमित हो जाती है। ये बाध्यताएँ हैं पूँजी, उद्यम और कौशल की कमी तथा भारतीय कृपि का स्वावलंबी स्वरूप।

पाँच, सापेक्ष कीमत और मजदूरी ढाँचे को बिगाड़ने के फलस्वरूप हुई मुद्रा-स्फीति के कारण कर अधिकारियों के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रकों के लोगों की मुद्रा आय का पता लगाना कठिन हो गया है तथा इससे समांतर अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाने और उसका प्रसार करने में सहायता मिली है।

छः, सरकार द्वारा गैर-योजना खर्चों में वृद्धि भी मुद्रा-स्फीति के कारण हो सकती है। इससे सरकार नई नोटों को छापने को वाध्य होती है जिससे घाटा का वित्तीयन होता है। इससे मुद्रा-स्फीति और भी अधिक बढ़ती है।

सात, मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था की लागत बढ़ जाती है जिससे विश्व बाजार में भारत की प्रतिस्पर्धी क्षमता घट जाती है।

आठ, मुद्रा-स्फीति के फलस्वरूप निर्यातों में कमी होती है तथा आयातों में वृद्धि होती है। कुल मिलाकर देखने पर हम पाते हैं कि निर्यात-प्रतियोगित्व (export competitiveness) का घटना, स्फीतिकारी लाभ को प्राप्त करने में व्यस्त व्यवसायी वर्ग द्वारा अनुत्पादक कार्यों को करना, आय और संपत्ति के वितरण के संबंध में बढ़ते हुए अंतर के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग का अधिकाधिक निराश होना, ये सभी प्रवृत्तियाँ इस बात की घोतक हैं कि दीर्घकालीन मुद्रा-स्फीति भारत जैसी विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था को दुर्बल बनाती जा रही है।

बोध प्रश्न 3

1) व्याख्या करके बताइए कि समाज के गरीब वर्ग को मुद्रा-स्फीति किस प्रकार से प्रभावित करती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) व्याख्या करके बताइए कि निर्यात बाजारों में हमारे प्रतियोगित्व पर मुद्रा-स्फीति का विपरीत प्रभाव किस प्रकार से पड़ता है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) स्वनियोजित व्यक्तियों (self-employed persons) पर मुद्रा-स्फीति का क्या प्रभाव होता है?

.....

.....

.....

4.6 उपचार

जैसा कि हमने ऊपर देखा है मुद्रा-स्फीति के अनेक कारण हैं। अत: इस संबंध में उपचार के लिए व्यापक तौर पर उपाय करने होंगे।

4.6.1 मुद्रा-नीति

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में मुद्रा नीति का मुख्य कार्य है एक ओर तो संवृद्धि क्षेत्रकों के ऋण की आवश्यकताओं को पूरा करना और दूसरी ओर सट्टेबाजी के कार्यों और जमाखोरी जैसे अनुत्पादक कार्यकलापों में उपयोग की जाने वाली मुद्रा की पूर्ति पर रोक लगाना। भारत में मुद्रानीति इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर बनाई गई है, अत: इसे नियंत्रित मुद्रा प्रसार की नीति कहा जाता है।

इस नीति को प्रभावी बनाने के लिए रिजर्व बैंक अनेक प्रकार के मात्रात्मक और गुणात्मक नियंत्रणों को काम में लाता रहा है। परंतु अर्थव्यवस्था की आज की स्थितियों में मुद्रा नीति की अनेक सीमाओं के अधीन रह कर कार्य करना होता है।

गैर-बैंकिंग संस्थाएँ और एजेन्सियाँ जो कुल ऋण देती हैं उनका अनुपात बहुत अधिक है तथा बैंकों और इन संस्थाओं के बीच के संबंध का विकास भलीभांति नहीं हो पाया है। इस प्रकार कुल लेनदेनों के लिए आवश्यक मुद्रा के संबंध में रिजर्व बैंक द्वारा दिए जाने वाले प्रोत्साहनों का सीमित प्रभाव पड़ता है।

ऋणों पर नियंत्रण जब भी लगाए जाते हैं तब अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्रकों पर उनका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि मुद्रा-स्फीति को वश में रखने के लिए केवल मुद्रानीति पर ही निर्भर नहीं रहा जा सकता।

4.6.2 राजकोषीय नीति

राजकोषीय घाटे को कम करने की आवश्यकता है। हाल के अनुभव बताते हैं कि विकास व्ययों में कमी करके राजकोषीय घाटे को कम करने से सुस्ती (recession) आ सकती है और आय में कमी हो सकती है। वास्तविकता तो यह है कि औद्योगिक कार्यकलापों को पुन: करने के लिए, विशेषत: आधारिक संरचनाओं पर, किए जाने वाले व्यय की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता है। इसके विपरीत गैर-विकास व्ययों में कमी करने की बहुत कम गुंजाइश है। इस क्षेत्र में यदि कुछ बचत की भी जाती है तो उससे अधिक व्यय रक्षा कार्यों पर हो जाएगा।

ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है कि निम्नलिखित दोनों या कम से कम एक कार्य किए जाएँ :

क) सरकार अपने खर्च को बहुत कम करे। ऐसा वह सरकारी विभागों का पुनर्गठन करके, कार्यकुशलता में सुधार लाकर, सहायिकी (subsidies) को घटा कर तथा अन्य निष्फल व्ययों को कम करके कर सकती है।

ख) सार्वजनिक उद्यम प्रणाली तथा रेलवे, डाक, तार आदि सार्वजनिक क्षेत्रक के अन्य घटकों पर किए गए निवेश से सरकार अधिक आय प्राप्त करे।

4.6.3 उत्पादन और वितरण नीति

किसी योजना का लक्ष्य यदि अर्थव्यवस्था के कृषि और उद्योग क्षेत्रकों में उत्पादन और उत्पादिता में वृद्धि करना नहीं है तो वह सफल नहीं हो सकती।

इसके साथ ही साथ सोच-समझकर बनाई गई वितरण नीति की आवश्यकता होती है। भारत में अब तक दो प्रकार की वितरण प्रणाली का आश्रय लिया गया है। ये हैं, समस्त देश में वस्तुओं के वितरण के संबंध में निजी उद्यमकर्ताओं पर पूर्णत: निर्भरता और खाद्यान्नों के थोक विक्रय का पूर्णत: राष्ट्रीकरण। हमारा अनुभव यह रहा है कि ये दोनों ही प्रणालियाँ खतरे से भरी हुई हैं। इस संबंध में हमारा सुझाव यह है कि वितरण प्रणाली को तो निजी उद्यम के हाथ में दे देना चाहिए, लेकिन सरकारी एजेन्सियों द्वारा इनकी निगरानी और पर्यवेक्षण होने चाहिए जिससे भ्रष्टाचार को रोका जा सके।

MADHYAMIAS

4.6.4 प्रशासित कीमत नीति

प्रशासित कीमत नीति के संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि राजकोषीय स्थायित्व और कीमत-स्थिरता के उद्देश्य सदा ही एक जैसे नहीं होते। सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रम (PSUs) यदि प्रशासित कीमतों को बढ़ा देते हैं तो सरकार उन्हें बजट सहायता देने के दायित्व से मुक्त हो जाती है, परंतु इसके फलस्वरूप पेट्रोलियम उत्पादों जैसे प्रमुख आगतों की कीमतों में वृद्धि का सामान्य कीमत स्थिति पर सोपानिक प्रभाव पड़ता है। अत: सरकार की कीमत नीति ऐसी होनी चाहिए कि प्रशासित कीमतों में बार-बार वृद्धि न करनी पड़े।

4.6.5 वाणिज्य नीति

हाल के वर्षों में वाणिज्य नीति की निर्यात-उन्मुखता को और किसी भी रूप में विदेशी मुद्रा के अंत:प्रवाह को प्रोत्साहन देने को महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। निर्यातों को इस प्रकार से महत्त्व प्रदान करने का कारण है भुगतान संतुलन को बनाए रखने की चिंता। आज के आर्थिक परिवेश में ऐसा ही होना उचित है।

लेकिन विदेशी मुद्रा अर्जन करने की धुन में हम कीमत स्थिति को नियंत्रण से बाहर नहीं जाने दे सकते। विदेशी मुद्रा रिजर्व के वर्तमान स्तर को देखते हुए हमें कम से कम अनिवार्य वस्तुओं की देश के अंदर पूर्ति को उस स्तर पर बनाए रखना होगा जिससे स्फीतिकारी प्रत्याशाओं को बल न मिले। इसके लिए दो बातें आवश्यक होंगी : (क) वस्तुओं का उदारतापूर्वक आयात तथा (ख) देश के अंदर जिन वस्तुओं की पूर्ति कम है उनके निर्यात पर नियंत्रण।

4.6.6 आय नीति

कीमत स्थिरता को बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न कीमतों के बीच, विभिन्न आयों के बीच तथा कीमत ढाँचा और आय ढाँचा के बीच उचित संबंध बनाया जाए। उचित कीमत-आय ढाँचा के होने की स्थिति में यदि किसी कारक की आय बढ़ती है तो उसे उत्पादिता में वृद्धि के अनुकूल होनी चाहिए। यह भी आवश्यक है कि मुद्रा पूर्ति में वृद्धि समाज की यथार्थ आवश्यकताओं से अधिक न हो, जैसे कि उत्पादन में वृद्धि के फलस्वरूप लेनदेनों की मात्रा में वृद्धि तथा वर्तमान लेनदेनों के मुद्रीकरण में वृद्धि।

MAADHYAM IAS
'Path to achieve your dream'

बोध प्रश्न 4

1) कीमत स्थिरता को बनाए रखने के लिए आप किस प्रकार की मुद्रा-नीति की सिफारिश करेंगे?

.....

.....

.....

.....

2) कीमत स्थिरता के लिए राजकोषीय नीति के घटकों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) कीमत स्थिरता को बनाए रखने के लिए आप किस प्रकार की प्रशासित कीमत नीति की सिफारिश करेंगे?

.....

.....

.....

.....

4.7 नई थोक कीमत सूचकांक (WPI) श्रेणियों पर एक नोट

आशा की जाती है कि 1993-94 को आधार वर्ष मानकर यदि थोक विक्रय कीमतों के सूचकांकों की संशोधित श्रेणी को प्रचलन में लाया जाता है तो मुद्रा-स्फीति की वास्तविक तस्वीर सामने आएगी। नये आधार वर्ष का चुनाव सर्वविदित कसौटियों के आधार पर किया गया है। इसके वांछित विशेषताएँ ये हैं : (i) उत्पादन और व्यापार के स्तर के लिए तथा कीमतों में उतार-चढ़ाव के लिए सामान्य वर्ष, (ii) ऐसा वर्ष जिसके लिए विश्वसनीय कीमत और अन्य आँकड़े उपलब्ध हों तथा (iii) यथासंभव हाल का वर्ष।

यह नजर में रखते हुए कि 1981-82 (पुरानी श्रेणी का आधार वर्ष) से अर्थव्यवस्था के ढाँचे में हुए परिवर्तनों का पर्याप्त रूप से प्रतिनिधित्व हो सके, अर्थव्यवस्था में लेनदेन की जाने वाली सभी महत्त्वपूर्ण मदों को संशोधित सूचकांक में शामिल कर लिया गया है। 1993-94 आधार वर्ष वाली नई श्रेणी के करेमोडिटी बास्केट में 435 मदों को लिया गया है। इस प्रकार नई श्रेणी में ली गई मदों की संख्या 1981-82 श्रेणी के 447 मदों से कम है। फिर भी नई श्रेणी की रचन्त को निम्नलिखित प्रकार से तर्कसंगत बना दिया गया है : नई और महत्त्वपूर्ण मदों को शामिल करके, महत्वहीन मदों को निकाल कर, कम महत्व की मदों को उन्हीं जैसी मदों के साथ मिलाकर और कुछ मदों को अलग-अलग करके।

संशोधित श्रेणी में 136 बिल्कुल नई मदों को शामिल कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त 1981-82 श्रेणी में दी गई अनेक किस्मों और ग्रेडों को नई श्रेणी में वस्तुओं का दर्जा दे दिया गया है। पुरानी श्रेणी की कुछ मदों को एक साथ मिला दिया गया है क्योंकि उनकी विशेषताएँ एक समान हैं। 1981-82 श्रेणी की 150 मदों को निकाल दिया गया है क्योंकि अर्थव्यवस्था के उत्पादन में उनका विशेष महत्व नहीं है। केवल 68% मदें/वस्तुएँ ही पुरानी और नई दोनों श्रेणियों में शामिल हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण मदें जिन्हें WPI कोमोडिटिज बास्केट में पहली बार शामिल किया गया है वे हैं रेल इंजनों के लिए बिजली, प्युरिफाइड टेरेपथलिक एसिड (PTA), इंजेक्शन मोल्डेड प्लास्टिक की मदें, आक्सीजन गैस सिलिंडर, रेलवे स्लीपर (सीमेंट), थिनर एम एस इमगौट्स, कोल्ड रौल्ड शीट्स, एल पी जी सिलिंडर, जेलफिल्ड टेलीफोन केबल, कलर टी वी सेट, कम्प्यूटर और कम्प्यूटर बेस्ड सिस्टम। जिन वस्तुओं को श्रेणी से निकाल दिया गया है उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं : अभ्रक, आयातित पेट्रोलियम क्रूड, खादी हैंडलूम कपड़ा, ब्रॉड गेज ओपेन वैगन और कलाई घड़ियाँ।

MADHYAM IAS

संशोधित श्रेणी में 'प्राथमिक वस्तुओं' का भार बहुत ही घट गया है, जबकि विनिर्मित वस्तुओं का भार बहुत अधिक बढ़ गया है। यह स्थिति इसलिए हुई है कि कृषि क्षेत्रक में अपेक्षाकृत धीमी गति से वृद्धि हुई है, विशेषत: प्रमुख 'प्राथमिक वस्तुओं' के वर्ग में खाद्य पदार्थों और गैर-खाद्य पदार्थों में। प्राथमिक वस्तु वर्ग का भार 1981-82 के 32.29% से घटकर नई श्रेणी में 22.02% हो गया। दूसरी 'ईंधन, बिजली, लाइट एंड लुब्रिकेंट' वर्ग का भार 10.66% से बढ़कर 14.23% हो गया तथा 'विनिर्मित वस्तु वर्ग' का भार 57.04% से बढ़कर 63.75% हो गया। ये नये भार उन संरचनात्मक परिवर्तनों के अनुरूप हैं जो 1981-82 श्रेणी अपनाने के समय से अर्थव्यवस्था में हुए हैं।

संशोधित श्रेणी के सामान्य थोक विक्रय कीमत और 1981-82 श्रेणी को 1993-94 आधार पर रखने के बाद तुलनात्मक विश्लेषण करने पर पता चलता है कि संशोधित श्रेणी की शुरुआत उच्च स्तर पर होती है और उसके बाद दोनों श्रेणियाँ लगभग एक दूसरे के समान हो जाती हैं। वास्तविकता तो यह है कि 1994-95 के बाद संशोधित श्रेणी में परिवर्तन की दर पहले की श्रेणी से कुछ कम है क्योंकि संशोधित श्रेणी का वस्तु संघटन (commodity compositions) अच्छी किस्म की वस्तुओं को दर्शाता है, तथा कभी-कभी इसकी निरपेक्ष कीमत कुछ ऊँची होती है।

प्रो. एस. आर. हशीम की अध्यक्षता में वर्किंग ग्रुप ने नई WPI श्रेणी के संघटन को अंतिम रूप दिया। इस ग्रुप का कहना है कि विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारत की अर्थव्यवस्था के अधिक एकीकरण और उनमें हुए परिवर्तनों के कारण थोक विक्रय कीमत (WPI) सूचकांक में बार-बार संशोधन की आवश्यकता है। इस ग्रुप ने यह भी सुझाव दिया है कि इस सूचकांक में सेवाओं को भी शामिल करने का प्रयास होना चाहिए क्योंकि अर्थव्यवस्था में हुई आय का लगभग 50% सेवाओं से ही आता है। इसने सुझाव दिया है कि शुरू-शुरू में सीमित मात्रा में कुछ महत्त्व सेवा उद्योगों को शामिल किया जाए, जिन के संबंध में आँकड़े उपलब्ध हैं और अंतत: वस्तुओं और सेवाओं को एक साथ मिलाकर एक नई WPI श्रेणी तैयार की जाए।

स्रोत : इकनॉमिक डायरी, एस डी नाइक, न्यूजीनेस लाइन, अप्रैल 25, 2000

4.8 सारांश

भारत में आर्थिक आयोजना का मुख्य उद्देश्य रहा है कीमत स्थिरता के पर्यावरण में आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा देना। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाई है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के बाद कीमत स्तर बढ़ने लगा और उसके बाद इसमें लगातार वृद्धि हो रही है। लेकिन अंतर केवल इस बात का रहा है कि विभिन्न चरणों में किस दर से कीमत में वृद्धि हुई है। 1950 और 1960 के दशकों में मुद्रा-स्फीति संयत रूप में हुआ करती थी तथा कीमत स्थिरता की स्थिति के बाद कीमतों में वृद्धि के चरण आते थे। लेकिन 1970 के दशक के बीच के समय से मुद्रा-स्फीति की दर बढ़ने लगी तथा 1980 के दशक एवं 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में मुद्रा-स्फीति की दर बहुत बढ़ गई। भारत में मुद्रा-स्फीति माँगजन्य और लागतजन्य कारकों का मिश्रण रही है। इसलिए कुछ ऐसे उपाय करने होंगे जिससे देश में कीमत स्थिरता की स्थिति को पुन: लाया जा सके।

4.9 शब्दावली

मुद्रा-स्फीति (Inflation) : सामान्य कीमत स्तर में लगातार वृद्धि होना।

लागतजन्य-मुद्रा-स्फीति (Cost Push Inflation) : लागतों में स्वतंत्र वृद्धि के फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर में लगातार वृद्धि।

माँगजन्य मुद्रा-स्फीति (Demand-pull Inflation) : समस्त माँग में लगातार वृद्धि का होना जिसके फलस्वरूप सामान्य कीमत स्तर में लगातार वृद्धि होती है।

वास्तविक आय (Real Income) : 'स्थिर कीमतों' में मापित कुल उत्पादन का मूल्य अर्थात् मुद्रा-स्फीति की सामान्य दर को घटा दिया जाता है, जिससे संसाधनों पर वास्तविक अनुशासन हो सके।

प्रशासित कीमत (Administration Prices) : बाजार शक्तियों द्वारा निर्धारित न होकर कुछ व्यक्तियों या किसी एजेन्सी द्वारा जानबूझ कर निर्धारित की गई कीमतें। प्रशासित कीमतें प्राय: उस स्थिति में संभव होती हैं जब किसी वस्तु का विक्रय किसी सार्वजनिक प्राधिकरण द्वारा होता है।

MADHYAM IAS

4.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dhingra I.C. (2000) : The Indian Economy: Environment and Policy (Chapter-10), Sultan Chand & Sons, New Delhi,

Government of India (2000) : Economic Survey: 1999-2000 (Annual), New Delhi

Jindal, Ajay (2000) : A caged tiger called inflation, the Economic Times, April 18.

Naik, S.D. (2000) : New WPI Series: A more realistic picture of inflation, Business Line, April 25.

Planning Commission (1999) : Ninth Five-Year Plan 1997-2002, New Delhi

Reserve Bank of India (2000) : Report on Currency and Finance, 1999 Mumbai

4.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 4.1 देखिए।

2) भाग 4.2 देखिए।

3) उप-भाग 4.3.3 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 4.4 देखिए।

2) उप-भाग 4.4.1 देखिए।

3) उप-भाग 4.4.2 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 4.5 देखिए।

2) उप-भाग 4.5 देखिए।

3) उप-भाग 4.5 देखिए।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 4.6.1 देखिए।

2) उप-भाग 4.6.2 देखिए।

3) उप-भाग 4.6.4 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 5 संवृद्धि तथा विकास के प्रमुख निर्धारक

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 आर्थिक संवृद्धि

5.3 आर्थिक विकास

5.4 आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्व

- 5.4.1 पूँजी निर्माण
- 5.4.2 पूँजी-उत्पादन अनुपात
- 5.4.3 व्यावसायिक ढाँचा
- 5.4.4 जनसंख्या वृद्धि

5.5 भारत का अनुभव

5.6 सारांश

5.7 शब्दावली

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

5.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आर्थिक संवृद्धि तथा आर्थिक विकास की अवधारणाएँ समझ सकेंगे;
- दोनों के बीच अंतर बता सकेंगे;
- आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्वों की पहचान कर सकेंगे; तथा
- संवृद्धि तथा विकास में भारत के प्रदर्शन का मूल्यांकन कर सकेंगे।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.1 प्रस्तावना

तेज आर्थिक संवृद्धि (economic growth) आज की माँग है। 1950 के दशक के प्रारंभ में भी ऐसा ही कुछ था। लेकिन 1960 के दशक के मध्य तक आर्थिक विकास (economic development) की अवधारणा ने जोर पकड़ा। यह वह समय था जब यह महसूस किया जा रहा था कि विकासशील देशों की अधिकतर जनसंख्या को संवृद्धि प्रक्रिया से कोई विशेष लाभ नहीं पहुँच रहा है। लेकिन अब फिर आर्थिक विकास की अपेक्षा आर्थिक संवृद्धि पर अधिक जोर दिया जा रहा है।

5.2 आर्थिक संवृद्धि

'संवृद्धि' तथा 'विकास' की अवधारणाओं का अर्थ आपने इकाई-2 में पढ़ा। इसी इकाई में आर्थिक संवृद्धि का अर्थ भी समझाया गया था। आर्थिक संवृद्धि उस समय होती है जब लोग साधनों को अधिक लाभदायक ढंग से प्रयोग में लाते हैं। अर्थव्यवस्था में उत्पादन की हम अपने रसोईघर से तुलना कर सकते हैं। रसोई में व्यंजन बनाने के लिए हम विधि के अनुसार विभिन्न प्रकार के पदार्थ मिलाते हैं। हम क्या व्यंजन बना सकते हैं। यह

इस बात पर निर्भर होता है कि इसको बनाने की विधियाँ कितनी हैं और पदार्थ कितने हैं। इसी प्रकार वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन इस बात पर निर्भर होता है कि साधन कितने उपलब्ध हैं और इन्हें प्रयोग में लाने की कौन-कौन सी प्रौद्योगिकी में परिवर्तन आता है तो उत्पादन भी बढ़ेगा। उत्पादन स्तर में वृद्धि की इस प्रक्रिया को आर्थिक संवृद्धि कहते हैं। संक्षेप में, आर्थिक संवृद्धि से अभिप्राय एक निश्चित अवधि के दौरान राष्ट्रीय उत्पादन (आय) या फिर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि है।

5.3 आर्थिक विकास

आर्थिक संवृद्धि की तुलना में आर्थिक विकास एक विस्तृत अवधारणा है। यह एक जटिल अवधारणा है। इसकी कोई एक निश्चित परिभाषा कठिन है। विकास की परिभाषा सामाजिक परिवर्तन सहित आर्थिक विकास के रूप में की जाती है। सामाजिक परिवर्तन में बेहतर जीवन स्तर, आये तथा सम्पत्ति का समान वितरण, उत्पादक रोज़गार, सबके लिए सुविधाएँ, स्वास्थ्य तथा सफाई की पर्याप्त सुविधाएँ, सबके लिए शिक्षा आदि। इन सबके बारे में हमें ऐसे सामाजिक सूचकों से पता चलता है जैसे जन्म के समय जीवन प्रत्याशा (life expectancy), साक्षरता दर, जन्मदर व मृत्युदर, प्रति लाख जनसंख्या के पीछे हस्पताल व स्कूल, कृषि क्षेत्र में लगा श्रम शक्ति का अनुपात आदि।

विकास की परिभाषा करने के प्रयासों ने कुछ सामान्य परिभाषाओं को जन्म दिया है। इनमें से कुछ तो एक-दूसरे से भिन्न हैं विशेषतया इस बारे में कि विकास-सूचकांक में क्या-क्या शामिल हों। विकास का मुख्य तत्त्व यह है कि अर्थव्यवस्था में परिवर्तन की प्रक्रिया को ही आर्थिक विकास कहते हैं। ये कारक अप्रत्यक्ष रूप से आर्थिक विकास लाते हैं। इससे होने वाले लाभों से आनंद उठाना विकास कहलाता है। आर्थिक विकास आर्थिक संवृद्धि तथा विकास के बीच की स्थिति है।

आधारभूत तौर पर, आर्थिक विकास से अभिप्राय है अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में आर्थिक, और उच्च उत्पादन स्तर प्राप्त करना। उत्पादन स्तर प्रौद्योगिकी स्तर का फलन होता है। प्रौद्योगिकी का ऊँचा स्तर प्राप्त करने के लिए अर्थव्यवस्था को दो बातों की आवश्यकता होती है :

i) मशीनों, साज सामान, औज़ार आदि की मात्रा बढ़ाना (यानि भौतिक पूँजी निर्माण); और

ii) भौतिक पूँजी का उपयोग करने हेतु देश की जनसंख्या को बेहतर शिक्षा, सफाई, व स्वास्थ्य सुविधाएँ प्रदान कर श्रम शक्ति को प्रशिक्षण देना (यानि मानव पूँजी निर्माण)। संक्षेप में, आर्थिक विकास भौतिक व मानव पूँजी निर्माण की दर, बढ़ाने की एक प्रक्रिया है ताकि जनसंख्या का जीवन स्तर ऊपर उठ सकें। आर्थिक विकास की प्रक्रिया को लोगों की क्षमताएँ बढ़ाने तथा अवसर सुलभ कराने की प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है।

आर्थिक विकास के सूचकांक जीवन की गुणवत्ता को बहुत महत्त्व देते हैं। इनका भाव तीन प्रकार के परिवर्तनों पर आधारित होता है : जीवन प्रत्याशा, शिशु मृत्युदर तथा साक्षरता दर।

इन तीनों के बारे में विवेचन और मूल्यांकन से हमें इन्हें समझने में काफी सहायता मिलेगी। अगली इकाई में हमें सामाजिक परिवर्तन के माप के बारे में कुछ पता चलेगा। इन मापों के आधार पर एक अर्थव्यवस्था के प्रदर्शन का मूल्यांकन विभिन्न अवधियों में और विभिन्न देशों की तुलना में कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक 'संवृद्धि' की परिभाषा कीजिए? (तीन पंक्तियों में बताइए।)

.....

.....

.....

.....

.....

2) आर्थिक 'विकास' क्या होता है? (तीन पंक्तियों में लिखिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

3) आर्थिक 'संवृद्धि' और आर्थिक 'विकास' के बीच क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

5.4 आर्थिक विकास के निर्धारक तत्त्व

आर्थिक संवृद्धि आर्थिक विकास का एक आवश्यक भाग है। जनसंख्या के जीवन स्तर में निरंतर वृद्धि लाना आय में वृद्धि पर निर्भर करता है। आर्थिक संवृद्धि के महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्वों को हम आर्थिक कारक भी कह सकते हैं।

एक खुली अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर दो बातों : (i) निवेश दर, तथा (ii) पूँजी-उत्पाद अनुपात पर निर्भर होती है : यानि,

$$\text{राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर} = \frac{\text{निवेश-राष्ट्रीय आय अनुपात (I/Y)}}{\text{पूँजी-उत्पाद अनुपात (K/Y)}} = (I/Y) \cdot (Y/K)$$

I = निवेश

Y = राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन

K = राष्ट्रीय पूँजी का स्टॉक

अन्य शब्दों में राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि की दर को तेज करने के लिए अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित दो परिवर्तन आवश्यक होते हैं:

क) निवेश दर (यानि निवेश-आय अनुपात) में वृद्धि लाना

यदि अन्य बातें पूर्ववत् रहें, निवेश (यानि पूँजी निर्माण) की दर जितनी अधिक होगी, राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर भी उतनी ही अधिक होगी। एक अर्थव्यवस्था अपनी आय का जितना अधिक भाग निवेश में लगा पाएगी भविष्य आय में उतनी ही अधिक वृद्धि होगी।

ख) पूँजी-उत्पाद अनुपात घटाना

ऐसी शक्तियों को बढ़ावा देना जिससे पूँजीगत साधनों का कुशल प्रयोग करके पूँजी-उत्पाद अनुपात कम किया जा सकता है। कुशलता में वृद्धि पूँजी-उत्पाद अनुपात घटाती है। इससे हम कम पूँजी से अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं।

5.4.1 पूँजी निर्माण

पूँजी से अभिप्राय मशीनों, औज़ारों व साज समान के स्टॉक तथा श्रमिकों की कुशलता में सुधार से है जिनका कि संवृद्धि की प्रक्रिया पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। एक अवधि के दौरान उसके स्टॉक में वृद्धि निर्माण कहलाती है। इसे निवेश भी कहते हैं।

आर्थिक संवृद्धि और विकास की प्रक्रिया में पूँजी निर्माण की एक निर्णायक भूमिका होती है। पूँजी निर्माण की दर बढ़ाना आवश्यक होता है ताकि देश में पूँजी का स्टॉक बढ़े और उससे आगे उत्पादन बढ़े। यही नहीं बल्कि पूँजी निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि कुशलता निर्माण में सुधार भी हो ताकि उत्पादन बढ़ाने हेतु मशीनों, साज समान आदि का कुशलता से प्रयोग हो।

योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में ये विचार व्यक्त किए हैं : एक समाज उत्पादन और भौतिक कल्याण का जो स्तर प्राप्त कर सकता है वह मुख्यत: उसके पूँजी के स्टॉक पर निर्भर होता है, यानि प्रति व्यक्ति भूमि की मात्रा, तथा मशीनों, भवनों, औजार व साज समान, कारखानों, रेल-इंजनों, सिंचाई सुविधाओं, विद्युत संस्थानों, संचार पर। पूँजी का स्टॉक जितना अधिक होगा, श्रम की उत्पादिकता भी उतनी ही अधिक होगी, अत: किए गए प्रयत्नों से वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन भी उतना ही अधिक होगा।

दूसरे देशों के अनुभव से यह पता चलता है कि आर्थिक संवृद्धि में गति लाने के लिए पूँजी निर्माण की दर का ऊँचा होना आवश्यक होता है। 1913 व 1939 के बीच जापान में पूँजी निर्माण की दर औसतन 16 से 20 प्रतिशत था। पूर्व सोवियत संघ की प्रथम पंचवर्षीय योजना में राष्ट्रीय आय का एक चौथाई से लेकर एक तिहाई तक भाग शुद्ध पूँजी निर्माण में लगाने का लक्ष्य था। बाद की योजनाओं में यह कम कर दिया गया था और यह राष्ट्रीय आय के लगभग 20 प्रतिशत पर स्थित हो गया था। पूर्वी यूरोप के कुछ देशों, जैसे कि चैकोस्लोवाकिया व पोलेण्ड में सकल निवेश की दरें 20 से 25 प्रतिशत के बीच थीं। तेज संवृद्धि प्राप्त करने वाले अन्य देशों के अनुभव से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत को भी अपने पूँजी निर्माण की दर 20 से 25 प्रतिशत तक ले जानी होगी।

5.4.2 पूँजी-उत्पाद अनुपात

पूँजी-उत्पाद अनुपात आर्थिक विकास का एक और निर्धारक तत्त्व है। एक इकाई का उत्पादन करने के लिए पूँजी की जितनी इकाइयों की आवश्यकता होती है, उसे पूँजी-उत्पाद अनुपात कहते हैं। इससे हमें अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में पूँजी की उत्पादिता के बारे में मालूम पड़ता है। भारत जैसे विकासशील देश में जहाँ की पूँजी की कमी है, यह और भी आवश्यक हो जाता है कि पूँजी की उत्पादिता का एक प्रकार का संक्षिप्त विवरण होता है।

विभिन्न उद्योगों में और विभिन्न देशों में पूँजी-उत्पाद अनुपात अलग-अलग होते हैं। समय के साथ-साथ ये बदलते भी रहते हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार ऐसा कोई एक पूँजी-उत्पाद अनुपात नहीं होता जो सभी देशों में और सभी समयों पर एक समान होता हो, बहुत कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि आर्थिक विकास किस चरण तक पहुँच गया है और आगे विस्तार का ठीक-ठीक स्वरूप क्या होगा।

उदाहरणत:, आर्थिक विकास के प्रारंभिक चरण में जब एक देश आर्थिक बुनियादी सुविधाओं में, जैसे सिंचाई परियोजनाओं, जल-विद्युत परियोजनाओं, सड़कें, रेलवे आदि पर, भारी निवेश कर रहा होता है, तो उत्पादन में तुलनात्मक वृद्धि कम होती है। उद्योगों की ऐसी समस्या को अविभाज्यता की समस्या कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि कारखाने का पैमाना एक विशिष्ट आकार का होना चाहिए चाहे वास्तव में, जैसा कि प्रारंभ में होता है, इससे एक बहुत छोटे से अंश के आकार के कारखाने की ही आवश्यकता हो।.छोटे आकार के कारखाने का निर्माण करना या तो महँगा बैठता है या फिर संभव ही नहीं हो पाता। लेकिन जैसे-जैसे शक्ति क्षमता और परिवहन साज समान का पूर्ण उपयोग होने लगता है, पूँजी-उत्पाद अनुपात में अनुकूल परिवर्तन आने लगता है।

आधारभूत उद्योग, जैसे लोहा व इस्पात, मशीनी औज़ार, इंजीनियरिंग, धातु आदि उपभोक्ता वस्तु उद्योगों की अपेक्षा अधिक पूँजी-प्रधान होते हैं। परिणामस्वरूप, आर्थिक नींव रखे जाने के विकास के प्रारंभिक वर्षों में पूँजी-उत्पाद अनुपात प्रतिकूल रहता है। लेकिन जैसे ही विकास गति पकड़ता है और उपभोक्ता वस्तुओं का महत्त्व बढ़ता है, पूँजी में थोड़ी वृद्धि से ही उत्पादन में अधिक परिवर्तन आने शुरू हो जाते हैं। अन्य शब्दों

कुछ क्षेत्रों में (जैसे कृषि, लघु उद्योग आदि) पूँजी में थोड़ी वृद्धि से ही उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। इन्हें हम श्रम-प्रधान उद्योग या क्षेत्र कहते हैं। अन्य उद्योगों में, तुलनात्मक रूप से, अधिक पूँजी बढ़ाने की आवश्यकता होती है। उदाहरण के तौर पर 1885 व 1915 के बीच जापान में बेहतर बीज, जल आपूर्ति में सुधार, फसलों की बीमारियों के नियंत्रण तथा उर्वरकों के उपयोग में केवल थोड़े निवेश द्वारा ही कृषि में श्रम उत्पादिता दोगुनी हो गई थी।

इसके अतिरिक्त, पूँजी-उत्पाद अनुपात दो अन्य बातों पर निर्भर होता है : (i) किस कुशलता से नए प्रकार का पूँजीगत साज-सामान प्रयोग में लाया जाता है, और (ii) आर्थिक विकास की उस अवस्था में प्रबंध व संगठन निपुणता कितनी है। निवेश कार्यक्रम का समन्वयन इस प्रकार का हो कि पूरक पड़े आर्थिक कार्य साथ-साथ विकसित हों ताकि पूँजी-उत्पादन अनुपात पर अनुकूल प्रभाव पड़े। अन्य शब्दों में, निवेश को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग में लाने की अर्थव्यवस्था की क्षमता भी पूँजी-उत्पाद अनुपात पर प्रभाव डालती है।

5.4.3 व्यावसायिक ढाँचा

कार्यकारी जनसंख्या का ढाँचा एक और कारक है जो आर्थिक विकास का निर्धारण भी करता है और आर्थिक विकास से निर्धारित भी होता है। विश्व का अनुभव यह बताता है कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया के दौरान श्रमशक्ति प्राथमिक से द्वितीयक क्षेत्र को, और फिर सेवा क्षेत्र को हस्तांतरित होती है। उदाहरण के तौर पर 1870 व 1930 की अवधि में कृषि लगा श्रम का अनुपात संयुक्त राज्य अमरीका में 54 प्रतिशत से घटकर 23 प्रतिशत, फ्रांस में 43 प्रतिशत से घटकर 25 प्रतिशत तथा जापान में 80 प्रतिशत से घटकर 48 प्रतिशत हो गया था। इस परिवर्तन का अर्थ यह हुआ कि श्रम शक्ति कम उत्पादिता वाले प्राथमिक क्षेत्र से हटकर अधिक उत्पादिता वाले द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्रों की ओर जाती है। अत:, यह आवश्यक है कि जैसे-जैसे आर्थिक विकास बढ़े श्रम शक्ति का विभिन्न व्यवसायों के बीच श्रेष्ठतर बँटवारा हो। इससे केवल श्रम के उपयोग में ही सुधार नहीं आएगा, बल्कि अर्थव्यवस्था के उत्पादिता स्तर में भी वृद्धि होगी।

5.4.4 जनसंख्या वृद्धि

जनसंख्या में तीव्र वृद्धि आर्थिक विकास प्राप्त करने में एक बहुत बड़ी रुकावट मानी जाती है। तेज़ गति से जनसंख्या वृद्धि का अर्थ है प्रति व्यक्ति कम साधनों की उपलब्धता। क्योंकि आर्थिक संवृद्धि प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि से मापी जाती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय का एक भाग तो बढ़ती हुए जनसंख्या के भरण-पोषण पर ही लग जाता है। अत: जनसंख्या द्वारा संवृद्धि की गति बढ़ाने की संभावनाएँ थोड़ी रह जाती हैं। स्पष्ट है कि बहुत बड़े और सक्रिय परिवार नियोजन कार्यक्रम की आवश्यकता है ताकि विकास प्रयत्नों के लाभ बेकार न जाएँ। यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि केवल जनसंख्या को अकेले ही दोषी मानना उचित नहीं होगा। इतिहास गवाह है कि जन्मदर में महत्त्वपूर्ण कमी उसी समय आती है जब अधिकतर जनसंख्या का जीवन स्तर बढ़े। आर्थिक विकास और जनसंख्या का आपस में संबंध है। यह सत्य है कि जनसंख्या आर्थिक विकास में रुकावट डालती है, लेकिन जब आर्थिक विकास गति पकड़ता है तो उससे स्वत: ही जनसंख्या नियंत्रण हेतु उचित वातावरण तैयार हो जाता है।

बोध प्रश्न 2

1) पूँजी-उत्पाद अनुपात को कौन से कारक प्रभावित करते हैं और कैसे? कोई से तीन कारकों की विवेचना कीजिए। (शब्द सीमा 100)

.....

.....

.....

.....

2) जैसे-जैसे एक अर्थव्यवस्था विकसित होती है कार्यशील जनसंख्या (यानि व्यावसायिक ढाँचा) इसके पक्ष में होता जाती है। निम्नलिखित में से सही विकल्प पर निशान (√) लगाइए :

क) प्राथमिक क्षेत्र

ख) द्वितीयक क्षेत्र

ग) तृतीयक क्षेत्र

घ) द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्र

ड़) प्राथमिक तथा द्वितीयक क्षेत्र

3) निम्नलिखित में से जीवन स्तर का कौन-सा बेहतर सूचक है?

क) राष्ट्रीय आय

ख) पूँजी निर्माण

ग) पूँजी-उत्पाद अनुपात

घ) जन्म के समय जीवन प्रत्याशा

ड़) उपरोक्त में से कोई भी नहीं।

4) निम्नलिखित में से कोन से वक्तव्य सही हैं और कौन से गलत?

क) ऊँची निवेश दर अर्थव्यवस्था के तीव्र संवृद्धि के लिए अच्छी नहीं होती। गलत/सही

ख) प्रति व्यक्ति आय में तीव्र वृद्धि के लिए जनसंख्या में वृद्धि होना अच्छा है। गलत/सही

ग) राष्ट्रीय आय में वृद्धि आर्थिक विकास का सबसे अच्छा सूचक है। गलत/सही

घ) राष्ट्रीय आय को जनसंख्या से भाग देने पर प्रतिव्यक्ति आय की गणना की जा सकती है। गलत/सही

5.5 भारत का अनुभव

इस भाग में हम भारत में संवृद्धि और विकास के प्रदर्शन और उसके मूल्यांकन के बारे में बात करेंगे। भारत के विकास का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य राष्ट्रीय आय में वृद्धि को तेज़ करना है। राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ-साथ हम प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि की प्रवृत्ति की भी जाँच करेंगे। पहले हम 1950 से लेकर अब तक राष्ट्रीय आय में प्रवृत्ति का अध्ययन करेंगे। इस हेतु हम साधन लागत पर निबल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुमान लेते हैं। ये अनुमान निम्नलिखित तालिका में है :

तालिका 1: राष्ट्रीय आय (साधन लागत पर निबल राष्ट्रीय उत्पाद) में प्रवृत्ति (चालू व स्थिर कीमतों पर)

(करोड़ रुपये)

वर्ष	चालू कीमतों पर	स्थिर (1980-81) कीमतों पर
1950-51	8574	40454
1960-61	14242	58602
1970-71	36503	82211
1980-81	110685	110685
1990-91	418074	186446
1995-96	857570	267330
1999-2001	1590301	10,11,224*
2000-2001	1765238	10,63,479*

स्रोत : राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, सी.एस.ओ. 1997 और राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, 2001।

Note: * 1993-94 की कीमतों पर

तालिका-1 से पता चलता है कि 45 वर्ष की अवधि के दौरान भारत की (चालू कीमतों पर) राष्ट्रीय आय 8574 करोड़ रुपये से बढ़कर 857570 करोड़ रुपये यानि 100 गुना हो गई। यह वृद्धि प्रथम पंचवर्षीय योजना में उतनी नहीं थी जितनी कि आगे की योजनाओं में।

लेकिन चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में वृद्धि से देश की आर्थिक संवृद्धि का सही-सही पता नहीं चल सकता क्योंकि इस वृद्धि में कीमतों में वृद्धि भी शामिल रहती है। सही अनुमान केवल स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय से लगाया जा सकता है क्योंकि इसमें कीमतों में वृद्धि शामिल नहीं होती। तालिका-1 से स्पष्ट है कि स्थिर कीमतों पर (यानि वास्तविक आय में) वृद्धि चालू कीमतों पर यानि मौद्रिक आय में वृद्धि की अपेक्षा बहुत कम है। वास्तविक आय में वृद्धि केवल 6 गुना है जबकि मौद्रिक आय में यह 100 गुना है। अत: मौद्रिक आय की अधिकतर वृद्धि मुद्रास्फीति यानि कीमतों में वृद्धि के कारण हुई।

तालिका 2 : प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय (साधन लागत पर निबल राष्ट्रीय उत्पाद) में प्रवृत्ति (चालू व स्थिर कीमतों पर)

वर्ष	चालू कीमतों पर (रुपये)	स्थिर कीमतों पर (रुपये) (1980-81 की कीमतों पर)
1950-51	238	1126
1960-61	328	1350
1970-71	674	1519
1980-81	1630	1630
1990-91	4983	2222
1995-96	9321	2573
1999-2000	16047	10204*
2000-2001	17530	10561*

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

स्रोत : राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, सी.एस.ओ. 1997 और राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, 2001।
Note:* 1993-94 की कीमतों पर

तालिका 2 में चालू व स्थिर कीमतों दोनों पर प्रतिव्यक्ति आय के आंकड़े दिए गए हैं। स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय का उद्देश्य कीमतों के प्रभाव को हटाना था। प्रतिव्यक्ति आय का उद्देश्य जनसंख्या वृद्धि के प्रभाव को हटाना है। स्थिर कीमतों पर प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि से हमें जीवन स्तर में सुधार के बारे में पता चलता है। 45 वर्ष की अवधि में हालाँकि चालू कीमतों पर प्रति व्यक्ति आय 38 गुना बढ़ी, स्थिर कीमतों पर यह केवल 2.3 गुना ही बढ़ी अर्थात् मौद्रिक आय में वृद्धि का अधिकतर भाग केवल कीमतों में वृद्धि के कारण ही बढ़ा।

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर में भी काफी भिन्नता रही है। आज़ादी के बाद के पचास वर्षों में भारत जैसी नियोजित अर्थव्यवस्था में इसकी संवृद्धि दर में काफी उतार-चढ़ाव आए। तालिका 3 से हमें इस प्रवृत्ति के बारे में पता चलता है।

इस तालिका से स्पष्ट है कि पिछले 50 वर्षों में वृद्धि दर में उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। सातवीं पंचवर्षीय योजना में कुल व प्रति व्यक्ति आय दोनों की दर सबसे अधिक थी। चौथी योजना तक तो यह 4 प्रतिशत के आस-पास थी, लेकिन पाँचवीं योजना से इसमें कुछ तेजी आई और यह 5 प्रतिशत से ऊपर जाने लगी।

तालिका 3 : भारत में निवल राष्ट्रीय आय में वार्षिक औसत वृद्धि दर
(स्थिर कीमतों 1980-81 की कीमतों पर)

	योजना अवधि	निबल राष्ट्रीय उत्पाद (प्रतिशत)	प्रतिव्यक्ति निबल (प्रतिशत)
प्रथम योजना	1951-56	3.6	1.7
द्वितीय योजना	1956-61	4.0	1.9
तृतीय योजना	1961-66	2.4	0.1
वार्षिक योजनाएँ	1966-69	3.7	1.4
चतुर्थ योजना	1969-74	3.3	0.9
पंचम योजना	1974-79	5.0	2.6
वार्षिक योजना	1979-80	- 6-0	- 8.2
छठी योजना	1980-85	5.4	3.2
सातवीं योजना	1985-90	5.9	3.6
वार्षिक योजना	1990-91	5.1	3.0
वार्षिक योजना	1991-92	- 0.1	- 2.1
वार्षिक योजना	1992-93	5.1	3.1
वार्षिक योजना	1993-94	5.9	4.1
वार्षिक योजना	1994-95	6.8	4.9
वार्षिक योजना	1995-96	6.9	5.1
वार्षिक योजना	1999-2000	6.6*	4.8*
वार्षिक योजना	2000-2001	5.2*	3.5*

स्रोत : राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, सी.एस.ओ. 1997 और राष्ट्रीय लेखा साख्यिकी, 2001।
Note: * 1993-94 की कीमतों पर

तालिका 4 : भारतीय अर्थव्यवस्था में सकल पूँजी निर्माण

वर्ष	निवेश दर (%)	सीमांत पूँजी उत्पाद अनुपात (ICOR)	सकल घरेलू उत्पाद वृद्धिदर
1951-52 से 55-56	10.66	2.95	3.61
1956-57 से 60-61	14.52	3.40	4.27
1960-61 से 65-66	15.45	5.44	2.84
1966-67 से 70-71	15.99	3.43	4.66
1971-72 से 75-76	17.87	5.80	3.08
1976-77 से 80-81	21.47	6.63	3.24
1981-82 से 85-86	20.98	4.15	5.06
1986-87 से 89-90	22.70	3.91	5.81
1989-90 से 91-92	23.17	4.36	5.31
1991-92 से 96-97	24.90	3.70	6.80
1997-2000	28.20	4.30	6.50

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सूत्र रूप में

$$\text{निवेश दर } (I/Y) = \frac{\text{निवेश } (I)}{\text{सकल घरेलू उत्पाद } (Y)}$$

$$\text{सीमांत पूँजी उत्पाद (ICOR) अनुपात} = \frac{\text{पूँजी में परिवर्तन } (\Delta K)}{\text{सकल घरेलू उत्पाद में परिवर्तन } (\Delta Y)}$$

स्रोत : आठवीं योजना दस्तावेज़ (1992-97) और नवीं योजना दस्तावेज़ (1997-2002)

तालिका 4 से स्पष्ट है कि भारतीय अर्थव्यवस्था में पूँजी निर्माण की दर (निवेश दर) स्वतंत्रता के बाद से निरंतर बढ़ रही है। 1951-52 से 1955-56 के बीच यह 10 प्रतिशत से ऊपर थी जो 1986-87 से 1991 के बीच यह बढ़कर 23 प्रतिशत हो गई और 1997-2000 में यह 28 प्रतिशत थी। यह एक बड़ी उपलब्धि रही है। लेकिन इसके साथ-साथ आय में वृद्धि की दर उतनी नहीं बढ़ी। तालिका 4 में हमने पूँजी-उत्पाद अनुपात न लेकर सीमांत पूँजी-उत्पाद अनुपात (incremental capital-output ratio) लिया है। ऐसा करने के दो कारण हैं : (i) पूँजी मापना एक बहुत कठिन कार्य है, तथा (ii) राष्ट्रीय आय में तुरंत वृद्धि सीमांत पूँजी (यानि निवेश) पर निर्भर करती है। आर्थिक विश्लेषण में भी पूँजी-उत्पाद अनुपात में उतार-चढ़ाव उसके पीछे विशेष कारण रहा है। इससे अर्थव्यवस्था में पूँजी उपयोग की कुशलता के स्तर में उतार-चढ़ाव के बारे में पता चलता है।

उपरोक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय व प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि विकास प्रक्रिया पर प्रकाश नहीं डालती है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया का संबंध तो लोगों के जीवन स्तर से है, यानि क्या लोग दीर्घायु हो रहे हैं? क्या लोग बीमारी से बचे हैं? क्या वे वैज्ञानिक खोजों में लगे हैं? आदि आदि। आर्थिक विकास प्रक्रिया लोगों की क्षमता में वृद्धि लाने और अवसर बढ़ाने की प्रक्रिया है जिसके माध्यम से उनके जीवन की गुणवत्ता में सुधार आता है।

उपरोक्त को ध्यान में रख हम कुछ सामाजिक सूचकों के बारे में बात करते हैं। तालिका-5 में मानव विकास के कुछ आधारभूत सूचक दिए गए हैं।

MAADHYAM IAS

तालिका 5: मानव विकास के आधारभूत सूचक

वर्ष	जन्म के समय जीवन प्रत्याशा (वर्ष)	साक्षरता दर (प्रतिशत)	जन्मदर (प्रति हजार)	मृत्युदर (प्रति हजार)	शिशु मृत्युदर (प्रति हजार)
1951	32.1	18.3	39.9	27.4	146
1961	41.3	28.3	41.7	22.8	146
1971	45.6	34.5	36.9	14.9	129
1981	50.4	43.6	33.9	12.5	110
1991	59.4	52.2	29.5	9.8	80

स्रोत : भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा 1996-97, वित्त मंत्रालय

जैसा कि तालिका-5 में देखा जा सकता है आर्थिक विकास के सभी सूचकों में सुधार आया है। 45 वर्षों में जन्म के समय जीवन प्रत्याशा 32.1 वर्ष से बढ़कर 59.4 वर्ष हो गई, साक्षरता दर लगभग तीन गुना हो गई, जन्मदर और मृत्युदर कम हो गई। जन्मदर की अपेक्षा मृत्युदर तेजी से गिरने के कारण जनसंख्या तेजी से बढ़ी। शिशु-मृत्युदर भी काफी गिर गई। 1991 में भारत के व्यावसायिक ढाँचे में 65 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या कृषि (यानि प्राथमिक क्षेत्र) में, लगभग 15 प्रतिशत उद्योग (यानि द्वितीयक क्षेत्र) में, तथा शेष (20 प्रतिशत) सेवा (यानि तृतीयक क्षेत्र) में लगी थी। इससे पता चलता है कि हमारे रोजगार का मुख्य साधन अभी भी कृषि है। द्वितीयक व तृतीयक क्षेत्र में अपेक्षाकृत बहुत कम अनुपात कार्यरत है। कृषि में आवश्यकता से अधिक अनुपात है। लेकिन कृषि का सकल उत्पाद में अनुपात जो कि स्वतंत्रता के समय 50 प्रतिशत था घटकर 1991 में 33 प्रतिशत रह गया।

व्यावसायिक ढाँचे के बारे में भारतीय अर्थव्यवस्था का अनुभव काफी निराशाजनक रहा है। इसके कारण कृषि क्षेत्र में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा प्रतिव्यक्ति आय बहुत कम रही है। गैर-कृषि क्षेत्रों (यानि उद्योग व सेवा क्षेत्र) की प्रतिव्यक्ति आय कृषि क्षेत्र की प्रति व्यक्ति आय की अपेक्षा 2.3 गुना थी जो कि पिछले 50 वर्षों में बढ़कर 4 गुना हो गई थी। अत: भारतीय अर्थव्यवस्था के तेज विकास के लिए यह आवश्यक है कृषि के उत्पादिता स्तर में वृद्धि हो और गैर-कृषि कार्यों में श्रम-शक्ति का अधिक भाग लगे।

बोध प्रश्न 3

1) स्वतंत्रता के बाद से 'संवृद्धि' और 'विकास' में भारत का क्या अनुभव रहा है? 100 शब्दों में बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) खाली स्थान भरिए :

क) सकल राष्ट्रीय उत्पाद में कृषि का अनुपात 1950 में 50 प्रतिशत था जो घटकर 1991 में .... प्रतिशत हो गया

ख) पूँजी निर्माण को ..... भी कहते हैं।

ग) चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय में तेज वृद्धि ..... के कारण हैं।

3) भारत में साक्षरता दर बढ़कर रह गई है :

क) 99.1 प्रतिशत

ख) 52.4 प्रतिशत

ग) 45.7 प्रतिशत

घ) 23.5 प्रतिशत

ङ) उपरोक्त में से कोई भी नहीं।

4) भारत में जन्म के समय जीवन प्रत्याशा बढ़कर यह हो गई :

क) 99.1 वर्ष

ख) 23.5 वर्ष

ग) 45.7 वर्ष

घ) 59.4 वर्ष

ङ) उपरोक्त में से कोई भी नहीं।

5) भारत में शिशु मृत्युदर गिर कर यह हो गई :

क) 80

ख) 90

ग) 150

घ) 108

ङ) उपरोक्त में से कोई भी नहीं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6) भारत में कृषि क्षेत्र पर निर्भर श्रमशक्ति का यह अनुपात है :

क) एक-तिहाई

ख) दो-तिहाई

ग) आधा

घ) तीन चौथाई

7) चालू कीमतों पर राष्ट्रीय आय स्थिर कीमतों पर राष्ट्रीय आय की अपेक्षा इन कारणों से अधिक रहती है :

क) जनसंख्या वृद्धि

ख) मुद्रास्फीति (यानि कीमतों में वृद्धि)

ग) संवृद्धि दर की धीमी गति

घ) अवस्फीति (यानि कीमतों में गिराव)

8) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में वृद्धि की अपेक्षा राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर निम्नलिखित कारण से अधिक रही है :

क) सकारात्मक जनसंख्या वृद्धि

ख) मुद्रास्फीति (यानि कीमतों में वृद्धि)

ग) संवृद्धि दर की गति धीमी होना

घ) नकारात्मक जनसंख्या वृद्धि

9) पूँजी निर्माण दर बढ़कर यह हो गई है।

क) 12 प्रतिशत

ख) 15 प्रतिशत

ग) 19 प्रतिशत

घ) 23 प्रतिशत

ङ) 35 प्रतिशत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.6 सारांश

इस इकाई का उद्देश्य आर्थिक 'संवृद्धि' तथा आर्थिक 'विकास' की अवधारणाओं से परिचय कराना और इनके बीच अंतर बताना है। कई बार लोग इन दोनों अवधारणाओं को एक ही मानते हैं, जो कि ठीक नहीं है। आर्थिक 'संवृद्धि' की अपेक्षा आर्थिक 'विकास' की अवधारणा अधिक विस्तृत है।

इस इकाई में हमने संवृद्धि तथा विकास में भारत के अनुभव की बात भी की है। संक्षेप में, यह संभव है कि पूँजी-उत्पादन अनुपात में परिवर्तन लाकर राष्ट्रीय आय में वृद्धि लाई जा सके लेकिन इस प्रक्रिया में यह संभव है बेरोज़गारी की समस्या भयंकर रूप धारण कर ले। अत: महत्त्व की बात यह है कि निवेश का ढाँचा कुछ इस प्रकार का हो कि रक्षा साज-सामान, इंजीरियरिंग व धातु उद्योग, रेलवे, जहाज़रानी आदि उद्योगों में जटिल पूँजी-प्रधान प्रौद्योगिकी का प्रयोग हो, जबकि अधिकतर उपभोक्ता वस्तुएँ बनाने वाले व कृषि विकास कार्यक्रमों में श्रम-प्रधान प्रौद्योगिकी का प्रयोग हो जिनमें पूँजी कम लगती है। विकास के प्रारंभिक चरणों में ऐसा करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि मृत्युदर घटने के कारण इस अवस्था में जनसंख्या का दबाव बढ़ता है। भारत जैसी विकाशील अर्थव्यवस्थाओं में यह आवश्यक है उत्पाद में वृद्धि और पूर्ण रोज़गार के उद्देश्यों के प्राप्ति के लिए एक साथ प्रयत्न किया जाए।

आजादी के बाद पिछले 50 वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था ने स्वयमेव धारणीय आर्थिक संवृद्धि (Self-sustained economic growth) है। 50 वर्षों के प्रयत्नों के बावजूद भारत की एक बहुत बड़ी संख्या, जो कि करोड़ों में है, अत्यंत गरीब है। विकास नीतियों में भारी परिवर्तन लाने की आवश्यकता है ताकि देश की गरीब जनसंख्या विकास प्रक्रिया से लाभ उठा सकें।

5.7 शब्दावली

आर्थिक संवृद्धि : आय या प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि।

आर्थिक विकास : जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने की प्रक्रिया।

प्रति व्यक्ति आय : कुल राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से भाग देने पर प्राप्त।

रुग्णता (Morbidity) : अस्वस्थता।

राष्ट्रीय आय : अर्थव्यवस्था में एक वर्ष में उत्पादित अंतिम वस्तुओं एवं सेवाओं का मौद्रिक मूल्य।

प्राथमिक क्षेत्र : कृषि और उससे संबंधित कार्य, वानिकी, मछली पालन आदि।

द्वितीयक : सभी प्रकार की विनिर्माण और निर्माण क्रियाएँ इसे उद्योगिक क्षेत्र भी कहते हैं।

तृतीयक क्षेत्र : सभी प्रकार के सेवा कार्य जैसे बैंकिंग, परिवहन, बीमा, प्रशासन, व्यापार आदि।

दुश्चक्र (Vicious Circle) : एक ऐसी स्थिति जिसमें कारक एक-दूसरे को कुछ इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि पहले से खराब स्थिति और खराब होती चली जाती है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Central Statistical Organisation (1997) : "*National Accounts Statistics*", Department of Statistics, Ministry of Planning, Government of India.

Eswaran, Mukesh and Kotwal Ashok (1994) : "*Why Poverty Persists in India*" Oxford University Press, New Delhi Chapter 1, Pages 1-25.

Kapila U. (ed) (1996) : "*Indian Economy Since Independence 7th Edition*", Academic Foundation Delhi, Chapters 1-3, pages 25-45.

Meier, G.M. : "*Leading Issues in Economic Development*", Oxford University Press, Oxford, Fourth Edition, Chapter 1, 2, 3,

Todaro, Michal P. (1994) : "*Economic Developmet*", Longman Group UK limited, New York, Chapters 1,3, 4. Fifth Edition.

World Bank (1991) : "*World Development*", Oxford University Press, New York.

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक संवृद्धि से अभिप्राय राष्ट्रीय आय अथवा प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि से है। अधिक विवरण के लिए भाग 5.2 देखें।

2) आर्थिक संवृद्धि और सामाजिक परिवर्तन की मिली-जुली प्रक्रिया को आर्थिक विकास कहते हैं। आर्थिक संवृद्धि और आर्थिक विकास की अवधारणाओं के विवरण के लिए भाग 5.3 ध्यान से पढ़ें।

3) देखिए भाग 5.2 व 5.3

बोध प्रश्न 2

1) 1) अविभाज्यताएँ,

2) पूँजी गहनता,

3) श्रम गहनता,

4) प्रबंधन व प्रशासनिक कुशलता की गुणवत्ता, और

5) पूरक आर्थिक क्रियाएँ (विवरण के लिए उपभाग 5.4.3 देखें)

ये कारक पूँजी-उत्पादन अनुपात पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं, कुछ सकारात्मक रूप से, कुछ नकारात्मक रूप से।

2) घ

3) घ

4) (क) गलत, (ख) गलत, (ग) गलत, (घ) सही

बोध प्रश्न 3

1) इस के उत्तर के लिए आप भाग 5.5 व 5.6 देखें और सभी तालिकाओं का अध्ययन करें। चर्चा राष्ट्रीय और प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि, पूँजी निर्माण, निवेश दर व सामाजिक सूचकों के रूप में हो।

2) (क) 33 (ख) निवेश (ग) मुद्रास्फीति (या कीमतों में वृद्धि)।

3) ख

4) घ

5) क

6) ख

7) ख

8) क

9) घ

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 6 विकास के सामाजिक सूचक

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 सामाजिक सूचकों के प्रकार

6.2.1 जीवन की भौतिक गुणवत्ता का सूचकांक (PQLI)

6.2.2 मानव विकास सूचकांक (HDI)

6.2.3 सामर्थ्य गरीबी माप (CPM)

6.3 शब्दावली

6.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.5 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

6.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको निम्नलिखित से अवगत कराना है :

- सामाजिक विकास के विभिन्न सूचक;
- इनका ऐतिहासिक उदगम् तथा उनके विकास के पीछे उद्देश्य; और
- भारतीय अनुभव की कुछ अन्य विकासशील देशों, अफ्रीका तथा एशिया के अनुभव, से तुलना।

6.1 प्रस्तावना

MADHYAM IAS way to achieve your dream

अर्थशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हम चाहेंगे कि आपको यह पता हो कि किसी देश के आर्थिक प्रदर्शन का मूल्यांकन कैसे किया जाता है। इसका सबसे पहला सूचक तो देश की 'संवृद्धि' दर है। तेज़ संवृद्धि होने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोगों के जीवन-स्तर में सुधार आएगा। लेकिन अनुभव से पता चलता है कि ऐसा हमेशा और स्वत: हो, आवश्यक नहीं है। संवृद्धि का अर्थ है प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि। लेकिन ऐसी कोई प्रक्रिया भी नहीं है कि सभी की आय एक-समान बढ़े। आय के वितरण में असमानताएँ हो सकती हैं। इसके कारण यह आवश्यक नहीं कि आर्थिक संवृद्धि से आम लोगों के जीवन-स्तर में सुधार अवश्य ही हो। अत: आर्थिक प्रदर्शन का मूल्यांकन करने में संवृद्धि दरों से अलग भी कुछ सोचना होगा।

'विकास' एक ऐसी अवधारणा है जो आर्थिक 'संवृद्धि' के अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों को भी अपने में शामिल करती है। यह एक बड़ी विस्तृत अवधारणा है। इसका मुख्य तत्त्व यह है कि देश के लोग अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया और साथ-साथ इन परिवर्तनों से होने वाले लाभों में मुख्य भागीदार बनें। उदाहरण के तौर पर, पिछले कुछ दशकों में भारतीय अर्थव्यवस्था ने औद्योगिक विकास के क्षेत्र में तेज़ी से उन्नति की है। इस्पात पिण्ड (Steel Ingots) का उत्पादन 1950-51 से 1995-96 के बीच 15 लाख टन से बढ़कर 155 लाख टन हो गया। इसी अवधि में मशीनी औज़ार सूती कपड़ा मशीनों, सूती कपड़ा, चीनी, चाय, वनस्पति, सब में तेज़ी से वृद्धि आई। लेकिन, साथ साथ यह भी है कि 1993-94 में जनसंख्या का लगभग 36 प्रतिशत भाग न्यूनतम आय स्तर यानि गरीबी रेखा के नीचे था। इसका अर्थ यह हुआ कि देश की बहुत बड़ी जनसंख्या को आर्थिक संवृद्धि के लाभ नहीं मिले। अत: विकास का मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक है कि ऐसे मापों का प्रयोग हो जिससे यह मालूम पड़े कि विकास के लाभ लोगों तक पहुँचे भी हैं या नहीं।

गरीबी और असमानता के सूचकों की जाँच करना इस दिशा में पहला कदम है। क्रयशक्ति के दृष्टिकोण से इन सूचकों से हमें यह पता चलता है कि लोगों की जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए क्या

प्राप्त हो रहा है। इसका एक और विकल्प है कि हम मुख्यत: स्वास्थ्य और शिक्षा से संबंधित सामाजिक सूचकों के आधार पर देश का मूल्यांकन करें। इससे यह पता चलेगा कि इन सेवाओं तक लोगों की कितनी पहुँच है। जीवन की भौतिक गुणवत्ता सूचकांक (Physical Quality of Life Index : PQLI) तथा मानव विकास सूचकांक (Human Development Index : HDI) इस वर्ग में आते हैं।

विकास के मूल्यांकन का एक और विकल्प है जिसका आधार विकास से यह अपेक्षा है कि परिवर्तन प्रक्रिया में लोगों की प्रमुख भागीदारी हो। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए उनमें एक न्युनतम सामर्थ्य (Capability) होना आवश्यक है। यही तीसरे विकल्प का आधार है जोकि सामर्थ्य गरीबी सूचकांक (Capability Poverty Index: CPI) के रूप में है, इस अवधारणा को मानव विकास रिपोर्ट (1996) में पहली बार प्रस्तुत किया गया था। सामर्थ्य के तीन प्रमुख सूचक हैं : रोगों से बचाव, शिक्षा तथा स्वास्थ्य (पोषण के रूप में)। ये सूचक पहले बताए गए सूचकों से भिन्न हैं। पहले बताए गए सूचक यह मापते हैं कि लोगों की सेवाओं की तरफ कितनी पहुँच है जबकि ये 'सामर्थ्य सूचक' ये बताते हैं कि कितने लोग इन सेवाओं से वंचित रहे हैं। इस प्रकार सामर्थ्य गरीबी सूचकांक गरीबी मापने का एक वैकल्पिक तरीका है।

इस इकाई में मानव विकास के विभिन्न सूचकों की चर्चा की गई है। अन्य विकासशील देशों की तुलना में भारत में इनकी स्थिति की चर्चा भी की गई है।

6.2 सामाजिक सूचकों के प्रकार

प्रति व्यक्ति 'सकल राष्ट्रीय उत्पाद' (जी.एन.पी.) के विकास के माप के रूप में अपनाने में समस्याएँ आती हैं। कभी केवल यह नहीं है कि इससे आय की असमानताओं के कारण होने वाली समस्याओं का पता नहीं चलता बल्कि इसकी मुख्य आलोचना यह कहकर की जाती है कि जी.एन.पी. में वे गतिविधियाँ शामिल नहीं की जातीं जिनका बाज़ार में लेन-देन नहीं होता या फिर जिनकी कीमत नहीं लगाई जा सकती। इसका एक प्रमुख उदाहरण परिवार के सदस्यों द्वारा एक-दूसरे के लिए या स्वयं अपने लिए की गई सेवाएँ हैं। इससे दो अंतर पड़ते हैं। प्रथम, सकल राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) का माप कम हो जाता है। दूसरे, समय के साथ-साथ इन सेवाओं का स्थान बाज़ार में बिकने वाली सेवाएँ लेने लगती हैं। उदाहरण के लिए, मरीज़ की देखभाल संबंधी सेवाएँ लीजिए। मरीज़ की देखभाल पहले प्राय: घर के लोग घर के अंदर ही करते थे। लेकिन अब यह सेवा बाज़ार में बिकती है। यह सेवा अब अस्पतालों, नर्सिंग होम में मिलती है। घर पर भी यह सेवा प्राप्त की जा सकती है। इससे स्पष्ट है कि जो सेवाएँ जी.एन.पी. में शामिल नहीं होती थीं, अब शामिल होने लगती हैं। इससे विभिन्न वर्षों में जी.एन.पी. की तुलना करने में कठिनाई आती है। विभिन्न देशों के बीच तुलना करने में भी यही कठिनाई आती है।

परिणामस्वरूप, विकास के माप के रूप में प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. की कमियों को दूर करने के प्रयत्न किए गए हैं। इसके विकल्प या फिर पूरक के रूप में संयुक्त सूचकों का विकास किया गया है। इन सूचकों के दो वर्ग हैं- एक तो वे जो विकास के माप को सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों के एक-दूसरे पर सामान्य प्रभाव के रूप में देखते हैं; दूसरे वे जो विकास को जीवन की गुणवत्ता के रूप में देखते हैं। इन सबका उद्देश्य देश के मूल क्षेत्रों का मूल्यांकन करना है। ये वे क्षेत्र हैं जो जीवन-स्तर के विश्लेषण के अभिन्न अंग समझे जाते हैं। शिक्षा और स्वास्थ्य ऐसे दो मूल क्षेत्र हैं।

संयुक्त सूचकों के प्रथम वर्ग के बारे में शुरू के अध्ययनों में से एक अध्ययन संयुक्त राष्ट्र की एक संस्था UNRISD (United Nations Research Institute on Social Development) ने 1970 में किया। इसमें विकास के सबसे उपयुक्त सूचकों का चुनाव किया गया। परिणामस्व रूप संयुक्त सामाजिक विकास सूचकांक का निर्माण हुआ। कुल 73 सूचकों की जाँच की गई। लेकिन उनमें से केवल 16 सूचक (9 सामजिक एवं 7 आर्थिक) चुने गए (देखिए तालिका 1) देखिए

तालिका 1 : संयुक्त राष्ट्र के सामाजिक विकास शोध संस्थान (UNRISD) द्वारा प्रयुक्त सामाजिक-आर्थिक विकास के मूल सूचकों की सूची

- जन्म के समय जीवन प्रत्याशा
- 20 हज़ार और इससे अधिक आबादी वाले इलाकों में जनसंख्या का प्रतिशत

- प्रतिदिन प्रति व्यक्ति पशु प्रोटीन का उपभोग
- प्राथमिक और सैकेण्डरी दाखिलों की संख्या
- व्यावसायिक दाखिलों का प्रतिशत
- प्रति कमरा व्यक्तियों की संख्या
- प्रति हज़ार जनसंख्या पर समाचार-पत्र चलन (circulation)
- बिजली, गैस, जल आदि सहित आर्थिक तौर पर सक्रिय जनसंख्या का प्रतिशत
- प्रति पुरुष कृषि श्रमिक द्वारा कृषि उत्पादन
- कृषि में बालिग पुरुष श्रमिकों का प्रतिशत
- किलोवॉट (KW) प्रति व्यक्ति बिजली उपभोग
- किलोग्राम प्रति व्यक्ति इस्पात उपभोग
- किलोग्राम कोयले के समान प्रति व्यक्ति ऊर्जा उपभोग
- विनिर्माण से उत्पन्न सकल घरेलू उत्पाद का प्रतिशत
- प्रति व्यक्ति विदेश व्यापाद (1960 में अमरीकी डॉलरों में)
- वेतन तथा मज़दूरी कमाने वालों का आर्थिक तौर पर सक्रिय कुल जनसंख्या का प्रतिशत

ये सूचक इनके आपसी सह-संबंधों के आधार पर चुने गए। इनके सह-संबंधों की श्रेणी के आधार पर इनके भार (Weights) चुने गए। इस विकास सूचकांक का सह-संबंध प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. की तुलना में व्यक्तिगत एवं सामजिक सूचकों से बहुत अधिक पाया गया। यह भी पाया गया कि विकास सूचकांक का प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. से सह-संबंध विकासशील देशों की अपेक्षा विकसित देशों में अधिक था। अध्ययन ने यह निष्कर्ष निकाला की 500 डॉलर की प्रति व्यक्ति आय के स्तर (1960 की कीमतें पर) तक सामाजिक विकास की गति आर्थिक विकास की गति की अपेक्षा अधिक रहती है।

MAADHYAM IAS

सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कारकों के परस्पर प्रभाव के रूप में विकास के माप का एक और अध्ययन इरमा एडलमेन (Irma Adelman) तथा सिंथिया मोरिस (Cynthia Morria) ने किया। इन्होंने इन पहलुओं के विभिन्न 40 चरों के आधार पर 74 देशों का वर्गीकरण किया। इस कारक विश्लेषण (factor analysis) का उपयोग सामाजिक एवं राजनीतिक चरों तथा आर्थिक विकास के स्तरों के बीच निर्भरता की जाँच करना था ताकि कोई माप विकसित हो सके। शोधकर्ताओं ने मूल चरों और आर्थिक विकास के बीच बहुत से सह-संबंध पाए।

कारक विश्लेषण के पीछे एक आदर्शी (normative) पूर्वधारणा है कि विकास का एक निश्चित पथ होता है। अत: विकासशील देशों का मूल्यांकन विकसित देशों के पथ के आधार पर किया जाता है। इस पूर्व-धारणा के पीछे कोई तर्कपूर्ण या ऐतिहासिक औचित्य नहीं लगता। इसके अतिरिक्त, प्रति हज़ार जनसंख्या के पीछे डॉक्टरों या अस्पताल में बिस्तरों की संख्या, या फिर प्राथमिक विद्यालयों में संख्या जैसी आगतों पर अधिक बल दिया जाता है, जबकि विकास का मुख्य उद्देश्य तो जीवन प्रत्याशा, साक्षरता जैसे 'उत्पादन' से है। यह कहना गलत नहीं होगा कि 'उत्पादन फलन' 'आगतों' को 'उत्पादन' में बदलता है। लेकिन ऐसा शायद ही कभी होता है। उदाहरण के तौर पर, प्रति हज़ार लोगों के पीछे डॉक्टरों की संख्या से यह पता नहीं चलता कि यह संख्या शहरों में कितनी है और गाँवों में कितनी और पिछड़े इलाकों में कितनी है और विकसित इलाकों में कितनी। इस आलोचना को ध्यान में रखते हुए बहुत से अध्ययन ऐसे संयुक्त सूचकों की तलाश में हैं जो विकास को अधिकांश जनसंख्या की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के रूप में या फिर जीवन की गुणवत्ता के रूप में मापें।

बोध प्रश्न 1

1) प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय उत्पाद (जी.एन.पी.) एक देश के जीवन-स्तर यानि लोगों के कल्याण का अनुपयुक्त माप क्यों कहा जाता है? (पाँच वाक्यों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

6.2.1 जीवन की भौतिक गुणवत्ता का सूचकांक (The Physical Quality of Life Index-PQLI)

इस दिशा में एक जाना-माना प्रयत्न मोरिस डी. मोरिस (Morris D.Morris) द्वारा विकसित जीवन की भौतिक गुणवत्ता का सूचकांक (PQLI) था। एक साधारण संयुक्त सूचकांक बनाने के लिए तीन सूचकों का प्रयोग किया गया :

1) एक वर्ष की आयु पर जीवन प्रत्याशा

2) शिशु मृत्यु दर

3) साक्षरता दर।

हर सूचक का माप 1 से लेकर 100 तक है। 1 का अर्थ सबसे खराब प्रदर्शन तथा 100 का अर्थ सर्वोत्तम प्रदर्शन है। 77 वर्ष की जीवन प्रत्याशा को उच्चतम माप यानि 100 दिया गया (स्वीडन ने यह प्रत्याशा को सबसे कम यानी 1 का माप दिया गया [यह स्थिति गिन्नी (Guinea-Bissa) में थी]। इन दो सीमाओं के बीच प्रत्येक देश का श्रेणीकरण (ranking) किया गया। उदाहरण के तौर पर, 52 वर्ष की जीवन प्रत्याशा इसकी उच्चतम सीमा 77 वर्ष और न्यूनतम सीमा 28 वर्ष के मध्य में है। अत: इसे 50 का माप दिया गया। इसी तरह, शिशु मृत्यु दर की उच्चतम सीमा 9 प्रति हज़ार (1973 में स्वीडन में) तथा न्यूनतम सीमा 229 प्रति हज़ार [1950 में गेबन (Gabon)] निश्चित की गई। साक्षरता दर प्रतिशत में मापी जाती है, अत: जितना प्रतिशत उतना ही माप। एक देश को जीवन प्रत्याशा, शिशु मृत्यूदर तथा साक्षरता दर 1 से लेकर 100 तक का माप देने के बाद, इन सबको एक-समान भार (weight) देते हुए इनकी भारित औसत लेकर देश का संयुक्त सूचकांक ज्ञात किया जाता है।

हालाँकि अध्ययन से पता चलता है कि कम प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. वाले देशों का पी.क्यू.एल.आई. कम और अधिक प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. वाले देशों का अधिक पी.क्यू.एल.आई. होता है, लेकिन फिर भी जी.एन.पी. तथा पी.क्यू.एल.आई. के बीच बहुत करीबी सह-संबंध नहीं था। कुछ देश जिनका प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. बहुत अधिक था उनका पी.क्यू.एल.आई. बहुत कम था, यहाँ तक कि सबसे गरीब देशों की औसत से भी कम। कुछ अन्य देश जिनका प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. बहुत कम था, उनका पी.क्यू.एल.आई. उच्च मध्यम आय वर्ग के देशों की औसत से अधिक था। तालिका-2 में विकासशील देशों का प्रति व्यक्ति आयों एवं पी.क्यू. एल.आई. के आधार पर श्रेणीकरण किया गया है।

तालिका 2 : प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) एवं जीवन की भौतिक गुणवत्ता का सूचकांक (PQLI)

देश	प्रति व्यक्ति जी.एन.पी.(डॉलरों में)	पी.क्यू.एल.आई.
गेम्बिया	348	20
अंगोला	790	21
सूडान	380	34
तंजानिया	299	58
जिम्बाबवे	815	63
चीन	304	75

पाकिस्तान	349	40
भारत	253	42
श्रीलंका	302	82
सिंगापुर	5220	86
ताइवान	2503	87
सऊदी अरब	12720	40
इराक	3020	48
ब्राज़ील	2214	72

स्रोत : टोडारो, एम. पी. (1994): इकनॉमिक डिवलपमैंट पाँचवा एडीशन।

इससे पता चलता है कि प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. में वृद्धि से पहले ही जीवन की आधारभूत गुणवत्ता में सुधार प्राप्त किए जा सकते हैं। इससे यह भी पता चलता है कि प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. का ऊँचा होना इस बात की गारंटी नहीं है कि जीवन की गुणवत्ता भी अधिक होगी। नोट कीजिए कि लगभग एक-समान प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. स्तर वाले कई ऐसे देश हैं जिनके पी.क्यू.एल.आई. में बहुत विभिन्नताएँ हैं जैसे अंगोला और ज़िम्बाबवे, चीन और भारत, तनजानियाँ और गेम्बिया, ताइवान और इराक। सऊदी अरब और श्रीलंका में तो यह विषमता बहुत अधिक है।

बोध प्रश्न 2

1) जीवन की भौतिक गुणवत्ता का सूचकांक के रूप में संयुक्त बनाने में प्रयुक्त तीन सूचक कौन-से हैं?

   क)

   ख)

   ग)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) यदि यह माप हो तो देश का प्रदर्शन सर्वोत्तम माना जाता है :

   क) 100

   ख) 10

   ग) 1

   घ) 20

3) सभी देशों के जी.एन.पी. और पी.क्यू.एल.आई. में बहुत अधिक सह-संबंध होता है। यह सही है अथवा गलत?

   .....

   .....

4) पी.क्यू.एल.आई. के बारे में अधिक जी.एन.पी. वाले देशों और कम जी.एल.पी. वाले देशों का अनुभव पाँच वाक्यों में बताइए।

   .....

   .....

   .....

   .....

6.2.2 मानव विकास सूचकांक (Human Development Index)

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Development Programme- UNDP) ने 1990 के प्रारंभ में अपनी मानव विकास रिपोर्ट (Human Development Report) की वार्षिक श्रृंखला में विकासशील एवं विकसित देशों में सामाजिक-आर्थिक विकास के तुलनात्मक स्तरों के विश्लेषण का नवीनतम एवं महत्त्वाकांक्षी प्रयत्न किया है। इन रिपोर्टों के पीछे मुख्य उद्देश्य मानव विकास सूचकांक (Human Development Index) यानि HDI का निर्माण करना और इसमें सुधार लाना है। पी.क्यू.एल.आई. की तरह एच.डी.आई. का माप भी शून्य से लेकर 100 तक है। शून्य का अर्थ सबसे कम मानव विकास जबकि 100 का अर्थ सबसे अधिक मानव विकास है। यह विकास के तीन उद्देश्यों पर आधारित है:

1) **दीर्घायु,** जो जन्म के समय जीवन प्रत्याशा द्वारा मापी जाती है।

2) **ज्ञान,** जोकि प्रौढ़ साक्षरता (दो-तिहाई भार) तथा स्कूल में पढ़ाई के औसत वर्ष (एक-तिहाई भार) के भारित औसत द्वारा मापा जाता है।

3) **आय,** जोकि समायोजित प्रति व्यक्ति आय द्वारा मापी जाती है। (यह समायोजन प्रत्येक देश की मुद्रा की क्रय-शक्ति में विभिन्नताओं और आय की तेज़ी से गिरती सीमांत उपयोगिता की पूर्व-धारणा के आधार पर किया जाता है।)

विकास के इन तीन मापों का प्रयोग करके एक जटिल फार्मूले द्वारा 1990 में 160 देशों के आँकड़ों के आधार पर, एच.डी.आई. ने सभी देशों को तीन वर्गों में बाँटा है :

निम्न मानव विकास (0.00 से 0.49 तक)

मध्यम मानव विकास (0.50 से 0.79 तक)

उच्च मानव विकास (0.80 से 1.00 तक)

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि एच.डी.आई. माप मानव विकास का सापेक्ष माप है, न कि निरपेक्ष। इसका केन्द्र विकास के परिणामों (दीर्घ आयु ज्ञान एवं आय) पर है न कि साधनों (यानि केवल प्रति व्यक्ति जी.एन.पी.) पर। इसके अतिरिक्त, जबकि पी.क्यू.एल.आई. स्वास्थ्य और शिक्षा के भौतिक सूचकों पर केंद्रित है, एच.डी.आई. में आय की भी भूमिका है क्योंकि इसमें समायोजित वास्तविक प्रति व्यक्ति आय एक सूचक के रूप में शामिल है। इस दृष्टि से विकास के सूचक में एच.डी.आई. को पी.क्यू.एल.आई. एवं प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. का सुधरा हुआ रूप कह सकते हैं।

तालिका 3 : मानव विकास सूचकांक (HDI) एवं सामर्थ्य गरीबी सूचकांक (CPM) की प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (GDP) से तुलना (1993)

देश	प्रति व्यक्ति वास्तविक जी.डी.पी.(PPP$)	एच.डी.आई.	सी.पी.एम.
संयुक्त राज्य अमरीका	24680	0.940	
स्वीडन	17900	0.933	
जापान	20660	0.938	
दक्षिण कोरिया	9710	0.886	8.6
पाकिस्तान	2160	0.442	19.3
भारत	1240	0.436	61.5
बंग्लादेश	1290	0.365	76.9
चीन	2330	0.609	17.5
इंग्लैण्ड	17230	0.924	
जर्मनी	18840	0.920	
ब्राज़ील	5500	0.796	10.0

तंजानिया	630	0.364	39.4
इराक	3413	0.599	39.9
अल्जीरिया	5570	0.746	49.5
कुवैत	21630	0.836	10.8

स्रोत : मानव विकास रिपोर्ट (एच. डी. आर.) 1996।

तालिका-3 में कुछ चुने हुए देशों का मानव विकास सूचकांक यानी एच.डी.आई. दिया गया है और साथ में प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद (डॉलर में क्रय-शक्ति समानता) भी दिया गया है। इन दोनों की श्रेणियों में अंतर के आधार पर देशों की तुलना की गई है। सकारात्मक अंतर यह दिखाता है कि यदि प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद के स्थान पर एच.डी.आई. का प्रयोग करे तो एक देश की श्रेणी (rank) कितनी अधिक हो जाती है। नकारात्मक अंतर दिखाता है कि यह कितनी कम हो जाती है। स्पष्टत: एच.डी.आई. के लिए, या फिर पी.क्यू.एल.आई. जैसे संयुक्त सामाजिक सूचक के लिए यह एक नाजुक स्थिति है। यदि प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. अथवा जी.एन.पी. के स्थान पर एच.डी.आई. का प्रयोग करने से देशों के श्रेणीकरण में कोई विशेष अंतर नहीं आता, तो सामाजिक-आर्थिक विकास के माप में जी.एन.पी. का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है (जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है)। ऐसे में स्वास्थ्य एवं शिक्षा सूचकों के बारे में चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

तालिका-3 में हम देखते हैं कि एच.डी.आई. माप पर आधारित श्रेणीकरण तथा प्रति व्यक्ति जी.डी.पी. (PPP $) पर आधारित श्रेणीकरण में कोई प्रत्यक्ष समानता नहीं है। यह देखते हुए कि उच्च एच.डी.आई. वाले देशों की समायोजित प्रति व्यक्ति जी.डी.पी.भी ऊँची है, यह बात कुछ दिलचस्प लगती है। एक वर्ग के भीतर और कभी-कभी वर्गों के बीच हम यह पाते हैं कि कुछ देश जिनका एच.डी.आई. काफी अधिक है, उनकी प्रति व्यक्ति आय काफी कम है। उदाहरण के तौर पर गिनी (0.306 की अपेक्षा तंजानिया का एच.डी.आई. (0.364) कुछ अधिक है हालाँकि गिनी की प्रति व्यक्ति आय तंजानिया से लगभग तीन गुना अधिक है। ऐसे कुछ उदाहरण और भी हैं जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि केवल जी.एन.पी. पर ही पूरा बल देने से अल्प-विकसित देशों में गरीबी या वंचन (deprivation) की समस्या को हल नहीं किया जा सकता।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

हालाँकि एच.डी.आई. से विकास का विस्तृत रूप ज्ञात होता है, फिर भी निम्नलिखित पर ध्यान देना आवश्यक है :

1) इसकी रचना आंशिक तौर पर ऐसी राजनीतिक रणनीति से प्रेरित है जिसका उद्देश्य विकास के स्वास्थ्य और शिक्षा पहलुओं पर ध्यन केन्द्रित करना है;

2) तीन सूचक अच्छे तो है लेकिन आदर्श नहीं (उदाहरण के तौर पर संयुक्त राष्ट्र की टीम चाहती थी कि पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों का पोषण स्तर उनका आदर्श स्वास्थ्य सूचक हो, लेकिन इसके बारे में आँकड़े उपलब्ध नहीं है);

3) राष्ट्रीय एच.डी.आई. से देश के भीतर इसमें असमानताओं के बारे में पता नहीं चल सकता।

4) प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. के साथ-साथ अन्य सामाजिक सूचकों को भी देखने का वैकल्पिक दृष्टिकोण अभी भी एक सम्मानित दृष्टिकोण है; और

5) यह भी याद रखना आवश्यक है कि यह सूचकांक सापेक्षिक विकास, न कि निरपेक्ष विकास का सूचकांक है। यदि सभी देशों में अपने भार के अनुसार सुधार आता है तो सबसे गरीब देशों को उनके अपने विकास का श्रेय नहीं मिलेगा।

6.2.3 सामर्थ्य गरीबी माप (The Capability Poverty Measure)

अमृत्य सेन (Amartya Sen) की सहायता से 'Human Development Report (1996)' ने एक बहुं-आयामी माप का आविष्कार किया। यह सामर्थ्य गरीबी सूचकांक (Capability Poverty Measure) यानी सी.पी.एम. (CPM) कहलाया। इस सूचकांक का केंद्र वंचन (deprivations) था न कि उपलब्धता। विकास प्रक्रिया में लोगों की भागीदारी उनके सामर्थ्य पर निर्भर होती है। सामर्थ्य स्वास्थ्य और शिक्षा पर निर्भर होता है। इसमें आधारभूत बात उत्तरजीविका (survival) तथा शिक्षा और विभिन्न सार्वजनिक या निजी

संसाधनों तक पहुँच की है। ऐसा विश्वास है कि यह सूचकांक उन लोगों का सही चित्र प्रस्तुत करता है जोकि इतने वंचित हैं कि उनके पास अपना जीवन सुधारने का कोई मौका नहीं है।

इस रिपोर्ट में मानव गरीबों को वंचनों के आधार पर मापा गया है :

1) जीवन से वंचन (सबसे कम विकसित देशों के लगभग एक-तिहाई लोग 40 वर्ष की आयु से अधिक जीवित रहने की आशा नहीं रखते);

2) बुनियादी (Basic) शिक्षा से वंचन (विशेषतौर पर लड़कियों की);

3) सुरक्षित जल सहित सार्वजनिक एवं निजी संसाधनों तक पहुँच से वंचन।

इन सबके सूचक ये हैं- कम वज़न वाले पाँच वर्ष से कम आयु के बच्चों का प्रतिशत, 15 वर्ष की आयु से अधिक अनपढ़ स्त्रियों का प्रतिशत तथा ऐसे जन्मों (births) का प्रतिशत जो कि प्रशिक्षित स्वास्थ्य कर्मचारियों की सहायता से नहीं हुए। इस प्रकार, सी.पी.एम. सामर्थ्यताओं की कमी पर केंद्रित है, न कि देश की औसत सामर्थ्यताओं पर।

तालिका-3 में कम विकसित देशों के सी.पी.एम. के आँकड़े भी प्रस्तुत किए गए हैं। यह नोट करना आवश्यक है कि सी.पी.एम. पर आधारित श्रेणीकरण एच.डी.आई. पर आधारित श्रेणीकरण से मेल नहीं खाता। जबकि यह नए सूचकांक की रचना आधार है, इससे इन क्षेत्रों में सरकारी हस्तक्षेप से संबंधित सिफारिशों पर भी प्रभाव पड़ता है। सरकारी हस्तक्षेप के उद्देश्यों में उचित फेर-बदल किया जाता है। प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. (अमरीकी डॉलर में) के हिसाब से भारत विश्व के सबसे गरीब देशों में से एक है। कई गरीब अफ्रीकी देशों का प्रदर्शन बेहतर रहा है। तालिका-2 से पता चलता है कि श्रीलंका, पाकिस्तान, इराक, गेम्बिया, अंगोला, तंजानिया, जिम्बाबवे, यहाँ तक कि सूडान का प्रति व्यक्ति जी.एन.पी. भारत की अपेक्षा अधिक रहा है लेकिन पी.क्यू. एल.आई. के हिसाब से पाकिस्तान, गेम्बिया, अंगोला, सूडान की श्रेणी भारत की अपेक्षा नीचे है। अत: यह सुस्पष्ट है कि संवृद्धि और अपनी जनसंख्या के जीवन स्तर में सुधार के मामले में भारत का अनुभव एक मिला-जुला अनुभव रहा है।

तालिका-3 से पता चलता है कि दक्षिण कोरिया और कुवैत का एच.डी.आई. (क्रमश: 0.886 तथा 0.836) लगभग एक-सा है, जबकि दक्षिण कोरिया की प्रति व्यक्ति आय कुवैत का केवल 40 प्रतिशत के लगभग है। इससे यह संकेत मिलता है कि बेहतर मानव विकास के लिए प्रति व्यक्ति आय का ऊँचा स्तर आवश्यक तो है लेकिन अपने आप में काफी नहीं है। चीन और इराक में लगभग यही स्थिति है। दोनों का एच.डी.आई. लगभग एक-समान है जबकि चीन की प्रति व्यक्ति आय इराक से 35 प्रतिशत कम है। हम कोई से भी माप लें, तालिका-3 से पता चलता है कि विश्व के अधिकतर देशों की तुलना में तीव्र संवृद्धि और अपनी जनसंख्या की जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए भारत को अभी बहुत दूर तक चलते रहना है।

बोध प्रश्न 3

1) UNRISD द्वारा विकसित सूचकांकों तथा एच.डी.आई. और पी.क्यू.एल.आई. सूचकांकों के बीच क्या अंतर है? इन सूचकांकों में वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) सामर्थ्य गरीबी सूचकांक का क्या महत्त्व है? यह एच.डी.आई. और पी.क्यू.एल.आई. से किस प्रकार भिन्न है? (चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

MADHYAM IAS way to achieve your dream

3) एच.डी.आई. और पी.क्यू.एल. आई. को लीजिए और बताइए कि इन दोनों विकास सूचकों के नीति संबंधी अर्थों में अंतर है? (पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

.....

.....

.....

4) यू.एन.आर.आई.एस.डी. (UNRISD) पर आधारित सूचकांकों संबंधी नीति एच.डी.आई./पी.क्यू.एल. आई. पर आधारित सूचकांकों से संबद्ध नीतियाँ किस प्रकार अलग हैं? स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

6.3 शब्दावली

मानव विकास सूचकांक : जन्म के समय जीवन प्रत्याशा, शैक्षिक उपलब्धि एवं समायोजित प्रति व्यक्ति वास्तविक आय पर आधारित राष्ट्रीय सामाजिक-आर्थिक विकास को मापने वाला सूचकांक।

प्रति व्यक्ति आय : राष्ट्रीय आय को कुल जनसंख्या से भाग देने पर प्राप्त।

शिशु मृत्युदर : प्रति 1000 नवजात शिशुओं की जन्म और उनके एक वर्ष की आयु के बीच मृत्यु।

जीवन-स्तर : जिस सीमा तक एक व्यक्ति, परिवार या व्यक्तियों का समूह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताएँ पूरी कर सकता है। यदि वे केवल भोजन, आवास तथा वस्त्रों की केवल न्यूनतम आवश्यकता ही पूरी कर पाते हैं तो जीवन का स्तर काफी नीचा कहा जाता है। यदि वे विविध प्रकार के भोजन, आवास, वस्त्र तथा अन्य बातों जैसे अच्छा स्वास्थ्य, शिक्षा और आराम पा सकते हैं तो इसे उच्च जीवन-स्तर कहा जाता है।

साक्षरता : पढ़ने और लिखने की योग्यता।

साक्षरता दर : 15 वर्ष से ऊपर जनसंख्या का वह भाग जो पढ़ना-लिखना जानता है। साक्षरता दरों को देश की विकास की स्थिति को बताने वाले कई आर्थिक और सामाजिक सूचकों में से एक माना जाता है।

कुपोषण : खराब स्वास्थ्य की वह स्थिति जो कि अनुपयुक्त खुराक के कारण होती है। खुराक को यहाँ औसत दैनिक प्रोटीन के उपयोग के रूप में मापा जाता है।

राष्ट्रीय आय : एक वर्ष में उत्पादित अंतिम वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य।

MAADHYAM IAS

जीवन की भौतिक गुणवत्ता : तीन सूचकों-प्रति हजार जनसंख्या के पीछे साक्षरता दर, शिशु मृत्युदर तथा डॉक्टरों की संख्या के औसत के रूप में एक संयुक्त सामाजिक सूचक।

सामाजिक सूचक : विकास के ग़ैर-आर्थिक कारक, जैसे प्रति 1000 जनसंख्या के पीछे जीवन प्रत्याशा, साक्षरता दर, शिशु मृत्युदर तथा डॉक्टरों की संख्या।

दुष्चक्र : एक ऐसी स्थिति जिसमें विभिन्न कारक एक-दूसरे पर इस प्रकारन प्रभाव डालते हैं कि खराब स्थिति और भी खराब होती जाती है। जैसे गरीब देशों में कम आय के कारण उपभोग भी कम होता है, कम उपभोग से स्वास्थ्य कमज़ोर होता है, श्रम उत्पादिता कम होती है और गरीबी की स्थिति निरंतर बनी रहती है।

कारक विश्लेषण : एक ऐसा विश्लेषण जिसमें विभिन्न चरों या सूचकों को उनके परस्पर महत्त्व के अनुसार भार दिए जाते हैं। इन सबके भारित मूल्यों को जोड़कर ऐसे मूल्य ज्ञात किए जाते हैं जिससे विश्लेषण हेतु एक समय पर विभिन्न देशों की और विभिन्न समयों पर एक देश की तुलना की जाती है।

6.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें

EPW Research Foundation (1994): "Social Indicators of Development-II", *Economic and Political Weekly*, May 21, pp1300-1308.

Eswaran, Mukesh and Kotwal, Ashok (1994): "*Why Poverty Persists in India*", Oxford University Press, New Delhi, Ch.1, pp1-25.

Meier, G.M. (1991): "*Leading Issues in Economic Development*", Oxford University Press, Oxford, 4th Edition.

Todaro, Michael P (1994): "*Economic Development*", Longman Group, UK Limited, NY, Chs1, 3, 4, 5th Edition.

United Nations Development Programme (1996): "*Human Development Report*" 1996, Oxford University Press, New York.

World Bank (1991): "*World Development Report- Challange of Development*", Oxford University Press, New York.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

6.5 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 6.2 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) क) एक वर्ष की आयु पर जीवन प्रत्याशा; ख) शिशु मृत्युदर; ग) साक्षरता

2) क) 100

3) गलत

4) उपभाग 6.3.1 पढ़िए।

बोध प्रश्न 3

1) पहली एक आदर्शी पूर्व-धारणा है कि विकास का एक निश्चित पथ होता है जबकि दूसरे में यह पूर्वधारणा नहीं है। दोनों सूचकांक इस बात पर केंद्रित हैं कि किस सीमा तक विकास के लाभ आम लोगों को मिलते हैं। (विवरण के लिए भाग 6.2 पढ़िए)।

2) भाग 6.3 पढ़िए।

3) दोनों सूचकों में आधारभूत अंतर यह है कि एच.डी.आई. में प्रति व्यक्ति आय शामिल होती है जबकि पी.क्यू.एल.आई. में नहीं। इसी तरह, एच.डी.आई. आय पुनर्वितरण की आवश्यकता की बात करता है, जबकि पी.क्यू.एल.आई. नहीं।

4) पहला इस बात का समर्थन करेगा कि प्रति हजार जनसंख्या के पीछे डॉक्टरों की संख्या जैसी आधारभूत सेवाओं में आगतों की वृद्धि हो जबकि दूसरा इस बात पर केंद्रित है कि जन्म के समय जीवन प्रत्याशा में वृद्धि जैसे उद्देश्यों की प्राप्ति हो। इस प्रकार दूसरा, सेवा उपलब्ध न होने के पीछे कारणों को खोजेगा ताकि जीवन प्रत्याशा के रूप में अंतिम उत्पादन की प्राप्ति हो और इसके साथ जुड़ी समस्याओं का अध्ययन हो।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 7 भारत में नियोजन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 आर्थिक विकास में नियोजन की भूमिका

7.3 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय पर भारत

7.4 भारत में नियोजन का विकास

- 7.4.1 नियोजन का संक्षिप्त इतिहास
- 7.4.2 नियोजन प्रक्रिया में सरकार की भूमिका
- 7.4.3 स्वतंत्र भारत में नियोजन
- 7.4.4 योजनाएँ, नियोजन मॉडल तथा उनके उद्देश्य

7.5 भारत में नियोजन अनुभव

7.6 भारत में नियोजन की उपलब्धियाँ और विफलताएँ

- 7.6.1 नियोजन की उपलब्धियाँ
- 7.6.2 नियोजन की विफलताएँ

7.7 नियोजन का बदलता परिप्रेक्ष्य

7.8 सारांश

7.9 शब्दावली

7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप निम्नलिखित बातें समझ सकेंगे :

- नियोजन का महत्त्व;
- नियोजन की आवश्यकता क्यों;
- नियोजन की सीमाएँ;
- भारत के नियोजन अनुभव : इसकी उपलब्धियाँ व विफलताएँ; तथा
- 1990 के दशक में नियोजन का बदलता परिप्रेक्ष्य।

7.1 प्रस्तावना

नियोजन और कीमत प्रक्रिया के बीच तर्क-वितर्क या बहस बहुत पुरानी है। इस इकाई में इसी बहस पर चर्चा की गई है। यह एक बाहरी द्वंद्व है। ऐसे बहुत से तरीके हैं जिनसे सामाजिक व आर्थिक विकास के उद्देश्य प्राप्त करने के लिए इनमें समन्वय लाया जा सकता है। साथ ही, इस इकाई में आजादी के बाद भारत के नियोजन अनुभवों की चर्चा की गई है। भारत के अनुभव के आधार पर निर्देशात्मक नियोजन (planning by direction) की सीमाओं की चर्चा इकाई के अंत में की गई है।

7.2 आर्थिक विकास में नियोजन की भूमिका

एक स्वतंत्र बाज़ार प्रणाली से यह आशा की जाती है कि वह राष्ट्रीय उत्पाद को अधिकतम करेगी। यदि एक अर्थव्यवस्था कुछ निश्चित दशाओं में कार्य करें तो कुशलता से दृष्टिकोण के यही अधिकतम इष्टतम (Optimum) भी होगा। ये दशाएँ निम्नलिखित हैं :

1) **आय वितरण की असमानताएँ और गरीबी का सहन :** बाज़ार प्रणाली आय और सम्पत्ति के विवरण में असमानताएँ लाती है। यह सबको, विशेषतया असमान समाज के गरीब वर्गों को, समान अवसर नहीं देती है। अत: वास्तविकता यह है कि आय और सम्पत्ति के वितरण की असमानताओं पर कुछ अंकुश लगाने की आवश्यकता है।

2) **सार्वजनिक वस्तुओं की अनुपलब्धता :** समाज के लिए वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन नहीं होता, केवल बाज़ार के लिए होता है। लेकिन वास्तव में कुछ न कुछ वस्तुएँ व सेवाएँ समाज के लिए बनाई जाती हैं जैसे राष्ट्रीय रक्षा, सड़कें, पुल, प्रदूषण नियंत्रण उपाय आदि। यदि सभी कुछ बाज़ार पर छोड़ दिया जाए तो इन वस्तुओं से सेवाओं का उत्पादन शायद कभी नहीं होगा।

3) **उत्पादन प्रक्रिया के साथ कोई बाहरीपन (Externalities) नहीं जुड़े हैं :** कुछ वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में कुछ ऐसी लागतें और लाभ होते हैं जिनका लेखा-जोखा बाज़ार प्रणाली में नहीं आता। ये कुछ ऐसी वस्तुएँ व सेवाएँ हैं जैसे प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत स्वास्थ्य सुविधाएँ, पीने का पानी, सफाई आदि। इन सेवाओं में सकारात्मक बाहरीपन (Positive externalities) होता है। इसी तरह दवाइयों से होने वाली कुछ हानियों के रूप में लागत बाज़ार प्रणाली नहीं गिनती है। अत: बाहरीपन के लेखे-जोखे के लिए बाज़ार प्रणाली पर निर्भर नहीं किया जा सकता।

4) **उत्पादन में पैमान के बढ़ते प्रतिफल नहीं हैं :** ये वे उद्योग हैं जिनकी उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ लागत गिरती चली जाती है। इनमें दूरसंचार, बिजली वितरण, प्रसारण, रेलवे, जल यातायात, सिंचाई परियोजनाएँ आदि आते हैं। अत: यदि ये सब बाज़ार के भरोसे छोड़ दिए जाएँ तो शायद इनका थोड़ा बहुत उत्पादन हो, और शायद न भी हो क्योंकि इनका कुशलता के स्तर पर उत्पादन करने पर हानि होने की संभावना रहती है।

MAADHYAM IAS

इसी तरह, अधिकतर विकासशील देशों में यह संभव है कि भूख और अकाल से निवारण के लिए जितनी अनाज की आवश्यकता है, बाज़ार कीमतों के आधार पर किसान उससे कम उत्पादन करें। बाज़ार प्रणाली की इन विकृतियों की संभावनाओं को देखते हुए ऐसा लगता है कि शायद इस प्रणाली से वांछित परिणाम न प्राप्त हों।

अत: एक ऐसी आर्थिक नीति की आवश्यकता है जो युक्तिमूलक, सुविचारित, सुसंगत और समन्वित हो। ऐसी नीति को ही नियोजन कहा जाता है। नियोजन का उद्देश्य वितरण असमानताओं को न्यूनतम रख राष्ट्रीय आय की संरचना को ईष्टतम करते हुए अधिकतम राष्ट्रीय आय सुनिश्चित करना है।

इस हेतु अप्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष दोनों प्रकार के उपाय अपनाए जा सकते हैं। अप्रत्यक्ष उपाय मौद्रिक, राजकोषीय व वाणिज्यिक नीतियों के रूप में होते हैं। जिन्हें सांकेतिक नियोजन (indicative planning) कहते हैं। अप्रत्यक्ष उपाय सार्वजनिक निवेश के रूप में होते हैं। अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण में सरकार, नियोजन के उद्देश्यों को, आर्थिक गतिविधि से संबंधित नीतियों और विनियमन रूपरेखा में परिवर्तन लाकर पूरा करती है। फ्रांस इसका एक सबसे अच्छा उदाहरण है। भारत ने भी इस दृष्टिकोण का कृषि विकास को वांछित दिशा में ले जाने के लिए सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। दूसरी और प्रत्यक्ष दृष्टिकोण आर्थिक गतिविधि में सरकार के सीधे हस्तक्षेप पर आधारित है। इसमें नियोजन के उद्देश्य सरकार के स्वामित्व में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के माध्यम से पूरे किए जाते हैं। यह दृष्टिकोण भारत में औद्योगिक क्षेत्र के तीव्र विकास के लिए प्रयोग किया गया है।

बोध प्रश्न 1

1) आपके विचार में बाज़ार में प्रणाली की तीन महत्त्वपूर्ण सीमाएँ क्या-क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) नियोजन के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण के बीच अंतर संक्षेप में समझाइए। (पाँच वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

3) विकासशील देशों के लिए नियोजन क्यों महत्त्वपूर्ण है? (6 वाक्यों में उत्तर दीजिए)

.....

.....

.....

.....

.....

7.3 स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत

1947 में आज़ादी के समय भारत की क्या दशा थी? यह गरीब तो था ही लेकिन इससे भी अधिक यह पूर्णतया अवरुद्ध (stagnant) था। औसत आयु केवल 33 वर्ष थी। आज़ादी से कुछ वर्ष पहले 1943 में भारी अकाल पड़ा था। इसमें 30 लाख लोग मारे गए थे। लेकिन इस अकाल का संबंध भोजन की कमी से न था क्योंकि यह उस समय खाद्यान्नों की उपज अपेक्षाकृत अच्छी थी।

आज़ादी के समय भारतीय अर्थव्यवस्था प्रमुख तौरपर ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी हालाँकि इसकी 85 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती थी, कृषि और संबंधित कार्यों से रोज़ी-रोटी कमाती थी और पारम्परिक और कम उत्पादिता वाली उत्पादन विधियाँ प्रयोग में लाती थी। भारतीय अर्थव्यवस्था के पिछड़ेपन का इस बात से भी पता चलता है कि इसका व्यावहारिक ढाँचा असंतुलित था क्योंकि इसकी 75 प्रतिशत कार्यकारी जनसंख्या खेती में लगी थी। खेती में इतनी जनसंख्या लगे होने के बावजूद भी भारत खाद्यान्न और उद्योगों के लिए कच्चे माल के मामले में आत्मनिर्भर नहीं था। भोजन की औसत उपलब्धता, मात्रा और गुणवत्ता, दोनों ही दृष्टिकोणों से न केवल कम थी बल्कि अनिश्चित भी थी जैसा कि बार-बार होने वाले अकालों से पता चलता था। निरक्षरता 84 प्रतिशत थी। वर्ष 6-11 वर्ग में लगभग 60 प्रतिशत बच्चे स्कूल नहीं जाते थे। छूत की बीमारियाँ बहुत फैली हुई थीं। कोई अच्छी सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली न होने के कारण मृत्युदर 27 प्रति हज़ार थी। अत: अर्थव्यवस्था में व्यापक गरीबी, अज्ञानता और बीमारी थी। साधनों के असमान वितरण ने स्थिति को और गंभीर बना दिया था।

7.4 भारत में नियोजन का विकास

एक निश्चित समयावधि में कुछ उद्देश्य पूरा करने हेतु भारत में नीति निर्धारकों ने नियोजन की प्रक्रिया प्रारंभ की। उनका विशेष ध्यान निम्नलिखित की ओर था :

i) जीवन स्तर में तेज़ी से सुधार लाना।

ii) औद्योगिक रूप से विकसित देशों के जीवन स्तर तक पहुँचना;

iii) ऐसे उत्पादों का उत्पादन करना जिससे संवृद्धि निरंतर और लम्बे समय तक कायम; तथा

iv) देश में असमानताओं और गरीबी में कमी लाना।

इस हेतु संवृद्धि की दर में तेज़ी लाना अत्यंत आवश्यक था क्योंकि एक तेज़ी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था में विभिन्न समस्याओं से निबटना आसान होता है।

संवृद्धि तेज़ करने और संरचलनात्मक परिवर्तन लाने में राज्य की भूमिका को तो आजादी से पहले ही स्वीकारा जा चुका था। यदि हम नियोजन के पहले के प्रयत्नों का विश्लेषण करें तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। ये प्रयत्न इस प्रकार थे :

7.4.1 नियोजन का संक्षिप्त इतिहास

1) **राष्ट्रीय नियोजन कमेटी (The National Planning Committee):** भारत में नियोजन के निर्माता जवाहरलाल नेहरू थे। 1938 में उनकी अध्यक्षता में राष्ट्रीय नियोजन कमेटी (The National Planning Committee) यानि NPC की स्थापना हुई थी। कमेटी ने नियोजन के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर आर्थिक विकास से संबंधित विभिन्न विषयों पर अध्ययन तैयार किए। कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें कीं :

   i) सरकार को सभी मूल उद्योगों और सेवाओं, खनिज संसाधन, रेलवे, जल यातायात, जहाज़रानी व अन्य सार्वजनिक उपयोगिताओं तथा वे सभी बड़े पैमाने के उद्योग जिनमें एकाधिकार पनपने की संभावना रहती है, को अपने हाथ में ले या फिर उन पर नियंत्रण रखें;

   ii) राष्ट्रीय नियोजन बनाने में कृषि की निर्णायक भूमिका है; और

   iii) नियोजन का उद्देश्य अगले 10 वर्षों में लोगों के जीवन स्तर में दुगना सुधार होना चाहिए।

2) **गाँधी योजना (Gandhian Plan):** महात्मा गाँधी कोई प्रशिक्षित अर्थशास्त्री नहीं थे और उन्होंने आर्थिक संवृद्धि का कोई मॉडल भी विकसित नहीं किया। लेकिन उन्होंने भारतीय कृषि, लघु उद्योगों, आदि के बारे में कुछ नीतियों का समर्थन किया। इन नीतियों को शामिल करते हुए 1944 में श्रीमन् नारायण व आचार्य एस.एन. अग्रवाल ने एक गाँधी योजना तैयार की। यही मॉडल गाँधी नियोजन का आधार है। इसे कभी-कभी 'विकास का गाँधी मॉडल' भी कहते हैं।

राष्ट्रीय नियोजन कमेटी के साथ-साथ आठ उद्योगपतियों ने 'आर्थिक विकास की एक योजना' बनाई जिसे बम्बई योजना (Bombay Plan) के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध क्रांतिकारी एम.एन. रॉय ने भी एक योजना बनाई जिसे जनता योजना (People's Plan) के नाम से जाना जाता है।

इन सभी योजनाओं का केवल ऐतिहासिक महत्त्व ही रहा क्योंकि इन्हें लागू करने का कभी मौक़ा ही नहीं मिला। ये केवल कागज़ पर ही रहीं। लेकिन इन सभी योजनाओं से भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की प्रक्रिया में राज्य की भूमिका के बारे में आम सहमति थी।

7.4.2 नियोजन प्रक्रिया में राज्य की भूमिका

1950 के दशक के प्रारंभ में ऐसा माना जाता था कि घरेलू बचत की दर बढ़ाने और इसका अधिक उत्पादक कार्यों में प्रयोग करने में एक विकासशील अर्थव्यवस्था में राज्य एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता था।

भारतीय अर्थव्यवस्था एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। इसकी भू-काश्तकारी प्रणाली कुछ इस प्रकार की थी कि किसानों और कृषि मज़दूरों के पास अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के बाद जो अतिरेक (Surplus) बचता वह खेती नहीं कर रहे भू-स्वामी व बिचौलिए (विशेषतया जमींदारी प्रणाली व सामंती काश्तकारी प्रणालियों में) ले जाते थे और गैर-ज़रूरी उपभोग पर खर्च कर देते थे। ऐसी शोषणकारी और सामाजिक तौर पर अपव्ययी प्रणालियों को समाप्त कर देने के पश्चात् जो अतिरेक बचा वह अब भूमि सुधारों के माध्यम से उत्पादक निवेश में लगाया जा सकता था (भूमि सुधार से अभिप्राय बड़े किसानों में भूमि लेकर भूमिहीन कृषि

मज़दूरों को भूमि देना भी था)। इससे भूमि की उत्पादकता के साथ-साथ ग्रामीण गरीबों की आर्थिक दशा भी सुधरती है क्योंकि इनमें अधिकतर भूमिहीन खेती श्रमिक थे। इस अतिरेक को सही ढंग से प्राप्त करने और प्रयोग करने में भूमि सुधारों व कृषि कर प्रणाली दोनों का योगदान था। दोनों में ही कड़े सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता थी।

राज्य को प्रारंभिक शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा, शुद्ध पीने का जल व अन्य सुविधाएँ दिलाने की ज़िम्मेदारी तो निभानी होगी। किसी भी सभ्य समाज में ये सभी आधारभूत आवश्यकताएँ होती हैं और भारतीय अर्थव्यवस्था में इन सभी की बहुत कमी थी। इन सबका उत्पादकता के स्तर पर काफी अच्छा प्रभाव पड़ता है। इन सब सुविधाओं से सकारात्मक बाहरी बचतें प्राप्त होती हैं। अत: इनमें राज्य का हस्तक्षेप ठीक माना जाता। (इसी इकाई के भाग 7.2 में दशा नम्बर 3)

सड़कों के जाल, बड़े सिंचाई परियोजनाओं, इस्पात के कारखाने, रेलवे आदि के लिए इतने बड़े स्तर पर निवेश की आवश्यकता होती है कि यह व्यक्तिगत निवेशकों की क्षमता से बाहर होती है। ये एक प्रकार के स्वाभाविक एकाधिकार (natural manopolies) हैं। (जिन्हें सार्वजनिक उपयोगिताएँ भी कहते हैं)। इनको एक ऐसा वर्ग माना जाता है जिसमें राज्य का हस्तक्षेप उचित माना जाता है। भाग 7.2, दशा नम्बर 2)। यदि निजी क्षेत्र को आज्ञा भी दे दी जाए तो भी मानकस्तर, कुशलता के मापदंड, निवेश पर प्रतिफल की उचित दर जैसे अन्य तत्त्वों को लागू करने की आवश्यकता बनी रहती है। इन सबके लिए राज्य के कायदे कानून की आवश्यकता रहती है। चाहे ये सब राज्य के सीधे स्वामित्व में न हो।

सरकार ऐसी दशाएँ पैदा करके जिससे कि लोग अधिक निवेश करने के लिए उत्साहित हों विकास में सहायता कर सकती है। नीची बचत दर निम्न आय-स्तर का संकेतक है। एक अवरुद्ध-सी और मंदगति से आगे बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था में निवेश करने के लिए लाभदायक अवसर सीमित होते हैं। सरकारी हस्तक्षेप निवेश के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करने में सहायता कर सकता है। 1960 के दशक के मध्य तक तो यह भूमिका सरकार ने बखूबी अदा की थी लेकिन बाद में अपने आपको बहुत से आर्थिक कार्यों में उलझाने से शिक्षा, स्वास्थ्य और सफाई आदि के क्षेत्र में अपनी भूमिका की अनदेखी कर दी।

बेकार या अल्पनियोजित श्रम को सार्वजनिक तौर पर जुटा कर सड़कें, सिंचाई, नहरें, भूमि सुधार, स्कूल, ग्रामीण हस्पताल, आदि के रूप में उत्पादक परिसम्पत्तियाँ बनाई जा सकती हैं। इससे निजी संसाधनों की संभावित उत्पादिता बढ़ती है और आगे निजी निवेश के लाभदायक अवसर पैदा होते हैं। कुछ दशाओं में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि वस्तुओं और सेवाओं की अतिरिक्त माँग में वृद्धि लाकर लाभदायक निवेश का दायरा बढ़ा सकती है। ये दोनों प्रभाव और भी मजबूत हो सकते हैं यदि संतुलित विकास के लिए कोई समन्वित निवेश कार्यक्रम हो। इससे यह सुनिश्चित हो सकता है कि मूल आगतों एवं सेवाओं की बढ़ती हुई माँग के साथ-साथ उनकी पूर्ति में भी वृद्धि हो। यदि क्रियाएँ परस्पर संबंधित हों तो इसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यदि कार्यक्रम समन्वित हो तो वस्तुओं और सेवाओं की कमी या अधिकता होने का डर कम हो जाता है। जोखिम कम होने से व्यवसाय में अधिक निवेश करने के लिए उद्यमी उत्साहित होता है।

बोध प्रश्न 2

1) नियोजन प्रक्रिया में सरकार की क्या भूमिका है? दो उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

7.4.3 स्वतंत्र भारत में नियोजन

आज़ादी प्राप्त करने के पश्चात् ही भारत में नियोजन प्रक्रिया प्रारंभ हुई। भारत सरकार ने मार्च, 1950 में योजना की पूरी ज़िम्मेदार योजना आयोग को सौंपी गई। आयोग का कार्यक्षेत्र काफी विस्तृत था :

क) देश को भौतिक पूँजी और मानव संसाधनों की आवश्यकताओं का अनुमान लगाना तथा उनके संतुलित और प्रभावशाली उपयोग के लिए योजना बनाना,

ख) सभी महत्त्वपूर्ण कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं को उनके लागू करने की अनुमति देने से पूर्व उनकी समीक्षा करना,

ग) विकास में प्रयोग आने वाले संसाधनों का निर्धारण करना और उनका विभिन्न उपयोगों और उपयोगकर्ताओं के बीच बँटवारा करना, और

घ) उनकी प्रगति पर निगरानी रखना और समीक्षा करना।

हालाँकि औपचारिक तौरपर आयोग एक सलाहकार निकाय है, लेकिन ऐसी आशा थी कि विकास के बारे में नीति संबंधी सभी प्रमुख विषयों पर इसकी सलाह ली जाएगी। इसकी संरचना कुछ इस प्रकार की थी कि सभी महत्त्वपूर्ण मामलों पर इसे विशेषज्ञ पेशेवर राय मिल सके और इसकी सलाह का सरकार की नीतियों पर प्रभाव पड़ सके।

उत्तरोत्तर पंचवर्षीय योजनाएँ विकास संबंधी नीतियों, कार्यक्रमों व प्राथमिकताओं को दृढ़ता प्रदान करती रही है ताकि लोकतंत्रीय राज्यव्यवस्था एवं मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूपरेखा 'सामाजिक विकास के साथ संवृद्धि' की कल्पना को साकार किया जा सके। उत्तरोत्तर योजनाओं का रूप और विषयवस्तु एक निश्चित विकासवादी प्रक्रिया से विकास की संभावनाओं और बाध्यताओं के बारे में विभिन्न समयों पर बदलते विचारों और ज्ञान, विभिन्न उद्देश्यों पर तुलनात्मक बल, तथा राजनीतिक और आर्थिक अपेक्षाओं की विवशता का पता चलता है।

भारत में आर्थिक विकास का आधारभूत उद्देश्य संवृद्धि, अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण आत्मनिर्भरता तथा सामाजिक न्याय (मुख्यत: आर्थिक असमानताओं को कम करना और गरीबी को मिटाना) रहा है।

7.4.4 योजनाएँ, नियोजन-मॉडल व उनके उद्देश्य

अप्रैल 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के लागू होने से एक ऐसी विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हुई जिसका उद्देश्य केवल लोगों के जीवन स्तर ऊँचे करना ही नहीं था, उनको बेहतर और विविध जीवन के लिए नए-नए अवसर भी प्रदान करना था। यह सब कुछ संवृद्धि व सामाजिक न्याय से प्रेरित नियोजन द्वारा प्राप्त करना था।

प्रथम योजना में योजना की आवश्यकता और राज्य की भूमिका स्पष्ट शब्दों में बताई गई है। इसके अनुसार नियोजन में कुछ निश्चित उद्देश्य होते हैं जिनके आधार पर नीतियाँ बनती हैं, यह नीतियाँ इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए बनाई जाती है, समस्याओं का तर्क संगत समाधान ढूँढा जाता है, साधनों और आवश्यकताओं के बीच समन्वय स्थापित करने की कोशिश की जाती है। इस प्रकार प्रोफेसर वैद्यनाथन (1995) के अनुसार योजना की तीन प्रमुख बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

1) विकास प्रक्रिया शुरू करने हेतु उपलब्ध संसाधनों का प्रभावशाली ढंग से प्रयोग करने हेतु नियोजन एक माध्यम है;

2) यह इस बात पर बल देता है कि केवल वर्तमान सम्पत्ति की असमानताएँ कम करके या फिर उत्पादन बढ़ाकर गरीबी दूर नहीं की जा सकती। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के अंतर्गत आर्थिक गतिविधियों को तेज़ करने हेतु उद्देश्यपूर्ण हस्तक्षेप की आवश्यकता होगी और रूपरेखा में परिवर्तन लाने होंगे ताकि लोगों की मूलभूत इच्छाओं को पूरा किया जा सके। इन इच्छाओं की झलक इनमें मिलती है : रोज़गार का अधिकार, शिक्षा का उपयुक्त आय, वृद्धों बीमारों तथा विकलांगों की सुरक्षा और यह सुनिश्चतता की देश के प्राकृतिक साधनों का उपयोगी जन साधारण की भलाई के लिए हो रहा है। यह भी देखना होगा कि इससे सम्पत्ति और शक्ति केवल कुछ लोगों के हाथ में ही केन्द्रित न हो जाए; और

3) यह भी स्वीकार किया जाता है कि नियोजक सर्वज्ञ नहीं होते। तथ्यों के बारे में हमारा ज्ञान काफी अधूरा रहता है और नीति बनाते समय अनुमानों का सहारा लेना आवश्यक होता है। अनुभव से हमें निरंतर सबक लेना पड़ता है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना वित्त वर्ष 1950-51 में प्रारंभ हुई। इसके पश्चात् कई पंचवर्षीय योजनाएँ बनीं। भारत में नियोजन प्रक्रिया मजबूत सैद्धांतिक नींव पर आधारित है। सभी पंचवर्षीय योजनाएँ नियोजन के विभिन्न

नमूनों (Models) पर आधारित रही हैं। प्रथम योजना (1951-56) हेरड-होमर संवृद्धि मॉडल (Harrod-Domar Growth Model) पर आधारित थीं। इस मॉडल के परिणाम को एक साधारण साम्य के रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :

$I \times (1/\alpha) \neq I \times \sigma$

जहाँ I = निवेश स्तर

α = सीमांत बचत दर

σ = सीमांत उत्पाद-पूँजी अनुपात

ये अवधारणाएँ पिछली इकाई में विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं। दूसरी योजना (1951-56) संशोधित सोवियत मॉडल पर आधारित थी। इसे पी.सी. महालनोबिस (P.C. Mahalanobis) ने विकसित किया था। यह एक दो क्षेत्रीय मॉडल था जिसमें उपभोक्ता वस्तुएँ और पूँजीगत वस्तुएँ दो क्षेत्र थे। इस मॉडल में पूँजीगत वस्तु क्षेत्र पर बल दिया गया था। दूसरी योजना का महालनोबिस मॉडल भारतीय नियोजन का केन्द्र था।

तीसरी योजना (1961-66) योजना आयोग के भावी नियोजन प्रभाग (Perspective Planning Division) में पंत व लिटिल (Pant and Little) के कार्य पर आधारित थी। माने व रुद्रा (Manne and Rudra) ने चौथी योजना का संगति मॉडल (Consistency Model) तैयार किया।

चार पंचवर्षीय योजनाओं के मॉडल गैर-सरकारी (Unofficial) कहे जाते हैं क्योंकि ये निजी शोधकर्ताओं के शोध के परिणाम थे। सरकारी दर्जा केवल पाँचवीं योजना के मॉडल में अमीरों से गरीबों की ओर पुनर्वितरण स्पष्ट रूप से शामिल किया गया। छठी योजना का मॉडल पाँचवीं योजना का मॉडल का विस्तार मात्र था। इस योजना में माँग पूर्ति ढाँचे में हेरड-डोमर मॉडल और पिछली योजनाओं की आगत-निर्गत दृष्टिकोणों को एकीकरण किया गया। सातवीं योजना (1985-90) अगले 15 वर्ष को ध्यान में रखकर बनाई गई। इसका उद्देश्य भविष्य में संभव उपलब्धियों के बारे में सोचना और इसे वास्तविकता का रूप देना है। इस योजना में संवृद्धि दर को 5 प्रतिशत पर स्थिर रखने का उद्देश्य रखा गया। आठवीं योजना का मॉडल भी सातवीं पंचवर्षीय योजना के मॉडल पर आधारित था। लेकिन इस योजना में राज्य की प्रत्यक्ष भूमिका जो कि पंचवर्षीय योजना के मॉडल पर आधारित थी, को काफी कम कर दिया गया। नवीं योजना भी इसी अवधारणा पर आधारित है जिसमें राज्य की भूमिका में कमी आई है।

तालिका-1 में सभी योजनाओं के दर्शन, उनके उद्देश्य और एक योजना के बाद दूसरी योजना के शुरू होने में देरी के कारण बताए गए हैं।

तालिका 1 : भारत में पंचवर्षीय योजनाएँ

योजना	योजना अवधि	प्राथमिकताएँ	देरी के कारण
प्रथम योजना	1951-56	कृषि	
दूसरी योजना	1956-61	भारी उद्योग	
तीसरी योजना	1961-66	कृषि व भारी उद्योग	
वार्षिक योजनाएँ (तीन)	1966-69	समेकन	दो युद्धों और दो उत्तरोत्तर सूखा पड़ने के कारण योजना अवकाश
चौथी योजना	1969-74	गरीबी उन्मूलन	
पाँचवीं योजना	1974-79	गरीबी उन्मूलन आत्मनिर्भरता	1977 में सरकार बदलने के कारण इस योजना ने अपनी अवधि पूरी नहीं की
छठी योजना का वार्षिक योजना में परिवर्तन	1979-80	रोज़गार	1980 में सरकार बदलने के कारण अपनी अवधि पूरी न कर सकी

छठी योजना	1980-85	रोज़गार व खाद्यान्न उत्पादन	दुबारा बनाई गई
सातवीं	1985-90	ऊर्जा, रोज़गार, खाद्यान्न उत्पादन और उत्पादिता में वृद्धि।	
वार्षिक योजनाएँ	1990-92		दो सरकारें बदलने के कारण योजना बनाई नहीं जा सकी।
आठवीं योजना	1992-97		आर्थिक संवृद्धि आधारिक संरचना रोज़गार और उदारीकरण
नवीं योजना	1997-2002		संवृद्धि, रोज़गार आधारिक संरचना, कृषि, ग्रामीण विकास, पर्यावरण संरक्षण

बोध प्रश्न 3

1) प्रथम पंचवर्षीय योजना की क्या अवधि थी?

   क) 1947-53

   ख) 1951-56

   ग) 1950-51

   घ) 1948-53

2) आठवीं पंचवर्षीय योजना की क्या अवधि थी :

   क) 1980-85

   ख) 1985-90

   ग) 1992-97

   घ) 1978-83

3) भारत में कितनी पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी हो चुकी हैं :

   क) 5

   ख) 7

   ग) 8

   घ) 10

4) भारत में योजना आयोग की स्थापना कब हुई?

   क) 1938

   ख) 1947

   ग) 1950

   घ) 1948

5) भारत में नियोजन के विस्तृत उद्देश्य क्या हैं? उनको संक्षेप में बताइए।

.....

.....

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

7.5 भारत में नियोजन अनुभव

भारत में नियोजन का प्रारंभ राज्य के जोरदार हस्तक्षेप के साथ हुआ। लेकिन फिर भी अन्य समाजवादी देशों की तुलना में कुछ मूल अंतर थे। समाजवादी देशों में निजी सम्पत्ति लगभग समाप्त कर दी गई थी, उत्पादन के सभी साधनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था, उत्पादन और विनिमय गतिविधियाँ योजना प्राधिकारी द्वारा निर्धारत लक्ष्यों के अनुसार होनी थी। भारत में अधिकतर उत्पादन साधन निजी रहे हैं और निजी हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के बावजूद लगभग आधे से भी अधिक पूँजी निजी क्षेत्र के पास है, और लगभग तीन चौथाई उत्पादन निजी क्षेत्र करता है। अर्थव्यवस्था के अधिकतर भाग में बाज़ार प्रणाली सक्रिय है। चाहे यह अपूर्ण व विकृत ही क्यों न हो।

भारत में राज्य की किसी भी निजी सम्पत्ति को बिना मुआवजा दिए अपने हाथ में नहीं ले सकता। निजी सम्पत्ति को यह कानूनी सुरक्षा प्राप्त है। भूमि सुधार के साधारण से कार्यक्रम और कुछ क्षेत्रों पर राज्य का नियंत्रण, जैसे रेलवे, कोयला खानें व वित्तीय संस्थाओं, को छोड़कर राज्य ने किसी बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण नहीं किया है। निजी क्षेत्र की गतिविधियों को नियंत्रण में रखने के लिए सरकार ने केवल कुछ प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष मिले-जुले नियंत्रणों का सहारा ही लिया है। गरीबी हटाने और असमानताएँ दूर करने के प्रयत्नों में राजकोषीय नीति का सहारा लिया गया है। इसमें सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की कीमतों के निर्धारण प्रमुख हैं।

नियोजन से भारत में बहुत से सरंचनात्मक परिवर्तन आए हैं लेकिन उतने नहीं जितने की नियोजक चाहते थे। औद्योगिक परिवर्तन से आम जनता को होने वाली कठिनाइयों से बचने के लिए भी नियोजन का सहारा लिया गया। 1950 के दशक में देश-विदेश दोनों में भारत की विकास संभावनाएँ बहुत अधिक दिखाई देती थीं। यहाँ की सरकार स्थिर थी, काफी संख्या में विशिष्ट शिक्षित वर्ग था, नियोजित विकास की ओर वचनबद्धता थी और रक्षा व्यय काफी कम था। नेहरू का समाजवादी ढाँचे पर आधारित मिश्रित अर्थव्यवस्था की परिकल्पना माओ के कम्युनिस्ट चीन के विकास मॉडल का एक जवाब था।

1960 के दशक में वातावरण में तेज़ी से बदलाव आया। दो वर्ष निरंतर सूखे की स्थिति, चीन और पाकिस्तान के साथ युद्ध, तीन वर्ष तक योजना अवकाश, भारी मात्रा में खाद्यान्न के आयात सदृश घटनाओं के कारण अंतरराष्ट्रीय बोध में परिवर्तन आया। देश के भीतर भी अनिश्चितता बढ़ी। बचत दर गिरी। आधारभूत क्षेत्रों, जैसे इस्पात व पूँजीगत वस्तुओं, में अधिक्षमता (excess capacity) दिखाई देने लगी। ऐसा साफ नजर आ रहा था कि आगे वाले वर्षों में खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता एक समस्या बनी रहेगी।

लेकिन व्यवस्था बिगड़ी नहीं। नीतियों में कुछ परिवर्तन कर कृषि उत्पादन, विशेषतया खाद्यान्न को बढ़ाया गया। सूखे के दस वर्ष के भीतर ही सभी सूचकों में सुधार हुआ और वे ऊपर की ओर जाने लगे। ऐसा उस समय हुआ जब विश्व एक बड़ी मंदी (recession) की स्थिति से गुजर रहा था, बहुत से देश जो साठ और सत्तर के दशक में सफलता की सीढ़ियाँ पार कर चुके थे, नकारात्मक या फिर मामूली सकारात्मक संवृद्धि दिखा रहे थे। लेकिन 1990 के दशक के उपकरण के रूप में केन्द्रित नियोजन पद्धति की खुलकर आलोचना होने लगी थी। विश्व अब विकेन्द्रित और सांकेतिक नियोजन (decentralised and indicative planning) की तरफ झुक रहा था। पूर्वी एशिया की अर्थव्यवस्थाओं (दक्षिण कोरिया, हांगकांग, तायवान, सिंगापुर, थाईलैण्ड, मलेशिया) का भव्य विकास अनुभव बता रहा था कि बाज़ार प्रणाली के माध्यम से अप्रत्यक्ष सरकारी हस्तक्षेप विकास प्रक्रिया अच्छी भूमिका निभा सकता है (यह सांकेतिक योजना का एक उदाहरण है)।

परिणामस्वरूप, नियोजन की भूमिका में परिवर्तन आ रहे हैं। सामाजिक उद्देश्यों को पूरा करने में निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन दिए जा रहे हैं। इस प्रकार की नियोजन रणनीति का फ्रांस भी एक सफल उदाहरण है।

7.6 भारत में नियोजन की उपलब्धियाँ और विफलताएँ

भारत में नियोजन के पचास वर्ष पूरे होने को हैं। अत: यह आवश्यक है कि हम यह जाने कि सामाजिक व आर्थिक विकास उद्देश्यों की प्राप्ति में यह कितनी सफल या असफल रही हैं।

7.6.1 नियोजन की उपलब्धियाँ

50 वर्ष की नियोजना का मूल्यांकन करते हुए हम यह गर्व महसूस कर सकते हैं कि इस अवधि में हमारी अवरुद्ध और निर्भर अर्थव्यवस्था आधुनिक और आत्मनिर्भर हो गई है। जनसंख्या वृद्धि के बावजूद प्रति व्यक्ति आय में साधारण वृद्धि होती रही है।

भारत में नियोजन की उपलब्धियों की सूची में निम्नलिखित शामिल की जा सकती हैं (तालिका-2 देखिए)।

तालिका 2 : विकास के कुछ सूचक

	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96	1999-2000
आर्थिक सूचक							
औद्योगिक उत्पादन सूचकांक	7.9	15.6	28.1	43.1	91.6	123.3	154.7
कृषि उत्पादन सूचकांक (1980-81 पर आधारित)	46.2	68.8	85.9	102.1	148.4	160.7	178.6 (P*)
खाद्यान्न (लाख टन)	50.8	82.0	108.4	129.6	176.4	180.4	208.9
तैयार इस्पात (लाख टन)	1.0	2.4	4.6	6.8	13.5	21.4	27.2
सीमेंट (लाख टन)	2.7	8.0	14.3	18.6	48.3	69.5	100.2
कोयला (लाख टन)	32.3	55.2	76.3	119.0	225.5	292.3	322.1
कच्चा तेल (लाख टन)	0.3	0.5	6.8	10.5	33.0	35.1	31.9
बिजली उत्पादन (TWH) (करोड़ किलोवाट)	5.1	16.9	55.8	110.8	264.3	379.9	480.7 (P*)
थोक कीमत सूचकांक 1993-94	6.8	7.9	14.3	36.8	73.7	121.6	145.3
उपभोक्ता कीमत सूचकांक (1982 पर आधारित)	17	21	38	81	193	313	428
सामाजिक सूचकांक							
जनसंख्या (करोड़)	361.1	439.2	548.3	683.3	846.3	915.9	...
जन्मदर (प्रति 1000)	39.9	41.7	41.2	37.2	29.5	28.3	...
मृत्युदर (प्रति 1000)	27.4	22.8	19.0	15.0	9.8	9.0	...
जन्म के समय जीवन प्रत्याशा	32.1	41.3	45.6	50.4	...	60.8	...
साक्षरता दर (प्रतिशत)	18.33	28.31	34.45	43.56	52.2	...	...

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, वित्त मंत्रालय

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

I) आर्थिक उन्नति के सूचक

1) आर्थिक उन्नति के प्रमुख सूचक

i) 1950-51 से 1999-2000 की अवधि में स्थिर कीमतों पर साधन लागत पर सकल घरेलू उत्पाद 4.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ा। 1990 के दशक में यह औसत 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई।

ii) 1950-51 में सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में जो बचत दर 10.4 प्रतिशत थी, 1995-96 में बढ़कर 25.6 प्रतिशत हो गई।

iii) मृत्यु दर तेजी से गिरने के कारण जनसंख्या 2 प्रतिशत की दर से बढ़ी। शुद्ध उपभोग 1.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष की साधारण दर से बढ़ा।

iv) भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रभावशाली रही है। भारत की औद्योगिक क्षमता का विविधीकरण व विस्तार एक प्रमुख सफलता रहा है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र ने प्रमुख भूमिका अदा की है। उपभोक्ता वस्तुओं और आधारभूत वस्तुओं जैसे इस्पात व सीमेंट में देश ने आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है। उर्वरक, दूरसंचार जैसे उद्योगों की क्षमता निरंतर बढ़ रही है। पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन काफी प्रभावशाली रहा है और अब भारत इस स्थिति में है कि वह अपने अधिकतर उद्योगों की संवृद्धि स्तर बनाए रख सकता है चाहे यह कपड़ा उद्योग हो, खाद्य प्रसंस्करण हो, या रसायन या चीनी, बिजली या परिवहन हो।

2) **औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक** (आधार 1993-94 = 100) 1950-51 19.2 से बढ़कर 1995-96 में 283.3 हो गया। यह वृद्धि 6 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी अधिक है। तैयार इस्पात का उत्पादन 1950-51 में 10 लाख टन से बढ़कर 1999-00 में 272 लाख टन हो गया। इसी अवधि में सीमेंट का उत्पादन 27 लाख टन से बढ़कर 100 लाख टन हो गया। कोयले का उत्पादन 323 लाख टन से बढकर 3220 लाख टन हो गया। बिजली उत्पादन 51 करोड़ किलोवाट से बढ़कर 480.7 करोड़ किलोवाट हो गया। कच्चा तेल का उत्पादन 3 लाख टन से बढ़कर 319 लाख टन हो गया।

i) प्रति व्यक्ति अनाज का उपभोग 1951 में 334.2 ग्राम प्रतिदिन से बढ़कर 1995 में 468.5 ग्राम हो गया, लेकिन दालों की उपलब्धता 61 ग्राम से घटकर 38.1 ग्राम हो गई। लेकिन खाद्यान्न की कुल उपलब्धता 395 ग्राम से बढ़कर 498 ग्राम हो गई।

ii) खाद्य तेल और वनस्पति की उपलब्धता 1950-51 में 3.2 किलोग्राम से बढ़कर 1999-00 में 9.2 किलोग्राम हो गई। कपड़े का प्रतिव्यक्ति उपभोग 11 मीटर से बढ़कर 30 मीटर हो गया। जीवन की अन्य सुविधाओं की उपलब्धता भी काफी बढ़ी है। साइकिल, स्कूटर, कार, ट्रक, टेलीफोन, कम्प्यूटर टेलीविजन, फ्रिज आदि का प्रयोग बढ़ा है। ये सब कागज की प्रगति के प्रतीक हैं।

3) **आर्थिक बुनियादी सुविधाओं, ऊर्जा, परिवहन तथा सिंचाई का विकास :** सफलता का एक और क्षेत्र है आर्थिक बुनियादी सुविधाएँ जो कि औद्योगिकरण का अधार है। सड़क, सड़क परिवहन, रेलवे तंत्र, और दूर संचार के जाल ने लोगों को जोड़ा है, देश के विभिन्न भागों में वस्तुओं का लाना ले जाना संभव बनाया है, और देश को सारे विश्व से जोड़ा है। इससे बाज़ार का आकार बढ़ा है। सिंचाई और बिजली परियोजनाओं ने कृषि और उद्योग को आगे बढ़ाया है। बुनियादी सुविधाओं की उपलब्धता ने शहरों और गाँवों के आधुनिकीकरण में सहायता पहुँचाई है।

4) **निर्यात का विविधीकरण व आयात प्रतिस्थापन :** औद्योगीकरण और आयात प्रतिस्थापन नीतियों के कारण भारत की पूँजीगत वस्तुओं के आयात पर निर्भरता घटी है। इसी तरह पहले हम जिन उपभोक्ता वस्तुओं का आयात करते थे उन्हें अब हम अपने देश में ही बनाने लगे हैं। निर्यात की वस्तु संरचना में परिवर्तन आया है। अब हम विनिर्मित वस्तुओं, खनिज अयस्क और इंजीनियरिंग वस्तुओं का निर्यात करने लगे हैं।

II) सामाजिक प्रगति के सूचक

1) **भारत के लोगों की जीवन प्रत्याशा बढ़ी :** 1951 में जो औसत आयु 33 वर्ष थी 1995 में बढ़कर 61 वर्ष हो गई। यह मुख्यत: चेचक और प्लेग के उन्मूलन तथा मलेरिया और हैजे का प्रकोप कम होने

MADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

के कारण है। अच्छी स्वास्थ्य सुविधाओं के कारण शिशु मृत्युदर बहुत कम हो गई है। हालाँकि, भारत में अल्पपोषण कमजोर स्वास्थ्य का एक बहुत बड़ा कारण है, फिर भी औसत आयु बढ़ना एक बहुत बड़ी सफलता है।

अन्य सामाजिक सूचक भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रगति की ओर इशारा करते हैं। 1950-51 में जन्मदर 39.9 प्रति हजार से घटकर 1995-96 में 28.3 हो गई। मृत्युदर तेज़ी से गिरकर 27.4 से 9 हो गई। शिशु मृत्युदर 146 प्रति हजार से घटकर 74 हो गई। स्पष्ट है कि जनसंख्या वृद्धि तेज़ी से गिरती मृत्युदर के कारण हुई है।

2) **अच्छी शिक्षा प्रणाली का विकास जिससे विज्ञान और प्रौद्योगिकी में महत्त्वपूर्ण प्रगति हुई:** भारत में शैक्षिक योग्यता प्राप्त प्रशिक्षित श्रम शक्ति का विश्व में तीसरा सबसे बड़ा समूह नियोजन की एक भारी सफलता है। यह देश में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति के कारण संभव हुआ है। अन्य विकासशील देशों की तुलना में आगे होने के कारण भारत अब मध्य पूर्व, एशिया व अफ्रीका के देशों को तकनीकी विशेषज्ञता प्रदान कर रहा है। यह एक गर्व का विषय है।

7.6.2 नियोजन की विफलताएँ

आइए, अब देखें कि भारत में नियोजन की क्या कमियाँ रही हैं। पिछले 45 वर्षों में सरकार लोगों को बताती रही हैं कि देश में विकास-नियोजन का उद्देश्य समाजवादी ढाँचे पर आधारित समाज की स्थापना करना है। नारे लगाने से कोई अंतर नहीं पड़ता। अंतर इस बात से पड़ता है कि उद्देश्य पूरा हुआ है या नहीं। मूल प्रश्न यह है कि क्या पिछड़ों, कमजोरों व दलितों की दशा सुधरी है या नहीं? क्या विकास के परिणाम समाज के सबसे निचले वर्गों तक पहुँचे हैं या नहीं? इस संबंध में जो भी परिणाम मिले हैं उन्हें सीमित ही कहा जा सकता है जो कि निम्नलिखित से स्पष्ट है :

1) **सभी लोगों को एक आधारभूत न्यूनतम जीवन स्तर दिलाने में विफलता :** नियोजन का यह आधारभूत उद्देश्य ही पूरा नहीं हुआ है। इस दिशा में बहुत ही कम कार्य हुआ है।

2) **आय व सम्पत्ति की असमानताओं को कम करने में विफलता :** ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह पता चले कि 50 वर्ष के आर्थिक विकास के कारण आय का पुनर्वितरण निचले वर्गों के पक्ष में हुआ है। 1950-51 व 1995-96 के बीच प्रति व्यक्ति आय 1.7 प्रतिशत ही बढ़ी है, लेकिन इसका भी वितरण असमान रहा। ऐसा अध्ययनों से पता चला है। सबसे निम्न वर्ग के रूप में जनसंख्या के 20 प्रतिशत भाग की हालत और बिगड़ी है और इससे ऊपर के 20 प्रतिशत की हालत लगभग स्थिर रही है। जबकि ग्रामीण गरीबी और बढ़ी है, इस बात के प्रमाण हैं कि आय व सम्पत्ति सभी वर्ग के हाथ में ही केन्द्रित हुई है। चौथी पंचवर्षीय योजना में इस तथ्य को स्वीकार किया गया है कि नियोजन में किए गए प्रयासों से असमानताएँ नहीं घट पाई हैं।

3) **सभी शारीरिक रूप से सक्षम व्यक्तियों को उत्पादक रोज़गार दिलाने में विफलता :** नियोजन की प्रगति के साथ-साथ बेरोज़गारी व अल्परोज़गार की समस्या भी बढ़ रही है। बेरोज़गारी की संख्या प्रथम योजना के बाद से निरंतर बढ़ रही है। पिछले वर्षों से शेष चली आ रही बेरोज़गारी की तो बात दूर रही योजना के दौरान श्रम शक्ति में शामिल नए लोगों को भी रोज़गार नहीं मिल पाता है। योजना आयोग ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है।

4) **बुनियादी सुविधाओं की कमी :** सार्वजनिक क्षेत्र की बुनियादी सुविधाओं परियोजनाओं के निर्माण, परिचालन और रख-रखाव में व्याप्त कमी नियोजन की एक और विफलता है। 1980 के दशक के मध्य से तो स्थिति, विशेषतया बिजली, रेलवे और सड़कों की और गंभीर हो गई है। अधिकतर सयंत्र क्षमता से कम (लगभग 50 प्रतिशत) पर कार्य कर रहे हैं। रेलें और सड़कों पर बहुत अधिक भीड़-भाड़ है। हमारे नियोजकों की विफलता इसमें है कि वे इन कमियों का पहले से अनुमान नहीं लगा पाए। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था अपनी पूरी क्षमता से आगे नहीं बढ़ पाई।

5) **छोटे और सीमांत किसानों की अनेदेखी और भूमि का पुनर्वितरण :** किसानों के भूमि के स्वत्व का हस्तांतरण का नीतिगत निर्णय (यानि भूमि सुधार) ठीक ढंग से लागू नहीं किए गए। पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, तमिलनाडु, आदि जैसे कुछ राज्यों में कुछ प्रयत्न हुए। सरकार ने भी यह माना है कि भूमि सुधार धीमे रहे हैं और राज्य सरकारों को इनको तेजी से लागू करने की कोई इच्छा भी प्रतीत

नहीं होती। इसके कारण कृषि को प्रगतिशील बनाने और संसाधनों का समान वितरण करने में रुकावटें आती हैं।

6) **कृषि क्षेत्र में प्रादेशिक संतुलन लाने की अनदेखी :** भारत में नियोजन की यह एक बड़ी विफलता है। भारत की औसत भूमि उत्पादिकता पूर्वी एशिया की तेजी से बढ़ती विकासशील अर्थव्यवस्थाओं और चीन की अपेक्षा काफी कम है। उदाहरणत:, चीन की भूमि उत्पादिता भारत की चार गुना है। भारत की यह कमी इस कारण से है कि यहाँ चुने हुए प्रदेशों में ही कृषि को उत्साहित किया गया और बाकी प्रदेशों को मानसून की वर्षा के भरोसे छोड़ दिया गया।

निष्कर्ष यह है कि नियोजन के लक्ष्यों को निर्धारित करने और इनको लागू करने के बीच बहुत बड़ा अंतर रहा है। योजना दस्तावेज दार्शनिक और शैक्षिक तौर पर तो बहुत अच्छे थे, लेकिन सिद्धान्त और व्यवहार में एक बहुत बड़ा अंतर होने के कारण इसके कार्यान्वयन में अनेक कमियाँ रही हैं।

7.7 नियोजन का बदलता परिप्रेक्ष्य

पूर्णतया निर्देश द्वारा नियोजन (planning by direction) उतना ही संभव नहीं है जितनी कि पूर्णतया निर्बाध (Laissez Faire) अर्थव्यवस्था। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

i) निर्देश द्वारा नियोजन में निर्देश देने वाला अपने फैसलों से होने वाले सभी परिणामों का अंदाज़ा नहीं लगा सकता। आर्थिक प्रणाली बहुत जटिल होती है। इस जटिलता के कारण ही निर्देश द्वारा नियोजन असंतोषजनक रह जाता है। इस प्रकार के नियोजन में किन्हीं वस्तुओं की कमी और कुछ की अधिकता होने की संभावना बनी रहती है। बाज़ार द्वारा नियोजन में ऐसा होने की संभावना कम रहती है क्योंकि कीमतों में निरंतर परिवर्तन द्वारा मुद्रा प्रवाह स्वत: संचालित होती रहती है।

ii) निर्देश द्वारा नियोजन में लचीलापन नहीं होता। एक बार योजना बनाने के बाद यदि उसके एक भाग में परिवर्तन करना हो तो सारी योजना को ही बदलना पड़ता है, और सारी योजना को बार-बार बदलना कोई आसान बात नहीं है। कीमत प्रक्रिया तो माँग और उत्पादन के परिवर्तनों को संभाल लेती है, जबकि निर्देश द्वारा नियोजन में यह लचीलापन नहीं होता।

iii) योजना बनाते समय कितनी भी पूर्ण रही हो जैसे-जैसे योजना आगे बढ़ती है इसके मार्ग में अपूर्णताएँ आनी प्रारंभ हो जाती है, क्योंकि हालात बदलते हैं किसी क्षेत्र में कोई हड़ताल या दुर्घटना हो सकती है जिससे अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों के उत्पादन पर भी प्रभाव पड़ सकता है।

iv) निर्देश द्वारा नियोजन में अत्यधिक मानकीकरण (standardization) होता है। यह इसलिए नहीं किया जाता है कि ऐसा करना अच्छा है बल्कि इसलिए किया जाता है कि, इससे योजना बनाने का काम आसान हो जाता है। अत्यधिक मानकीकरण से प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है और उत्पादक अपने उत्पाद की क्वालिटी में सुधार लाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाते। इससे प्रौद्योगिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी रुक जाती है।

v) निवेश द्वारा नियोजन की कठिनाइयों से कोई जितना ही बचना चाहता है, नियोजन उतनी ही महँगी होती चली जाती है। बिना जानकारी के योजना नहीं बन सकती। इस हेतु जनगणनाओं, फार्मों व कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। जितना अच्छा इसे बनाने की कोशिश करते हैं उतने ही अधिक नियोजकों की आवश्यकता होती है। बाज़ार प्रक्रिया इन नियोजकों का स्थान ले सकती है, इससे संभव है ये नियोजक और लाभकारी कामों पर लगाए जा सकते हैं।

अपनी जटिलता के कारण निर्देश द्वारा नियोजन लोकतांत्रिक नियंत्रण कम हो जाता है। यह योजना लोग या पार्लियामेंट नहीं बनाती, सरकारी कर्मचारी बनाते हैं क्योंकि इसमें हज़ारों मेल बिठाने पड़ते हैं। इस संबंध में जितना अधिक निर्देश देगा उतना ही उस पर उसका नियंत्रण कम होता जाता है जब सरकार केवल कुछ बातें करती हैं तब उन पर आसानी से निगाह रख सकती है, लेकिन सरकार यदि सभी कुछ करती है तो उसे स्वयं अपने ऊपर निगाह रखना कठिन हो जाता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इन सबसे यह सीख मिलती है कि जहाँ तक संभव हो बाज़ार स्वतंत्र रहे। सरकार अपने नियोजन उद्देश्य पूरे करने के लिए बाज़ार को प्रभावित करे और बाज़ार उद्यमियों को प्रभावित करेगा। सरकार अपने योजना लक्ष्य निर्देश द्वारा नहीं, बल्कि बाज़ार को प्रभावित करके प्राप्त करे। इस हेतु किसी भी वस्तु या सेवा का उत्पादन उत्साहित या निरुत्साहित करने के लिए कार व आर्थिक सहायता (subsidy) की सहायता ली जा सकती है।

भारत में नियोजन के बारे में प्रश्न यह नहीं है कि योजना हो या न हो, बल्कि यह है कि इसका क्या रूप हो? सरकार बाज़ार प्रक्रिया अपनाए (यानि सांकेतिक नियोजन) या फिर इसे नियंत्रित कर निर्देश द्वारा नियोजन अपनाए। मान लीजिए सरकार औद्योगिक विकास को बढ़ावा देना चाहती है, जिसमें उत्पादन संबंधी निर्णयों पर नियंत्रण की आवश्यकता है। सरकार ऐसा कई प्रकार से कर सकती है। उदाहरणत:

i) उत्पादन संबंधी निर्णयों पर सीधा नियंत्रण रखने हेतु सरकारी निगमें, यानि सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम, स्थापित कर सकती है,

ii) ऐसे कानून बना सकती है जिसमें यह सुनिश्चित हो कि यदि कोई किसी उत्पाद का उत्पादन करना चाहता है तो उसे सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक होगा,

iii) विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन प्रोत्साहित या निरुत्साहित करने हेतु राजकोषीय, मौद्रिक व कर नीतियाँ अपना सकती है।

भारत के संदर्भ में सरकार ने अंतिम विकल्प की बजाय प्रथम दो विकल्पों का अक्सर प्रयोग किया है। औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में बड़े पैमाने पर निवेश भारत में एक मज़बूत औद्योगिक आधार स्थापित हुआ। लेकिन 1960 के दशक के मध्य से लचीलेपन की कमी तथा नौकरशाही द्वारा अनावश्यक हस्तक्षेप ने समस्याएँ खड़ी करनी शुरू कर दीं। इससे 1965-80 की अवधि में औद्योगिक विकास धीमा होने लगा। 1980-90 के दशक में नियोजकों द्वारा अपनाए गए नियंत्रण कमज़ोर पड़ने लगे और वे अब राजकोषीय व मौद्रिक नियोजन का अधिक सहारा लेने लगे।

कृषि क्षेत्र, सांकेतिक नियोजन का एक उदाहरण है। कृषि विकास के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए सरकार ने मूल्य नीति, ऋण नीति व संस्थागत तंत्रों का सहारा लिया। 1970 के दशक के अंत से सारे विश्व में नियोजन प्रक्रिया में भारी परिवर्तन हो रहे हैं। इसे उस समय और बल मिला जब पुराने सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप की अर्थव्यवस्थाएँ ढहने लगीं, जबकि दूसरी ओर पूर्वी और दक्षिण पूर्वी यूरोप की अर्थव्यवस्थाएँ शानदार प्रदर्शन कर रही थी और बाज़ार द्वारा नियोजन पर जोर दे रही थी।

भारत भी जुलाई 1991 से इसी दिशा में चल रहा है। औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली समाप्त कर दी गई है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की सूची बहुत छोटी कर दी गई है। सरकार उन सभी क्षेत्रों से अपने आपको हटा रही है जहाँ उनकी आवश्यकता ही नहीं थी। अब समस्या यह होने लगी है कि प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि से भी सरकार हटने लगी है जहाँ कि वस्तुत: मजबूत सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता है। यह एक अवांछनीय प्रवृत्ति है जो 1990 के दशक से ही नजर आ रही है।

बोध प्रश्न 4

1) आपके विचार में भारतीय अर्थव्यवस्था में नियोजन प्रक्रिया की तीन बड़ी विफलताएँ कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) आपके विचार में भारतीय अर्थव्यवस्था में नियोजन प्रक्रिया की तीन प्रमुख सफलताएँ क्या रही हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) क्या भारत में नियोजन प्रक्रिया के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है? आपके विचार में पिछले कुछ वर्षों में जो परिवर्तन हुआ है वह परिवर्तन सही दिशा में है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारत में एक ही समय पर विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष नियोजन विधियाँ अपनाई गई हैं। कौन से क्षेत्र में मुख्यत: प्रत्यक्ष और कौन से में अप्रत्यक्ष विधि अपनाई गई? संक्षेप में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

7.8 सारांश

भारतीय विकास योजनाओं की समीक्षा से हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

सकल घरेलू उत्पाद के रूप में भारत का समष्टि आर्थिक प्रदर्शन केवल साधारण रहा है। यह ध्यान में रखते हुए कि नियोजन की लगभग सारी अवधि में जनसंख्या 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से बढ़ी है, प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि 2 प्रतिशत प्रतिवर्ष से भी कम रही है।

दूसरे, हालांकि भारत में समय-समय (1965-67, 1972-74, 1979-80 व 1991-94) पर काफी मुद्रास्फीति होती रही है, फिर अंतरराष्ट्रीय स्तर की तुलना में यह मुद्रास्फीति साधारण ही रही है। इस सफलता की पीछे दो प्रमुख कारण हैं। एक तो खाद्यान्न की उत्पादन पर पूरी नियोजन अवधि में 3 प्रतिशत बनी रहीं। दूसरे, घरेलू बचत दर में निरंतर वृद्धि हुई और यह पचास के दशक में 10 प्रतिशत भी जो आज बढ़कर 24 प्रतिशत हो गई, यह एक महत्त्वपूर्ण वृद्धि है।

तीसरे, मानव के रूप में पूँजी निर्माण काफी बढ़ा है। भारत में आज कुशल मज़दूरों का एक बहुत बड़ा आधार है, हालाँकि यह कुशलता विभिन्न क्षेत्रों के बीच अलग-अलग है। अत: यह निष्कर्ष निकालना एक जल्दबाज़ी होगी कि भारतीय नियोजन 'पूरी तरह विफल' या फिर 'पूरी तरह सफल' रही है।

भारत में नियोजन की प्रमुख कमजोरियाँ ये रही हैं :

प्रथम, उत्पादन के बहुत से ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ अकुशलता काफी फैली है, जैसे बिजली उत्पादन, परिवहन, इस्पात, उर्वरक व कुछ ऊँची लागत वाली टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ। कोई ऐसा स्पष्ट कारण नहीं दिखता कि

क्यों बिजली उत्पादन क्षमता का केवल 50 प्रतिशत ही उत्पादन हो रहा है। इस्पात संयंत्रों तथा बिजली संयंत्रों में कुशलता में सुधार लाने की अभी बहुत गुंजाइश है।

दूसरे, भारतीय नियोजन ने अभी भी लोगों की बहुत बड़ी संख्या को गरीबी रेखा के नीचे से नहीं निकाला हैं गरीबी के आँकड़े बताते हैं कि भारत में बड़े स्तर पर गरीबी (केलोरी उपभोग के आधार पर) है।

तीसरे, भारत अपनी जनसंख्या का बड़ा भाग उद्योगों में लगाने में सफल नहीं हो सका है। व्यावसायिक ढाँचा लगभग वही है। ऐसा जनसंख्या वृद्धि व पूँजी प्रधान उद्योगों पर ज़ोर देने के कारण है।

अंत में, विफलता का एक कारण महालनोबिस योजना में भी ढूँढा जा सकता है, जिसमें एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के संदर्भ में नियोजन के सभी तर्कसंगत परिणामों का अंदाजा नहीं लगा पाए। एस. चक्रवर्ती के अनुसार भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने निवेश की चरणबद्धता से संबंधित बहुत से प्रश्नों की अनदेखी की है। इससे भी अधिक 1950 के दशक में जब स्थिति अनुकूल थी भूमि सुधार प्रभावशाली ढंग से लागू नहीं किए जा सके और साथ ही पारस्परिक कृषि का आगत आधार भी नहीं बदला, यानि कुल मिलाकर कृषि परिवर्तन अधूरा ही रहा।

सार यह है कि नियोजन प्रक्रिया सामाजिक आर्थिक बुनियादी सुविधाएँ दिलाने, भारी व आधारभूत उद्योगों के विकास द्वारा औद्योगिक आधार बनाने में सफल रही है, जबकि रोज़गार दिलाने, गरीबी हटाने, आय व सम्पत्ति कुछ हाथों में केन्द्रित होने से रोकने हेतु संस्थानात्मक सुधार लाने में विफल रही है। विकास के लाभ पहले से सम्पन्न वर्ग व शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित रहे हैं। नियोजन की इन मूलभूत विफलताओं के कारण इसकी रणनीति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है। हमें इस तथ्य का सामना करना चाहिए कि हम नियोजन के प्रमुख उद्देश्य प्राप्त नहीं कर पाए हैं। ये उद्देश्य लगभग अभी उतने ही दूर हैं जितने कि नियोजन के प्रारंभ में थे। नियोजन के ये उद्देश्य भारत के सभी लोग स्वीकार करते हैं। ये हैं : गरीबी उन्मूलन सभी के लिए उत्पादक रोज़गार के अवसर, अधिक समतावादी समाज का निर्माण।

7.9 शब्दावली

संतुलित विकास : अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का एक साथ विकास।

पूँजी प्रधान : ऐसे तकनीक जिनमें श्रम की तुलना में पूँजी की अधिक आवश्यकता होती है।

राजकोषीय वर्ष : एक अप्रैल को प्रारंभ होकर अगले वर्ष 31 मार्च को समाप्त होने वाला वर्ष।

राजकोषीय नीति : सरकारी आय-व्यय से सम्बद्ध नीति अर्थव्यवस्था के आवश्यकता के अनुरूप कर एवं व्यय का समायोजना। इस नीति में सरकारी बजट में आने वाली चार बातें शामिल हैं : कराधान व्यय, ऋण और घाटा।

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल : सभी लागतों में एक साथ वृद्धि से उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धि।

निर्बाध अर्थव्यवस्था : एक अर्थव्यवस्था जिसके आर्थिक कार्यों में कोई सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता।

मौद्रिक नीति : मुद्रा पूर्ति के नियंत्रण के बारे में नीति।

सार्वजनिक उपयोगिताएँ : वह उद्यम जो किसी आधारभूत एवं अनिवार्य सेवा प्रदान करती है, जैसे स्थानीय यात्रि परिवहन, गैस, बिजली, सफाई जैसी सेवाएँ।

सार्वजनिक वस्तुएँ : वे वस्तुएँ जिनकी मुख्य विशेषता है उपभोग की अविभाज्यता, यदि कोई सेवा प्रदान की जा रही है तो उससे किसी को वंचित नहीं

किया जा सकता। यह सेवा सबको समान रूप में प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरूप, राष्ट्रीय सुरक्षा, स्वच्छ हवा दूरदर्शन एवं रेडियो प्रसारण।

7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Chakravarty, Sukhamoy, (1987): "*Development Planning: The Indian Experience*", Oxford University Press.

Dutt R. and Sundhram, K.P.M., (2001) : "*Indian Economy*", S. Chand & Co. Ltd. New Delhi, Chapter 8,9,16

Eswaran, Mukesh & Kotwal, Ashok, (1994) : "*Why Poverty Persists in India*", Oxford University Press, New Delhi, Chapter 1, PP. 1-25

Kapila, U. (1996) Edited : "*Indian Economy Since Independence*", 7th Edition, Academic Foundation- TRP, Delhi, Chapter 1-3 PP. 25-45

Vaidyanathan A. (1995) : "*The Indian Economy, Crisis, Responses and Propects*", Orient Longman, New Delhi.

7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) बाज़ार प्रणाली की सीमाएँ

   i) समानता

   ii) सार्वजनिक वस्तुएँ

   iii) बाहरीपन

   iv) प्राकृतिक एकाधिकार

   (और वितरण के लिए भाग 7.2 देखें)

2) प्रत्यक्ष दृष्टिकोण से अभिप्राय सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम द्वारा आर्थिक कार्य का स्वामित्व, जबकि अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण बाज़ार प्रणाली के माध्यम से है। (विवरण हेतु भाग 7.2 देखिए)

3) भाग 7.2 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) राज्य की भूमिका का महत्त्व इस बात से पता चलता है कि बाज़ार प्रक्रिया कुछ मूल सामाजिक उद्देश्यों जैसे प्राथमिक शिक्षा, आधारभूत स्वास्थ्य सुविधाओं आदि को प्राप्त करने में असफल रहती है।

बोध प्रश्न 3

1) ख)

2) ग)

3) ग)

4) ग)

5) भारत में आर्थिक विकास के आधारभूत उद्देश्य और प्रश्न ये रहे हैं : संवृद्धि, अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण आत्म-निर्भरता तथा सामाजिक न्याय (मुख्यत: आर्थिक असमानताओं में कमी व गरीबी उन्मूलन)। (भाग 7.4 को ध्यान से पढ़िए)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 7.6.2 देखिए।

2) उपभाग 7.6.1 देखिए।

3) केन्द्रीय नियोजन में बहुत सी कमियाँ पाई गई हैं। इससे विकेन्द्रित एवं सांकेतिक नियोजन की आवश्यकता महसूस होती है। भारतीय नियोजकों ने इस दिशा में प्रयत्न किए हैं (भाग 7.7 पढ़िए)।

4) भारत में कृषि क्षेत्र में अप्रत्यक्ष जबकि औद्योगिक क्षेत्र में अप्रत्यक्ष नियोजन विधियाँ अपनाई गई। (विवरण हेतु भाग 7.3 व 7.7 पढ़िए)।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 8 प्राकृतिक संसाधन (NATURAL RESOURCES)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 प्राकृतिक संसाधनों की जानकारी

8.2.1 प्राकृतिक संसाधनों का वर्गीकरण

8.3 भूमि एवं मृदा

8.3.1 भारत में भूमि का उपयोग

8.3.2 भूमि-उपयोग की प्रवृत्तियाँ

8.3.3 मिट्टियाँ

8.3.4 भू-क्षरण की समस्या

8.4 जल संसाधन

8.4.1 नदियाँ

8.4.2 अपर्याप्त उपलब्धि की समस्या

8.5 वनीय संसाधन

8.5.1 वर्तमान स्थिति

8.5.2 वनों की अपर्याप्तता एवं कटाई की समस्या

8.5.3 राष्ट्रीय वन नीति, 1952

8.5.4 राष्ट्रीय वन नीति, 1988

8.6 खनिज संसाधन

8.6.1 नई खनिज नीति, 1993

8.6.2 नई आर्थिक नीति एवं निजीकरण

8.7 ऊर्जा संसाधन

8.7.1 वाणिज्यिक संसाधन

8.7.2 गैर-व्यावसायिक ऊर्जा के स्रोत

8.8 सारांश

8.9 शब्दावली

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि:

- देश के भौतिक आयामों जैसे भू-क्षेत्र, इसके उपयोग, उपलब्ध मिट्टी, जल, खनिज आदि की पहचान कर सकें;
- ये कारक संसाधनों के उत्पादन को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इसके बारे में चर्चा कर

- इन संसाधनों की मात्रा और उत्पादकता का स्तर बढ़ाने के लिए उठाए गए कदमों की समीक्षा कर सकें;
- अर्थव्यवस्था में खनिज संसाधनों एवं वनीय संसाधनों की भूमिका बता सकें; और
- ऊर्जा के विभिन्न स्रोतों और उनके सापेक्ष महत्व का वर्णन कर सकें।

8.1 प्रस्तावना

अन्य विकासशील देशों की तरह भारत में जनसंख्या का बड़ा भाग अपनी जीविका के लिए कृषि एवं इसकी सम्बद्ध क्रियाओं पर निर्भर करता है। कृषि एवं सम्बद्ध क्रियाएं प्रत्यक्ष रूप से प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग से जुड़ी होती हैं। भारत में विविध प्रकार के प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं। इनकी सहायता से हम निश्चय ही एक आधुनिक मज़बूत अर्थव्यवस्था के निर्माण में सफल हो सकते हैं।

8.2 प्राकृतिक संसाधनों की जानकारी

अन्य विकासशील देशों की तुलना में हमें अपने प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता के बारे में बेहतर जानकारी उपलब्ध है। पिछले 100 वर्षों या इससे भी अधिक समय से देश के संसाधनों के सर्वेक्षण का काम विशिष्ट संस्थाओं द्वारा निरंतर किया जा रहा है।

पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान, प्राकृतिक संसाधनों के सर्वेक्षण के काम में और तेज़ी लाई गई। पहले से स्थापित **"सर्वे ऑफ इण्डिया" (Survey of India)** और **"जिओलॉजिकल सर्वे आफ इन्डिया" (Geological Survey of India)** आदि संस्थानों का विस्तार किया गया जिससे कि वे अपने कार्य-परिधि में नए कार्यक्रमों को जोड़ सकें। इसके साथ ही अनेक नई संस्थाओं की भी स्थापना की गई और उन्हें उन क्षेत्रों में सर्वेक्षण की जिम्मेदारी सौंपी गई जहाँ पहले इस तरह का काम नहीं हो रहा था। सन 1950 में **"इण्डियन ब्यूरो ऑफ माइन्स" (Indian Bureau of Mines)** की स्थापना की गई। इस संस्था को प्राकृतिक संसाधनों के आर्थिक मूल्यांकन एवं इनके विकास के कार्यक्रम तैयार करने की जिम्मेदारी दी गई। पाँचवे दशक के अंत में **"तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग" (Oil and Natural Gas Commission)** का गठन किया गया। इस संगठन द्वारा पेट्रोलियम संसाधनों की खोज एवं विकास का काम किया जाता है। इस संगठन को असम, गुजरात एवं मुम्बई समुद्र में तेल और गैस की सफल खोज करने का श्रेय प्राप्त है। **"केंद्रीय जल तथा ऊर्जा आयोग" (The Central Water and Power Commission)** का जिसे कि अब दो अलग भागों में विभाजित कर दिया गया है, सन 1945 में गठन किया गया था। जल और ऊर्जा संबंधी संसाधनों का अध्ययन और उनके विकास के लिए कार्यक्रम तैयार करना इस संगठन का कार्य-क्षेत्र रहा। **इण्डियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च (Indian Council of Agricultural Research)** के अधीन **"सोयॅल लैंड यूज़ सर्वे" (Soil Land Use Survey)** की स्थापना की गई है। यह संगठन राज्य स्तर के कृषि विभागों के सहयोग से मिट्टी के बारे में सर्वेक्षणों का आयोजन करता है। प्राकृतिक संसाधनों के मूल्यांकन एवं उपयोग के बारे में वैज्ञानिक शोध एवं अध्ययनों का काम राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं एवं संस्थानों द्वारा किया जाता है।

किंतु अभी अनेक क्षेत्र अछूते पड़े हैं तथा किन्हीं कारणों से वहाँ समुचित सर्वेक्षण नहीं हो पाए हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सर्वेक्षण की आधुनिकतम तकनीकों का प्रयोग किया जाए और उनकी सहायता से अद्यतन जानकारी प्राप्त की जाए। एरियल फोटोग्राफी (aerial photography), ऐरो-मेगनेटिक सर्वे (aero-magnetic survey), रिमोट-सेंसिंग (remote sensing) आदि विकसित तकनीकों की सहायता से दूर-दराज के क्षेत्रों में भी आसानी से सर्वेक्षण का काम पूरा किया जा सकता है। इनके प्रयोग से शीघ्र ही परिणाम भी मिल जाते हैं। अब जब प्राकृतिक संसाधनों के वैज्ञानिक ढंग से समुचित प्रयोग करने की आवश्यकता आ खड़ी हुई है, अद्यतन विकसित तकनीकों के उपयोग से मूल्यवान सहायता मिल सकती है।

8.2.1 प्राकृतिक संसाधनों का वर्गीकरण

प्राकृतिक संसाधनों को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं :

1) पुनरूत्पादनीय संसाधन; तथा

2) गैर-पुनरूत्पादनीय संसाधन।

1) **पुनरूत्पादनीय संसाधन (Reproducible resources)** : पुनरूत्पादनीय संसाधन उन प्राकृतिक पदार्थों की उपलब्धता है जिनमें समय-समय पर स्वतः ही वृद्धि होती है। वृद्धि की यह प्रक्रिया प्राकृतिक देन हो सकती है अथवा इनके लिए मानवीय प्रयास भी किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, नदियों में पानी की मात्रा, भूतल में पानी की मात्रा, वनों के आकार आदि में प्राकृतिक वृद्धि अपेक्षित होती है और थोड़े मानवीय प्रयासों से इस वृद्धि को अनुकूल दिशा में प्रवाहित किया जा सकता है।

2) **गैर-पुनरूत्पादनीय संसाधन (Non-reproducible resources)** : गैर-पुनरूत्पादनीय संसाधन वे पदार्थ हैं जोकि हमें एक पूर्व-निश्चित स्टॉक में उपलब्ध हैं, जैसे - कोयला, कच्चा तेल, लौह चूर्ण, अभ्रक आदि। जैसे-जैसे हम इनका उपयोग करते जाते हैं, इनकी मात्रा कम होती जाती है। अतः इनके उपयोग के बारे में हमें वर्तमान उपभोग और भावी आवश्यकताओं में संतुलन बनाए रखने पर विचार करना होता है। वैसे यह भी होता है कि अनेक बार इनके स्टॉकों की जानकारी ही नहीं होती। अतः इनकी खोज के लिए भी हमें प्रयत्न करने पड़ते हैं।

8.3 भूमि एवं मृदा

उत्तर से दक्षिण की ओर भारत की कुल लम्बाई 3,214 किलोमीटर तथा पूर्व से पश्चिम की ओर 2,933 किलोमीटर है जबकि भारत का कुल भू-क्षेत्र 32,87,782 वर्ग किलोमीटर है। भू-क्षेत्र की दृष्टि से भारत विश्व का सातवाँ सबसे बड़ा देश है। छः बड़े देश क्रमवार ये हैं - रूस, कनाडा, चीन, अमरीका, ब्राज़ील, एवं ऑस्ट्रेलिया। स्पष्टतः भारत एक बड़े आकार का देश है तथा अपनी भौगोलिक स्थिति, आकार एव आर्थिक संसाधनों की सम्पदा के कारण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकने के योग्य है।

8.3.1 भारत में भूमि का उपयोग

देश का कुल भू-क्षेत्र वह उच्च सीमा निर्धारित कर देता है जहाँ तक कि विकास कार्यक्रमों के लिए भूमि की उपलब्धता की अपेक्षा की जा सकती है। विकास कार्यक्रम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, भूमि की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। परिणामस्वरूप भूमि का उपयोग इन उपयोगों की ओर क्रमशः अंतरित (diverted) होता जाता है। सामान्यतः भूमि का उपयोग कृषि-कार्यों से बदलकर गैर-कृषि कार्यों की ओर होने लगता है। इन गैर-कृषि उपयोगों में हम उल्लेख कर सकते हैं; उद्योग, विनिर्माण, व्यापार आदि क्रियाओं का। एक विकासशील श्रम-अतिरेक वाली अर्थव्यवस्था जहाँ कृषि ही प्रमुख जीविका का साधन होती है, भूमि का कृषि-उपयोग से गैर-कृषि उपयोगों में चला जाना अनेक गम्भीर समस्याओं का कारण बन सकता है। ऐसी प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में कृषि पदार्थों, विशेष रूप से खाद्यान्न की कमी की स्थिति आ सकती है। ऐसी परिस्थिति में समस्त विकास-प्रक्रिया ही डगमगा सकती है। भूमि की गैर-कृषि उपयोगों की बढ़ती माँग की परिस्थिति में यह सिफारिश की जाती है कि पहले से बेकार पड़ी अथवा कम उपजाऊ या पथरीली भूमि में सुधार के कार्य किए जाने चाहिए और ऐसी भूमि को कृषि एवं गैर-कृषि उपयोगों के योग्य बनाया जाना चाहिए। इस संदर्भ में उपलब्ध भूमि का प्रयोगवार विवरण अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाता है।

भारत में उपलब्ध भूमि के उपयोग के बारे में जानकारी तालिका-1 में प्रस्तुत की गई है:

तालिका-1 : भारत में भूमि का उपयोग

(मिलियन हैक्टेयर)

1.	गैर-कृषि कार्यों के अंतर्गत भू-क्षेत्र	21.2
2.	बंजर एवं कृषि-अयोग्य भू-क्षेत्र	19.7
3.	निवल खेती के अंतर्गत भू-क्षेत्र	142.2
4.	अच्छे बने वनीय क्षेत्र	38.6
5.	पेड़ों और पेड़-झुंडों के अंतर्गत क्षेत्र	3.7
6.	कम घने वनीय क्षेत्र	29.3
7.	कृषि-योग्य किंतु व्यर्थ रखा क्षेत्र	15.0
8.	वर्तमान में खाली रखा भू-क्षेत्र	13.8
9.	पहले से ही खाली रखा क्षेत्र	9.6
10.	स्थायी चरागाह	11.8
	कुल*	**304.9**

*इतने कुल भौगोलिक क्षेत्रफल के उपयोग के बारे में ही आंकड़े उपलब्ध हैं।

तालिका-1 से यह स्पष्ट जानकारी मिल जाती है कि भावी विकास-क्रम में कितनी मात्रा में भूमि की उपलब्धता की अपेक्षा की जानी चाहिए। इसके उपयोग के आधार पर उपलब्ध भू-क्षेत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (1) कृषि-योग्य भूमि; तथा (2) गैर-कृषि योग्य भूमि।

MADHYAM IAS

कृषि-योग्य भूमि (Agricultural Land) : इस वर्ग में हम उन भूमि-खण्डों को शामिल करते हैं जिनपर वर्तमान में खेती-बाड़ी हो रही है तथा जो खाली पड़े हैं एवं जिनमें पेड़ आदि लगाए गए हैं। इस समय भारत के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का लगभग 50 प्रतिशत भाग कृषि-योग्य भूमि है। बड़े आकार या मध्य आकार वाले सभी देशों की तुलना में भारत में कृषि-योग्य भूमि का अनुपात सर्वाधिक है। यह निम्न बातों का प्रतीक है :

(i) मैदानी इलाकों एवं समतल भूमि (plains) के विस्तृत स्वरूप आदि भौतिक कारकों के अनुकूल प्रभाव, एवं

(ii) कृषि-योग्य भूमि पर खेती-बाड़ी का विस्तार आदि।

यद्यपि कृषि-योग्य भूमि आकार में बहुत विस्तृत है, लेकिन यदि हम इसकी तुलना जनसंख्या से करते हैं तो हम पाते हैं कि प्रति व्यक्ति भूमि की उपलब्धता जो मात्र 0.20 हैक्टेयर ही अनुमानित है, बहुत कम है। खेती-बाड़ी के अंतर्गत कुल भू-क्षेत्र के 15 प्रतिशत भाग पर साल में एक से अधिक फसलों का उत्पादन किया जाता है। लगभग एक-चौथाई भाग को ही सिंचाई की सेवाएँ उपलब्ध हैं।

(2) **गैर-कृषि योग्य भूमि (Non-agricultural land)** : इस वर्ग में वनों, चरागाहों, शहरों, गाँवों, सड़कों, रेल आदि गैर-कृषि कार्यों में प्रयुक्त भूमि को शामिल किया जाता है। इसके अलावा, पहाड़ी एवं मरुस्थली ज़मीन तथा वह सब क्षेत्र जो खेती-बाड़ी के योग्य नहीं है और व्यर्थ ही पड़े हैं, को इसी वर्ग में शामिल किया जाता है।

8.3.2 भूमि-उपयोग की प्रवृत्तियाँ (Trends in Land Utilisation)

योजनावधि में भूमि के उपयोग के बारे में जो प्रवृत्तियाँ सामने आई हैं, उनमें निम्न दो प्रमुख हैं:

i) व्यर्थ पड़ी और खाली पड़ी भूमि की बड़ी मात्रा को उपयोग-योग्य बनाया गया है, तथा

ii) एक से अधिक फसल के लिए प्रयुक्त भूमि की मात्रा में भारी वृद्धि हुई है।

पाँचवें दशक के दौरान ज़मींदारी और जागीरदारी प्रणालियों की समाप्ति जैसे भू-सुधार कार्यक्रम लागू होने के बाद व्यर्थ और खाली पड़ी भूमि को पुनः उपयोग के योग्य बनाने के काम ने गति पकड़ी। इस काम में भूतपूर्व ज़मींदारों ने तथा काश्तकारों ने रुचि दिखलाई। ज़मींदार, जो भूमि उनके पास व्यक्तिगत खेती-बाड़ी के लिए बच गई थी, उसका भरसक प्रयोग अपने लाभ के लिए उठाना चाहते थे और इसी तरह से जिन काश्तकारों को भूमि के अधिकार प्राप्त हुए वे भी इस काम में जुट गए। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में सरकार ने भी ऋणों एवं अनुदानों के रूप में पर्याप्त वित्तीय सहायता प्रदान की।

योजनावधि में एक से अधिक फसल की खेती में प्रयुक्त भू-क्षेत्र में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए कि (i) भविष्य में गैर-कृषि उपयोगों में भूमि की माँग बढ़ती ही रहेगी; और (ii) कृषि-योग्य भूमि की मात्रा सरलता से नहीं बढ़ाई जा सकती, हमें इस ओर ग़ौर करना होगा कि आधुनिक तकनीक के प्रयोग से हम उपलब्ध भूमि पर साल में एक से अधिक फसलों का उत्पादन करें। अनुभव यह है कि तीन या चार फसलें भी आसानी से पैदा की जा सकती हैं बशर्ते कि इसके लिए पर्याप्त सुविधाएँ उपलब्ध हों।

भविष्यवक्ताओं के अनुसार सन 2000 ई. में हमें उच्च अनुमानों के आधार पर 46.2 करोड़ हेक्टेयर भूमि की या निम्न अनुमानों के आधार पर 42.7 करोड़ हेक्टेयर भूमि की आवश्यकता होगी। किसी भी परिस्थिति में हम यह तो जानते हैं कि देश का कुल क्षेत्र पूर्व-निश्चित और सीमित है तथा इसमें किसी तरह की वृद्धि संभव नहीं है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उपलब्ध भूमि क्षेत्र का विभिन्न वैकल्पिक प्रयोगों में सुचिंतित तरीके से बँटवारा किया जाए। जहाँ तक संभव हो, गैर-कृषि कार्यों के लिए गैर-कृषि योग्य भूमि का ही इस्तेमाल किया जाना चाहिए। ऐसा करने से न केवल खेती-बाड़ी के लिए पर्याप्त मात्रा में भूमि बची रहेगी बल्कि संतुलित क्षेत्रीय विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करना संभव हो पाएगा।

8.3.3 मृदा अथवा मिट्टियाँ (Soils)

MADHYAM IAS

किसी देश का फसलों का प्रतिरूप (crop pattern) बहुत कुछ उसके भौतिक पर्यावरण एवं मिट्टियों के स्वरूप से प्रभावित होता है। **इण्डियन काउंसिल ऑफ एग्रीकल्चरल रिसर्च (ICAR)** द्वारा भारत में उपलब्ध मिट्टियों को आठ भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (i) दोमट मिट्टी (ii) विभिन्न प्रकार की काली मिट्टी (iii) लाल मिट्टी (iv) पहाड़ी मिट्टी (v) वनीय मिट्टी (vi) शुष्क मिट्टी (vii) क्षारीय एवं लवणीय मिट्टी, तथा (viii) सेन्द्रिय (peaty and organic) मिट्टी।

इन सभी वर्गों में पहले चार वर्ग - अपने महत्व के क्रम में दोमट, काली, लाल एवं पहाड़ी - प्रमुख हैं। दोमट मिट्टी अधिक गर्म, गहरी और उपजाऊ होती है। वैसे तो रबी और खरीफ की सभी फसलें इसमें पैदा होती हैं, लेकिन गेहूं, चावल, गन्ना, तम्बाकू और पटसन की खेती के लिए यह मिट्टी विशेष रूप से उपयुक्त होती है। काली मिट्टी भी बहुत उपजाऊ है। इसमें अधिक समय तक नमी बनाए रखने की शक्ति होती है। यही कारण है कि कपास की खेती के लिए यह बहुत उपयुक्त मानी जाती है। इसी तरह, लाल मिट्टी में भी विभिन्न प्रकार की फसलों जैसे कपास, चावल, गेहूं, ज्वार, बाजरा आदि की खेती की जाती है। पहाड़ी मिट्टी चाय और मोटे अनाजों की खेती के अनुकूल होती है।

संक्षेप में, देश में विभिन्न प्रकार की मिट्टी मिलती है। सभी प्रकार की मिट्टी सभी प्रदेशों में प्रायः बँटी है। ये मिट्टियाँ बहुत उपजाऊ हैं और ऊंची उत्पादकता के योग्य हैं। इनकी सहायता से देश में प्रायः सभी तरह की फसलों की खेती संभव होती है।

8.3.4 भू-क्षरण की समस्या (Problem of Soil Erosion)

सदियों से निरंतर शोषित होने के परिणामस्वरूप और ठीक देख-रेख के अभाव में भारत की मिट्टियों की कुशलता और उपजाऊपन गिरता रहा है। इसके साथ ही देश के समक्ष भू-क्षरण की भारी समस्या प्रकट हो गई है।

भू-क्षरण से तात्पर्य भूमि के ऊपरी भाग के कटाव से है। भूमि का यह भाग सबसे अधिक उपजाऊ होता है। जब तेज़ी से वर्षा होती है और पानी की चोट से भूमि की ऊपरी परत में कटाव आ जाते हैं तो बहाव के साथ मिट्टी बहने लगती है। भू-क्षरण अनेक कारकों का संयुक्त परिणाम है, जैसे वन-कटाई, चरागाहों की अत्यधिक चराही, स्थानांतरित खेती-बाड़ी, खेती-बाड़ी के गलत तरीकों का प्रयोग, सड़क निर्माण आदि।

भारत में भू-क्षरण की समस्या काफी बड़े क्षेत्र में फैली हुई है। एक मोटे अनुमान के अनुसार देश में लगभग 8 करोड़ हेक्टेयर भू-भाग थोड़ा-बहुत इस समस्या से प्रभावित है।

पंचवर्षीय योजनाओं में भू-क्षरण को रोकने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। किंतु इस कार्यक्रम के अनुपालन में अनेक कठिनाइयाँ आई हैं :

i) सामुदायिक भूमि के उचित प्रबंधन की कठिनाई, अनुभवी और प्रशिक्षित कार्यकर्ताओं की कमी

ii) केंद्र एवं राज्य स्तर पर समुचित संगठन का अभाव

iii) भू-संरक्षण कानून में ढील

iv) अंतर्विभागीय तालमेल तथा सामाजिक योगदान की अनुपलब्धि आदि।

बोध प्रश्न 1

1) भूमि-उपयोग से सम्बद्ध आँकड़ों की उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) एक से अधिक फसल की खेती वाले क्षेत्र से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में मिलने वाली विभिन्न मिट्टियों के नाम बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

4) विभिन्न मिट्टियों की उपलब्धता की क्या भूमिका है?

.....

.....

.....

.....

.....

8.4 जल संसाधन (WATER RESOURCES)

भारतीय अर्थव्यवस्था में जल ऊर्जा-आपूर्ति का एक प्रमुख स्रोत है। अर्थव्यवस्था में कुल निर्मित ऊर्जा का लगभग एक-चौथाई भाग जल परियोजनाओं से ही प्राप्त होता है। जल का प्रयोग कृषि में सिंचाई के वास्ते भी किया जाता है। चूँकि भारतीय अर्थव्यवस्था की उन्नति कृषि-क्षेत्र के साथ पूरी तरह से जुड़ी हुई है, अतः जल की पर्याप्त उपलब्धि आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को उचित दिशा-बोध करवा सकती है।

भारत में जल प्रमुख रूप से दो स्रोतों से प्राप्त होता है। ये हैं - (i) तल से प्राप्त जल (surface water); और (ii) भूमिगत जल (ground water)। पहले रूप में हमें पानी नदियों, झीलों आदि स्रोतों से प्राप्त होता है जबकि भूमिगत जल की आपूर्ति कुएं, झरने आदि स्रोतों से होती है। इसके अलावा भी जल के अन्य स्रोत हैं जिनका कि हम उपयोग नहीं कर पाए हैं, जैसे खारीय झीलें (saline lakes), खारीय झरने, बर्फ आदि। तल के ऊपर जल वाले स्रोतों की वर्षा द्वारा पुनः वृष्टि (replenishment) होती रहती है।

जल के उपरोक्त दोनों स्रोतों में तल के ऊपर के स्रोत अधिक महत्वपूर्ण हैं और भावी आर्थिक विकास में इन्हें महत्वपूर्ण भूमिका निभानी है। भू-तल से हमें नदियों द्वारा प्रमुखतः जल की उपलब्धि होती है।

8.4.1 नदियाँ

भारत की नदियों को चार भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं -

i) हिमालय की नदियाँ,

ii) दक्षिणी नदियाँ

iii) तटीय क्षेत्रों की छोटी नदियाँ; एवं

iv) आंतरिक नल-निर्माण प्रणाली से बनी नदियाँ।

हिमालय की नदियों को प्रायः पर्वतीय बर्फ (snow) से पानी मिलता है। अतः इनका प्रवाह वर्ष-पर्यन्त बना रहता है। मानसून के समय इन नदियों में पानी का प्रवाह बहुत तेज़ बढ़ जाता है जिनके परिणामस्वरूप बाढ़ आदि का प्रकोप सहन करना पड़ता है। दक्षिणी नदियों के लिए वर्षा ही पानी का प्रमुख स्रोत है। परिणामस्वरूप, इन नदियों के जल के स्तर में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। तटीय नदियों और विशेष रूप से पश्चिमी तटों की नदियों की लम्बाई छोटी होती है और इनका प्रभाव-क्षेत्र सीमित है। इन नदियों में वर्ष भर पानी का प्रवाह नहीं बना रहता बल्कि यह काफी समय सूखी ही रहती हैं। आंतरिक जल निकासी प्रणाली से उत्पन्न नदियाँ प्रमुख रूप से पश्चिम राजस्थान में पाई जाती हैं। ये प्रायः सभी मौसमी स्वरूप की ही होती हैं।

गंगा नदी देश की सबसे लम्बी नदी है। इसका प्रभाव-क्षेत्र देश के कुल क्षेत्रफल के एक-चौथाई के बराबर है। इस क्रम में दूसरे स्थान पर गोदावरी नदी है। यह देश के कुल क्षेत्रफल के लगभग 10 प्रतिशत भाग को प्रभावित करती है। दो अन्य नदियाँ जो आकार में तो अपेक्षाकृत छोटी हैं

किंतु कृषि की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं - उत्तरी भारत की "तवी" नदी तथा तथा दक्षिण भारत की "पेन्नर" (Panner) नदी है।

8.4.2 अपर्याप्त उपलब्धि की समस्या (Problem of Inadequate Availability)

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत में बहुत बड़ी मात्रा में जल के अनेक स्रोत उपलब्ध हैं। किंतु बड़ी जनसंख्या के संदर्भ में जल-संसाधनों की उपलब्धि हमारी आवश्यकताओं की तुलना में कहीं कम है। उदाहरणस्वरूप, एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2025 ई. में हमें खेती-बाड़ी के लिए सकल 210 मिलियन हेक्टेयर भूमि की आवश्यकता होगी। किंतु इसके विपरीत, 2025 ई. में हम केवल 113 मिलियन हेक्टेयर भूमि पर ही सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध करवा सकेंगे। अर्थात केवल 52 प्रतिशत भूमि में ही सिंचाई की सुविधा उपलब्ध होगी और शेष भाग इससे वंचित रहेगा। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि देश में जल की आवश्यकताएँ निरंतर बढ़ रही हैं तथा इनकी आपूर्ति उस अनुपात में नहीं बढ़ाई जा सकती, यह आवश्यक है कि हम उपलब्ध जल-संसाधनों के उपयोग के लिए समुचित योजना तैयार करें और जहाँ तक सम्भव हो, इन संसाधनों को अपव्यय होने से बचाया जाए।

8.5 वनीय संसाधन (FOREST RESOURCES)

आर्थिक विकास में वनीय संसाधन बहु-आयामीय भूमिका निभाते हैं। वन उद्योगों, रक्षा, संचार, घरेलू तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के लिए जरूरी कच्चा माल प्रदान करते हैं। निर्यातों में वनों का योगदान है तथा प्राथमिक, विनिर्माण एवं सेवा क्षेत्र में रोजगार प्रदान करने में वन महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वनों से किसानों को लकड़ी, चारा, ईंधन आदि मिलते हैं। वन्य जीवों के पालन तथा उर्वरता बनाए रखने में वनों की उपयोगिता को भी स्वीकृत किया जाता है। वनों के अनगिनत लाभ हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

1) पेड़ों के अनेक विविध प्रयोग संभव हैं। इसलिए इन्हें बहुत महत्व का प्राकृतिक संसाधन समझा जाता है। पेड़ प्रकाश-संश्लेषण (photo-synthesis) क्रिया द्वारा सौर शक्ति को विभिन्न परोक्ष प्रकार की शक्तियों में बदल देते हैं जैसे खाद्यान्न, ईंधन, तेल और तेल उत्पाद, उद्योगों के लिए कच्चा माल आदि। इन सभी का प्रयोग किसी न किसी रूप में हम सब करते हैं।

2) पेड़ों और झाड़ियों के मिश्रित झुंड से वर्षा आकर्षित होती है। ये झुंड भू-क्षरण को नियंत्रित रखते हैं तथा मिट्टी और पर्यावरण दोनों में जल-वाष्प बनाए रखने में सिद्ध होते हैं। इस क्रिया द्वारा रेगिस्तान की चाल पर काबू पाया जा सकता है। खाद्यान्न एवं कृषि संस्था की ट्रॉपिकल क्षेत्रों के वन संसाधनों के बारे में रिपोर्ट में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वन संसाधन इन क्षेत्रों में वन्य-जीव, मिट्टी, जल तथा जलवायु पर अनुकूल और गहरा प्रभाव डालते हैं।

3) समाज का गरीब वर्ग अनेक तरीकों से वनों द्वारा लाभान्वित होता है। वस्तुतः वह अपनी जीविका के लिए इन्हीं पर निर्भर रहता है। वनों से उसे ईंधन प्राप्त होता है। इसी प्रकार इमारती सुविधाओं के लिए इमारती लकड़ी भी वनों द्वारा ही प्राप्त होती है। आहार के वास्ते वनीय पक्षियों और पशुओं का शिकार किया जाता है, आदि।

4) वन शुद्ध ऑक्सीज़न गैस की आपूर्ति करते हैं जोकि स्वच्छ पर्यावरण की एक अनिवार्य शर्त है।

5) उपरोक्त सबके अलावा, वनों के अनेक परोक्ष लाभ भी हैं। उपलब्ध अनुमानों के अनुसार वनों पर किए गए प्रत्यक्ष निवेश से प्राप्त प्रतिफल अनेक अन्य निवेशों के प्रतिफलों से कहीं अधिक पाए गए। यह सिद्ध किया जा चुका है कि यदि उप-हिमालय क्षेत्र में एक खण्ड भूमि पर साल वन लगाए जाएँ तो इनसे प्रति वर्ष प्रतिवृक्ष 4,500 रुपए की आय प्राप्त हो सकती

है जबकि किसी अन्य फसल की खेती से प्रतिवृक्ष 2,500 रुपए आय की ही अपेक्षा की जा सकती है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

6) वन रोज़गार सृजन के भी महत्वपूर्ण साधन हैं। सन 1976 में राष्ट्रीय कृषि आयोग ने यह अनुमान लगाया था कि यदि इनके द्वारा सिफारिश किए गए कार्यक्रम को लागू किया जाए तो वनों में 150 लाख पुरुष-दिनों या 25 लाख पुरुष-वर्षों के लिए अतिरिक्त रोज़गार के अवसरों का निर्माण किया जा सकता है। इसके अलावा, वनों द्वारा परोक्ष रोज़गार के अवसरों का भी निर्माण होता है। सबसे बड़े महत्व की बात है कि रोज़गार के ये अवसर पहाड़ी इलाकों और ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ इनकी सबसे अधिक आवश्यकता है, निर्मित होंगे।

संक्षेप में, वन विभिन्न आयामों में व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन पर गहरी छाप छोड़ते हैं। यही कारण है कि वनीय संसाधनों को अति-महत्व के संसाधन समझा जाता है।

8.5.1 वर्तमान स्थिति (Present Position)

भारत में वनों के अंतर्गत लगभग 752.9 लाख हेक्टेयर क्षेत्रफल है जो देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का 19 प्रतिशत भाग है। इनमें से 389 लाख हेक्टेयर उपयोग के लिए उपलब्ध है जोकि कुल वन-क्षेत्र का लगभग 52.0 प्रतिशत है। इसके अलावा, 160 लाख हेक्टेयर अतिरिक्त क्षेत्रफल (21.5 प्रतिशत) उपयोग के योग्य तैयार किया जा सकता है। इन वनों से अनेक प्रकार के प्रमुख और गौण पदार्थ प्राप्त होते हैं। प्रमुख उत्पादों में ईंधन, व्यावसायिक एवं औद्योगिक लकड़ी को शामिल किया जाता है। गौण उत्पाद की श्रेणी में विविध वस्तुएँ शामिल की जा सकती हैं जैसे गोंद, औषधियाँ, राल आदि। वर्ष 1997-98 में जिसके बारे में नवीनतम आंकड़े उपलब्ध हैं, वनों से 157 लाख घन मीटर (M3) लकड़ी प्राप्त हुई जिससे राज्य वन विभागों को 353 करोड़ रुपए रॉयल्टी के रूप में प्राप्त हुए। इसके अलावा, राज्य वन विभागों को 113.2 करोड़ रूपए गौण पदार्थों के उत्पादन पर रॉयल्टी के रूप में प्राप्त हुए।

8.5.2 वनों की अपर्याप्त एवं कटाई की समस्या (Problem of Inadequacy and Deforestation)

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

भारत में वनों का क्षेत्रफल न केवल अन्य देशों जैसे जापान (67%), स्वीडन (68%), कनाडा (49%), ब्राजील (65%) तथा यू.एस.ए. (32%) की तुलना में कम है अपितु राष्ट्रीय वन नीति, 1952 द्वारा निर्धारित क्षेत्रफल जोकि कुल क्षेत्र का 33% से भी कम है। भारत में प्रति व्यक्ति वन भूमि का क्षेत्र 0.08 हेक्टेयर है जबकि विश्व में यह औसत क्षेत्र 2.08 हेक्टेयर है।

बढ़ती हुई जनसंख्या एवं आर्थिक वृद्धि के परिप्रेक्ष्य में चिंता का विषय यह है कि वन संपदा पर दबाव निरंतर बढ़ रहा है। उत्तरोत्तर वर्षों में भूमि को खाली करने और इस प्रकार उसे गैर वन क्षेत्रों में बदलने हेतु वृक्षों की कटाई बढ़ी है। इस प्रक्रिया को गैर-वनीकरण (deforestation) कहते हैं और इसके कारण मनुष्य की आवश्यकता तथा उसका लालच दोनों ही हैं। इस सबका कुल परिणाम यह रहा है कि पंचवर्षीय योजनाओं में सघन प्रयासों के बावजूद वनों के अंतर्गत क्षेत्रफल की वृद्धि संभव नहीं हो पाई है। साथ ही, भारतीय वनों की उत्पादकता (प्रति हेक्टेयर 1.2 क्यूबिक मीटर) विश्व औसत उत्पादकता (प्रति हेक्टेयर 2.1 क्यूबिक मीटर) की तुलना में काफी कम है।

भविष्य में वन उत्पादों की माँग में तेजी से बढ़ने की संभावना है। औद्योगिक तथा ईंधन के लिए धरेलू माँग 1985 में क्रमशः 35.18 लाख घनफुट मीटर तथा 202 लाख घनफुट मीटर थी। राष्ट्रीय कृषि आयोग के अनुसार, सन 2000 तक औद्योगिक क्षेत्र के लिए लकड़ी की माँग 64.45 लाख घनफुट मीटर हो जाएगी। यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय वन नीति की विस्तृत समीक्षा की जाय।

भारत की वन-संबंधी स्थिति अनेक दृष्टियों से संतोषजनक नहीं कही जा सकती। इसके निम्नलिखित कारण हैं :

1) आवश्यकता की तुलना में वनों का अभाव। विशेषज्ञों के अनुसार, भारत जैसे देश में जहाँ की जलवायु गर्म है, वर्षा अनिश्चित है और अर्थव्यवस्था कृषि-प्रधान है, कुल भूमि के लगभग

एक-तिहाई भाग में वन होने चाहिए। लेकिन हमारे यहाँ यह अनुपात 19 प्रतिशत के लगभग है। इस कमी का मोटा अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि प्रति व्यक्ति वन का क्षेत्रफल रूस में 3.5 हेक्टेयर और अमेरिका में 1.8 हेक्टेयर है जबकि भारत में यह मात्र 0.2 प्रतिशत है।

2) देश में वन-क्षेत्र का वितरण बहुत असमान है।

3) देश के कुछ वन बहुत ऊंचे-ऊंचे पहाड़ों पर स्थित होने के कारण मनुष्य की पहुँच से बाहर हैं।

4) वैज्ञानिक प्रबंध एवं आधुनिक तौर-तरीकों के अभाव में हमारे वनों की उत्पादकता भी अपेक्षाकृत बहुत कम है।

वनों में अपर्याप्त उपलब्धि का सबसे भयंकर परिणाम प्रत्यक्ष रूप से वनों को ही तथा परोक्ष रूप से समस्त समुदाय को झेलने पड़ते हैं। चूँकि वनीय उत्पादों की माँग एवं वनीय भूमि की गैर-वनीय उपयोगों में माँग निरंतर बढ़ रही है, परिणामस्वरूप वनीय क्षेत्रों की मनमानी ढंग से सफाई की जाती रही है। वनीय क्षेत्र का अनुपात बराबर कम होता जा रहा है। इस परिवेश में लकड़ी तथा अन्य वन्य-जन्य पदार्थों की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए आयोजनबद्ध तरीके से प्रयास करने होंगे। ऐसी वन-नीति का निर्माण करना होगा जोकि अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुकूल हो।

8.5.3 राष्ट्रीय वन नीति, 1952

सबसे पहले सन 1952 में सरकार द्वारा राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा की गई। सन 1988 में इस नीति में कुछ संशोधन किए गए।

1952 की वन नीति में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया गया था :

1) भू-उपयोग की एक संतुलित एवं पूरक व्यवस्था का निर्माण करना

2) पहाड़ी क्षेत्रों के कटाव को रोकना, बड़ी नदियों के पेड़-रहित किनारों पर मृदा-कटाव को रोकना तथा तटीय क्षेत्रों में भूमि-क्षरण को रोकने की आवश्यकता,

3) जहाँ कहीं संभव बन पाए, पेड़ों का लगाया जाना

4) पशुओं के लिए चरागाह और खेती के औज़ारों तथा ईंधन की आपूर्ति के लिए लकड़ी की समुचित व्यवस्था करना,

5) उद्योग, सुरक्षा, परिवहन आदि के लिए लकड़ी तथा अन्य वन-पदार्थों की नियमित आपूर्ति की व्यवस्था करना,

6) राष्ट्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए यथासंभव वनों के प्रयोग से आगम प्राप्त करने पर बल देना।

उपरोक्त आधार पर तैयार की गई नीति के अनुसार पंचवर्षीय योजनाओं में वन-विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। किंतु, हम वन-सम्पदा को नष्ट होने से बचाने में असमर्थ रहे। बड़े पैमाने पर पेड़ों को काटा जाता रहा है तथा दूसरी तरह से भी वनों को नुकसान पहुँचाया जाता रहा है। वास्तविकता यह है कि वनों के अंतर्गत क्षेत्रफल में कमी ही होती रही है, किसी तरह का सुधार नहीं। इस बात को ध्यान में रखकर सरकार ने दिसम्बर, 1988 में नई वन विकास नीति की घोषणा की।

8.5.4 राष्ट्रीय वन नीति, 1988

नई वन नीति 1952 की नीति से निम्न रूपों में अलग है :

1) नई वन नीति में वनों के संरक्षण पर तथा जनजातियों और ग्रामवासियों की जरूरतों को पूरा करने पर अधिक बल दिया गया है। 1952 की नीति में इसके विपरीत नए वनों के लगाए

MADHYAM IAS

इसी प्रकार, पुरानी नीति में राष्ट्रीय आवश्यकताओं को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई थी तथा इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया था कि जहाँ कहीं राष्ट्रीय हितों और स्थानीय महत्व के हितों में विरोध प्रकट होगा राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दी जाएगी। किंतु, अब इस बात का एहसास किया जा रहा है कि वनों को तब तक संरक्षण नहीं प्रदान किया जा सकता जब तक कि स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वैकल्पिक प्रबंध नहीं कर लिए जाते। नई नीति में इस बात के प्रावधान किए गए हैं। यह स्पष्ट किया गया है कि वन-सम्पदा के प्रथम अधिकारी स्थानीय लोग एवं आदिवासी होंगे तथा वे अपनी लकड़ी, कच्चे माल, पशुओं के लिए चारे आदि के लिए बिना रोक-टोक के वनों में जा सकेंगे। यह भी स्पष्ट किया गया है कि पेड़ों के लगाने, संरक्षण एवं काटने आदि के काम में स्थानीय लोगों से अधिक योगदान की अपेक्षा की जाएगी। इस वास्ते सहकारी समितियों तथा अन्य सरकारी संस्थाओं की स्थापना की जाएगी। ये संस्थाएं वर्तमान ठेकेदारी प्रणाली की जगह लेंगी।

2) वन नीति, 1988 का अन्य महत्वपूर्ण पहलू कच्चे माल की आपूर्ति से संबध रखता है। यह समझा गया है कि ऐसे उद्योगों के बेरोक-टोक विकास से जोकि अपने कच्चे माल की आपूर्ति के लिए वनों पर ही निर्भर रहते हैं वन-सम्पदा की बहुत हानि हुई है। अब नई नीति में निम्न बातों पर ज़ोर दिया गया है :

   i) लघु एवं कुटीर उद्योगों को छोड़कर किसी ऐसे वन-आधारित उद्योग की स्थापना की अनुमति नहीं दी जाएगी जिसने अपने कच्चे माल की आपूर्ति के लिए अलग से समुचित प्रबंध न किए हों।

   ii) जहाँ तक संभव हो, वन-आधारित उद्योग स्वयं ही अपने उपयोग के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन करेंगे।

   iii) वनीय क्षेत्रों में बागान आदि की स्थापना की स्वीकृति नहीं दी जाएगी।

   iv) वन उत्पादों की आपूर्ति रियायती दरों पर नहीं की जाएगी।

स्पष्ट रूप से नई वन नीति का प्रमुख उद्देश्य वन सम्पदा को संरक्षण प्रदान करना तथा आगे नष्ट होने से बचाना है।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

बोध प्रश्न 2

1) भारत में जल संसाधनों के प्रमुख स्रोतों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में नदियों की प्रमुख प्रणालियाँ कौन-कौन सी हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) अर्थव्यवस्था के लिए वनों के प्रमुख लाभों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) सन 1952 और 1988 की वन नीति में क्या प्रमुख भेद हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

8.6 खनिज संसाधन (MINERAL RESOURCES)

आधुनिक विकसित अर्थव्यवस्था की आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिए विविध खनिज पदार्थों की उपलब्धता आवश्यक है। **जियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया (Geological Survey of India)** के अनुसार भारत में इस समय 50 तरह के महत्वपूर्ण खनिज 400 प्रमुख स्थलों पर उपलब्ध हैं। उपलब्ध खनिजों को हम चार प्रमुख वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :

i) ऐसे खनिज जिनका भारत सबसे बड़ा निर्यातक देश है, जैसे लौह-चूर्ण (iron-ore) एवं अभ्रक।

ii) ऐसे खनिज जिनका बड़ी मात्रा में निर्यात किया जाता है, जैसे मैगनीज-चूर्ण, बॉक्साइट, जिप्सिम आदि।

iii) ऐसे खनिज जिनकी आपूर्ति देश की आवश्यकताओं के अनुरूप पर्याप्त है, जैसे कोयला, सोडियम साल्ट, शीश-रेत आदि।

iv) ऐसे खनिज जिनकी घरेलू आवश्यकताओं की आपूर्ति आयात द्वारा की जाती है जैसे ताँबा, निक्कल, पैट्रोलियम, सिक्का, जिंक, टिन, प्लेटिनम, ग्रेफाइट आदि।

इनके स्वरूप तथा अंतिम उपयोग के आधार पर खनिज पदार्थों को निम्न तीन श्रेणियों में भी वर्गीकृत किया जा सकता है :

i) ईंधन जैसे कोयला, लिग्नाइट, प्राकृतिक गैस, पेट्रोलियम आदि।

ii) धातु-खनिज जैसे बॉक्साइड, लौह-चूर्ण आदि।

iii) गैर-धातु जैसे अभ्रक, चूना, जिप्सम, ग्रेफाइट आदि।

योजनावधि में खनिज उत्पादन के मूल्य में उत्साहवर्धक वृद्धि हुई है, जैसा कि तालिका-2 में प्रस्तुत आंकड़ों से स्पष्ट है :

MADHYAM IAS

तालिका-2 : भारत में खनिज उत्पादन का मूल्य

(करोड़ रुपए)

वर्ष	उत्पादन-मूल्य
1951	83.30
1961	81.20
1971	502.91
1975	1227.40
1980	2310.00
1985	9122.00
1990	16456.00
1992-93	20180.00
1993-94	24554.00
1994-95	27940.00
1995-96	28350.00
1996-97	31185.00

स्रोत : India Annual Reference Year Book.

तालिका-2 से स्पष्ट है कि योजनावधि के दौरान खनिज उत्पादन में कई गुना वृद्धि हो चुकी है। विभिन्न खनिज उत्पादों में उत्पादन-मूल्य की दृष्टि से ईंधन खनिज सर्वोपरि महत्व के उत्पाद हैं। कुल खनिज उत्पादन का लगभग 85 प्रतिशत भाग हमें ईंधन के रूप में प्राप्त होता है। ईंधन वर्ग के उत्पादों में कोयले एवं पेट्रोलियम का ऊंचा स्थान है। केवल कोयले के उत्पादन द्वारा ही समस्त खनिज उत्पादन के 55 प्रतिशत भाग की आपूर्ति की जाती है। धातु खनिजों एवं गैर-धातु खनिजों में प्रत्येक वर्ग का कुल खनिज उत्पादन में योगदान 6 से 7 प्रतिशत रहा है।

खनिज संसाधन अर्थव्यवस्था के तीव्र औद्योगीकरण का आधार प्रस्तुत करते हैं। नए आर्थिक कार्यक्रम के अंतर्गत बाज़ार की शक्तियों की भूमिका बढ़ने के साथ-साथ औद्योगीकरण की संभावनाएँ भी बढ़ गई हैं। परिणामस्वरूप, अर्थव्यवस्था में खनिज-पदार्थों की माँग में भी वृद्धि अपेक्षित है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनके प्रयोग के बारे में सुविचारित नीति अपनाई जाए। इस तरह के नीति-निर्माण में निम्न पहलुओं पर विशेष ध्यान देना होगा :

1) खनिज संसाधनों की उपलब्धता में भारी क्षेत्रीय विषमताएँ पाई जाती हैं। उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में लगभग किसी तरह के खनिज नहीं पाए जाते। दूसरी ओर, दक्षिणी बिहार और उड़ीसा एवं उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों में खनिजों के भारी भण्डार हैं। इसी तरह, असम एवं राजस्थान में भी खनिजों के भण्डार पाए जाते हैं।

2) देश में कच्चे तेल या पेट्रोलियम आदि खनिजों का अभाव है। इन पदार्थों की घरेलू माँग के बड़े हिस्से की आपूर्ति इनके आयात द्वारा की जाती है। चूँकि इन खनिजों की अंतर्राष्ट्रीय बाज़ारों में कीमतें निरंतर बढ़ती जा रही हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि एक ओर तो इनके बढ़ते प्रयोग पर रोक लगाई जाए तथा साथ ही इनके घरेलू रिज़र्वों की खोज के काम को तेज़ किया जाए।

3) हमारे यहाँ कुछ ऐसे खनिज भी हैं जिनके निर्यात से हम भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा कमा पाते हैं। इस पहलू की ओर भी हमें ध्यान देना चाहिए।

4) वित्तीय साधनों के अभाव में खनन उद्योग में विकसित आधुनिक तकनीकों का प्रयोग संभव नहीं हो पा रहा है।

8.6.1 नई खनिज नीति, 1993 (New Mineral Policy)

राष्ट्रीय खनिज नीति की घोषणा 9 अगस्त, 1990 को की गई थी। 5 मार्च, 1993 को इस नीति में कुछ संशोधनों की घोषणा की गई। इन संशोधनों के साथ खनिज नीति के समक्ष निम्न उद्देश्य रखे गए थे :

i) खनिजों के संरक्षण एवं विकास में संतुलन बनाए रखना,

ii) अर्थव्यवस्था की समस्त आवश्यकताओं की आपूर्ति के वास्ते खनिजों की पूर्ति की निरंतरता को बनाए रखने के लिए उचित अनुबंधों (linkage) की व्यवस्था,

iii) खनन विकास के वनों, पर्यावरण एवं प्राकृतिक संतुलन पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों पर नियंत्रण रखने के प्रयास करना तथा इसके लिए आवश्यक सुरक्षा के उपाय अपनाना,

iv) खनिज संसाधनों के भावी विकास के वास्ते योजनाबद्ध कार्यक्रमों में इन पदार्थों की वर्तमान और भविष्य, दोनों ही आवश्यकताओं पर पूरा ध्यान देना।

v) खनन उद्योग के प्रशिक्षित कर्मचारियों की आपूर्ति के लिए मानवीय संसाधन विकास कार्यक्रमों का आयोजन करना जिससे कि शिक्षा एवं प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जा सके।

विशेषताएँ : खनिज नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1) खनिज तेल एवं यूरेनियम को छोड़कर बाकी समस्त खनन उद्योग में निजी पूँजी एवं उपक्रम के प्रवेश को छूट दी गई है। पहले जो 13 खनिज सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित रख छोड़े गए थे उनमें अब निजी उपक्रमी प्रवेश पा सकेंगे। ये खनिज हैं - लौह-चूर्ण, मैगनीज, क्रोम, सल्फर, सोना, हीरा, ताँबा, सिक्का, जस्ता, मोलिबडेनम, टेनस्टेन, निकल एवं प्लेटिनम।

2) विदेशी कम्पनियों द्वारा निवेश की जाने वाली राशि की ऊपरी सीमा अब बढा दी गई है। वे अब इस क्षेत्र में काम कर रही भारतीय कम्पनियों की कुल अंश पूँजी में 50 प्रतिशत तक का योगदान दे सकती हैं।

3) वे कम्पनियाँ जो अपने उत्पादन के लिए निजी खानों का विकास करना चाहती हैं, उन्हें भी विदेशी कम्पनियों से सहयोग प्राप्त करने की छूट दे दी गई है।

4) वनीय क्षेत्रों में खनन की खुली छूट नहीं दी जाएगी। ऐसे क्षेत्रों में खनन की स्वीकृति केवल उसी परिस्थिति में दी जाएगी जबकि कम्पनियाँ भूमि की पुनर्स्थापना की जिम्मेदारी लेंगी।

5) जब तक पर्यावरण संबंधी स्वीकृतियाँ प्राप्त नहीं कर ली जाएंगी, किसी भी खनन की परियोजना को मंजूरी नहीं दी जाएगी।

6) भारत सागर में सतह की खनन विधियों को स्वीकृति नहीं दी जाएगी।

8.6.2 नई आर्थिक नीति एवं निजीकरण (New Economic Policy and Privatisation)

आर्थिक उदारीकरण के आने के साथ खनन के सभी क्षेत्रों में घरेलू एवं विदेशी निजी पूँजी के खुले प्रवेश की माँग निरंतर बढ़ती जा रही थी। किंतु Mines and Minerals Regulation and Development Act में विदेशी नागरिकों और कम्पनियों की मुक्त प्रवेश पर अनेक तरह की रूकावटें लगा रखी थीं। दूसरी ओर, ऊर्जा निर्माण में सहयोग देने वाली कम्पनियाँ बराबर इस बात की माँग करती आ रही थीं कि जब तक वे अपनी कोयले की खानों का निर्माण नहीं कर लेतीं, कोयले की निरंतर आपूर्ति के बारे में वे आश्वस्त नहीं हो सकतीं। इन माँगों पर विचार करने के बाद 25 जनवरी, 1994 को जारी एक अध्यादेश के अनुसार, इस अधिनियम (Act) में आवश्यक

संशोधन कर दिए गए हैं और अब निजी घरेलू एवं विदेशी पूँजी तथा उपक्रम खनन उद्योग में प्रवेश करने के लिए मुक्त हैं।

बोध प्रश्न 3

निम्नलिखित प्रश्नों में सही उत्तर के सामने सही (√) का निशान लगाएँ :

1) भारत के पास इस खनिज के निर्यात-योग्य अतिरेक उपलब्ध है :

   क) अभ्रक

   ख) कच्चा तेल

   ग) सोना

   घ) ताँबा

2) भारत इस खनिज में आत्मनिर्भर है :

   क) पेट्रोलियम

   ख) मर्करी

   ग) बॉक्साइट

   घ) टिन

3) इनमें से विचित्र (odd) को अलग निकालें :

   क) बॉक्साइट

   ख) लौह-चूर्ण

   ग) मैगनीज

   घ) अभ्रक

4) इनमें से विचित्र (odd) को अलग निकालें :

   क) जिप्सम

   ख) ताँबा

   ग) लौह-चूर्ण

   घ) शीश-रेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.7 ऊर्जा संसाधन (ENERGY RESOURCES)

आर्थिक विकास प्रक्रिया में ऊर्जा संसाधन सर्वोपरि महत्व की भूमिका निभाते हैं। एक ओर तो ऊर्जा की सहायता से समस्त विकास प्रक्रिया को चलाए रखना संभव हो पाता है और दूसरी ओर जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की आपूर्ति भी ऊर्जा द्वारा ही संभव होती है। वस्तुतः यदि हम विचार करें तो हम पाते हैं कि यह ऊर्जा की उपलब्धि ही है जो एक विकसित अर्थव्यवस्था को एक निर्वाहशील (subsistence) अर्थव्यवस्था से भिन्न करती है। औसत एक अमरीकी नागरिक द्वारा एक औसतन भारतीय नागरिक की तुलना में 40 गुना ऊर्जा का उपयोग किया जाता है।

भारत में ऊर्जा का निर्माण विभिन्न साधनों द्वारा किया जाता है। इन साधनों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :

i) व्यावसायिक साधन जैसे उष्मीय ऊर्जा, जल से प्राप्त ऊर्जा, तेल से प्राप्त शक्ति, गैस, परमाणु आदि; एवं

ii) गैर-व्यावसायिक साधन जैसे लकड़ी, गोबर आदि।

स्पष्ट रूप से इन दोनों वर्गों में से व्यावसायिक साधनों की भूमिका अपेक्षाकृत बहुत अधिक है।

8.7.1 वाणिज्यिक संसाधन (Sources of Commercial Energy)

क) **कोयला (Coal)**

कोयला एक प्राकृतिक देन है तथा भारत में बिजली उत्पादन का प्रमुख साधन है। वर्तमान में भारत में बिजली का जितना उत्पादन होता है उसका लगभग 74 प्रतिशत भाग कोयले से चलने वाले बिजली-घरों से मिलता है। सरकार की नीति भी यही है कि जहाँ तक संभव होगा, कोयले को ही बिजली उत्पादन के प्रमुख स्रोत के रूप में प्रयोग में लाया जाता रहेगा।

भारत में कोयले उत्पादन का क्षेत्र बंगाल के पश्चिमी भाग से आरंभ होते हुए, पश्चिमी बिहार, उड़ीसा, उत्तर-पूर्वी मध्य प्रदेश से होता हुआ आंध्र प्रदेश के पूर्वी भाग तक फैल जाता है। इसके अलावा, असम में भी कहीं-कहीं कोयले का उत्पादन होता है। देश में उपलब्ध कोयले के भण्डारों के बारे में लगाए अनुमानों से यह स्पष्ट होता है कि भारत में लगभग 193.8 बिलियन टन कोयले के रिज़र्व उपलब्ध हैं। इनमें से लगभग 27 प्रतिशत पत्थरी कोयला (Coking variety) है और शेष 73 प्रतिशत गैर-पत्थरी कोयला (Non-coking variety) के रिजर्व हैं। सीमित उपलब्धता के कारण पत्थरी कोयले का प्रयोग धातु उद्योगों तक ही सीमित रखा गया है जबकि गैर-पत्थरी कोयले का प्रयोग बिजली उत्पादन में किया जाता है।

इसके अलावा, भारत में भूरे कोयले (lignite) और प्रमूल कोयले (tertiary) के भण्डार भी उपलब्ध हैं। भूरे कोयले के लगभग 21000 मिलियन टन के भण्डार उपलब्ध हैं जबकि प्रमूल कोयले के 900 मिलियन टन के भण्डार उपलब्ध हैं।

देश में सन 1950-51 में कोयले का कुल उत्पादन 33.9 मिलियन टन के लगभग था। वर्ष 1997-98 में यह बढ़कर 295.9 मिलियन टन हो चुका है। भारत में कोयले की आवश्यकता के बारे में यह अनुमान लगाए जा रहे हैं कि सन 2000 ई. में हमें 400 मिलियन टन कोयला उपलब्ध करवाना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि आने वाले वर्षों में कोयले की आपूर्ति बढ़ाने के लिए हमें भरसक प्रयास करने होंगे।

कोयला उद्योग के विकास के रास्ते में सबसे बड़ी अड़चन परिवहन सेवाओं का अभाव है। कोयले का लगभग सारा आवागमन रेल द्वारा किया जा रहा है। रेल डिब्बों की अनुपलब्धि की परिस्थिति में कोयला-खानों के पास कोयले के भण्डार जमा होने लग जाते हैं, जबकि उन क्षेत्रों और उद्योगों में जहाँ कोयले की खपत की जाएगी, कोयला उपलब्ध नहीं हो पाता है। सरकार को इस ओर प्राथमिकता के आधार पर ध्यान देना होगा।

ख) **तेल (पेट्रोलियम) (Oil, Petroleum)**

बीसवीं शताब्दी के दूसरे आधे भाग को हम तेल के युग की संज्ञा दे सकते हैं। सन 1950 में समस्त विश्व द्वारा मात्र 650 मिलियन टन तेल का उपयोग किया गया जबकि सन 1973 में ही यह मात्रा बढ़कर 3000 मिलियन टन हो चुकी थी। तेल उपभोग की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति ने तेल-उत्पादक देशों को तेल की कीमतों में चौंका देने वाली वृद्धि करने के अवसर प्रदान किए। परिणामस्वरूप, विश्व-भर में तेल का संकट उत्पन्न हो गया। भारत भी इस संकटीय स्थिति का एक हिस्सा था। इस संकट का एक सुखद परिणाम यह हुआ कि तेल के भण्डारों की खोज के काम को गति मिली और हम इस काम में एक-साथ जुट गए। तेल की खोज भू-तल के नीचे और समुद्रीय क्षेत्रों, दोनों में की जाने लगी।

रिज़र्व एवं उत्पादन (Reserves and Production) : उपलब्ध अनुमानों के अनुसार, भारत के पास तेल के 993.0 मिलियन टन रिज़र्व उपलब्ध हैं। ये रिज़र्व असम, गुजरात, बम्बई समुद्रीय

क्षेत्र, अरूणाचल प्रदेश एवं तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों में पाए जाते हैं। बम्बई के समुद्रीय क्षेत्रों से देश में कुल तेल उत्पादन का लगभग 70 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है। इसी तरह, तेल की सफल खोज के परिणामस्वरूप तेल उत्पादन के नऐ स्रोतों के बारे में भी जानकारी मिली है।

देश में आठवें दशक के गैरान तेल के उत्पादन में उत्साहवर्धक वृद्धि हो रही थी, किंतु नवें दशक के प्रारंभिक चरण में तेल उत्पादन में गिरावट आई। हालाँकि वर्ष 1993-94 के गैरान तेल उत्पादन में सुधार हुआ है, किंतु पुनः इसमें गिरावट आई (जैसा कि तालिका-3 में दर्शाया गया है) :

तालिका-3 : कच्चे तेल का उत्पादन

(मिलियन टन)

वर्ष	उत्पादन की मात्रा
1960-70	4516.8
1979-80	1170.0
1984-85	29000.0
1989-90	34090.0
1993-94	32200.0
1994-95	32200.0
1995-96	35200.0
1996-97	32900.0
1997-98	33900.0

MAAPHYAM IAS
way to achieve your dream

ग) प्राकृतिक गैस (Natural Gas)

प्राकृतिक गैस को कार्बनों के युवराज (Prince of Carbons) की उपाधि भी दी जाती है। प्राकृतिक गैस पेट्रोलियम उत्पादन के साथ ही प्राप्त हो सकती है, अन्यथा इसका उत्पादन अलग से भी किया जा सकता है। जब भूमिगत तेल को बाहर सींचा जाता है तो इसी प्रक्रिया में गैस भी उठती है। इस गैस को समेटा जाता है और उपयोग के योग्य बनाया जाता है। स्पष्ट रूप से कच्चे तेल के उत्पादन की मात्रा पर ही गैस के उत्पादन की मात्रा भी निर्भर रहेगी। इसके विपरीत, जब गैस का उत्पादन अलग से किया जाता है तो इसके उत्पादन की मात्रा को भी स्वतंत्र रूप से निर्धारित किया जा सकता है।

ऊर्जा के साधन के रूप में गैस में सुविधा एवं कुशलता के गुण पाए जाते हैं। प्राकृतिक गैस प्राकृतिक पर्यावरण के भी अनुकूल होती है।

प्राकृतिक गैस का घरेलू एवं औद्योगिक, दोनों ही क्षेत्रों में प्रयोग किया जाता है। उर्वरक एवं पेट्रो-रसायन (petrochemical) उद्योग गैस के प्रमुख उपभोक्ता माने जाते हैं। हालांकि अतीत में गैस का प्रयोग केवल इन्हीं दो उद्योगों तक आरक्षित कर दिया गया था किंतु इधर पिछले कुछ वर्षों के दौरान गैस की आपूर्ति एवं माँग में हुए भारी परिवर्तनों के कारण परिस्थितियाँ बदल चुकी हैं।

उत्पादन एवं उपभोग (Production and Consumption)

सन 1955 में **तेल और प्राकृतिक गैस आयोग (ONGC)** की स्थापना के बाद राष्ट्रीय स्तर पर गैस की खोज का काम आरंभ किया गया। देश के विभिन्न भागों में गैस के भारी रिज़र्वों के बारे में जानकारी मिल चुकी है। विशेष रूप से असम, बम्बई के समुद्रीय क्षेत्र, दक्षिण के कुछ भाग, कृष्णा-गोदावरी तटीय क्षेत्र, जैसलमेर, त्रिपुरा, बंगाल आदि इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। गैस के

वर्तमान रिज़र्व 1154 मिलियन टन (तेल के बराबर) अनुमानित हैं। अतीत में गैस के उत्पादन में धीमी वृद्धि ही हो पाई। 1974-75 में जहाँ 2.1 बिलियन घन मीटर गैस का उत्पादन किया गया, वर्ष 1980-81 में इसकी मात्रा केवल 1.8 बिलियन घन मीटर ही थी। किंतु, इसके बाद से गैस के उत्पादन एवं उपभोग में भारी वृद्धि हुई है। वर्ष 1997-98 में गैस का कुल उत्पादन 24.80 बिलियन टन हुआ।

अर्थव्यवस्था में गैस के बढ़ते उपयोग को देखते हुए सरकार ने **गैस ऑथरिटी ऑफ इण्डिया** - गैल (Gas Authority of India Limited) की स्थापना की है। इस संगठन को गैस के उत्पादन, परिवहन एवं बाज़ार में बिक्री की जिम्मेदारी सौंपी गई है। गेल ने देशव्यापी सबसे बड़ी पाइपलाइन जिसे एच बी जे परियोजना कहते हैं, को 1700 करोड़ रुपए की लागत से पूरा किया, जो तीन गैस आधारित उर्वरक संयंत्र पाइप लाइनों के साथ ही क्रियाशील है।

घ) हाइड्रो-पॉवर (Hydro-power)

देश में बिजली-उत्पादन के क्षेत्र में हाइड्रो-पॉवर की महत्वपूर्ण भूमिका है। कुल बिजली-उत्पादन में इस साधन द्वारा 20 प्रतिशत का योगदान रहा है। 1953-59 की अवधि में **सेण्ट्रल वाटर एण्ड पॉवर कमीशन** द्वारा देश में उपलब्ध हाइड्रो-पॉवर संसाधनों का एक सर्वेक्षण किया गया था। इस सर्वेक्षण से पता चला है कि देश में इस समय 25.26 बिलियन किलोवाट क्षमता के अर्थपूर्ण उपयोग-योग्य हाइड्रो-पॉवर संसाधन उपलब्ध हैं जिनके द्वारा 221 बिलियन किलोवाट बिजली का प्रत्येक वर्ष निर्माण किया जा सकता है। वर्तमान में, इन संसाधनों द्वारा लगभग 72.6 बिलियन किलोवाट बिजली का उत्पादन किया जाता है।

इधर, पिछले कुछ वर्षों में हुए तकनीकी सुधार बिजली-उत्पादन के बारे में उपलब्ध नई जानकारी तथा बिजली के वैकल्पिक स्रोतों से उत्पादन-लागत तेज़ी से बढ़ती जा रही है। इससे निकट भविष्य में हाइड्रो-पॉवर संसाधन के महत्व में बहुत अधिक विस्तार हो जाने की संभावनाएँ बन आई हैं। इस वास्ते इन संसाधनों के समुचित विकास के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम तैयार करने होंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

च) नए स्रोत (New Sources)

ऊर्जा के नए स्रोतों में हम परमाणु ऊर्जा, गोबर गैस, वायु-ऊर्जा, जिथर्मल ऊर्जा आदि का उल्लेख कर सकते हैं। भारत में सन 1969 में परमाणु ऊर्जा का कार्यक्रम आरंभ किया गया। इसके बाद की अवधि में भारत परमाणु द्वारा ऊर्जा प्राप्त करने में पूरी तरह सक्षम हो गया है। वे सब योग्यताएँ एवं उपकरण हमारे यहाँ उपलब्ध हैं जिनका कि परमाणु-ऊर्जा में प्रयोग किया जाता है। परमाणु-ऊर्जा की उत्पादन क्षमता कोयले द्वारा ऊर्जा की उत्पादन-क्षमता से कहीं अधिक है।

सन 1962 में सबसे पहली बार गोबर गैस प्लाण्ट का निर्माण किया गया। वर्ष 1974-75 के बाद से इस कार्यक्रम के विस्तार पर बहुत ध्यान दिया गया। इस समय, भारत में लगभग 17 लाख गोबर-गैस प्लाण्ट काम कर रहे हैं।

सौर ऊर्जा का विविध उपयोगों जैसे पानी गर्म करने, पानी शुद्ध करने जैसे कार्यों में प्रयोग किया जा रहा है। इसी प्रकार, वायु पम्पसैट तथा पवन कृषि फार्म परियोजनाएँ, देश में ऊर्जा संकट के परिप्रेक्ष्य में अधिक प्रोत्साहित किए जा रहे हैं। इसी प्रकार, अन्य पूरक विकल्प भी तलाशे जा रहे हैं। वैकल्पिक साधनों को खोजने की प्रवृत्ति जितनी तेज होगी, भारत में ऊर्जा की स्थिति उतनी ही अधिक बेहतर होगी।

8.7.2 गैर-व्यावसायिक ऊर्जा के स्रोत (Sources of Non-commercial Energy)

ऊर्जा के गैर-व्यावसायिक स्रोतों में हम (i) जंगली लकड़ी, (ii) कृषि के बेकार पदार्थ; तथा (iii) गोबर को शामिल करते हैं। ऊर्जा नीति के विशेषज्ञ दल के अनुमानों के अनुसार, कुल गैर-व्यावसायिक ऊर्जा के उत्पादन से इन स्रोतों का योगदान क्रमशः 65 प्रतिशत, 15 प्रतिशत और 20 प्रतिशत रहा है। कुल गैर-व्यावसायिक ऊर्जा उत्पादन के लगभग 82 प्रतिशत भाग का उपयोग घरेलू क्षेत्र में कर लिया जाता है। ग्रामीण क्षेत्रों में कुल घरेलू उपभोग में 80 प्रतिशत ऊर्जा इन स्रोतों से प्राप्त होती है जबकि शहरी क्षेत्रों में यह अनुपात 51 प्रतिशत के लगभग है।

सन 2000 ई. के बारे में उपलब्ध अनुमानों से यह पता चलता है कि ईंधन लकड़ी की माँग 111 मिलियन टन से 173 मिलियन टन के बीच रहेगी। वर्तमान में ईंधन-लकड़ी की आपूर्ति 50 से 63 मिलियन टन के बीच है। स्पष्ट रूप से देश में ईंधन लकड़ी का अभाव है। इस अभाव का सबसे ज्यादा बोझ गरीब वर्ग को सहन करना पड़ता है।

बोध प्रश्न 4

1) भारत में व्यावसायिक ऊर्जा के तीन स्रोतों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में गैर-व्यावसायिक ऊर्जा के तीन स्रोतों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित में सही कथन चुनिए :

क) भारत कच्चे तेल के उत्पादन में आत्मनिर्भर है।

ख) भारत में पेट्रोलियम पदार्थों का उत्पादन नहीं किया जाता है।

ग) प्राकृतिक गैस को हाइड्रो-कार्बनों के युवराज के उपाधि से आभूषित किया जाता है।

घ) भारत में सौर-ऊर्जा गैर-व्यावसायिक ऊर्जा का प्रमुख साधन है।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

8.8 सारांश

इस इकाई में हमने भारत में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भारत में विविध प्राकृतिक संसाधन पाए जाते हैं। किंतु इन संसाधनों की आपूर्ति के बारे में हमें दो बातों पर विशेष ध्यान देना होगा : (1) क्या उपलब्ध संसाधन हमारी विकास-आवश्यकताओं के संदर्भ में पर्याप्त हैं; और (2) हम उपलब्ध संसाधनों में से कितने संसाधनों का कुशल उपयोग करने में सक्षम हैं। इस दृष्टिकोण से हमारे संसाधन हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम हैं। इसलिए हमें तत्काल ही कुछ कदम उठाने होंगे। सबसे पहले तो हमें संसाधनों की खोज का काम जारी रखना होगा जिससे कि हम अपने संसाधनों की उपलब्धि के बारे में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकें। दूसरा, उपलब्ध संसाधनों के समुचित कौशल उपयोग के प्रयास करने होंगे। इस वास्ते हमें बेहतर प्रौद्योगिकी, उप-उत्पादों के प्रयोग की योजना, संसाधनों के बहु-उद्देशीय उपयोगों की संभावना आदि पर विचार करना होगा। तीसरा, हमें ऐसे कदम उठाने होंगे कि संसाधनों के उपलब्ध स्टॉकों का लम्बी अवधि तक उपयोग संभव बन पाए। अंत में, संसाधनों के समुचित प्रयोग के वास्ते प्रभावपूर्ण संस्थागत ढाँचे की व्यवस्था करनी होगी।

चूँकि आर्थिक विकास में प्राकृतिक संसाधनों को अहम भूमिका निभानी होती है, अतः उपरोक्त सभी बातों की ओर हम तटस्थ भाव से नहीं देखते रह सकते। हमें शीघ्र ही समुचित नीति का निर्माण करना होगा।

8.9 शब्दावली

एक-फसलीय क्षेत्र : वह क्षेत्र जहाँ एक वर्ष में एक ही फसल की खेती की जाती है।

निवल बोया गया क्षेत्र : एक वर्ष में खेती के अंतर्गत क्षेत्र।

निजीकरण : वह प्रक्रिया जिसके द्वारा निजी पूँजी एवं उपक्रम को आर्थिक क्रियाकलापों में प्रवेश करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है।

प्राकृतिक संसाधन : भूमि के ऊपर या भूमि के नीचे उपलब्ध वे सभी प्राकृतिक पदार्थ जिनको श्रम की सहायता से उपभोग-योग्य बनाया जाता है।

बहु-फसलीय क्षेत्र : वह क्षेत्र जहाँ एक वर्ष के दौरान एक से अधिक फसलों का उत्पादन किया जाता है।

भूमिगत जल : नदियों, झीलों आदि स्रोतों से प्राप्त जल।

भूमितल जल : कुएं, झरने आदि स्रोतों से प्राप्त जल।

सकल बोया गया क्षेत्र : निवल बोया गया क्षेत्र और वह क्षेत्र जिस पर एक से अधिक फसलों की खेती की गई हो।

सामाजिक वानिकी : समुदाय की आवश्यकताओं के अनुसार वनों की कटाई एवं नए वनों की वृद्धि।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Ashish Bose (ed) : Population in India's Development 1947-2000

Planning Commission : Approach to the Ninth Five Year Plan

Government of India : Report of the National Commission on Agriculture

Government of India : Economic Survey (2000)

World Bank : Toward an Environmental Strategy for Asia (1993)

I.C. Dhingra : The Indian Economy, Environment and Policy (2001)

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 8.3.1 देखें

2) उप-भाग 8.3.2 देखें

3) उप-भाग 8.3.3 देखें

4) उप-भाग 8.3.4 देखें

बोध प्रश्न 2

1) भाग 8.4 की प्रस्तावना पढ़िए।

2) उप-भाग 8.4.1 देखें

3) भाग 8.5 में से चार कारक बताइए।

4) उप-भाग 8.5.3 देखें

बोध प्रश्न 3

1) क)

2) स)

3) छ) बाकी सब धातु खनिज हैं, केवल अभ्रक गैर-धातु खनिज है।

4) ख) बाकी सब खनिजों में भारत आत्मनिर्भर है जबकि ताँबे का आयात किया जाता है।

बोध प्रश्न 4

1) क) कोयला (ख) तेल, एवं (ग) प्राकृतिक गैस

2) क) ईंधन लकड़ी (ख) कृषि के बेकार पदार्थ, एवं (ग) गोबर

3) ग)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 9 जनांकिकीय विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 भारत में जीवन–मरण आंकड़े (Vital Statistics)

9.3 आर्थिक विकास में जनसंख्या की भूमिका

- 9.3.1 जनसंख्या वृद्धि के आर्थिक विकास पर प्रभाव
- 9.3.2 आर्थिक विकास के जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव

9.4 जनसंख्या वृद्धि में प्रवृत्ति

- 9.4.1 जनसंख्या वृद्धि का विस्तार
- 9.4.2 जनांकिकीय परिवर्तन के तीन चरण
- 9.4.3 राज्यों के बीच अंतर

9.5 ग्रामीण–शहरी वितरण तथा जनसंख्या वृद्धि–दर

- 9.4.1 शहरीकरण प्रक्रिया

9.6 लिंग व आयु संरचना

- 9.6.1 आयु संरचना
- 9.6.2 लिंग अनुपात

9.7 जनसंख्या वृद्धि की गत्यात्मकता

- 9.7.1 जनन क्षमता (fertility) के माप
- 9.7.2 ऊँची जन्मदर के कारण
- 9.7.3 मृत्युदर के माप
- 9.7.4 प्रवसन

9.8 ऊँची जनसंख्या वृद्धि–दर के प्रतिकूल प्रभाव

9.9 भारत की जनसंख्या नीति

- 9.9.1 नैदानिक अभिगम (clinical approach)
- 9.9.2 परिवार कल्याण दृष्टिकोण
- 9.9.3 राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000
- 9.9.4 जनसंख्या नीति का मूल्यांकन

9.10 सारांश

9.11 शब्दावली

9.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAABHYAM IAS "way to achieve your dream"

9.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप:

- आर्थिक विकास में जनसंख्या की भूमिका को बता सकेंगे;
- भारत में जनसंख्या वृद्धि की प्रवृत्तियों को जान सकेंगे;

- लिंग एव आयु के आधार पर जनसंख्या की विशेषताओं को स्पष्ट कर सकेंगे;
- भारत में जनसंख्या वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या कर सकेंगे; और
- भारत में जनसंख्या नीति का वर्णन कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना (INTRODUCTION)

एक बहुत बड़ी सीमा तक किसी भी अर्थव्यवस्था का विकास वहाँ उपलब्ध प्राकृतिक एवं मानव संसाधनों की उपलब्धि पर निर्भर करता है। पिछली इकाई में हमने भारत के प्राकृतिक साधनों की चर्चा की थी। इस इकाई में हम देश के आर्थिक विकास में एक संसाधन या आगत के रूप में मानव संसाधन की चर्चा करेंगे। आपने इस बात पर ध्यान दिया होगा कि जनसंख्या दो भूमिकाएँ अदा करती है। प्रथम, जनसंख्या वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में श्रम के रूप में एक महत्त्वपूर्ण आगत है। दूसरे, उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं की यह अंतिम उपभोक्ता है।

अर्थव्यवस्था का विकास मानव संसाधन अर्थात् इसकी जनसंख्या की गुणवत्ता पर निर्भर करता है। जनसंख्या का आकार, इसकी वृद्धि–दर तथा संरचना, प्रवसन (migration), लोगों का जीवन स्तर आदि कुछ ऐसे कारक हैं जो देश के विकास प्रतिमान (pattern) को प्रभावित करते हैं।

इस इकाई में हम भारतीय संदर्भ में उपरोक्त बातों पर प्रकाश डालेंगे। लेकिन इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, भारत में जीवन–मरण आंकड़ों (vital Statistics) की उपलब्धता पर एक नज़र डालें।

9.2 भारत में जीवन-मरण आंकड़ें (VITAL STATISTICS IN INDIA)

MAADHYAM IAS

जीवन–मरण आंकड़ों से अभिप्राय जन्म और मृत्यु के आंकड़ों से है। भारत की जनसंख्या की विशेषताओं का अध्ययन करने के लिए इनके बारे में सही–सही आंकड़े मिलना अत्यंत आवश्यक है। भारत में इन आंकड़ों के दो महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। एक भारत की जनगणना (**Population Census of India**) जो कि प्रति दस वर्ष की जाती है। दूसरा, जीवन–मरण पंजीकरण प्रणाली (**Vital Registration System**) जिसमें प्रत्येक जन्म व मृत्यु का रिकार्ड रखा जाता है।

भारत में जनगणना का प्रारंभ सन् 1872 में हुआ जब देश के विभिन्न भागों का जनगणना की गई और सभी परिणामों को एक जगह इकट्ठा किया गया। इसके बाद से 1881 से लेकर अब तक हर दस वर्ष में पूरी और एक साथ जनगणना की जाती है। 2001 में हुई जनगणना भारत की चौदहवीं जनगणना है और आज़ादी के बाद की छठवीं। यह जनगणना काफी व्यापक होती है। जनगणना में सारे देश की जनसंख्या के बारे में आर्थिक व सामाजिक सूचनाएँ इकट्ठी की जाती हैं। यह जनगणना एक स्थाई जनगणना संगठन करता है। परिणाम सैंकड़ों तालिकाओं में संक्षिप्त किए जाते हैं और बहुत से खण्डों में छापे जाते हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए आंकड़ों का यह एक महत्त्वपूर्ण स्रोत होता है। लेकिन इसकी एक सीमा भी है। दो जनगणनाओं के बीच के वर्षों के लिए इसमें आंकड़ें उपलब्ध नहीं होते।

जीवन–मरण पंजीकरण प्रणाली आंकड़ों का एक दूसरा स्रोत है। आप इस बात को जानते होंगे कि परिवार में प्रत्येक जन्म और प्रत्येक मृत्यु का पंजीकरण रजिस्ट्रार के दफ्तर में करवाना हर नागरिक के लिए आवश्यक होता है। लेकिन फिर भी बहुत सी मौतें और जन्म दर्ज नहीं कराए जाते क्योंकि कुछ लोग इसका महत्त्व नहीं समझते। अतः पंजीकरण प्रणाली के माध्यम से प्राप्त आंकड़े अधूरे होते हैं।

राज्य तथा राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर जन्मदर और मृत्युदर के विश्वसनीय अनुमान प्राप्त कराने हेतु भारत के महापंजीकार (Registrar General of India) ने 1964-65 में कुछ राज्यों में प्रतिदर्श पंजीकरण प्रणाली योजना (Sample Registration System Scheme) शुरू की। 1969-70 तक यह योजना सभी राज्यों में लागू कर दी गई। इस योजना के अधीन जनसंख्या के एक नमूने (जनगणना की तरह पूरी जनसंख्या नहीं) का सतत आधार पर सर्वेक्षण किया जाता है। ऐसे प्राप्त आंकड़े जनसंख्या के भविष्य में आकार, वितरण, वृद्धि तथा स्वरूप के अनुमान लगाने में बहुत सहायक होते हैं।

9.3 आर्थिक विकास में जनसंख्या की भूमिका

जनसंख्या की वृद्धि दर व संरचना तथा अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के बीच एक गहरा संबंध होता है। यह संबंध दो तरफा है। इसका अर्थ यह है कि जनसंख्या की वृद्धि दर आर्थिक विकास पर प्रभाव डालती है और साथ ही आर्थिक विकास जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव डालता है।

9.3.1 जनसंख्या वृद्धि के आर्थिक विकास पर प्रभाव

जनसंख्या श्रम के रूप में एक महत्त्वपूर्ण आगत है। जितनी अधिक जनसंख्या होती है, उतनी ही बड़ी ही श्रम शक्ति भी। व्यष्टिगत (Micro) अर्थशास्त्र में हमने जाना है कि यदि श्रम की सीमांत उत्पादिता धनात्मक (positive) हो तो जैसे–जैसे श्रम आगत का स्तर बढ़ता है, वैसे–वैसे उत्पादन का स्तर भी बढ़ता है। लेकिन घटते प्रतिफल के नियम के कारण श्रम की सीमांत उत्पादिता एक सीमा के पश्चात् ऋणात्मक (negative) हो सकती है। ऐसी स्थिति में अधिक श्रम लगाने से उत्पादन गिरने लगता है। अतः एक फर्म उसी सीमा तक श्रम लगाती है, जब उसकी सीमांत उत्पादकता शून्य हो जाए। आइए, अब हम इस प्रवृत्ति को सारे देश के संदर्भ में देखें। जनसंख्या वृद्धि श्रम उपलब्ध कराने में एक सीमा तक तो आर्थिक विकास में योगदान दे सकती है। ऐसा प्राकृतिक साधनों की क्षमता पर निर्भर करता है। लेकिन जनसंख्या ज्यादा हो और इसकी वृद्धि की दर बहुत अधिक हो तो यह आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव भी डाल सकती है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास पर दो प्रकार से प्रभाव डालती है। एक, बचत दर को कम करती है। दूसरे, निवेश के स्वरूप में परिवर्तन लाती है।

जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर अर्थव्यवस्था में बचत दर को कम करती है। जन्मदर ऊँची और युवा वर्ग में मृत्युदर कम होने के कारण अर्थव्यवस्था में बच्चों का अनुपात बढ़ता जाता है। जीवन प्रत्याशा (longevity) में वृद्धि के कारण वृद्ध लोगों का अनुपात बढ़ता जाता है। आर्थिक विकास पर कुल मिलाकर यह प्रभाव पड़ता है कि निर्भरता अनुपात (dependency ratio), यानि आश्रित व कार्यकारी जनसंख्या के बीच अनुपात, बढ़ता जाता है क्योंकि उपभोग तो आश्रित और कार्यकारी जनसंख्या दोनों ही करते हैं। इस प्रकार उपभोग आय का काफी बड़ा खर्च हो जाता है। इससे बचत दर कम हो जाती है।

बढ़ती जनसंख्या के साथ ही निवेश संसाधनों का एक भाग जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं को पूरा करने पर लगाना पड़ता है। बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा, आवास, न्याय, कानून और व्यवस्था, आदि न्यूनतम सुविधाएँ तो उपलब्ध करवानी ही पड़ती हैं। इससे वस्तुओं के लिए उत्पादन में निवेश करने के लिए बहुत कम पैसा बच पाता है। इसके कारण आर्थिक विकास धीमा पड़ जाता है।

जनसंख्या की ऊँची वृद्धि दर का यह भी अर्थ है कि बढ़ती हुई आय जनसंख्या के बीच बँट जाती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि धीमी पड़ जाती है। मान लीजिए कि एक अर्थव्यवस्था में आर्थिक संवृद्धि की दर 5% है और जनसंख्या वृद्धि की दर 2.3% है। ऐसे में प्रति व्यक्ति आय केवल 2.7% प्रति वर्ष ही बढ़ेगी। यदि जनसंख्या वृद्धि दर 1.4% होती तो प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि 3.6 प्रतिशत होती।

9.3.2 आर्थिक विकास के जनसंख्या वृद्धि पर प्रभाव

हमने ऊपर देखा कि जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। लेकिन आर्थिक विकास का जन्मदर पर भी प्रभाव पड़ता है। ऐसा पाया गया है कि कम विकसित अर्थव्यवस्थाओं में 'ऊँची जनसंख्या' और 'आर्थिक विकास का नीचा स्तर' एक साथ पाया जाता है। दूसरी ओर, सभी विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि की दर नीची होती है। तालिका 9.1 से स्पष्ट है कि जापान, संयुक्त राज्य अमरीका जैसे विकसित देशों में जनसंख्या वृद्धि दर युगांडा और जिम्बावे जैसे विकासशील देशों की अपेक्षा काफी कम है।

इस बात के भी कुछ प्रमाण हैं कि ऊँची प्रति व्यक्ति आय, ऊँची साक्षरता विशेषतया स्त्री साक्षरता की दशा में जन्मदर कम रहती है।

तालिका 9.1 : चुने हुए देशों में जनांकिकीय विशिष्टताएँ

(वर्ष 1997)

देश	जन्मदर (प्रति हजार)	मृत्युदर (प्रति हजार)	प्राकृतिक वृद्धि (%)	शिशु मृत्युदर	जीवन प्रत्याशा (वर्षों में)	प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद (प्रति हजार)* (अमरीकी डालर में)
1. भारत	29	10	1.9	75.0	59	340
2. बंग्लादेश	31	11	2.0	77.0	58	240
3. पाकिस्तान	39	11	2.8	91.0	61	460
4. युगांडा	51	22	2.9	81.0	41	240
5. जिम्बावे	40	14	2.7	53.0	51	540
6. जापान	10	7	0.2	4.0	80	39,640
7. संयुक्त राज्य अमेरिका	15	9	0-6	7.3	76	26,980
8. जर्मनी	10	11	- 0.1	5-1	77	27,510
9. रूस	9	14	- 0.5	18.0	65	2,240
10. आस्ट्रेलिया	14	7	0.7	1-8	75	18,720

* वर्ष 1995 के लिए (अमरीकी डालर में)

स्रोत : Population Reference Bureau, 1997

आर्थिक विकास के कुछ और सूचक भी हैं जिनका जन्मदर और परिवार के आकार से नकारात्मक संबंध है। एक विकासशील देश में यह देखा जा सकता है कि शहरों में गाँवों की अपेक्षा नीची जन्मदर और ऊँचा जीवन स्तर होता है। ऊँची आय वाले परिवारों में कम बच्चे होते हैं। माता–पिता अपने परिवार के आकार की योजना कुछ इस तरह बनाते हैं कि वे उनको अच्छी शिक्षा दिला सकें। इन तथ्यों से आर्थिक विकास और जन्मदर के बीच के संबंध का पता चलता है।

आंकड़ों से पता चलता है कि जन्मदर में कमी करने के लिए आर्थिक विकास का होना अत्यंत आवश्यक है। अतः एक विचारधारा यह है कि आर्थिक विकास पर ध्यान देना चाहिए। लेकिन, आर्थिक विकास एक दीर्घकालीन प्रक्रिया है। इसे अल्पकाल में प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः एक विकासशील देश में आर्थिक विकास और जनसंख्या वृद्धि के बारे में योजनाएँ एक

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

साथ चलनी चाहिए। इसीलिए अर्थव्यवस्था की विकास प्रक्रिया में जनसंख्या नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह तथ्य स्वीकार किया जाता है। भारत की जनसंख्या नीति के बारे में हम खंड 9.9 में पढ़ेंगे।

9.4 जनसंख्या वृद्धि में प्रवृत्ति

आइए देखें कि बीसवीं शताब्दी में भारत में जनसंख्या वृद्धि की क्या विशेषताएँ रहीं? हम कुल जनसंख्या में हुई वृद्धि तथा इस वृद्धि को प्रभावित करने वाले कारकों पर चर्चा करेंगे।

9.4.1 जनसंख्या वृद्धि

भारत विश्व का दूसरा सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश है। चीन के बाद भारत का स्थान आता है। वर्ष 1997 में विश्व जनसंख्या में सबसे अधिक आबादी वाले 10 देश इस प्रकार हैं: चीन 123.7 करोड़, भारत 97 करोड़, संयुक्त राज्य अमेरिका 26.8 करोड़, इंडोनेशिया 20.4 करोड़, ब्राजील 16 करोड़, रूस 14.7 करोड़, पाकिस्तान 18.8 करोड़, जापान 12.6 करोड़, बंग्लादेश 12.2 करोड़ और नाइजीरिया 11.1 करोड़। विश्व की पूरी जनसंख्या 13.52 करोड़ वर्ग किलोमीटर भूमि क्षेत्र में बसी है। भारत में इस क्षेत्र का 2.4 प्रतिशत है जबकि आबादी का यह प्रतिशत 16.6 है। इस प्रकार भारत में जनसंख्या की सघनता (density of population) विश्व की औसत सघनता की अपेक्षा लगभग सात गुना है। 2001 की जनगणना के अनुसार भारत में औसतन एक वर्ग किलोमीटर में 324 व्यक्ति बसे हैं।

तालिका 9.2 : भारत में 1901-2001 के दौरान जनसंख्या और इसमें वृद्धि

वर्ष	कुल जनसंख्या	दशक के दौरान कुल वृद्धि (करोड़ में)	वृद्धि दर प्रतिशत दशकीय	वृद्धि दर प्रतिशत प्रतिवर्ष (घातांक)
1901	238.40	-	-	-
1911	252.09	13.69	4.75	0.56
1921	251.32	- .077	- 0.31	- 0.03
1931	278.98	27.66	11.00	1.04
1941	318.66	39.68	14.22	1.33
1951	361.09	42.43	13.31	1.25
1961	439.29	78.15	21.51	1.96
1971	548.16	108.92	24.80	2.20
1981	683.33	135.17	24.60	2.22
1991	846.37	163.04	23.56	2.12
2001	1027.02	180.65	21.34	1.93

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना, 1992-97

2001 में भारत की अनुमानित जनसंख्या 102.7 करोड़ थी जो कि 1901 की जनसंख्या के चार गुना से अधिक और आज़ादी के वर्ष 1947 की जनसंख्या का लगभग तीन गुना है। तालिका 9.2 में भारत में जनसंख्या वृद्धि के तीन चरण दिखाई देते हैं । 1921 तक जनसंख्या में उतार चढ़ाव थे। वास्तव में 1911-21 में कुल जनसंख्या घट गई थी। व्यापक भुखमरी और महामारी इसका मुख्य कारण थी। 1921 के पश्चात् 1951 तक जनसंख्या निरंतर बढ़ी लेकिन कम दर

MAADHYAM IAS "way to achieve your dream"

से। 1941-51 के दौरान जनसंख्या 13.31% की दर से बढ़ी। लेकिन 1951 के प्रारम्भ से ही जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। 1951-61 के दौरान जनसंख्या वृद्धिदर 21.51% थी। 1961-71 में यह बढ़कर 24.8% हो गई। हाँलाकि 1971 के बाद से जनसंख्या वृद्धिदर में मामूली गिरावट है लेकिन अभी भी यह दर बहुत ऊँची है। यदि यह वृद्धि दर बनी रही तो आगे आने वाले 36 वर्षो में भारत की जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी।

1991 से 2001 के दौरान जनसंख्या में 18.1 करोड़ की वृद्धि हुई। यह वृद्धि ब्राजील की कुल जनसंख्या, जो विश्व का पाँचवाँ सबसे अधिक आबादी वाला देश है, से भी अधिक है।

जनसंख्या की दशक वृद्धि दर में पर्याप्त भिन्नता है। 1991-2001 के दौरान सबसे अधिक वृद्धि दर बिहार में तथा सबसे कम केरल में –9.42% थी। अधिक वृद्धि दर वाले राज्य बिहार, राजस्थान तथा हरियाणा हैं। केरल, तमिलनाडु तथा आन्ध्र प्रदेश में वृद्धि दर कम रही।

9.4.2 जनांकिकीय परिवर्तन के तीन चरण (Three Phases of Demographic Transition)

विकसित देशों के इतिहास से पता चलता है कि किसी अर्थव्यवस्था को जनांकिकीय परिवर्तन की दिशा में तीन चरणों से गुजरना पड़ता है। ये हैं :

1) ऊँची जन्मदर व ऊँची मृत्युदर

2) ऊँची जन्मदर व नीची मृत्युदर

3) नीची जन्मदर व नीची मृत्युदर

प्रथम चरण में, जो कि विकास के नीचे स्तर से जुड़ा है, जन्मदर बहुत अधिक होती है। साथ–साथ मृत्युदर भी बहुत ऊँची होती है। परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि दर नीची रहती है। भारत में 1921 तक यही स्थिति थी। इसलिए इस अवधि को जनांकिकीय परिवर्तन के प्रथम चरण की संज्ञा दी जाती है।

जैसे–जैसे एक अर्थव्यवस्था विकसित होती है, जीवन स्तर में सुधार आता है। लोगों को बेहतर पोषण, आवास, कार्य करने की दशाएँ व सफाई मिलती है। इससे स्वास्थ्य की गुणवत्ता में सुधार आता है और मृत्युदर गिरती है। लेकिन जन्मदर में इतनी जल्दी परिवर्तन नहीं आता। जन्मदर पारिवारिक आशाओं, जागरूकता, मूल्य, संस्कृति आदि पर निर्भर होती है जिनको बदलने में बहुत समय लगता है। परिणामस्वरूप जनसंख्या वृद्धि की दर ऊँची रहती है। यही जनांकिकीय परिवर्तन का दूसरा चरण है। यही जनसंख्या विस्फोट का चरण है। तालिका 9.2 से पता चलेगा कि भारत इस समय इसी चरण से गुजर रहा है। मृत्युदर में कमी आई है जबकि जन्मदर अभी भी ऊँची है।

तीसरे चरण में जन्मदर और मृत्युदर दोनों नीचे रहते हैं। जनसंख्या धीमी गति से बढ़ती है। विकास के साथ–साथ जीवन स्तर में सुधार आता है, स्त्री साक्षरता ऊँची होती है, लोगों की गतिशीलता बढ़ती है, बच्चों के लालन–पालन के खर्चे बढ़ते हैं, स्त्रियों की श्रम शक्ति में भागीदारी बढ़ती है, विवाह की उम्र बढ़ती है, परिवार नियोजन के तरीके अपनाए जाते हैं, आदि। इन सबसे जन्मदर नीचे आती है। अधिकतर विकसित देश इस चरण में हैं। भारत के कुछ भाग, जैसे कि केरल इस चरण में पहुँचे हुए दिखाई पड़ते हैं।

9.4.3 राज्यों के बीच अंतर

भारत एक विशाल देश है। इसके राज्यों में जनसंख्या सघनता, जन्मदर, मृत्युदर, जीवन प्रत्याशा आदि में बहुत अंतर हैं। आइए, इनका विश्लेषण करें। इस विषय में आंकड़े तालिका 9.3 में दिए गए हैं।

तालिका 9.3 में आप देख सकते हैं कि अधिकतर राज्यों में पिछले दशक की अपेक्षा 1981-91 में जनसंख्या वृद्धि कम हुई है। कुछ राज्यों में दशकीय दर बढ़ी भी है। ये हैं– आंध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, असम, अरुणाचल प्रदेश, नागालैंड तथा त्रिपुरा। कुछ बड़े

तालिका 9.3 : जनसंख्या एवं जीवन मरण आंकड़ों का राज्यानुसार वितरण

राज्य	दशकीय परिवर्तन 1971-81 (%)	दशकीय परिवर्तन 1981-91 (%)	1991 में जनसंख्या (मिलियन)	अशोधित जन्मदर (1996)	अशोधित मृत्युदर (1996)	शिशु मृत्युदर (1966)	शहरी क्षेत्रों का प्रतिशत (1991)	कुल जनन क्षमता दर (1991)	वह वर्ष जिस तक कुल जनन क्षमता 2.1 के समान प्राप्त हो जाएगी	जीवन प्रत्याशा (वर्षों में) (1992)
1. आंध्र प्रदेश	23.10	23.82	66.30	22-7	8.3	66	26.84	3.00	2002	60.6
2. अरुणाचल प्रदेश	35.15	35.86	0.86	21-9	61	-	-	-	-	
3. असम	23.36	23.58	22.39	27-7	9.4	75	11.08	3.50	2015	54.9
4. बिहार	24.06	23.49	86.34	32-1	10.2	72	13.17	4.40	2039	58.5
5. गोवा	26.74	15.96	1.17	14-1	4.8	13	-	-	-	-
6. गुजरात	27.67	20.80	41.17	25.5	7.6	62	34.40	3.10	2014	60.1
7. हरियाणा	28.75	26.28	16.32	28.8	8.1	68	24.79	4.00	20.25	62.9
8. हिमाचल प्रदेश	23.71	19.39	5.11	23.0	8.0	62	8.70	-	-	63.6
9. जम्मू और कश्मीर	29.69	28.92	7.72	-	-	-	23.83	-	-	-
10. कर्नाटक	26.75	20.69	44.82	23.0	7.6	53	30.91	3.10	2006	61.9
11. केरल	19.24	13.98	29.01	17.8	6.2	13	26.44	1.80	1988	72.0
12. मध्य प्रदेश	25.27	26.75	66.14	32.4	11.1	97	23.21	4.60	2060+	54.0

MADHYAM IAS

13. महाराष्ट्र	24.54	25.36	78.71	23.2	7.4	48	38.73	3.00	2008	64.2
14. मणिपुर	32.46	28.56	1.83	19.4	5.7	27	-	-	-	-
15. मेघालय	32.04	31.80	1.76	30.4	8.9	45	-	-	-	-
16. मिजोरम	48.55	38.98	0.67	-	-	-	-	-	-	-
17. नागालैण्ड	50.05	56.86	1.22	-	-	-	-	-	-	-
18. उड़ीसा	20.17	19.50	31.51	26.9	10.7	95	23.43	3.30	2010	55.5
19. पंजाब	23.89	20.26	10.19	23.5	7.5	52	29.73	3.10	2019	66.4
20. राजस्थान	32.97	28.07	43.88	32.3	9.1	86	22.88	4.60	2048	58.0
21. सिक्किम	50.77	27.57	0.40	20.0	6.5	47	-	-	-	-
22. तमिलनाडू	17.50	14.94	55.64	19.2	7.9	54	34.20	2.20	1993	64.2
23. त्रिपुरा	31.92	33.69	2.74	18.3	6.5	45	-	-	-	-
24. उत्तर प्रदेश	25.49	25.16	138.76	34.0	10.2	85	19.89	5.10	21003	55.9
25. पश्चिम बंगाल	23.17	24.55	67.98	22.8	7.8	55	27.39	3.20	2009	61.5
भारत	24.66	23.50	843.93	27.4	8.9	72	25.72	3.60	2026	59.4

MADHYAM IAS

राज्यों में जनसंख्या में काफी कमी रही है, उदाहरण के लिए ये राज्य हैं गुजरात कर्नाटक, केरल व राजस्थान।

राज्यों में जन्मदरों में भी काफी अंतर है। मध्य प्रदेश और राजस्थान में जन्मदर 34.90 प्रति हजार पर ऊँची बनी हुई है। केरल में यह घटकर 17.70 और तमिलनाडु में 20.70 हो गई है। शिशु मृत्युदर उड़ीसा में 95, मध्य प्रदेश में 97, राजस्थान में 86 तथा उत्तर प्रदेश में 85 प्रति हजार है। जीवन प्रत्याशा यानि लोगों की औसत आयु इन तीन राज्यों में काफी नीची है। ये तीन राज्य भारत के सबसे गरीब राज्यों में आते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दरों वाले राज्यों में सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र का प्रदर्शन काफी खराब रहता है। ऐसे राज्यों में निरक्षरता, गरीबी और कम विकास एक साथ पाए जाते हैं और एक–दूसरे के पोषक होते हैं।

9.5 ग्रामीण-शहरी वितरण तथा जनसंख्या वृद्धि-दर

तालिका 9.4 में भारत की जनसंख्या का गाँव और शहरों के बीच वितरण दिखाया गया है। 1901 में कुल आबादी का केवल 11.8 प्रतिशत शहरों में था। 1911 में यह अनुपात घटकर 10.3 हो गया जो कि 1991 तक फिर बढ़ते–बढ़ते 25.7 प्रतिशत पहुँच गया। यदि हम इस वृद्धि की विकासशील देशों से तुलना करें तो यह बहुत साधारण वृद्धि है। लेकिन कुल संख्या में 1901 में कुल शहरी आबादी 2.58 करोड़ थी जो कि 1991 में बढ़कर 21.71 करोड़ हो गई जो कि किसी भी मापदण्ड की दृष्टि से कम वृद्धि नहीं है। एक अनुमान के अनुसार 1997 में शहरी जनसंख्या 25.2 करोड़ थी। चीन और संयुक्त राज्य अमरीका को छोड़कर अन्य किसी भी देश की शहरी आबादी से यह बहुत अधिक है।

तालिका 9.4 : ग्रामीण शहरी जनसंख्या का वितरण

वर्ष	कुल जनसंख्या (मिलियन में)			प्रतिशत		वृद्धि दर %	
	कुल	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी	ग्रामीण	शहरी
1901	238.4	212.6	25.8	89.2	10.8	-	-
1911	252.1	226.2	25.9	89.7	10.3	0.62	0.04
1921	251.3	223.2	28.1	88.8	11.2	0.13	0.82
1931	279.0	245.5	33.5	88.8	12.2	0.95	1.76
1941	318.7	274.5	44.2	86.2	13.8	1.12	2.99
1951	361.1	298.6	62.4	82.7	17.3	0.84	3.45
1961	439.2	360.3	78.9	82.0	18.0	1.88	2.35
1971	548.2	439.1	109.1	80.1	19.9	1.98	3.24
1981	683.3	523.8	159.5	76.7	23.3	1.78	3.87
1991	844.3	627.2	217.1	74.3	25.7	1.82	3.13

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

9.5 शहरीकरण प्रक्रिया (URBANISATION PROCESS)

शहरी जनसंख्या में वृद्धि निम्नलिखित कारणों से हो सकती है :

i) प्राकृतिक वृद्धि (जन्मदर–मृत्युदर)

ii) ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों में प्रवास

iii) नई शहरी बस्तियों की स्थापना (जैसे औद्योगिक बस्तियाँ, आदि)

इनमें से प्रथम दो कारण तो वर्तमान शहरों और कस्बों की जनसंख्या बढ़ाते हैं। अन्य दो कारण शहरी क्षेत्र में वृद्धि लाते हैं।

उपरोक्त कारणों से शहरी जनसंख्या के प्रतिशत में वृद्धि आई है। तालिका 9.4 से पता चलता है कि 1911 से शहरी जनसंख्या की वृद्धि दर ग्रामीण जनसंख्या की अपेक्षा ऊँची रही है। दूसरे, शहरी जनसंख्या की वृद्धि दर समय के साथ–साथ बढ़ी है।

ऊँची प्रति व्यक्ति आय, विकसित बुनियादी सुविधाएँ, जागरूकता तथा सर्वमुखी आर्थिक विकास के कारण गाँवों की अपेक्षा शहरीकरण अच्छा समझा जाता है। यदि शहरीकरण से आधुनिकीकरण या सामाजिक परिवर्तन आता है तो शहरी जनसंख्या के ऊँचे अनुपात से जनन क्षमता में अधिक कमी आनी चाहिए।

लेकिन बड़े शहरों में ग्रामीण जनसंख्या का जमाव बहुत अधिक हो रहा है। प्रथम वर्ग (Class I)के शहरों में जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है (यह वृद्धि 1981-91 में 47% थी जबकि सभी वर्गों के शहरों में यह 35% थी)। यह एक चिंता का विषय है क्योंकि महानगरों में भूमि की बहुत कमी है। इससे विकास के कार्यों में बाधा आती है। शहरी क्षेत्रों में चिंता का विषय यह है कि आधारभूत सुविधाओं जैसे मकान, सड़क, बिजली, पानी, सार्वजनिक परिवहन आदि की माँग और पूर्ति में अंतर बढ़ता जा रहा है।

तालिका 9.3 से पता चलता है कि विभिन्न राज्यों में शहरीकरण के स्तर में काफी अंतर है। बड़े राज्यों में महाराष्ट्र सबसे अधिक नगरीय (urbanised) राज्य है। इसमें 38.7 प्रतिशत शहरीकरण है। इसके बाद गुजरात (34.4%) तथा तमिलनाडू (34.2%) का स्थान आता है। हिमाचल प्रदेश में शहरीकरण सबसे कम केवल 8.7% है। शहरीकरण के पीछे बहुत से ऐतिहासिक कारणों जैसे उद्योगों की स्थापना, कच्चे मालों की उपलब्धि, परिवहन प्रणाली का विकास आदि का बहुत हाथ होता है।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

बोध प्रश्न 1

1) सही उत्तर पर निशान (√) लगाइए।

1) विश्व में दूसरा सबसे अधिक आबादी वाला देश है :

   a) चीन

   b) रूस

   c) भारत

   d) जापान

2) भारत की जनसंख्या 1991 और 2001 के बीच इतनी बढ़ी :

   a) 21.0 करोड़

   b) 18.1 करोड़

   c) 11.2 करोड़

   d) 16.1 करोड़

3) वर्ष 1901 में भारत की कुल जनसंख्या में शहरी जनसंख्या का प्रतिशत था :

   a) 10.8

   b) 13.8

c) 5.0

d) 18.0

e) 7.2

9.6 लिंग व आयु संरचना (SEX AND AGE COMPOSITION)

हम जनसंख्या की लिंग तथा आयु संरचना के बारे में इसलिए पढ़ते हैं क्योंकि किसी देश की श्रम आपूर्ति के ये दो आधारभूत निर्धारक तत्त्व हैं। ये दोनों तत्त्व वस्तुओं और सेवाओं के माँग के ढाँचे को भी प्रभावित करते हैं। उदाहरणतः, स्कूलों, स्कूल भवनों, अध्यापक आदि की आवश्यकता इस बात पर निर्भर होती है कि स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या कितनी है। यह संख्या लिंग तथा आयु संरचना पर निर्भर करती है।

जनसंख्या की लिंग–आयु संरचना, जनन क्षमता, मृत्युदर तथा प्रवास पर निर्भर करती है।

9.6.1 आयु संरचना

आयु संरचना के अनुसार जनसंख्या को युवा व वृद्ध वर्गों में बाँटा जाता है। युवा जनसंख्या (Young Population) वह होती है जिसमें वृद्ध व्यक्तियों की अपेक्षा बच्चों, किशोरों व युवा वयस्कों का अनुपात अधिक रहता है।

तालिका 9.5 : भारत में जनसंख्या का आयु वितरण (1911-1996)

(प्रतिशत में)

वर्ष	लिंग	आयु वर्ग (वर्षों में)			
		0-14	15-44	45-59	60 तथा इससे अधिक वर्ष
1911	M	38.8	46.5	9.9	4.8
	F	38.1	46.9	9.4	5.6
1921	M	39.4	45.5	10.1	5.0
	F	39.0	46.0	9.5	5.5
1931	M	40.0	46.2	9.9	3.9
	F	40.1	46.4	9.4	4.1
1941	M	38.1	46.1	10.9	4.9
	F	38.4	46.1	10.6	4.9
1951	M	37.1	46.3	11.1	5.5
	F	37.9	45.7	10.6	5.8
1961	M	40.9	43.0	10.6	5.5
	F	41.2	43.3	9.7	5.8
1971	M	41.9	41.5	10.7	5.9
	F	41.9	42.4	9.7	6.0

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

1981	M	39.6	43.2	11.0	6.1
	F	39.8	43.5	10.4	6.3
1996	M	37.7	44.8	10.9	6.7
	F	37.8	46.2	10.4	6.7

* M = पुरुष
* F = स्त्री

आयु की दृष्टि से भारत की जनसंख्या का ढाँचा युवा कहा जा सकता है जहाँ 15 वर्ष से कम आयु की जनसंख्या का प्रतिशत 38 है। 60 वर्ष या इससे अधिक आयु वाले लोगों का प्रतिशत 6 से 7 तक है।

तालिका 9.5 में 1911-1996 के दौरान आयु के आधार पर भारत की जनसंख्या का वितरण दिया गया है। इसमें 4 आयु वर्ग हैं : 0-14, 15-44, 45-59 तथा 60 वर्ष से ऊपर। इससे पता चलता है कि भारत में बच्चों का अनुपात काफी अधिक है।

बच्चों के ऊँचे अनुपात के कारण निर्भरता अनुपात (dependency ratio) प्रतिकूल हो गया है। उदाहरणतः, 1981 में भारत में बच्चों (15 वर्ष आयु से कम) का कुल कार्यकारी जनसंख्या (15 और 60 वर्ष की आयु के बीच) से अनुपात 73% था जो कि 1996 में 67% हो गया। विकसित देशों में यह प्रतिशत प्रायः 35 से 40 के बीच पाया जाता है। साधारण अर्थ में ऊँची निर्भरता अनुपात से पता चलता है कि श्रमिकों की अपेक्षा उपभोक्ताओं की संख्या कहीं अधिक ज्यादा है। ऊँची निर्भरता दर से बचत व निवेश में कमी आती है और आर्थिक तथा सामाजिक विकास में अवरोध पैदा होता है क्योंकि दुर्लभ संसाधनों का बड़ा भाग उपभोग में ही चला जाता है। साथ ही काम करने वाली आयु में लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या से बेरोजगारों की संख्या बढ़ती जाती है।

9.6.2 लिंग अनुपात (Sex Ratio)

लिंग अनुपात से अभिप्राय प्रति हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या से है। प्रायः यह देखा जाता है कि युवा आयु में पुरुष शिशु स्त्री शिशुओं की अपेक्षा अधिक पैदा होते हैं (प्रति 100 स्त्रियों के पीछे 103 से 107 पुरुष)। लेकिन स्त्री शिशुओं की उत्तरजीविता दर (Survival rate) अधिक होती है। इसके कारण 20-25 की आयु के बाद से स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा अधिक होने लगती है। इसकी तुलना में, जैसा कि तालिका, 9.6 से पता चलता है, भारत का लिंग अनुपात स्त्रियों के पक्ष में नहीं है। समय के साथ–साथ स्त्रियों की संख्या घट रही है।

तालिका 9.6 : भारत में लिंग अनुपात (1901-1991)

वर्ष	लिंग अनुपात
1901	972
1911	964
1921	955
1931	950
1941	945
1951	946
1961	941
1971	930
1981	934
1991	929

भारत में लिंग अनुपात की यह तस्वीर विकसित और अधिकतर विकासशील देशों से अलग है। यह शायद स्त्री शिशुओं व युवा लड़कियों की अनदेखी (चिकित्सा और पोषण के मामले) के कारण है। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में चिकित्सा सुविधाओं में और जीवन स्तर में सुधार होने के बावजूद यह अनदेखी जारी है। हाल ही में इस बात के प्रयास किए जा रहे हैं कि स्त्रियों को समान सामाजिक–आर्थिक दर्जा मिले। स्त्री सशक्तीकरण (Empowerment of women) नवीं पंचवर्षीय योजना का एक प्रमुख उद्देश्य है। यह शक्ति नौकरियों और विधायिकाओं में संरक्षण व अन्य सुविधाएँ दिलाकर प्राप्त करना है।

बोध प्रश्न 2

1) ऊँची निर्भरता अनुपात के प्रतिकूल प्रभावों को बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) i) अनुपात प्रायः स्त्रियों के पक्ष में क्यों होता है?

ii) 15 वर्ष आयु से कम के बच्चों के ऊँचे अनुपात के लिए कौन से कारण जिम्मेदार हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) i) जनसंख्या को 'युवा' कब कहते हैं?

ii) जनसंख्या को 'वृद्ध' कब कहते हैं?

.....

.....

.....

.....

9.7 जनसंख्या वृद्धि की गत्यात्मकता (DYNAMICS OF POPULATION GROWTH)

इस भाग में हम जनसंख्या के आकार और संरचना को प्रभावित करने वाले कारकों जैसे, जनन, क्षमता, मृत्युदर तथा प्रवास के बारे में चर्चा करेंगे।

9.7.1 जनन क्षमता (Fertility) के माप

यहाँ जनन क्षमता से अभिप्राय स्त्री द्वारा गर्भधारण करने के दौरान शिशुओं को जन्म देने से है। जनन क्षमता मापने की बहुत सी अवधारणाएँ हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण माप इस प्रकार हैं :

अशोधित जन्मदर (Crude Birth Rate)

परम्परागत जनन क्षमता अशोधित जन्मदर के रूप में मापी जाती है।

$$\text{अशोधित जन्मदर} = \frac{\text{एक भौगोलिक क्षेत्र में एक कलेण्डर वर्ष में जीवित शिशुओं की संख्या} \times 1000}{\text{उस क्षेत्र की मध्य वर्ष जनसंख्या}}$$

यह माप केवल जीवित शिशुओं (live births) पर आधारित है। जीवित शिशुओं से ही एक क्षेत्र की जनसंख्या बढ़ती है। जनसंख्या में एक अनुपात मृत शिशुओं (still births) का भी रहता है। अशोधित जन्मदर में इसे नहीं गिना जाता।

इस माप में वर्ष के मध्यबिन्दु की ही जनसंख्या को आधार बनाया जाता है क्योंकि जन्म, मृत्यु और प्रवास के कारण जनसंख्या में निरंतर परिवर्तन आते रहते हैं। यदि हम केवल वर्ष के प्रारम्भ की जनसंख्या लें तो अशोधित जन्मदर का माप ऊँचा आएगा। यदि वर्ष के अन्त की जनसंख्या लें तो यह माप नीचा आएगा। इसीलिए हम मध्य वर्ष की जनसंख्या लेते हैं जो कि एक प्रकार का औसत है।

परम्परा के अनुसार अनुपात को 1000 से भाग दिया जाता है क्योंकि प्रति हजार लोगों के पीछे जन्मदर 60 से अधिक प्रायः 10 से कम नहीं होती। प्रति एक हजार लोगों के पीछे दर मालूम करने से हम माप को पूर्णांक में व्यक्त कर सकते हैं। यदि हम 1000 के स्थान पर 100 से गुणा करें तो 1/10 रह जाएगी और हमें दशमलव बिन्दु प्रयोग में लाने की आवश्यकता पड़ेगी।

उपरोक्त माप जनन क्षमता का एक मोटा सा माप है। लेकिन यह पूरी तरह से उपयुक्त नहीं है क्योंकि जनसंख्या में दोनों लिंगों के सभी व्यक्ति शामिल किए जाते हैं। व्यवहार में तो स्त्रियाँ गर्भधारण आयु (15 से 45 वर्ष) में ही बच्चे पैदा कर सकती हैं। प्रजनन आयु (reproductive age) में आयु वर्ग के अनुसार जनन क्षमता अलग–अलग होती है। अतः जनन क्षमता का एक अधिक उपयुक्त माप आयु विशिष्ट जनन क्षमता दर है।

आयु विशिष्ट जनन क्षमता दर (Age Specific fertility rate)

आयु के अुनसार जनन क्षमता दर का माप आयु विशिष्ट जनन क्षमता दर माप कहलाता है। विशेष आयु वर्ग का यह माप है। मान लीजिए कि हम उड़ीसा राज्य में वर्ष 1997 में आयु वर्ग 19-24 के लिए यह माप ज्ञात करना चाहते हैं। इस हेतु हम वर्ष 1997 की उड़ीसा की जनसंख्या को विभिन्न आयु वर्गों, जैसे 15-19, 20:24 आदि में बाँटते हैं। दूसरे, 19-24 आयु वर्ग में से स्त्रियों की संख्या ज्ञात करते हैं। तीसरे, इस वर्ग में वर्ष 1997 में जीवित शिशुओं की संख्या ज्ञात करते हैं। अंत में हम, जन्मों की कुल संख्या को 19-24 वर्ग में कुल स्त्रियों की संख्या से भाग करते हैं और उसे 1000 से गुणा करते हैं। इस प्रकार हम किसी भी वर्ष विशेष का राज्य का आयु वर्ग का यह माप ज्ञात कर सकते हैं। इस माप से हमें प्रत्येक आयु वर्ग का जनसंख्या वृद्धि में योगदान ज्ञात होता है।

कुल जन्म क्षमता दर

जनसंख्या वृद्धि का यह एक अधिक व्यावहारिक माप है। प्रजनन आयु के विभिन्न आयु वर्गों में आयु विशिष्ट जनन क्षमता दर को मिलाकर यह माप ज्ञात किया जाता है।

जनसंख्या के स्तर में स्थिरता (आकार में न वृद्धि और न कमी लाना) जनसंख्या नीति का एक प्रमुख उद्देश्य रहता है। यह स्थिरता उस समय प्राप्त की जा सकती है जबकि शुद्ध प्रजनन दर (Net Reproduction) का माप 1 हो। हाल में इस लक्ष्य में परिवर्तन लाया गया है। अब

MADHYAM IAS

राज्य स्तर पर कुल जन्म क्षमता दर 2.1 प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है। कुल जन्म क्षमता दर से विभिन्न राज्यों में इस बात का अनुमान लगाना सम्भव हो जाता है कि कुल जन्म क्षमता दर 2.1 कब प्राप्त होगी। वास्तव में केरल तथा तमिलनाडु ने यह दर पहले ही प्राप्त कर ली है जबकि उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश अभी इससे बहुत दूर हैं।

भारत में जनन क्षमता प्रवृत्ति

तालिका 9.7 में इससे संबंधित आँकड़े दिए जाते हैं। इससे पता चलता है कि भारत में जन्मदर गिर रही है।

तालिका 9.7 : भारत में औसत दशकीय जन्म व मृत्युदरें

(1901-1991)

दशक	जन्मदर	मृत्युदर
1901-11	49.2	42.6
1911-21	48.1	48.6
1921-31	46.2	36.3
1931-41	45.2	31.2
1941-51	39.9	27.4
1951-61	41.7	22.8
1961-71	41.1	19.2
1971-81	37.2	15.2
1981-91	32.5	11.4

MADHYAM IAS way to achieve your dream

पहले दी गई तालिका 9.3 में जन्मदरों में राज्य अनुसार विभिन्नता देखी जा सकती है। यह उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान और मध्य प्रदेश में ऊँची है। इसकी तुलना में आंध्र प्रदेश, केरल, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में ये दरें कम हैं।

9.7.2 ऊँची जन्मदर के कारण

भारत में ऊँची जन्मदर के प्रमुख कारण ये हैं :

- भारत में शिशु मृत्युदर बहुत ऊँची है। परिणामस्वरूप, बच्चों की जीवित शेष दर (Survival Rate) काफी कम है। इसीलिए इस आशा में कि इनमें से कुछ तो जीवित रहेंगे, माता–पिता अधिक बच्चे पैदा करते हैं।
- परम्परागत भारत में पुरुष शिशु को प्राथमिकता दी जाती है ताकि बुढ़ापे में वह सुरक्षा प्रदान कर सके। अतः एक या दो लड़कियाँ उत्पन्न करने के पश्चात् भी वे लड़के के उत्पन्न होने का इन्तजार करते हैं।
- बच्चे माता–पिता को आर्थिक लाभ पहुँचाते हैं। कुछ का विचार थोड़ा अलग है। उनके अनुसार बच्चे माँ बाप को भावात्मक लाभ पहुँचाते हैं। ऐसा पाया जाता है कि व्यवसायी व कृषक परिवारों के बच्चे घरेलू कार्यों, खेतों या व्यवसाय में छोटी उम्र में ही अपने माँ बाप की सहायता करते हैं और अतिरिक्त आय पैदा करते हैं।
- जन्म नियंत्रण अस्पताली सुविधाओं के बारे में माँ–बाप में जागरूकता की कमी है। कुछ तो इसे निषिद्ध मानते हैं।

- भारत में विवाह कम उम्र में होता है जिससे प्रजनन अवधि लम्बी होती है।

हमने भाग 9.3 में स्त्री साक्षरता के जन्मदर घटाने के सकारात्मक प्रभाव के बारे में पढ़ा। औपचारिक क्षेत्र (formal sector) में काम करने वाली महिलाओं को बच्चों की संख्या और समय के बारे में योजना बनानी पड़ती है। अपने बच्चों का अच्छा लालन–पोषण करने, अच्छी शिक्षा दिलाने व अन्य सुविधाओं का भी बच्चों की संख्या पर प्रभाव पड़ता है।

9.7.3 मृत्युदर के माप

सबको किसी न किसी आयु में मरना पड़ता है। मृत्यु का अर्थ है जीवित जन्म होने के बाद मनुष्य के शरीर में जीवन के सभी लक्षणों का समाप्त हो जाना। मौत की प्रक्रिया एक क्षेत्र की जनसंख्या में एक प्रकार का संतुलन सा रखती है। मृत्युदर के कई माप हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं।

अशोधित मृत्युदर (Crude Death Rate)

यह सबसे आम माप है। इसकी परिभाषा यह है :

$$\text{अशोधित मृत्युदर} = \frac{\text{एक भौगोलिक क्षेत्र में एक कलेण्डर वर्ष में मृतकों की कुल संख्या} \times 1000}{\text{उस क्षेत्र की मध्य वर्ष जनसंख्या}}$$

मध्य वर्ष जनसंख्या लेने और 1000 से गुणा करने के पीछे कारण वहीं है जो अशोधित जन्म दर में थे।

अशोधित जन्मदर और अशोधित मृत्युदर का अंतर जनसंख्या में वृद्धि की प्राकृतिक दर (natural rate of increase of population) कही जाती है। इससे पता चलता है कि एक क्षेत्र की जनसंख्या में प्राकृतिक रूप में कितनी वृद्धि हो रही है।

शिशु मृत्युदर (Infant Mortality)

प्रायः बच्चों को जीवन के प्रथम वर्ष में मृत्यु का काफी जोखिम रहता है। यदि उपयुक्त चिकित्सा सुविधाएँ न हो तो यह जोखिम और भी बढ़ जाती है। अतः आयु के प्रथम वर्ष में ही बच्चों की मृत्युदर समाज में उपलब्ध स्वास्थ्य सुविधाओं का एक सूचक बन जाती है। शिशु मृत्युदर एक ऐसा माप है जिसकी परिभाषा इस प्रकार है :

$$\text{शिशु मृत्युदर} = \frac{\text{जीवन के प्रथम वर्ष में मृत्यु को प्राप्त बच्चों की कुल संख्या} \times 1000}{\text{जीवित शिशुओं की संख्या}}$$

इस दर से हमें यह पता चलता है कि यदि एक दिन में 1000 बच्चे पैदा होते हैं तो इनमें कितनी संख्या अपने पहले जन्मदिन से पहले ही मर जाएगी। सरकार इस दर को घटाने का निरंतर प्रयास कर रही है। तालिका 9.3 से पता चलता है कि उड़ीसा, मध्य प्रदेश और राजस्थान में यह दर बहुत ऊँची हैं। लेकिन केरल और गोवा इसे 13 के स्तर तक नीचे लाने में सफल हुए हैं।

जीवन प्रत्याषा (Expectation of Life)

विभिन्न देशों में मृत्युदर का स्वरूप समझने के लिए जनसंख्याशास्त्री जन्म के समय जीवन प्रत्याशा (Expectation of Life at birth) का अनुमान लगाते हैं। इससे लोगों के औसत जीवन काल का पता चलता है। इसे वर्षों में मापते हैं। इसका अनुमान राज्यों में पुरुष और स्त्रियों के लिए अलग–अलग लगाया जाता है। तालिका 9.3 से पता चलता है कि जिन राज्यों में मृत्युदर ऊँची है वहाँ जीवन प्रत्याशा नीची है।

MAADHYAM IAS

भारत में मृत्युदर प्रवृत्ति (Mortality trends in India)

तालिका 9.7 में 1901 से 1991 के अवधिकाल में अशोधित मृत्युदर दी हुई है। आप देख सकते हैं कि 1921 तक मृत्युदर बहुत ऊँची थी। ऐसा बड़े स्तर पर अकालों और महामारियों के कारण हुआ। चिकित्सा सुविधाएँ अच्छी नहीं थीं। 1921 के बाद से निरंतर प्रणाली में सुधार से और चेचक, हैजा व प्लेग जैसी महामारियों को और मलेरिया को नियंत्रण में लाने से शिशु मृत्युदर घटी। पिछले 50 वर्षों में अशोधित मृत्युदर में निरंतर गिरने की प्रवृत्ति स्पष्ट नजर आती है।

यह तो हम कह ही चुके हैं कि विभिन्न राज्यों में मृत्युदर अलग–अलग रही है। तालिका 9.3 से पता चलता है कि केरल की तुलना में बिहार, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश राज्यों में यह दर राष्ट्रीय औसत से ऊँची रही है।

9.7.4 प्रवसन (Migration)

प्रवसन एक देश से दूसरे देश में (अंतर्राष्ट्रीय प्रवसन) या किसी देश के एक राज्य से दूसरे राज्य में (आंतरिक प्रवसन) हो सकता है। निवास परिवर्तन से परिवर्तन के बारे में पता चलता है। प्रवसन से लिंग संरचना, आयु संरचना तथा व्यावसायिक ढाँचे भी प्रभावित होते हैं। जन्म और मृत्युदर की तरह प्रवसन एक निरंतर प्रक्रिया है। अतः निवास स्थान में स्थायी और अर्धस्थायी परिवर्तनों के बारे में आंकड़ों का जमा कराना आवश्यक है।

प्रवसन के बारे में कोई निरंतर रिकार्ड रखने की प्रणाली नहीं है। जनगणना में जन्म स्थान और अंतिम निवास स्थान के बारे में प्रश्न पूछकर इसका अनुमान लगाया जाता है। इस परिभाषा में शादी के कारण स्त्रियों का प्रवसन भी आ जाता है। रोजगार, आय, तेजी से बढ़ती जनसंख्या प्रवसन के कुछ कारण हैं। प्रवासी उन क्षेत्रों से बाहर आते हैं, जहाँ रोजगार के अवसर कम हैं, आय कम है, या फिर जनसंख्या वृद्धि की दर बहुत ऊँची हैं। इसके साथ–साथ वे उन क्षेत्रों को भी आकर्षित होते हैं जहाँ नया औद्योगिक विकास हो रहा है और प्रति व्यक्ति आय ऊँची है।

जनगणना के आंकड़ों से पता चलता है कि अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय दोनों ही प्रवसन भारत में नगण्य रहे हैं। आय के निम्नस्तर, रोजगार के अवसरों की निम्न उपलब्धता की दृष्टि से विभिन्न राज्यों में आर्थिक संवृद्धि और रोजगार के अवसरों में असमानताओं के रहते भविष्य में भी ऐसा होगा, यह आवश्यक नहीं है। आपने अखबारों में खेतिहर मजदूरों का गरीब राज्यों से अमीर राज्यों की ओर प्रवसन के बारे में तो पढ़ा होगा। अल्पकाल में तो यह प्रवासियों की समस्या सुलझाने में सहायक रहता है। लेकिन दीर्घकाल में इन प्रवासियों को आवास, शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाएँ प्राप्त करने एवं प्रदान करने में कठिनाइयाँ आती हैं।

9.8 ऊँची जनसंख्या वृद्धिदर के प्रतिकूल प्रभाव

जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर का आर्थिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है :

- भारत में आयोजन के प्रथम 40 वर्षों (1950-90) में सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धिदर लगभग 4% प्रतिवर्ष थी। लेकिन जनसंख्या वृद्धि की दर 2% थी। फलस्वरूप प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद केवल 2% की दर से बढ़ा। यदि जनसंख्या वृद्धि की दर कम होती तो प्रति व्यक्ति आय और अधिक बढ़ती।

- भारत में खाद्य उत्पादन 1950-51 में 508 लाख टन से बढ़कर 1996-97 में चार गुना यानि 1990 लाख टन हो गया। लेकिन अनाज की प्रति व्यक्ति उपलब्धता केवल 46% बढ़ी। 1950-51 में यह 140 किलोग्राम थी जो कि 1996-97 में 205 किलोग्राम हो गई।

- इस समय स्वास्थ्य, शिक्षा, बिजली, पानी व आवास जैसी बुनियादी सुविधाओं पर बहुत दबाव है। सरकार को इन पर भारी निवेश करना पड़ता है। यदि जनसंख्या वृद्धि की दर कम होती तो यह व्यय और अधिक उत्पादक कार्यों में किया जा सकता था।

बोध प्रश्न 3

1) अशोधित जन्मदर या अशोधित मृत्युदर की परिभाषा में अनुपात को 1000 से क्यों गुणा किया जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) जनसंख्या शास्त्री कुल जन्म क्षमता दर को 'अशोधित जन्मदर' की अपेक्षा जन्म क्षमता का एक अच्छा माप क्यों मानते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में उन दो राज्यों के नाम बताइए जिनमें जन्म क्षमता दर नीची है तथा जिनमें यह दर ऊँची है।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.9 भारत की जनसंख्या नीति

जन्मदर कम करने के लिए एक निश्चित जनसंख्या नीति की आवश्यकता होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने योजना आयोग का गठन किया। इसका उद्देश्य था प्राकृतिक साधनों का संतुलित उपयोग कर आर्थिक विकास लाना। प्रथम पंचवर्षीय योजना बनाते समय आयोग ने जनसंख्या नीति की आवश्यकता पर बल दिया। इसका उद्देश्य लोगों के जीवन स्तर में सुधार लाना और स्वास्थ्य, विशेष रूप से माताओं और बच्चों के स्वास्थ्य में सुधार लाना था। इस योजना में परिवार नियोजन कार्यक्रमों, परिवार सीमित रखने के तरीकों और इन्हें आम जनता तक पहुँचाने के लिए 65 लाख रुपये का प्रावधान किया गया है। इस तरह 1952 में भारत विश्व का पहला ऐसा देश बना जहाँ कोई राष्ट्रीय परिवार नियोजन कार्यक्रम (National Family Planning Programme) बनाया और लागू किया गया।

9.9.1 नैदानिक दृष्टिकोण (Clinical Approach)

प्रथम चार पंचवर्षीय योजनाओं में परिवार नियोजन के प्रति दृष्टिकोण नैदानिक था। स्वास्थ्य और परिवार नियोजन सुविधाओं को समझाने हेतु बुनियादी सुविधाओं और श्रमशक्ति की कमी थी। सरकार ने इस कमी को पूरा करने पर बल दिया।

1975 तक सरकार ने यह जान लिया था कि परिवार नियोजन को प्रोत्साहन देने के लिए अब उसे और प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना होगा। अतः 1976 में एक व्यापक राष्ट्रीय जनसंख्या नीति (National Population Policy) की घोषणा की गई। इसमें कुछ आधारभूत उपाय लागू किए गए जिनके पीछे जन्मदर को पाँचवीं योजना में 32 से घटाकर छठी योजना के अंत तक 25 प्रति हजार लाना था। इन उपायों में प्रमुख उपाय इस प्रकार थे :

i) परिवार नियोजन की सफलता के आधार पर राज्य योजनाओं को 8 प्रतिशत केन्द्रीय सहायता प्रदान करना;

ii) अगले 25 वर्ष तक 1971 की जनगणना के आधार पर केन्द्रीय और राज्य विधायिकाओं में प्रतिनिधित्व स्थिर रखना;

iii) लड़कों एवं लड़कियों की विवाह योग्य उम्र बढ़ाकर क्रमशः 21 वर्ष व 18 वर्ष करना;

iv) बन्धीयीकरण (Sterlization) के लिए ऊँचा मौद्रिक मुआवजा;

v) माध्यमिक स्तर तक शिक्षा में लड़कियों को प्राथमिकता देना;

vi) बाल पोषण।

जनसंख्या नीति में सार्वजनिक कल्याण और जीवन स्तर को अधिकतम करने के कुछ उद्देश्य और सरकार द्वारा उनको लागू करने की योजना होती है। इनको पूरा करने के लिए साधन जुटाने की वचनबद्धता होती है। हम ऐसा कह सकते हैं कि जनसंख्या नीति ऐसे उपायों तथा कार्यक्रमों को मिलाकर बनती है जो आर्थिक, सामाजिक, जनसंख्या संबंधी, राजनीतिक व अन्य सामूहिक उद्देश्यों को पूरा करने में योगदान देती हो। ऐसा करना महत्त्वपूर्ण जनांकिकीय चरों जैसे जनसंख्या के आकार और वृद्धि, इसके भौगोलिक वितरण और इसकी जनांकिकीय विशेषताओं के माध्यम से ही किया जा सकता है। 1976 का राष्ट्रीय जनसंख्या नीति वक्तव्य इस संदर्भ में काफी व्यापक है।

इस कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए राज्यों ने विशेष उपाय किए। इसमें लोगों और सरकारी कर्मचारियों को बन्धीकरण (Sterlisation) अपनाने के लिए प्रोत्साहन दिया गया। लेकिन 1976 में इन कार्यक्रमों में जबरदस्ती करने की बहुत आलोचना हुई और यह कार्यक्रम बदनाम हो गया। इससे 1977, 1978 में इसकी सफलता को धक्का पहुँचा। देश कठोरता और जबरदस्ती के लिए तैयार न था। 1977 में केन्द्र में और विभिन्न राज्यों में सत्ता परिवर्तन हुआ। नई सरकार ने जनसंख्या नियंत्रण पर तो बल दिया लेकिन स्वेच्छा से परिवार नियोजन कार्यक्रम अपनाने पर जोर दिया।

9.9.2 परिवार कल्याण दृष्टिकोण (Family Walfare Approach)

1977 से परिवार नियोजन को परिवार कल्याण का रूप दिया गया। भाग 9.3.1 में हमने देखा कि आर्थिक विकास स्त्री साक्षरता, नीची शिशु मृत्युदर, माँ का स्वास्थ्य तथा जागरूकता के माध्यम से जन्मदर नीची लाने में सहायता करता है। आइए, देखें कि स्त्री शिक्षा जन्मदर को किस प्रकार कम करती है।

प्रथम, ऐसा देखा जाता है कि शिक्षित लड़की अशिक्षित की अपेक्षा देर से शादी करती हैं। स्कूल, कॉलिज में पढ़ने से विवाह बड़ी उम्र में होता है। विवाह की उम्र और बच्चों की संख्या में विपरीत संबंध पाया जाता है।

दूसरे, शिक्षित महिलाएँ अपने बच्चों को स्कूल भेजती हैं। आपने देखा होगा कि कई परिवारों में बच्चे या तो स्कूल जाते ही नहीं या फिर स्कूल जल्दी ही छोड़ देते हैं और परिवार के लिए कमाना शुरू कर देते हैं (बाल श्रमिक)। यदि वे स्कूल जाएँगे तो काम नहीं कर पाएँगे। इससे अधिक बच्चे होने के प्रोत्साहन में कमी आती है।

तीसरे, शिक्षित स्त्रियाँ स्वास्थ्य के प्रति अधिक जागरूक होती हैं। इससे उनके बच्चे जीवित रह पाते हैं और उन्हें अधिक बच्चे पैदा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनको नियोजन के बारे में अधिक जानकारी होती है।

चौथे, परिवार और बच्चों के अतिरिक्त शिक्षित महिलाओं की और भी रुचियाँ होती हैं। इससे उनके पास बच्चों के लिए कम समय होता है और वे कम बच्चे पसद करती हैं।

गर्भनिरोधक उपायों के अतिरिक्त सरकार ने उपरोक्त कारकों पर भी बल दिया है। समाज कल्याण कार्यक्रम के कुछ आधार इस प्रकार हैं :

i) समाज कल्याण बिना किसी जबरदस्ती के स्वैच्छा से स्वीकार करना।

ii) सरकार की भूमिका यह है कि वह छोटा परिवार अपनाने के लिए उपयुक्त वातावरण बनाए। ऐसा लोगों में जागरूकता, सूचना व शिक्षा द्वारा किया जा सकता है। सरकार ने इस बात पर बल दिया कि परिवार नियोजन सुविधाएँ और कल्याणकारी सेवाएँ जैसी बुनियादी सुविधाएँ, आवश्यक दवाइयाँ, टीके और गर्भ–निरोधक गोलियाँ आसानी से उपलब्ध हों। सरकार लोगों को परिवार नियोजन अपनाने के लिए प्रोत्साहन दे रही है।

iii) परिवार कल्याण कार्यक्रम में माँ और बच्चों की स्वास्थ्य सेवाओं का एकीकरण किया गया है। यह एकीकरण प्राथमिक चिकित्सा केन्द्रों और सहायक संस्थाओं के माध्यम से क्रियान्वित किया जा रहा है।

9.9.3 राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000

हाल ही में सरकार द्वारा राष्ट्रीय जनसंख्या नीति 2000 की घोषणा की गई है जिसमें गर्भ–निरोधक सुविधाओं, स्वास्थ्य देखभाल, आधारभूत संरचना, स्वास्थ्यकर्मियों तथा समन्वित सेवाओं की उपलब्धता आदि पर बल दिया गया है। इस नीति के तहत दीर्घकालीन लक्ष्य तो 2045 तक देश की जनसंख्या में स्थिरता लाना है पर साथ ही मध्यकालीन लक्ष्य सन् 2001 तक कुल उर्वरकता दर को घटाकर पुनःस्थापन दर (replacement) के स्तर तक लाना।

उपरोक्त लक्ष्यों को पूरा करने के लिए छोटे परिवारों, विशेष रूप से प्रति दम्पति 2 बच्चों तक सीमित करना, को प्रोत्साहित करने की योजना है। ऐसे प्रोत्साहनों के लिए पंचायतों एवं जिला परिषदों को पुरस्कृत करने की व्यवस्था है। दूसरी ओर बाल–विवाह के विरुद्ध कठोर कार्यवाही का प्राविधान है। प्रधानंत्री की अध्यक्षता में जनसंख्या पर एक राष्ट्रीय आयोग गठित किया जाना है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

नई नीति में पूर्व में लिए गए सभी मर्यादित कार्यों को जारी रखा जाएगा। पर इस नीति में यह नहीं बताया गया कि जो व्यक्ति प्राविधानों का उल्लंघन करेंगे, उनके विरुद्ध क्या कार्यवाही की जाएगी।

9.9.4 जनसंख्या नीति का मूल्यांकन

सरकार के भारी प्रयत्नों के बावजूद सरकार का परिवार कल्याण कार्यक्रम सफल नहीं हो पा रहा है। प्रथम योजना से ही निर्धारित उद्देश्य पूरे नहीं हो पा रहे हैं। इससे उद्देश्यों में बार–बार परिवर्तन लाया जाता है। उदाहरण के लिए, 1962 में यह लक्ष्य तय किया गया कि अशोधित जन्मदर घटाकर 1973 तक 25 पहुँच जाएगी। 1968 में इस लक्ष्य में संशोधन कर इसे 1978-79 तक 23 पर पहुँचाने का लक्ष्य रखा गया। लेकिन 1973 में वास्तविक दर 34.6 थी। 1974 (पंचवर्षीय योजना का प्रारम्भ) में यह लक्ष्य फिर बढ़ाकर 1979 में 30 और 1983-84 में 25 कर दिया गया। लेकिन 1985 में यह दर 32.9 थी जो लक्ष्य से काफी ऊपर थी। 1998 में कुल जन्म क्षमता दर को वर्ष 2026 तक वर्तमान 3.60 से घटाकर 2.1 करने का लक्ष्य रखा है।

सरकार के परिवार कल्याण कार्यक्रम के खराब प्रदर्शन के पीछे बहुत से कारण हैं :

- यह कार्यक्रम मुख्यतः सरकारी कार्यक्रम ही रहा। समाज की भागीदारी मामूली रही।
- इस कार्यक्रम में प्रादेशिक विभिन्नताओं को ध्यान में नहीं रखा गया। बहुत से राज्यों में स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएँ कमजोर रहीं।

- देश में गर्भ–निरोधकों (contraceptives) की कमी रही जिससे जन्मदर ऊँची रही। जनसंख्या में 20 प्रतिशत वृद्धि तो केवल अनचाहे जन्मों के कारण हुई। बहुत से माँ बाप और बच्चे नहीं चाहते लेकिन फिर भी बच्चे पैदा होते हैं क्योंकि उन्हें गर्भ–निरोधकों के बारे में जानकारी की कमी रहती है।

- इसको लागू करने वाले सरकारी कर्मचारियों का नित्यक्रम केवल लक्ष्यों के बारे में रिपोर्ट करने तक ही सीमित था। इसके फलस्वरूप कार्यक्रम की कमियाँ जानना और इन्हें दूर करना संभव नहीं हो पाया।

नवीं योजना में फिर इन कार्यक्रमों पर बल दिया गया। मृत्युदर में कमी तो अपनी सीमा तक पहुँच चुकी है। अब केवल जन्मदर में गिरावट लाने की आवश्यकता है।

बोध प्रश्न 4

1) भारत विश्व में ऐसा प्रथम देश क्यों माना जाता है जिसने जनसंख्या नियंत्रण कार्यक्रम चालू किया?

.....

.....

.....

.....

.....

2) 1976 की राष्ट्रीय जनसंख्या नीति के मुख्य पहलू बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

9.10 सारांश

इस इकाई के प्रारम्भ में हमने जनसंख्या वृद्धि का आर्थिक विकास से संबंध बताया। हमने बताया कि किस प्रकार जनसंख्या वृद्धि आर्थिक विकास में सहायता करती है और बाधा पहुँचाती है। हमने तेजी से बढ़ते शहरीकरण की आर्थिक विकास में भूमिका के बारे में भी बताया।

भारत में 1921 तक जनसंख्या वृद्धि में उतार–चढ़ाव आते रहे लेकिन 1921 के पश्चात् यह निरंतर बढ़ती रही। आजादी के बाद से तो यह तेजी से बढ़ी। इसका प्रभाव जनसंख्या की युवा आयु संरचना में साफ नजर आता है। देश की 40% आबादी 15 वर्ष से कम उम्र की है। भारत की शहरी आबादी भी पिछले चार दशकों में तेजी से बढ़ी हैं। इसका एक प्रमुख पहलू है जनसंख्या का कुछ बड़े शहरों और कस्बों में केन्द्रित होना। इसके अतिरिक्त बड़े शहर छोटे शहरों की अपेक्षा तेजी से बढ़ रहे हैं।

हमने जन्म क्षमता, मृत्युदर, प्रवास आदि कारकों के बारे में पढ़ा जो कि जनसंख्या के आकार और वृद्धि दर पर सीधा प्रभाव डालते हैं। जन्मक्षमता और मृत्युदर के विभिन्न मापों और उनमें प्रवृत्ति के बारे में जाना। तत्पश्चात् अशोधित जन्मदर और मृत्युदर में प्रादेशिक विभिन्नताओं के बारे में जानकारी ली।

भारत की जनसंख्या नीति के रूप में भारत सरकार के प्रयत्नों का खुलासा किया गया। 1976 के भारत के जनसंख्या नीति वक्तव्य की विशेषताएँ और आलोचनाएँ बताई गई। प्रादेशिक विभिन्नताओं को ध्यान में रख उपयुक्त जनसंख्या नीति बनाने पर बल दिया गया।

विश्व में भारत पहला देश था जिसने 1952 में जनसंख्या नीति निर्धारण तथा क्रियान्वयन का कार्य किया। परन्तु इस नीति में नैदानिक दृष्टिकोण अपनाया गया। 1976 की जनसंख्या नीति में परिवार नियोजन को अपनाने हेतु कई कदम उठाए गए। इनमें सम्मिलित हैं— परिवार नियोजन हेतु केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों के लिए दी जाने वाली आर्थिक सहायता का 8% भाग परिवार नियोजन हेतु अलग रखना, लड़कों एवं लड़कियों की विवाह उम्र को बढ़ाकर क्रमशः 21 एवं 18 वर्ष रखना, लड़कियों की शिक्षा को वरीयता आदि। परन्तु इन सभी कदमों का प्रदर्शन आशा के अनुकूल नहीं रहा।

9.11 शब्दावली

अशोधित जन्मदर (Crude Birth Rate): यह एक वर्ष में एक भौगोलिक क्षेत्र में कुल जीवित शिशुओं का उस क्षेत्र की उस वर्ष की मध्य वर्ष जनसंख्या का अनुपात है।

अशोधित मृत्युदर (Crude Death Rate): यह एक वर्ष में एक भौगोलिक क्षेत्र में कुल मृत्यु का उस क्षेत्र की उस वर्ष की मध्य वर्ष जनसंख्या का अनुपात है।

जनन क्षमता (Fertility) : इससे अभिप्राय महिलाओं द्वारा गर्भधारण करने की आयु के दौरान शिशुओं के जन्म देने से है। परम्परागत, जनन क्षमता अशोधित जन्मदर के रूप में मापी जाती है। लेकिन सामान्य क्षमता दर जनन क्षमता का एक बेहतर सूचक है।

MAADHYAM IAS

सामान्य जनन क्षमता दर यह प्रजनन आयु की स्त्री जनसंख्या के आकार पर आधारित है और एक वर्ष में एक भौगोलिक क्षेत्र की जनसंख्या जनन क्षमता प्रभावशाली ढंग से निर्धारित करती है।

शिशु मृत्युदर एक भौगोलिक क्षेत्र में एक कलेण्डर वर्ष में प्रति हजार जीवित शिशुओं के पीछे 0-1 आयु वर्ग में मृत्यु की संख्या।

ह्रासमान प्रतिफल नियम यदि एक आगत में वृद्धि हो, जबकि अन्य आगतों की मात्रा स्थिर रखी जाए, तो एक सीमा के पश्चात् उस आगत का सीमांत उत्पाद गिरता जाता है। इसके कारण एक सीमा के पश्चात् कुल उत्पाद भी गिरने लगता है।

प्रवसन (Migration) इससे अभिप्राय व्यक्तियों का एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे भौगालिक क्षेत्र के बीच गतिशीलता से है। यह गतिशीलता गाँव से शहर को, एक गाँव को हो सकती है। यदि कोई व्यक्ति बंगलादेश से आकर भारत में रहता है तो यह अंतर्राष्ट्रीय प्रवसन कहलाएगा।

वृद्ध जनसंख्या वह जनसंख्या जिसमें बीच की उम्र व बड़ी उम्र के लोगों का अनुपात अधिक होता है। हमारी

जनसंख्या वृद्ध जनसंख्या नहीं है। भारत की जनसंख्या का कुल 6 प्रतिशत 60 वर्ष से अधिक आयु का है।

लिंग अनुपात : प्रति हजार पुरुषों के पीछे स्त्रियों की संख्या। 1991 में यह अनुपात 929 था। अधिकतर विकसित देशों में लिंग अनुपात 1000 से अधिक होता है क्योंकि इन देशों में स्त्री मृत्युदर विकासशील देशों की अपेक्षा कम होती है।

शहरी क्षेत्र : 1991 की जनगणना के अनुसार एक शहरी क्षेत्र की परिभाषा इस प्रकार है :

1. वे सभी स्थान जहाँ नगर निगम, केन्टोनमेंट बोर्ड, अधिसूचित कस्बा क्षेत्र, कमेटी आदि हों, तथा

2. वे सभी स्थान जो निम्नलिखित मापदण्ड पूरे करते हों :

i) न्यूनतम जनसंख्या 5000;

ii) न्यूनतम 75 प्रतिशत कार्यकारी पुरुष गैर--कृषि कार्यों में लगें हो; तथा

iii) जनसंख्या सघनता : कम से कम 400 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर हो।

गरीबी का दुष्चक्र (Vicious circle of poverty) : विकासशील देशों में बचत का स्तर नीचा होता है। जिससे निवेश कम रहता है। प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा कम रहती है जिससे कम उत्पादन होता है। कम उत्पादन के कारण आय कम रहती है और परिणामस्वरूप बचत कम रहती है।

युवा जनसंख्या (Young Population) : एक ऐसी जनसंख्या जिसमें बच्चों, किशोरों और युवा वयस्कों का अनुपात अधिक हो। हमारी जनसंख्या युवा है क्योंकि इसका 40 प्रतिशत 15 वर्ष से कम आयु का है।

9.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Cassen, R.H. (1978) : *India : Population, Economy, Society,* Chapter 4, Macmillan Press.

Government of India, (1998) : *Ninth Five Year Plan 1997-2002,* Planning Commission, New Delhi.

Dutta, R. and Sundaram, (2001) : *Indian Economy,* S. Chand & Co., New Delhi.

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) c

2) b

3) a

बोध प्रश्न 2

1) ऊँची निर्भरता दर का अर्थ होता है श्रमिकों की अपेक्षा उपभोक्ताओं की संख्या अधिक। बचत और निवेश की दरों में कमी इसके प्रतिकूल प्रभाव होते हैं। परिणामस्वरूप आर्थिक संवृद्धि की दर धीमी पड़ जाती है।

2) i) लिंग अनुपात स्त्रियों के पक्ष में रहता है क्योंकि स्त्री शिशुओं की उत्तरजीविता की दर अधिक होती है।

   ii) जनसंख्या वृद्धि की ऊँची दर समाज में बच्चों के अधिक अनुपात का कारण है।

3) i) जनसंख्या युवा उस समय कहलाती है जब इसमें बच्चों और किशोरों का ऊँचा अनुपात हो।

   ii) जनसंख्या वृद्धि उस समय कहलाती है जब इसमें अधेड़ उम्र और वृद्धों का अनुपात ऊँचा हो।

बोध प्रश्न 3

1) अनुपात में दशमलव बिन्दु से बचने के लिए अशोधित जन्मदर और मृत्युदर को 1000 से गुणा किया जाता है।

2) कुल जनन क्षमता दर जन्मदर में आयु विशिष्ट विभिन्नताएँ ध्यान में रखती है।

3) नीची जनन क्षमता : केरल व गोवा।

   ऊँची जनन क्षमता : उत्तर प्रदेश व मध्य प्रदेश।

बोध प्रश्न 4

1) 1952 में भारत विश्व का सर्वप्रथम ऐसा देश था जिसने जनसंख्या नीति बनाई और लागू की।

2) 1976 की जनसंख्या नीति में जन्मदर कम करने के आधारभूत उपाय सुझाए गए हैं। इसमें परिवार नियोजन की सफलता के आधार पर राज्य योजनों को वित्त देना, 1971 जनगणना के आधार पर विधायिकाओं में प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित करना, विवाह की उम्र बढ़ाना और स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन देना प्रमुख हैं।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

इकाई 10 मानव संसाधन विकास

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 भारत में शिक्षा का प्रावधान

- 10.2.1 शिक्षा का महत्व
- 10.2.2 शैक्षिक उपलब्धि में भारत का रिकार्ड
- 10.2.3 भारत की शैक्षिक उपलब्धियों के संबंध में कुछ कमियां
- 10.2.4 भारत में शिक्षा नीति तथा रणनीति

10.3 भारत में स्वास्थ्य सेवा

- 10.3.1 भारत में आधारभूत स्वास्थ्य सेवा
- 10.3.2 स्वास्थ्य सेवा हेतु आबंटन
- 10.3.3 स्वास्थ्य सेवा हेतु वित्त
- 10.3.4 विकासोन्मुख देशों में व्यय की संरचना एवं घटक
- 10.3.5 भारत में स्वास्थ्य योजनाएं एवं नीतियाँ

10.4 भारत में सामाजिक सुरक्षा

- 10.4.1 सामाजिक सुरक्षा क्या है?
- 10.4.2 सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के दृष्टिकोण
- 10.4.3 संगठित क्षेत्र में भारत में सामाजिक सुरक्षा
- 10.4.4 असंगठित क्षेत्र में सुरक्षा

10.5 सारांश

10.6 शब्दावली

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर और संकेत

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.0 उद्देश्य

आपने पिछली इकाई में जनसंख्या एवं इससे संबंधित कुछ पक्षों का अध्ययन किया है। इस इकाई में जनसंख्या की गुणवत्ता पर बातचीत की जायेगी। उत्पादक पूंजी के रूप में मनुष्य का अध्ययन तथा राज्य द्वारा शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सामाजिक सुरक्षा के माध्यम से मानवीय पूंजी में विनियोग पर यहाँ चर्चा की जा रही है। इस विनियोग से मानवीय पूंजी की गुणवत्ता तथा उत्पादकता में वृद्धि होती है। हम यहाँ पर यह भी विचार करेंगे कि भारत की जनता में से किन लोगों को सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है तथा सरकार इस विषय में कहाँ तक सफल हो सकी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शिक्षा नीति तथा भारत में शिक्षा की स्थिति का वर्णन कर सकेंगे;
- गरीबी, स्वास्थ्य और विकास के बीच के संबंध को स्पष्ट कर सकेंगे;
- भारत में सरकार की स्वास्थ्य संबंधी नीति का वर्णन कर सकेंगे;
- स्वास्थ्य संबंधी नीति के कुछ प्रमुख घटकों का मूल्यांकन कर सकेंगे और यह भी बता सकेंगे कि इस नीति का भारत की जनता के स्वास्थ्य पर कहां तक प्रभाव पड़ा है; और

- भारत से संबंधित सामाजिक सुरक्षा के विभिन्न घटकों को स्पष्ट कर सकेंगे और उनके संबंध में जो प्रावधान किए गए हैं, उनकी सफलता की मात्रा के संबंध में विचार–विमर्श कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

1940 और 1950 के दशकों में एशिया, अफ्रिका और अमेरिका सहित अनेक देश औपनिवेषिक दासता से मुक्त हो गए। इनमें से भारत भी एक था। अनेक दशकों तक विदेशी शासन के अधीन रहने के कारण इनमें से प्रायः सभी देश अत्यंत निर्धन हो गए थे। जो देश स्वतंत्र हुए, उन्होंने मुख्यतः अपने आर्थिक विकास पर जोर दिया तथा विकास करने का साधन राष्ट्रीय आय को बढ़ाना माना। इसके लिए भौतिक पूंजी के संचय पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया। आगे चल कर इस नीति का वांछित उद्देश्य सामाजिक विकास करना हो गया। इस इकाई में सामाजिक विकास संबंधी कुछ नीतियों से आपको परिचित कराया जाएगा। विशेषतः इस संबंध में शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा संबंधी नीतियों पर विचार किया जाएगा। इस अध्ययन के बाद आप यह पायेंगे कि विकास प्रक्रियाओं और कार्यकलापों का अंतिम उद्देश्य लोगों के जीवन में सुधार लाना होता है।

इसलिए इस इकाई में सरकार द्वारा किए जाने वाले कुछ उन कल्याण कार्यों के संबंध में विचार किया जाएगा जो मानव संसाधनों के विकास के रूप में होते हैं। जिन विषयों पर चर्चा की जाएगी वे हैं–शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा। यह सच है कि भारत में ये कार्य कुछ सीमा तक निजी क्षेत्रों द्वारा भी किए जा संकते हैं और किए भी जा रहे हैं। परंतु यहां पर हम यही चर्चा करेंगे कि सरकार ने क्या किया है और अपने प्रयास में वह कहां तक सफल रही है? विकास के सिद्धांतों को विकसित करने के दौरान कुछ अर्थशास्त्रियों की मान्यता थी कि किसी राष्ट्र के विकास की प्रक्रिया में मानव संसाधनों का उतना ही महत्व होता है जितना कि भौतिक और प्राकृतिक संसाधनों का। इस संकल्पना से संबंधित यह विचार था कि जिस प्रकार से किसी राष्ट्र की भौतिक और वित्तीय परिसंपत्तियों में इस आशा में निवेश किया जाता है कि उनका प्रतिफल भविष्य में मिलेगा, उसी प्रकार किसी राष्ट्र के लिए यह भी आवश्यक होता है कि वह भविष्य में प्रतिफल की आशा से मानव संसाधनों में भी निवेश करे। शुरू–शुरू में शिक्षा को सर्वोत्कृष्ट मानव पूंजी माना जाता था। आगे चलकर विकास के क्षेत्र में अनुसंधान बढ़ने के साथ ही मानव पूंजी के समान ही स्वास्थ्य को भी महत्वपूर्ण माना जाने लगा।

इस विचार के साथ ही कि मानवीय पूंजी भौतिक पूंजी की ही तरह महत्वपूर्ण है, यह सवाल उठा कि विकास के अनुमापक के रूप में सकल राष्ट्रीय उत्पाद विकास का उचित मापदंड नहीं हो सकता तथा मानव विकास को मापने की लिए अन्य मापदंडों की आवश्यकता है। पिछली इकाई में विकास के अन्य मापदंडों जैसे जीवन के भौतिक गुणवत्ता का निर्देशांक (Physical Quality of Life Index (PQLI) अथवा संयुक्त राष्ट्र का मानव विकास निर्देशांक के विषय में आपको जानकारी दी गई है। प्रस्तुत चर्चा में ये मापदंड बड़े प्रासंगिक हैं।

10.2 भारत में शिक्षा का प्रावधान

ऐसा क्यों है कि किसी राष्ट्र और उनके लोगों के विकास के लिए शिक्षा का महत्व बढ़ गया है। शिक्षा को अब पूंजीगत पदार्थों के ही समान माने जाने लगा है जो कुशल श्रमिक संख्या के रूप में मानव पूंजी की व्यवस्था करती है। यह उपभोक्ता वस्तुओं के रूप में भी सार्थक सिद्ध होती है जिसके उपभोग से मानव जीवन की गुणवत्ता में बहुत अधिक सुधार हो जाता है। इस प्रकार शिक्षा का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया है।

10.2.1 शिक्षा का महत्व

सबसे पहली बात यह है कि शिक्षा का अपना ही महत्व होता है। शिक्षित होना अपने आप में ही महत्वपूर्ण होता है। दूसरी बात है कि शिक्षित व्यक्ति अनेक महत्व के कार्यों को कर पाता

है। आसानी से वह नौकरी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसकी आमदनी बढ़ जाती है जिससे उसकी क्रयशक्ति बढ़ जाती है और उसका जीवन स्तर ऊंचा उठ जाता है। तीसरी बात है कि शिक्षित होने से वह सामाजिक आवश्यकताओं के संबंध में विचार–विमर्श करने लगता है और समूह की मांगों को सरलतापूर्वक सामूहिक रूप से पेश कर पाता है। चौथी बात है कि स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने का लक्ष्य औपचारिक शिक्षा से भी अधिक होता है। स्कूल में बच्चों के जाने से एक ओर तो वे अन्य बच्चों के संपर्क में आते हैं जिससे उनकी सोच का दायरा बढ़ जाता है और दूसरे बाल श्रम की मात्रा घट जाती है। अंततः शिक्षा की शक्तिदायक और वितरक भूमिकाएं होती हैं। सुविधाओं से वंचित लोगों को शिक्षा इस योग्य बनाती है कि वे अन्याय और अत्याचार का विरोध कर सकें और अपने को राजनीतिक रूप से संगठित कर सकें। यहां तक कि यदि एक व्यक्ति भी शिक्षित हो जाता है तो वह दूसरों को संगठित होने में सहायता कर सकता है। अन्य प्रकार के वंचनों को कम करने में भी शिक्षा सहायक होती है। उदाहरणार्थ केरल में उस शिक्षा के बल पर जाति अवरोध और स्त्री–पुरुष भेद बहुत कुछ कम हो गए हैं।

10.2.2 शैक्षिक उपलब्धि में भारत का रिकार्ड

शुरू से अब तक की पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान आर्थिक विकास में शिक्षा के महत्व और उसकी भूमिका पर बल दिया गया। उच्च शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, प्रबंध शिक्षा तथा अनुसंधान और विकास जैसे क्षेत्रों में भारत ने बहुत अधिक प्रगति की है। प्रायः कहा जाता है कि भारत से प्रतिभाशाली और प्रशिक्षित वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, डाक्टरों, कंप्यूटर विशेषज्ञों, प्रबंधकों एवं अन्य क्षेत्रों के प्रतिभाशाली छात्रों द्वारा अन्य देशों को चले जाने के कारण भारत से विकसित देशों को प्रतिभा का पलायन (brain drain) हो रहा है। लेकिन इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि भारत ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों को काफी समय से पैदा करता आ रहा है। इसीलिए आज भारत में ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तियों की संख्या चीन की तुलना में छः गुणी हो गयी है। लेकिन हमें शिक्षा के क्षेत्र में समग्र उपलब्धियों की चर्चा करनी है।

शिक्षा संस्थाओं, नामांकनों और अध्यापकों के रूप में शैक्षिक आधारित संरचना को बढ़ाने में भारत ने बहुत अधिक प्रगति की है।

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

संस्थाएं

1951 से 1995 के बीच इस देश में प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 2.1 लाख से बढ़कर 5.9 लाख हो गई जो 181 प्रतिशत वृद्धि थी। इसी अवधि में उच्च प्राथमिक विद्यालयों की संख्या 13 हजार से बढ़कर 1.71 लाख हो गई जो 1216 प्रतिशत की वृद्धि थी। 1995 में 72 हजार माध्यमिक विद्यालय थे। 1961 से 1995 के बीच उच्च माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 17 हजार से बढ़कर 24 हजार हो गई, जो 460 प्रतिशत की वृद्धि थी। आर्थिक सर्वेक्षण 2000-1 के अनुसार 1951 से 1995 के बीच विश्वविद्यालयों की संख्या 27 से बढ़कर 185 हो गई, जो 740 प्रतिशत वृद्धि थी। कालेजों की संख्या लगभग 11000 है। इसके अतिरिक्त 42 समकक्ष (Deemed) विश्वविद्यालय तथा 5 केन्द्रीय एवं राज्य अधिनियमों के तहत स्थापित संस्थान हैं। छठे अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण (1993) के अनुसार कुल ग्रामीण वास स्थान (habitation) के 83.4 प्रतिशत के अंतर्गत 1 कि.मी. के अन्तर्गत ही प्राथमिक विद्यालय थे।

अध्यापक

1951 से 1995 के बीच प्रारंभिक एवं प्राथमिक विद्ययालयों में पढ़ाने वाले अध्यापकों की संख्या 7.5 लाख से बढ़कर 43.98 लाख हो गई जो छः गुना वृद्धि थी। 1995 में कुल अध्यापकों में महिला अध्यापकों की संख्या 34 प्रतिशत थी।

नामांकन (Enrolment)

सभी प्रकार की शिक्षा संस्थाओं में नामांकन में अत्यधिक वृद्धि हुई है। 1951-1995 के बीच प्राथमिक स्तर पर नामांकन की संख्या 192 लाख से बढ़कर 1097.3 लाख हो गई तथा उच्च प्राथमिक स्तर पर नामांकन की संख्या 31 लाख से बढ़कर 401.1 लाख हो गई। 1951 और 1995-96 के बीच उच्च माध्यमिक स्तर पर नामांकन की संख्या 15 लाख से बढ़कर 249 लाख

हो गई जो 1560 प्रतिशत की वृद्धि थी। इसी अवधि में छात्राओं का नामांकन 13 प्रतिशत से बढ़कर 25 प्रतिशत हो गया।

1951 में समग्र नामांकन अनुपात 6-11 आयु वर्ग के लिए 42.6 प्रतिशत था जबकि 11-14 आयु वर्ग के लिए यह 12.7 प्रतिशत था। 1995 तक ये बढ़कर क्रमशः 104.3 और 67.6 हो गये। बालक–बालिकाओं के अलग अलग नामांकन के संबंध में हम पाते हैं कि 1995 में 6-11 आयु वर्ग में नामांकन अनुपात बालिकाओं की स्थिति में 93.3 प्रतिशत था जबकि बालकों की स्थिति में यह अनुपात 114.5 प्रतिशत था। उसी वर्ष में 11-14 आयु वर्ग में ये अनुपात बालिकाओं और बालकों के लिए क्रमशः 54.9 प्रतिशत और 79.5 प्रतिशत थे।

परन्तु इस विषय में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान परिषद के अनुमान शिक्षा मंत्रालय के अनुमानों से काफी कम हैं। परिषद का अनुमान है कि 1997 में प्राइमरी स्तर पर बालकों का नामांकन (enrolment) 90 प्रतिशत तथा बालिकाओं का 73 प्रतिशत था। 1998-99 वर्ष के दौरान भारत में प्राइमरी स्तर पर (कक्षा 1-4 तक) बालक एवं बालिकाओं का कुल मिलाकर नामांकन अनुपात 92.14 प्रतिशत था। लड़कों के मामले में यह अनुपात 100.86 प्रतिशत था जबकि लड़कियों के लिए 82.85 प्रतिशत।

परंतु उच्च प्राइमरी स्तर पर कुल नामांकन अनुपात 58 प्रतिशत था जिसमें लड़कों का प्रतिशत 65.27 तथा लड़कियों का 49.08 था।

अब हम अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के नामांकन के संबंध में विचार करेंगे। 1980-81 में पहली से पांचवीं कक्षाओं के लिए समग्र नामांकन अनुसूचित जाति के बालकों के लिए 105.4 प्रतिशत, अनुसूचित जनजाति के लिए 94.2 प्रतिशत एवं अखिल भारत के लिए 95.8 प्रतिशत था। बालिकाओं के लिए ये प्रतिशत क्रमशः 57.8, 45.9 और 64.1 थे। कुल आबादी के लिए यह प्रतिशत क्रमशः 82.2, 70.0 और 80.5 थे। अब हम हाल के वर्ष 1995-96 के संबंध में विचार करेंगे। बालकों के संबंध में अनुसूचित जातियों के लिए प्रतिशत 129.9, अनुसूचित जनजातियों के लिए 130.0 प्रतिशत और अखिल भारत के लिए 114.5 प्रतिशत था। बालिकाओं के संबंध में ये प्रतिशत अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों दोनों ही के लिए 94.9 तथा अखिल भारत के लिए 93.3 थे।

MADHYAM IAS
way to achieve your dream

अब हम 1980-81 के संबंध में छठी से आठवीं कक्षाओं के संबंध में विचार करेंगे। बालकों के संबंध में अनुसूचित जातियों के लिए 41.4 प्रतिशत, अनुसूचित जनजातियों के लिए 28.2 प्रतिशत तथा अखिल भारत के लिए 54.3 प्रतिशत था। बालिकाओं के संबंध में ये प्रतिशत क्रमशः 16.2, 10.8 और 28.6 थे। कुल आबादी के लिए बालकों और बालिकाओं के लिए सम्मिलित रूप से अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों एवं अखिल भारत के संबंध यह संख्या क्रमशः 29.1, 19.5 और 41.9 थी। अब हम वर्ष 1995-96 के संबंध में विचार करेंगे। बालकों के संबंध में ये प्रतिशत अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अखिल भारत के लिए क्रमशः 60.7, 60.8 और 79.5 थे। बालिकाओं के लिए ये प्रतिशत अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अखिल भारत के लिए क्रमशः 37.1, 37.1 और 55.0 थे। कुल आबादी के लिए अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अखिल भारत के लिए नामांकन प्रतिशत क्रमशः 49.2, 49.2 और 67.6 था।

10.2.3 भारत की शैक्षिक उपलब्धियों के संबंध में कुछ कमियाँ

भारत ने 1980 तथा 1990 के दशकों में शिक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है। 1950 में साक्षरता की दर 20 प्रतिशत से कम थी। यहाँ तक कि 1975 तक यह दर 30 प्रतिशत तक ही थी। परंतु 1991 से 1997 के बीच साक्षरता दर 52 प्रतिशत से बढ़कर 64 प्रतिशत हो गयी। पुरुष साक्षरता दर 64 प्रतिशत से बढ़कर 73 प्रतिशत तथा महिला साक्षरता दर 39 से बढ़कर 50 प्रतिशत हो गयी। उत्साहवर्धक बात तो यह है कि अपेक्षाकृत गरीब राज्यों जैसे – यू.पी, राजस्थान तथा बिहार में साक्षरता दर में पर्याप्त इजाफा हुआ है। इस प्रकार 1991 में बिहार एवं राजस्थान जो साक्षरता की दृष्टि से सबसे नीचे थे की साक्षरता दर में 1990-96 के दौरान क्रमशः 39 से 55 प्रतिशत तक 38 से 40 प्रतिशत प्रगति हुई।

दूसरी बात यह है कि भारत के विभिन्न राज्यों द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में प्राप्त उपलब्धियां अलग अलग रही हैं। उदाहरणार्थ, स्त्री साक्षरता दर राजस्थान में 20 प्रतिशत तथा उत्तर प्रदेश में 25 प्रतिशत है जबकि केरल में यह 86 प्रतिशत है। साक्षरता की दर को ऊंचा उठाने के संबंध में विभिन्न राज्यों ने अलग अलग ढंग से प्रयास किया हैं तथा इस संबंध में उनकी नीतियां अलग अलग रही हैं।

तीसरी बात यह है कि शैक्षिक उपलब्धियों के संबंध में विभिन्न सामाजिक समूहों में और क्षेत्रों में बहुत अधिक असमानताएं हैं : पुरुषों और स्त्रियों के बीच, शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच तथा वर्ग और जाति समूहों के बीच। साक्षरता की निम्न औसत दर सहित इस विशेषता का अर्थ यह होता है कि समाज के वंचित समूहों में शिक्षा का स्तर अत्यधिक नीचा होता है। उदाहरणार्थ, भारत की कुल आबादी में अनुसूचित जाति की महिलाएं 16 प्रतिशत हैं परंतु उनमें साक्षरता दर मात्र 19 प्रतिशत है। कुल आबादी में अनुसूचित जनजाति की महिलाएं 8 प्रतिशत हैं तथा उनमें साक्षरता दर मात्र 16 प्रतिशत है। बिहार, मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान जैसे अनेक पिछड़े क्षेत्रों में 7 वर्ष और उससे अधिक उम्र की सभी स्त्रियों में साक्षरता दर 10 प्रतिशत से भी कम है।

चौथी बात यह है कि असाक्षरता सभी आयु वर्ग के लोगों में है, केवल अधिक उम्र वालों में नहीं। उदाहरणार्थ, 0-14 वर्ष के आयु वर्ग की महिलाओं में से 50 प्रतिषत असाक्षर हैं। शिक्षा के क्षेत्र में दुखद बात यह है कि कम आयु वर्ग के लोगों के बीच व्यापक रूप से असाक्षरता बनी हुई है।

पांचवी बात यह है कि भारत में नामांकन (enrolment) की दरें बहुत ही कम हैं। 12-14 वर्ष के आयु वर्ग की ग्रामीण स्त्रियों में से 50 प्रतिशत से अधिक स्त्रियों का नामांकन किसी स्कूल में कभी भी नहीं हुआ। बिहार, मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश के लिए यह अनुपात दो–तिहाई है, जबकि राजस्थान के लिए यह 82 प्रतिशत है। समस्त भारत में 10-14 वर्ष के आयु वर्ग की केवल 42 प्रतिशत स्त्रियां स्कूल जाती हैं।

छठी परेशानी की बात है छात्रों के निष्क्रामण (drop-rate) की अत्यधिक दर। यह अत्यधिक निश्क्रमण दर विद्यालय में उपस्थिति की कम संख्या में परिलक्षित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस देश में एक ओर तो छात्रों की नामांकन दर बहुत ही कम है और दूसरी ओर जिनका नामांकन होता है उनमें से बहुत से स्कूल छोड़ कर चले जाते हैं। साक्षर व्यक्तियों में प्राथमिक शिक्षा पूरा करने वालों का अनुपात बहुत ही कम है।

अर्थव्यवस्था की रोजगार की आवश्यकताओं और प्रशिक्षित जनशक्ति के बीच मेल न होने के कारण शिक्षित बेरोजगारों, विशेषतः सामान्य आर्ट डिग्री वालो की संख्या बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि इस देश से विकसित देशों को वैज्ञानिक और पेशेवर जनशक्ति के रूप में प्रतिभा पलायन बढ़ता जा रहा है जिसे भारत से इन देशों को आर्थिक सहायता कहा जा सकता है। इस जनशक्ति में डाक्टर, इंजीनियर आदि आ जाते हैं। इसीलिए यह दलील देने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है कि उच्च शिक्षा का निजीकरण कर देना चाहिए या कम से कम ऐसी शिक्षा संस्थाओं को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता बंद कर देनी चाहिए। कहा जाता है कि ऐसी आर्थिक सहायता से सामाजिक आर्थिक असमानता बढ़ती है। परंतु इस संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इन संस्थाओं को यदि सरकार की ओर से आर्थिक सहायता बंद की जाती है तो मेधावी छात्रों को, विशेषतः कम आय वालों को, आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। यही तर्क निजीकृत, खर्चीली एवं उच्च कोटि की चिकित्सा सुविधाओं के संबंध में भी दिया जाता है, जिनकी मात्रा पिछले दशक में बहुत ही बढ़ गई है। ऐसा इसलिए हुआ है नगरों एवं गांवों दोनों ही में ही आय के वितरण में असमानता बढ़ती जा रही है जिससे चिकित्सा के क्षेत्रों में भी असमानता हो रही है। प्रति व्यक्ति उपभोग व्यय की तुलना में चिकित्सा, देखभाल और शिक्षा पर निजी उपभोग व्यय अधिक तेजी से बढ़ा है।

सामान्य उच्च शिक्षा के विकृत ढंग से प्रसार तथा प्राथमिक/बुनियादी शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा एवं प्रौढ़ साक्षरता के क्षेत्र में पहले से चली आ रही अपूर्णता के कारण बिजली, सिंचाई या

उर्वरकों जैसे क्षेत्रों में किए गए निवेश की तुलना में शिक्षा के क्षेत्र में उत्पादिता लाने वाले सार्वजनिक निवेश कम हुए हैं।

10.2.4 भारत में शिक्षा नीति और रणनीति

भारत के संविधान में राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांतों (Directive Principles of State Policy) के चलते शिक्षा नीति को बल मिलता है। संविधान के अनुच्छेद 45 में कहा गया है कि राज्य का कर्तव्य है कि वह 14 वर्ष तक के उम्र के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करे। यह कार्य 1960 तक पूरा हो जाना था। प्रारंभिक शिक्षा का सार्वजनीकरण भारत में शिक्षा नीति की आधारशिला रही है। यह लक्ष्य अत्यधिक महत्वाकांक्षा से भरा रहा है तथा इसे प्राप्त करने के लिए जो प्रयास किए गए, वे पर्याप्त सिद्ध नहीं हुए। अभी तक भारत का कोई भी राज्य अनिवार्य शिक्षा के कार्यक्रम को कार्यान्वित नहीं कर पाया है। हाल में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने शिक्षा के अधिकार को मौलिक अधिकार घोषित कर दिया है।

शिक्षा के क्षेत्र में केंद्र और राज्यों के बीच सहयोग को बढ़ावा देने के लिए शिक्षा को संविधान की समवर्ती सूची (Concurrent List) में डाल दिया गया। बाद में कुछ कदम उठाये गए जैसे – प्राइमरी शिक्षा को बढ़ावा देने हेतु 1986 में आपरेशन ब्लाक बोर्ड कार्यक्रम, लगभग 150 जनपदों में जिला प्राइमरी शिक्षा कार्यक्रम के तहत 6-11 वर्ष की आयु के बीच विशेष रूप से बालिकाओं, सीमान्त समुदायों तथा अक्षम बच्चों को शिक्षा प्रदान करना। हाल में किए जाने वाले अन्य उपायों में शामिल हैं – संविधान के 73वें तथा 74वें संशोधन के तहत पंचायती राज संस्थाओं को प्राइमरी शिक्षा हेतु अधिक अधिकार देना, आदि।

भारत की शिक्षा नीति की एक त्रुटि यह रही है कि सरकार ने बार–बार बड़े ऊंचे लक्ष्यों की घोषणा तो कर दी लेकिन इन लक्ष्यों को प्राप्त करने संबंधी व्यावहारिक कदम उसने नहीं उठाये गये। वास्तविकता तो यह है कि इन कथित लक्ष्यों और वास्तविक नीति के बीच प्रायः असंगतियां ही पाई गईं। कभी कभी तो ये लक्ष्य प्रायः परस्पर विरोधी भी रहे हैं। किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय मानदंड की दृष्टि से भारत शिक्षा पर कम काम कर रहा है। 1996-97 में केंद्र तथा राज्य मिलाकर सकल घरेलू उत्पाद का चार प्रतिशत ही खर्च कर रहे थे। उदारीकरण की नीति के दौरान शिक्षा की क्या प्रवृत्ति होगी, कहना मुश्किल है। पर निजी क्षेत्र की भूमिका बढ़ेगी तथा शिक्षा पर सरकारी व्यय कम होने की संभावना है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा क्यों महत्वपूर्ण है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में शिक्षा के प्रदर्शन में क्या खामियाँ रही हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में शिक्षा नीति की मुख्य विशेषताओं को संक्षेप में बताइए।

.....

.....

.....

.....

10.3 भारत में स्वास्थ्य सेवा

भारत की जनता के लिए स्वास्थ्य सेवा एवं उनकी स्वास्थ्य स्थिति संतोषजनक नहीं है। वास्तव में इन दोनों ही के संबंध में हालत खराब है। अच्छा स्वास्थ्य अपने आप में ही वांछनीय लक्ष्य होता है, इसके साथ ही साथ इससे श्रम शक्ति की उत्पादिता बढ़ती है क्योंकि अन्य बातें पूर्ववत रहने पर स्वस्थ श्रमिक अधिक उत्पादक तथा कार्यकुशल होते हैं।

भारत में निर्धनता की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए आवश्यक है कि पोषण–शक्ति का एक निम्नतम स्तर बनाए रखा जाए। यदि आबादी के एक बहुत बड़े भाग का पोषण स्तर नीचा है तो उसका अर्थ होता है कि भारत की आबादी का एक बहुत बड़ा भाग अभी भी गरीबी की रेखा के नीचे है। निर्धन लोग संक्रमण रोगों से अधिक ग्रस्त होते हैं। इसके अतिरिक्त गरीबी के कारण उनकी क्रय शक्ति अत्यंत कम हो जाती है जिससे पोषक आहार नहीं मिल पाते, सफाई की व्यवस्था नहीं हो पाती तथा पीने का पानी और अच्छे ढंग का मकान उपलब्ध नहीं हो पाता। इस प्रकार इस देश में गरीबी, कुपोषण और निम्न स्तर का स्वास्थ्य, ये तीनों ही स्थितियां साथ साथ चलती हैं। इस परिच्छेद में हम स्वास्थ्य सेवा की व्यवस्था के संबंध में विचार करेंगे।

10.3.1 भारत में आधारभूत स्वास्थ्य सेवा

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में अनेक दिशाओं में स्वास्थ्य सेवाओं के संबंध में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है। उदाहरणार्थ पिछले चालीस वर्षों में अशोधित मृत्यु दर (crude death rate) प्रति वर्ष 27 प्रति हजार से घटकर प्रति हजार 9 से भी कम हो गई। जन्म के समय जीवन संभाविता (life expectancy) 1941-51 - 1985-86 के बीच 31-32 वर्ष से बढ़कर लगभग 54.7 वर्ष हो गई। 1999 तक प्रति हजार शिशु मृत्यु दर 160 से घटकर 70 हो गई। चेचक की बीमारी का उन्मूलन कर दिया गया है। मलेरिया एवं कुछ अन्य संप्रेषण रोगों से मृत्यु दर पर बहुत कुछ नियंत्रण पा लिया गया है। पोलियों को समाप्त करने के लिए सरकार ने वृहद कार्यक्रम शुरू किया है। 1955-56 से 1981-82 के बीच सरकार द्वारा स्वास्थ्य पर किया गया खर्च प्रति व्यक्ति 1.50 रु. से बढ़कर 27.86 रु. हो गया, हालांकि सकल राष्ट्रीय उत्पाद में इसका अंश मुश्किल से 2 प्रतिशत से अधिक हो पाया।

इस देश में स्वास्थ्य सेवा प्रणाली की सीमित उपलब्धता एवं ग्रामीण क्षेत्रों में इनके लगभग अभाव होने के कारण भारत सरकार ने प्रत्येक ब्लाक समुदाय विकास में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को स्थापित करने के संबंध में कदम उठाए हैं। भारत ने द्वितीय पंच वर्षीय योजना के अंत तक देश में 5000 प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों (PHC) की स्थापना की। भारत विश्व स्वास्थ्य संगठन के अल्मा आटा घोषणा पत्र (1978) का हस्ताक्षरकर्ता हो गया जिसके अनुसार भारत के लिए आवश्यक हो गया है कि वह 2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य की व्यवस्था करे। इसी के अनुसार 1982 में भारत सरकार ने संसद के दोनों सदनों में 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति' को पारित कराया। नौवीं पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत स्वास्थ्य एक प्राथमिकता के रूप में स्वीकार किया गया है और विभिन्न स्वास्थ्य कार्यक्रमों के समन्वय पर जोर दिया गया है।

10.3.2 स्वास्थ्य सेवा हेतु आबंटन

भारत और अन्य अधिकतर विकासशील देशों ने लक्ष्य रखा है कि वर्ष 2000 के अंत तक समस्त आबादी को स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान की जायेंगी। परंतु सचाई तो यह है कि इन देशों में इस समय

मूल सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं पर जो खर्च किये जा रहे हैं, वे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य शिक्षा, प्रतिरक्षण (immunisation) आदि जैसी कम लागत की सार्वजनिक सेवाओं पर बहुत ही कम निजी व्यय किया जा रहा है।

कम आय वाले देशों में स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति व्यय बहुत ही कम है। आय के बढ़ने के साथ साथ स्वास्थ्य सेवा की मांग अनुपात से अधिक बढ़ जाती है। ऐसा होने का आंशिक कारण यह है कि रोगों का स्वरूप निरोध्य संक्रमण रोगों से कार्डो वस्कूलर रोगों (Cardio-vascular diseases) जैसा होता जा रहा है। कार्डो–वस्कूलर प्रकार के रोगों का इलाज बहुत ही खर्चीला होता है। इस प्रकार विकसित देशों में निरोधक उपायों द्वारा रोगों और मृत्यु दर को कम किया जा सकता है। ये उपाय कम खर्चीले होते हैं। उदाहरणार्थ पेंसिलीन के आविष्कार से बहुत पहले ही आज के विकसित और धनी देशों में मृत्यु दर को बहुत कम कर लिया गया था। ऐसा सफाई की व्यवस्था एवं प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं द्वारा किया गया। 19वीं सदी के शुरू के वर्षों में इन देशों में भी संक्रामक रोगों की मात्रा बहुत अधिक थी। इन समाजों में आधुनिक दवाओं की भूमिका बहुत कम थी। विकासोन्मुख देशों में इस समय निरोधक और व्याधिशमक चिकित्सा सेवा पर धन का आवंटन करते समय इन बातों को ध्यान में रखना आवश्यक होता है।

विकासोन्मुख देशों में स्वास्थ्य सेवा सुविधाओं की एक दूसरी विशेषता यह है कि इन सेवाओं के लिए धन की व्यवस्था अभी भी मुख्यतः निजी व्यक्तियों द्वारा की जाती है। भारत और बंग्लादेश जैसे देशों में स्वास्थ्य सेवाओं पर किए जाने वाले कुल व्यय के 60 से 70 प्रतिशत तक की व्यवस्था निजी व्यक्तियों द्वारा की जाती है।

परंतु जहां तक दी जाने वाली सेवाओं की मात्रा का प्रश्न है, निजी क्षेत्र का अंश कम होता है क्योंकि सरकारी सुविधाओं की तुलना में निजी क्षेत्र की सुविधाएं बहुत अधिक खर्चीली होती हैं। निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा दी जाने वाली सेवाओं के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं क्योंकि ऐसे आंकड़ों के संकलन की व्यवस्था नहीं है।

10.3.3 स्वास्थ्य सेवाओं के लिए वित्त

MADHYAM IAS

विकासोन्मुख देशों में स्वास्थ्य पर व्यय किए जाने वाले धन की व्यवस्था प्रायः सामान्य कर राजस्व से की जाती है। अनेक देशों में जनसंख्या के कुछ भाग के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रणाली होती है। उदाहरणार्थ, भारत में केन्द्रीय सरकार के कर्मचारी केन्द्रीय सरकार स्वास्थ्य योजना (CGHS) सुविधा का लाभ उठाते हैं तथा संगठित क्षेत्र के उद्योगों के श्रमिक कर्मचारी राजकीय बीमा (ESI) का लाभ उठाते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं पर सरकार जो खर्च करती है, उसका थोड़ा भाग ही सेवाओं का उपभोग करने वालों से सामान्य लागत वसूली और उपभोक्ता प्रभार के रूप में प्राप्त हो पाता है। 1990-91 में सरकारी अस्पतालों में सरकार को जो खर्च करना पड़ा उसका 2 प्रतिशत से भी कम धन रोगियों से फीस के रूप में प्राप्त हो सका। इसके विपरीत 1970 के दशक में रोगियों से प्राप्त होने वाली रकम लगभग 6 प्रतिशत थी।

निजी क्षेत्र में स्वास्थ्य सेवाओं की वित्त व्यवस्था

इसके विपरीत निजी क्षेत्र में अस्पतालों के डाक्टरों व अन्य कर्मचारियों की सेवाओं पर जो रकम खर्च की जाती है, वह पूर्णतः रोगियों से प्राप्त हो जाती है। अधिकतर विकासोन्मुख देशों में तृतीय पक्ष–भुगतान एवं चिकित्सा बीमा की मात्रा बहुत ही कम होती है। हालांकि भारत जैसे कुछ देशों में अब चिकित्सा बीमा की व्यवस्था होने लगी है। विशेषतः सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों एवं निजी कंपनियों के कर्मचारी कंपनियों द्वारा प्रायोजित अनेक बीमा योजनाओं के अंतर्गत आते हैं। पर इन योजनाओं की मात्रा ज्ञात नहीं है।

10.3.4 विकासशील देशों में व्यय की संरचना एवं घटक

प्रश्न यह उठता है कि विकासशील देशों में जिस प्रकार के व्यय की आवश्यकता होती है, उसके स्वरूप और घटक क्या हैं? इसे ज्ञात करने के लिए बच्चा पैदा होने के पहले और बाद के एवं अन्य प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले व्यय का आकलन करना आवश्यक होता है। लेकिन ये आकलन कालक्रम (over time) एवं क्षेत्रों के अनुसार अलग अलग हो सकते हैं।

भारत में आम धारणा यह है कि इस देश में रोगों को रोकने पर किए जाने वाले व्यय की अपेक्षा उनके उपचार की सेवाओं पर अधिक खर्च किया जाता है। परंतु इस प्रकार के व्यय को पूर्णतः रोका भी नहीं जा सकता। अस्पतालों का होना आवश्यक होता है। ऐसी स्थिति में ऐसा किया जा सकता है कि परामर्श प्रणाली (referral system) में सुधार लाया जाए जो भारत में प्रायः नहीं के बराबर है।

अस्पतालों में भर्ती होने वाले रोगियों के प्रकार को यदि हम लें तो पाते हैं कि उनमें से बहुत बड़ी संख्या उन लोगों की है जो पेट की बीमारियों, पेचिस, सांस के रोग, टी.बी., कुपोषण के फलस्वरूप आने वाली परेशानियों आदि से पीड़ित होते हैं। सफाई की व्यवस्था और निवारक (Preventive) सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा पर अधिक बल देकर तथा ग्रामीण क्षेत्रों में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को और अधिक मजबूत बनाकर, नगरों में स्थानीय औषधालयों की व्यवस्था करके तथा द्वितीयक (Secondary level) स्तर के अस्पतालों (जिला स्तर के) में और सुधार लाकर इन रोगों पर काबू पाया जा सकता है। इस प्रकार यदि हम विकासशील देशों में अधिकतर अस्पतालों की लागत–प्रभाविता का विश्लेषण करें तो पाएंगे कि अस्पताल प्रणाली पर आवश्यक व्यय तो करना पड़ता है परंतु यह प्राथमिक स्तर की सुविधाओं और निवारक सेवाओं की तुलना में अत्यधिक लागत–अप्रभावी (cost ineffective) होती है।

स्वास्थ्य क्षेत्र में कोष की कमी के मुख्य कारण क्या हैं? ऐसा लगता है कि मुख्य कारण यह है कि अधिकतर विकासशील देशों में स्वास्थ्य सेवा प्रणाली अत्यंत केन्द्रीकृत है। इसके अतिरिक्त आमदनी की प्रक्रिया एवं युक्ति संगत परामर्श प्रणाली के रूप में कीमत निर्धारण तंत्र का उपयोग सही ढंग से नहीं किया जाता। इस संबंध में आगे चर्चा की जाएगी। स्वास्थ्य सेवाओं पर पर्याप्त मात्रा में व्यय नहीं हो पाता तथा जो स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध कराई जाती हैं, वे अच्छी किस्म की नहीं होतीं। इसका एक कारण यह है कि सरकार और सार्वजनिक क्षेत्र के स्वास्थ्य सेवा कर्मचारियों को पर्याप्त रूप में वेतन नहीं मिल पाता तथा उनके पास पर्याप्त मात्रा में ऐसी सामग्रियां उपलब्ध नहीं होती कि वे लोगों को सहायक सुविधाएं (Support Services) उपलब्ध करा सकें। उदाहरणार्थ, दवाओं के बजट एवं अनिवार्य देखभाल के व्यय के लिए पर्याप्त मात्रा में धन की व्यवस्था नहीं हो पाती। ऐसा प्रायः तब होता है जब बजट में कटौती की जाती है। चूंकि वेतन में कटौती तो की नहीं जा सकती, अतः बजट कटौती की स्थिति में दवाओं, उपकरणों एवं देखभाल पर होने वाले व्यय में कटौती करना होता है।

10.3.5 भारत में स्वास्थ्य योजनाएं और नीतियां

इस समय भारत में समग्र स्वास्थ्य योजना का उद्देश्य निरोधक लोक उन्मुख सेवाओं (Preventive Public Oriented Services) की व्यवस्था करना है तथा इस संबंध में ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसी सेवाओं को उपलब्ध कराने पर अधिक बल दिया जाता है। कम से कम सभी प्रकार के योजना प्रलेखों में इसी संबंध में जोर दिया गया है। परंतु वास्तविकता कुछ और ही है। इस समय भारत में स्वास्थ्य सेवाएं नगर–उन्मुखी, संपन्न व्यक्तियों पर अधिक ध्यान देने वाली तथा रोगों के उपचार पर जोर देने वाली हैं। फिर भी लोक निरोधक सेवाओं (public preventive services) के क्षेत्र में भी कुछ सफलता मिली है।

जहां तक व्यय का संबंध है, स्वास्थ्य के अंतर्गत चिकित्सा एवं सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यय आते हैं। स्वास्थ्य से संबंधित व्यय हैं – परिवार कल्याण, पोषण, आदि। भारत में स्वास्थ्य राज्य सरकारों के विषय के अंतर्गत आता है, परंतु परिवार कल्याण की व्यबस्था केन्द्रीय सरकार करती है। केंद्र में स्वास्थ्य के साथ जिन एजेंसियों का मुख्य रूप से संबंध है, वे हैं – स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय, श्रम मंत्रालय और समाज कल्याण विभाग। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (जिसका एक घटक पोषण है) जैसे अन्य विशिष्ट कार्यक्रमों का भी स्वास्थ्य नीतियों के साथ संबंध होता है।

अंत में कहा जा सकता है कि योजना आयोग सार्वजनिक निरोधक सेवाओं पर जोर देता है तथा स्वास्थ्य मंत्रालय प्रायः रोगों के उपचार सुविधाओं पर जोर देता है। इस प्रकार इन दोनों का कार्य ऐसे प्रयोजनों के लिए हो जाता है जो एक दूसरे के विरोधी होते हैं। एक दूसरी बात यह

कही जा सकती है कि परिवार कल्याण का महत्व बढ़ता जा रहा है, विशेषतः व्यय के संबंध में। अंतिम बात यह है कि स्वास्थ्य से संबंधित सरकारी बजट के व्यय अंश में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है।

बोध प्रश्न 2

1) राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति शुरू की गई थी :

   अ) 1950 में

   ब) 1969 में

   स) 1982 में

   द) 1991 में

2) सामान्य रूप से स्वास्थ्य क्षेत्र के लिए वित्त की कमी प्रायः क्यों होती है?

   .....

   .....

   .....

   .....

3) महामारी संक्रमण (Epidemiological trasition) से आप क्या समझते हैं?

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.4 भारत में सामाजिक सुरक्षा

आजादी के बाद भारत में सामाजिक सुरक्षा के जो उपाय किए गए हैं, उनके संबंध में विचार करने से पहले हम यह जानना चाहेंगे कि सामाजिक सुरक्षा का क्या अर्थ है, इसके अंतर्गत किस प्रकार की सेवाएं प्रदान की जाती हैं? इससे लाभ उठाने वाले कौन हैं? किन संस्थाओं के द्वारा ये सेवाएं प्रदान की जाती हैं? इत्यादि। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात तो यह जानना है कि सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता क्यों पड़ती है?

10.4.1 सामाजिक सुरक्षा क्या है?

भारत की बहुत बड़ी संख्या का विशेष रूप से गांवों में रहने वालों और निर्धन लोगों के लिए वंचित होना (deprivation) और दुर्बलता एक सचाई है। बंचन और दुर्बलता को दूर करने वाले विशेष प्रकार के सार्वजनिक कार्यों को सामाजिक सुरक्षा के उपायों का अंग माना जा सकता है।

सामाजिक सुरक्षा शब्द की परिभाषा करते समय परेशानी यह हो जाती है कि कहीं यह परिभाषा अत्यंत विशिष्ट या अत्यधिक सामान्य न हो जाए। विकसित देशों में कुछ बातें अत्यंत महत्व की हो गई हैं, जैसे – बेरोजगारी बीमा, वृद्धावस्था, पेंशन तथा अशक्तता (invalidity) हित लाभ। परंतु विकासशील देशों के संबंध में विचार करते समय ये विधियां उपयोगी और समुचित नहीं भी हो सकती हैं। सामाजिक सुरक्षा की संकल्पना की परिभाषा के संबंध में दूसरा खतरा यह

है कि यह बहुत अधिक सामान्य हो सकती है। उचित तो यह होगा कि परिभाषा को साधनों के रूप में न लेकर इसे वंचन को दूर करने और दुर्बलता को कम करने के अर्थ में लिया जाए। यदि यह विधि अपनाई जाती है तो इस उद्देश्य को पूरा करने में सहायक वे सभी बातें आ जाएंगी जो सामाजिक सुरक्षा प्रणाली के अंग हैं। परंतु यह विधि बहुत उपयोगी सिद्ध नहीं होगी क्योंकि मानव कल्याण अनेक सामाजिक और आर्थिक कारकों से प्रभावित होता है और ये सभी सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा के अंतर्गत नहीं आते।

सार्वजनिक कार्य केवल सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्य ही नहीं होते। इसके अंतर्गत वे कार्य भी आते हैं जो जनता अपने लिए करती है। विपत्ति के समय और अन्यथा भी गैर–सरकारी संगठनों (NGOs), पुण्यार्थ संस्थाओं एवं धार्मिक संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले कार्य भी इसके अंतर्गत आते हैं। भारत के अनेक परंपरागत समाजों में परिवार सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। समाचार पत्र आदि सरकार पर इस बात के लिए दबाव बनाए रखते हैं कि वह सामाजिक सुरक्षा के कार्यों को करें। इस संबंध में जनता के लिए आवश्यक होता है कि वह जागरूक रहे और अपने हितों के प्रहरी के रूप में कार्य करे।

10.4.2 सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के दृष्टिकोण

सामाजिक सुरक्षा के उपायों के संबंध में सरकार दो व्यापक विधियां अपना सकती है। इसमें पहली है सामान्य आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा देना तथा इस संवृद्धि से हुए सामान्य लाभों का उपयोग आबादी के गरीब तबके के लोगों की भलाई के लिए करना। दूसरी विधि है शिक्षा और स्वास्थ्य के रूप में प्रत्यक्ष रूप से सार्वजनिक कार्य करना तथा आय वितरण के स्वरूप में सुधार लाना और रोजगार के अवसरों को उपलब्ध कराना। यह कहा जा सकता है कि मुद्रास्फीति को रोकने से आबादी के गरीब तबके के लोगों पर कीमतों की वृद्धि के दुष्प्रभाव को कम करने में सहायता मिलती है। इनमें से पहली विधि ने हांगकांग, सिंगापुर, जापान और दक्षिण कोरिया जैसे पूर्व एशिया के देशों में एवं कुवेत और UAE में बहुत सफलता पूर्वक कार्य किया है। दूसरी विधि के ज्वलंत उदाहरण हैं – क्यूबा तथा चीन। कुछ प्रेक्षकों का तो कहना है कि चीन में उदारीकरण के कारण जब 1980 और 1990 के दशकों में संवृद्धि की दरें बढ़ गईं तब शिशु मृत्यु दर जैसे सामाजिक सूचकांकों में वृद्धि हो गई। ऐसा लगता है कि संवृद्धि और सामाजिक सुरक्षा के बीच किसी न किसी प्रकार का समझौता (Trade Off) हो गया है।

यद्यपि हमने संवृद्धि के द्वारा सामाजिक सुरक्षा और प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्यों पर आधारित सुरक्षा के उपायों में भेद दिखाया है, परंतु इन विधियों में अंतर कुछ जटिल है। पहली बात तो यह है कि अनेक स्थितियों में ये दोनों साथ–साथ चलती हैं। दूसरी बात यह है कि कुछ स्थितियों में प्रश्न इन दोनों में से किसी एक के चयन का नहीं बल्कि इनके सही समय और क्रम का होता है। उदाहरणार्थ, किसी देश के लिए संभव हो सकता है कि संवृद्धि पर उतना जोर न देकर पहले वह सामाजिक सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष सामाजिक कार्य ही करें तथा बाद में संवृद्धि के संबंध में जोर दे।

द्वितीय, यह सही नहीं है कि पहली विधि का यह अभिप्राय होता है कि निजी क्षेत्र पर निर्भर रहना या उसे प्रोत्साहित करना और प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य का अर्थ है कि सरकार की भूमिका बहुत बड़ी हो। इसका उदाहरण भारत है। 1950 के दशक में भारत ने विकास का वह मार्ग अपनाया जिसमें आर्थिक संवृद्धि पर जोर दिया गया था परंतु सार्वजनिक क्षेत्र को संवृद्धि का ईजन माना गया था और इस क्षेत्र को अर्थव्यवस्था का प्रभावशाली क्षेत्र (Commanding heights of the economy) होने दिया गया था। इस विधि के अंतर्गत यह मान लिया गया था कि आर्थिक संवृद्धि का लाभ स्वतः ही समाज के निम्न वर्ग तक को भी प्राप्त होने लगेगा। 1960 के दशक के अंतिम वर्षों में महसूस किया जाने लगा कि संवृद्धि का लाभ समाज के सभी वर्ग के लोगों को प्राप्त नहीं हो रहा है। आय का वितरण अत्यंत अन्यायपूर्ण और विषम था। गरीबी की मात्रा बहुत अधिक थी। नीतियों के अंतर्गत प्रत्यक्ष कार्यवाही को लाने की आवश्यकता थी। इसी के फलस्वरूप गरीबी को दूर करने वाले एवं रोजगार सृजन के प्रत्यक्ष कार्यक्रमों की शुरूआत की गई। इसके साथ ही साथ मूल न्यूनतम आवश्यकताओं के कार्यक्रम भी चलाए गए, जिनके अंतर्गत पीने के पानी, आवास आदि की व्यवस्था थी। 1991 के बाद से पुनः इसी प्रकार

के कार्य किये जाने लगे हैं। आर्थिक संवृद्धि पर पुनः जोर दिया जाता है, हालांकि अब निजी क्षेत्र और विदेशी निवेशकों की भूमिका बढ़ी है।

10.4.3 संगठित क्षेत्र में भारत में सामाजिक सुरक्षा

श्रम मंत्रालय के वर्ष 1997-98 के वार्षिक रिपोर्ट में सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गई। 'समाज द्वारा अपने सदस्यों को विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक उपायों द्वारा प्रदान की गई सुरक्षा। यह सुरक्षा उन आर्थिक और सामाजिक पीड़ियों के प्रति की जाती है जो बीमारी, प्रसूति, रोजगार के दौरान क्षति, बेरोजगारी, अशक्तता, वृद्धावस्था और मृत्यु के फलस्वरूप आमदनी समाप्त होने या उसमें अत्यंत कमी हो जाने के कारण होती है। यह सुरक्षा बच्चों सहित परिवार की चिकित्सा सेवा के रूप में भी की जाती है। ऐसी आकस्मिकताओं के उत्पन्न होने की स्थिति में सामाजिक सुरक्षा नकद एवं वस्तु दोनों ही रूपों में प्रदान की जाती है।' इस परिभाषा के अंतर्गत आमदनी का बंद हो जाना या उसमें कमी होना आता है। आमदनी का अभाव या आमदनी का निम्न स्तर नहीं आता। इसके अतिरिक्त इस परिभाषा के अंतर्गत कुस्वास्थ्य से आशय आय के अर्जन पर पड़ने वाले उसके प्रभाव से होता है, कल्याण में कमी से नहीं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा से संबंधित कानून मुख्यतः संगठित क्षेत्र के कामगारों पर लागू होते हैं। इन कानूनों को श्रमिकों एवं कर्मचारियों को लाभ के लिए बनाया गया है। इनमें से प्रमुख कानून निम्नलिखित हैं :

- कर्मचारी क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923
- कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948
- कर्मचारी भविष्य–निधि और प्रकीर्ण (Miscellaneous) उपबंध अधिनियम, 1952
- प्रसूतिकालीन लाभ अधिनियम, 1961
- अनुग्रह (gratuity) भुगतान अधिनियम, 1972

MAADHYAM IAS

श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम, 1923 - इस अधिनियम के अंतर्गत औद्योगिक दुर्घटनाओं की स्थितियों में या व्यवसाय जनित बीमारियों के कारण अपंगता या मृत्यु की स्थिति में श्रमिकों को क्षतिपूर्ति का प्रावधान है। यह क्षतिपूर्ति ऐसे व्यक्तियों को दी जाती है जो उन फैक्टरियों, खानों, बागानों, रेलवे या उन अन्य क्षेत्रों में कार्य करते हुए मृत्यु के शिकार हो जाते हैं या अपंग हो जाते हैं जिन्हें इस अधिनियम की दूसरी अनुसूची में दर्ज किया गया है। इस अधिनियम के मुख्य हिताधिकारी (beneficiaries) वे श्रमिक/आश्रित व्यक्ति होते हैं जो कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत नहीं आते। क्षतिपूर्ति की राशि हैः अस्थायी अपंगता की स्थिति में मजदूरी का 50 प्रतिशत, अधिकतम पांच वर्षों को लिए, स्थायी अपंगता की स्थिति में न्यूनतम 60,000 रु. से लेकर अधिकतम 2,74,000 तक तथा मृत्यु की स्थिति में न्यूनतम 50,000 रु. से लेकर अधिकतम 2,28,000 रु. तक।

कर्मचारी भविष्य-निधि और प्रकीर्ण उपबंध अधिनियम, 1952 को 14 मार्च 1952 से लागू किया गया। इस समय इस अधिनियम के अंतर्गत निम्नलिखित तीन योजनाएं चल रही हैं:

- कर्मचारी भविष्य निधि योजना, 1952
- कर्मचारी डिपॉजिट लिन्क्ड बीमा योजना, 1976
- कर्मचारी पेंशन योजना, 1955

इस कार्यक्रम का उद्देश्य अनिवार्य भविष्य निधि, पेंशन और डिपॉजिट लिन्क्ड बीमा का प्रावधान करना है। यह उन फैक्टरियों और प्रतिष्ठानों पर लागू होता है जिनमें अनुसूचित उद्योगों में 20 या उससे अधिक श्रमिक काम करते हैं तथा ऐसे प्रतिष्ठानों पर भी लागू होता है जिन्हें केन्द्रीय सरकार अधिसूचित करती है। इस कार्यक्रम से केवल वे ही व्यक्ति लाभान्वित

हो सकते है जिनकी मासिक आय 5000 रु. से अधिक नहीं है। इससे पहले अधिकतम सीमा 3,500 रु. थी। भविष्य निधि का भुगतान 12 प्रतिशत या 10 प्रतिशत (जो भी लागू हो) की दर से किया जाता है। मासिक या परिवार पेंशन योजनाओं का प्रावधान है। इसका भुगतान सेवा निवृत्ति पर किया जाता है परन्तु जीवन बीमा के लिए या मकान बनाने के लिए इसमें से धन पहले भी निकाला जा सकता है।

इस समय यह अधिनियम 177 प्रकार की फैक्टरियों/प्रतिष्ठानों पर लागू होता है। इनमें से प्रत्येक फैक्टरी/प्रतिष्ठानों में 20 या उससे अधिक श्रमिक काम करते हैं। मार्च 1997 के अंत में कर्मचारी पेंशन योजना के अंतर्गत 202.9 लाख अभिदाताओं (subscribers) सहित 2.77 लाख प्रतिष्ठान आते थे। जो व्यक्ति परिवार पेंशन योजना के सदस्य थे, उन्हें अनिवार्य रूप से कर्मचारी प्रेंशन योजना के अंतर्गत आना पड़ता है। जो लोग 16 नबम्बर 1995 से भविष्य निधि योजना के सदस्य हुए, उनके लिए भी यह योजना अनिवार्य है। यह योजना 16 नबम्बर 1995 से लागू हुई, लेकिन स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति योजना के अंतर्गत आने वाले एवं अन्य कर्मचारियों के लिए विकल्प है कि यदि वे चाहें तो 1 अप्रैल 1993 से इस योजना के अंतर्गत आ सकते हैं। इस योजना के अंतर्गत आने योग्य होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति की अंशदायी सेवा (Contributory Service) कम से कम 10 वर्षों की हो। सामान्य पेंशन सेवा निवृत्ति के बाद मिलती है, परंतु 50 वर्ष की आयु पूरा करने के बाद भी बट्टागत (discount) दर पर पेंशन प्राप्त हो जाती है। इस योजना के अंतर्गत निम्नलिखित परिस्थितियों में पेंशन दी जा सकती है :

- अधिवर्षिता (Superannuation)
- सेवानिवृत्ति
- नौकरी के दौरान मृत्यु
- स्थायी पूर्ण अपंगता
- सेवानिवृत्ति अथवा अधिवर्षिता के बाद मृत्यु
- शिशु पेंशन
- अनाथ पेंशन

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मासिक भुगतान निम्नलिखित सूत्र के अनुसार किया जाता है :

पेंशन = पेंशनयोग वेतन × (पेंशन योग सेवा + 2)/70

जहां पेंशन योग्य सेवा पिछले बारह महीनों के वेतन की औसत है।

अनुग्रह राशि भुगतान अधिनियम, 1972 उन कारखानों और अन्य प्रतिष्ठानों पर लागू होता है जिनमें काम करने वालों की संख्या 10 से कम न हो। 10 वर्षों तक सेवा करने के बाद कर्मचारियों को इस दर से ग्रैच्युटी मिलती है – सेवा के प्रत्येक पूरे वर्ष या छः मास से अधिक के लिए 15 दिनों की मजदूरी। ग्रैच्यूटी की अधिकतम रकम 2.5 लाख रुपये होती है।

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948 एक विशेष प्रकार की सामाजिक सुरक्षा विधि है तथा इसके द्वारा श्रमिकों को अपरिष्कृत प्रकार का स्वास्थ्य (Crude form) बीमा प्राप्त होता है। बीमारी, प्रसूति एवं रोजगार के दौरान आहत होने की स्थिति में इसके द्वारा स्वास्थ्य सेवा एवं नकद भुगतान प्राप्त होते हैं। यह अधिनियम उन कारखानों पर लागू होता है जिनमें बिजली का प्रयोग होता है तथा जिनमें 10 या उससे अधिक व्यक्ति काम करते हैं। यह उन कारखानों और कुछ अन्य प्रतिष्ठानों पर भी लागू होता है जिनमें बिजली का प्रयोग नहीं किया जाता और उनमें कम से कम 20 व्यक्ति काम करते हैं। 1997 तक इसके अंतर्गत 73 लाख कर्मचारी आते थे।

कर्मचारी राज्य बीमा निगम नामक निकाय इस अधिनियम का प्रशासन चलाता है। इस निगम के सदस्य, नियोक्ताओं, कर्मचारियों, केन्द्रीय और राज्य सरकार, संसद तथा मेडिकल पेशे का

प्रतिनिधित्व करते हैं। केन्द्रीय सरकार के श्रम मंत्री इस निगम के अध्यक्ष होते हैं। निगम के सदस्यों में से ही एक स्थायी समिति बनाई जाती है जो ESI योजनाओं के लिए कार्यपालिका का कार्य करती है तथा इसको अध्यक्ष श्रम मंत्रालय के सचिव होते हैं। इस समय 20 क्षेत्रीय बोर्ड और लगभग 310 स्थानीय समितियां कार्यरत हैं। ESI योजनाओं का वित्तीयन मुख्यतः नियोक्ताओं और कर्मचारियों के अंशदान से होता है। चिकित्सा सुविधाओं के प्रावधान पर खर्च होने वाली रकम में राज्य सरकारों का अंश 12.5 प्रतिशत होता है। 1.4.1997 से चिकित्सा सुविधा पर व्यय को प्रति बीमाकृत व्यक्ति परिवार इकाई पर 410 रु. से बढ़ाकर 500 रु. कर दिया गया है। इस प्रति व्यक्ति अधिकतम सीमा में 165 रु. दवाओं और ड्रेसिंग के लिए निर्धारित किये गए है।

प्रसूतिकालीन लाभ अधिनियम, 1961 का उद्देश्य संगठित क्षेत्रक में श्रमजीवी माताओं को सुविधा प्रदान करना है। इस अधिनियम को मध्य प्रदेश में कृषि एवं निर्माण क्षेत्रक में कार्य करने वाली महिलाओं पर भी लागू करने का प्रस्ताव हाल ही में स्वीकृत किया गया है।

भूमि सुधार द्वारा सामाजिक सुरक्षा

इस संदर्भ में हम दो प्रकार की नीतियों के संबंध में विचार कर सकते हैं : उच्चतम सीमा सहित पुनर्वितरण नीतियां और काश्तकारी सुधार।

भारत में काश्तकारी कानून 1950 के दशक में पास किए गए। 1980 के दशक के मध्य तक इन उच्चतम सीमा अधिनियमों के अंतर्गत कुल कृषि की जाने वाली भूमि का लगभग 1.5 प्रतिशत भाग को अधिग्रहण कर लिया गया था और इसमें से 80% से भी कम का वास्तव में पुनर्वितरण कर दिया गया था। 1980-81 की कृषिगणना के अनुसार कुल कृषि भूमि 16.3 करोड़ हेक्टर थी। इसमें से केवल 29.7 लाख हेक्टर भूमि को बेषी (Surplus) घोषित किया गया। 34 लाख व्यक्तियों को प्रतिव्यक्ति लगभग 1.3 एकड़ भूमि दी गई। इस प्रकार इन लोगों में सुरक्षा की भावना बढ़ गई क्योंकि इनमें बहुत से लोग अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के थे। फिर भी जो कुल भूमि वितरित की गई, उसकी मात्रा बहुत ही कम थी। अतः गांवों में रहने वाले निर्धन लोगों में से बहुत ही कम लोग इससे लाभान्वित हो सके।

जहाँ काश्तकारी सुधार हुए हैं उसके बहुत बड़े कारण राजनैतिक आवश्यकताएं और इच्छाशक्ति रही हैं। इस संबंध में सबसे अधिक सफलता केरल और पश्चिम बंगाल में हुई है।

उच्चतम सीमा कानूनों के द्वारा भूमि के वितरण के संबंध में बहुत अधिक कार्य नहीं हो पाया है।

सामाजिक सुरक्षा के रूप में रोजगार सृजन कार्यक्रम

भारत में गांवों के गरीब लोगों के लिए प्रमुख रोजगार कार्यक्रम ग्रामीण समन्वित रोजगार कार्यक्रम (IRDP) रहा है। इस कार्यक्रम का प्रारंभ 1976 में 20 ब्लाकों में किया गया। उसके बाद 1978 में इसका विस्तार पहले 2,300 ब्लाकों में किया गया और उसके बाद 1980 में इसका विस्तार समस्त देश में कर दिया गया। इस कार्यक्रम का लक्ष्य समूह ग्रामीण निर्धन व्यक्ति थे। इस कार्यक्रम का लक्ष्य था गरीबों के स्वनियोजन द्वारा संपत्ति पैदा करना तथा गरीबों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाना। DWACRA तथा TRYSEM जैसे अन्य कार्यक्रम भी इसके अंतर्गत थे।

मजदूरी रोजगार कार्यक्रम के अंतर्गत रोजगार गारंटी योजना 1972, कार्य के लिए भोजन कार्यक्रम 1977, राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम 1980 तथा ग्रामीण भूमिहीन रोजगार गारंटी कार्यक्रम 1983 आते हैं। अंतिम दो कार्यक्रमों को एक साथ मिलाकर 1989 में जवाहर रोजगार कार्यक्रम शुरू किया गया।

इसके बाद कई और भी कार्यक्रम शुरू किये गए। इनमें शामिल हैं – नेहरू रोजगार योजना, प्रधानमंत्री समन्वित शहरी गरीबी निवारण कार्यक्रम।

MAADHYAM IAS

पूर्व में शुरू किये गये कार्यक्रमों में परिवर्तन भी किये गये हैं। जवाहर रोजगार योजना के स्थान पर अप्रैल 1999 से जवाहर ग्राम समृद्धि योजना नामक नया कार्यक्रम शुरू किया गया है। यह केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम है तथा कुल लागत में केंद्र तथा राज्य सरकार का भाग 75:25 है।

समन्वित ग्रामीण रोजगार कार्यक्रम तथा मिलियन वैल्स स्कीम, ट्राइज्म आदि कार्यक्रमों का पुनर्गठन कर स्वरोजगार पैदा करने हेतु स्वर्ण जयन्ती स्वरोजगार योजना नामक नया कार्यक्रम 1 अप्रैल 1999 से शुरू किया गया है। वृद्ध गरीब लोगों को सामाजिक सहायता प्रदान करने हेतु केंद्र सरकार ने 15 अगस्त 1995 से एक राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम की शुरूआत की। यह कार्यक्रम शत–प्रतिशत केंद्र द्वारा प्रायोजित कार्यक्रम है। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यक्रम भी हैं –

- रोजगार अश्वासन कार्यक्रम
- प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना
- स्वर्ण जयंती शहरी रोजगार योजना (SJSRY)

ये सभी योजनाएं अपने उद्देश्यों, क्षेत्र तथा कवरेज में भिन्नता लिए हुए हैं। इन सभी योजनाओं के केवल हमने नाम गिनाए हैं। विस्तार के लिए आप अलग से पढ़ सकते हैं।

प्रायः इन सभी कार्यक्रमों को गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों तथा रोजगार सृजन कार्यक्रमों के अंतर्गत पढ़ाया जाता है। पर गरीबों के लिए रोजगार साधनों जैसे भूमि की उपलब्धता, भोजन, सुरक्षा आदि मूलभूत आवश्यकताएं हैं, अतः ये सभी सामाजिक सुरक्षा के अंग हैं।

इनके अतिरिक्त असंगठित श्रमिकों के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम भी हैं, जैसे कि **बीड़ी श्रमिक कल्याण कोश अधिनियम 1976** और **सिनेमा श्रमिक कल्याण कोश 1981**। इनके अतिरिक्त एक विस्तृत न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम भी है जिसका उद्देश्य आवश्यकताएं जैसे – स्वच्छ पीने का पानी, सफाई तथा आवास की सुविधाएं जुटाना है। इन्दिरा आवास योजना नाम का एक कार्यक्रम भी चल रहा है जिसका लक्ष्य गरीबों को गृह प्रदान करना है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) सामाजिक सुरक्षा से आप क्या समझते है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में संगठित क्षेत्र में लागू कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक सुरक्षा के उपायों को बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) असंगठित क्षेत्र में गरीब एवं असहाय लोगों को किस प्रकार की सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जा सकती है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

10.5 सारांश

आर्थिक और सामाजिक विकास बहुत कुछ श्रमशक्ति की किस्म पर निर्भर करता है। अच्छी शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं के द्वारा श्रमशक्ति में सुधार लाया जा सकता है। शिक्षा के महत्व को देखते हुए भारत के संविधान निर्माताओं ने निःशुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के प्रावधान को राज्य की नीति के निदेशक सिद्धांतों के रूप में शामिल कर लिया। यद्यपि प्रारंभिक शिक्षा की सर्व–व्यापकता और निरक्षरता के उन्मूलन को बार–बार योजना का लक्ष्य घोषित किया गया है पर फिर भी इस लक्ष्य को अभी तक प्राप्त नहीं किया जा सका है। फिर भी शिक्षा की सुविधाओं और नामांकन में बहुत अधिक वृद्धि हुई है, परंतु महिलाओं के लिए शिक्षा सुविधाओं और उनके नामांकन के संबंध में विशेष रूप से असमानता रही है। राज्यों में साक्षरता के संबंध में साक्षरता और विकास के स्तर के बीच विशेष रूप से संबंध रहा है, जिसके अपवाद केरल, तमिलनाडु, कर्नाटक और हिमाचल प्रदेश जैसे कुछ राज्य रहे हैं जहां साक्षरता की दर बहुत अधिक है। उच्च शिक्षा के विभिन्न क्षेत्रों में असंतुलन और असंतोषजनक बेरोजगारी की स्थिति को देखते हुए हाल में ही 10+2 स्तर पर व्यवसायीकरण पर जोर दिया जाने लगा है।

प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा योजना के अंतर्गत आबादी का अधिकाधिक भाग आने लगा है। ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में विस्तृत चिकित्सा आधारिक संरचना में वृद्धि हुई है। (उसी प्रकार प्रतिरक्षण, स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था, मां और बच्चे के लिए समुन्नत पोषण की व्यवस्था तथा मां और बच्चों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं के द्वारा देश के अंदर से बीमारियों और मृत्यु दर को बहुत कम कर दिया गया है। इन सबके चलते आयु संभाविता (life expectancy) में वृद्धि हुई है तथा शिशु मृत्यु दर (infant mortality) में कमी हुई है।

चिकित्सा की आधारिक संरचना की उपलब्धता के संबंध में देश के विभिन्न क्षेत्रों के बीच बहुत अधिक असमानताएं हैं। गुणवत्ता और मात्रा के रूप में ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्रों की हालत बहुत अच्छी है। देश में स्वास्थ्य सेवा प्रणाली की सीमित उपलब्धता एवं ग्रामीण क्षेत्रों में इसकी स्थिति को नजर में रखते हुए सरकार ने अपना लक्ष्य बनाया है – 2000 ई. तक सबके लिए स्वास्थ्य की व्यवस्था करना'। परंतु इस समय देश में शिक्षा और स्वास्थ्य के लिए जो सुविधाएं उपलब्ध हैं, वे शहरों और गांवों में रहने वाले गरीब लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

10.6 शब्दावली

शिशु मृत्यु-दर (Infant Mortality Rate) : प्रति हजार जीवित बच्चों की एक वर्ष की आयु तक मृत्यु की दर।

साक्षरता-दर (Literacy Rate) : कुल जनसंख्या में साक्षर व्यक्तियों का प्रतिशत।

गैर-योजना व्यय (Non-Plan Expenditure) : गैर–योजना व्यय वे व्यय हैं जो चालू पंच वर्षीय योजना के अंग नहीं होते। इस प्रकार पिछली योजनाओं के समय में पूरी की गई प्रायोजनाओं के संबंध में वचनबद्ध व्यय गैर–योजना व्यय होते हैं। कभी–कभी गैर योजना व्ययों को अनुरक्षण व्यय भी कहा जाता है।

योजनागत व्यय (Plan Expenditure) : वे सभी व्यय जिन्हें चालू पंच वर्षीय योजना में शामिल किया जाता है, योजनागत व्यय कहे जाते है। उदाहरणार्थ आठवीं पंच वर्षीय योजना में शामिल की गई शिक्षा संबंधी प्रायोजनाओं पर किए जाने वाले व्यय को आठवीं योजना की अवधि में योजनागत व्यय कहा जाएगा।

निजीकरण (Privatisation) : सार्वजनिक संसाधनों की सहायता से सार्वजनिक क्षेत्र में कुछ उत्पादन उद्यमों या उपयोगी संस्थाओं और सेवा सुविधा कार्यकलापों का गठन किया जाता है, विशेषतः ऐसे कार्यकलाप जो आम जनता और समाज की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। कभी कभी उपर्युक्त को निजी क्षेत्र को हस्तांतरित कर दिया जाता है। इस प्रकार ये कार्यकलाप लागत, कीमत और लाभ–निर्धारण के संबंध में सामान्य बाजार की शक्तियों के अधीन हो जाते हैं। परंतु स्वयं सरकार सामाजिक उद्देश्यों के अनुरूप बाजार–शक्तियों के अनुसार कार्य नहीं कर सकती। सार्वजनिक क्षेत्र से निजी क्षेत्र को ऐसे कार्यकलापों को हस्तांतरित करने की प्रक्रिया को निजीकरण कहा जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

10.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अहमद, एथिशम, जीन ड्रेज, जॉन हिल्स एंड अमर्त्य सेन (संपादक) 1991, *सोशल सेक्यूरिटी इन डिवलपिंग कंट्रीज,* क्लेरेडल प्रेस : आक्सफोर्ड।

बालन, के. 1989, *हेल्थ फॉर ऑल बाई 2000 ए. डी.* आशीष पब्लिशिंग हाऊस, न्यू दिल्ली।

बरमन, पीटर एंड एम. ई. खान (संपादन) 1993, *पेइंग फॉर इंडियाज हेल्थ केयर,* सेज पब्लिकेशंस, न्यू दिल्ली।

बोस, ए., डी. बी. गुप्ता एंड एम.के. प्रेमी (संपादक), 1982, *सोशल स्टैटिस्टिक्सः हेल्थ एंड एजुकेशन,* विकास पब्लिशर्स, न्यू दिल्ली।

कूपर एम.एच. एंड ए.जे. कुलयेर, 1973, *हेल्थ इकॉनामिक्स* (विशेषतः सी.एम. लिंडसे, एस.जे. मुश्किन और वी. आर फुश्च के लेख), पेनगीन बुक्स लि., लंदन।

दास गुप्ता, मोनिका, लिंकन सी. चेन एंड टी. एन. कृष्णन (संपादक) 1996, *हेल्थ, पावर्टी एंड डेबलपमेंट इन इंडिया,* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : दिल्ली।

घोष आर. एंड एम. जकारिया, 1987, *एजुकेशन एंड प्रोसेस आफ चेंज,* सेज पब्लिकेशंस, न्यू दिल्ली (लेख संख्या 5,6 और 9)।

बर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट, 1993, इन्वेस्टिंग इन हेल्थ, वर्ल्ड बैंक पब्लिकेशन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस : आक्सफोर्ड

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, मिनिस्ट्री ऑफ ह्यूमन रिसोर्स डेवलपमेंट, 1986, नेशनल पॉलिसी आफ एजुकेशन, 1986, न्यू दिल्ली।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, प्लानिंग कमीशन (1997), नाइन्थ फाइव इयर प्लान 1997-2002 (ड्राफ्ट), वोलुम II (चैप्टर 2 एंड 3), नई दिल्ली।

पंचमुखी, पी.आर. 1989, स्टडीज इन एजुकेशनल रिफार्म इन इंडिया, वोलुम टू, इकानामिक्स आफ एजुकेशनल फाइनेन्सेस, हिमालय पब्लिसिंग हाऊस, न्यू दिल्ली।

सेन, ए.के. एंड जीन ड्रेज (1995), इंडिया : इकॉनामिक डेवलपमेंट एंड सोशल ओपोर्चिनिटी, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

शर्मा, आदर्श एंड नीलम सूद (संपादक), एप्रोच एंड स्ट्रटेजिज आफ चाइल्ड डेवलपमेंट इन इंडिया : ए रिब्यू। नेशनल इंस्टिच्यूट ऑफ पब्लिक कोओपरेशन एंड चाइल्ड डेवलपमेंट, न्यू दिल्ली।

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर एवं संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उप–भाग 10.2.1 पढ़ें और उत्तर दें।

2) उप–भाग 10.2.3 पढ़ें और उत्तर दें।

3) उप–भाग 10.2.4 पढ़ें और उत्तर दें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) (स)

2) उप–भाग 10.3.4 पढ़ें और उत्तर दें।

3) महामारी संक्रमण से आशय स्वास्थ्य सेवाओं के ऐसे सुधार से है जिसके द्वारा समष्टि स्तर पर मृत्यु दर में कमी आती है।

बोध प्रश्न 3

1) (स)

2) उप–भाग 10.4.1 पढ़ें और उत्तर दें।

3) उप–भाग 10.4.3 पढ़ें और उत्तर दें।

इकाई 11 बुनियादी सुविधा (INFRASTRUCTURE)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 अवधारणा : अर्थ तथा परिभाषा

  11.2.1 अर्थ

  11.2.2 परिभाषा

11.3 भौतिक एवं सामाजिक बुनियादी सुविधाओं के विषय क्षेत्र और इनमें अंतर

11.4 अर्थव्यवस्था में बुनियादी सुविधाओं की भूमिका

  11.4.1 बुनियादी सुविधायें व आर्थिक विकास

  11.4.2 सामाजिक आयाम

11.5 समूह स्तर पर बुनियादी सुविधाओं का विकास

11.6 भारत में भौतिक बुनियादी सुविधाओं का विकास

11.7 भारत में सामाजिक बुनियादी सुविधाओं का विकास

11.8 सारांश

11.9 शब्दावली

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

11.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

11.0 उद्देश्य

इस पाठ के उद्देश्य हैं :

- विद्यार्थी बुनियादी सुविधा की अवधारणा और अर्थव्यवस्था में इसकी भूमिका को समझे;
- यह बता सके कि अर्थव्यवस्था में इसका कितना विकास हुआ है और इसके विकास में क्या कमियां रही हैं? और
- यह भी जान सके कि बुनियादी सुविधा क्षेत्र व अन्य क्षेत्रों में क्या अंतर है?

11.1 प्रस्तावना

किसी अर्थव्यवस्था के विकास में बुनियादी सुविधायें महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। उत्पादन वृद्धि, व्यापार विस्तार, गरीबी कम करने तथा पर्यावरण सुधार में किसी अर्थव्यवस्था की सफलता अथवा असफलता बुनियादी सुविधाओं पर निर्भर करती है। अतः इस इकाई में हम बुनियादी सुविधाओं की अवधारणा, परिभाषा तथा अर्थव्यवस्था के विकास में इसकी भूमिका से आपका परिचय करायेंगे। भौतिक तथा सामाजिक बुनियादी सुविधाओं में अंतर भी स्पष्ट किया जाएगा। गत पचास वर्षों में इस संबंध में अब तक हुई प्रगति की चर्चा भी हम यहाँ करेंगे।

11.2 अवधारणा : अर्थ व परिभाषा

11.2.1 अर्थ

प्राकृतिक साधनों व पूंजी की सहायता से मनुष्य कच्चा माल, मध्यवर्ती तथा अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के रूप में उत्पादन करता है। इन वस्तुओं को इनके उत्पादन के स्थान से इनके उपभोग के स्थानों तक लाना ले जाना पड़ता है। केवल वस्तुओं को ही नहीं बल्कि मनुष्यों को भी अपने घरों से काम करने की जगहों पर जाना पड़ता है। इ । सबके लिए हमें परिवहन के साधनों की आवश्यकता पड़ती है, जैसे सड़क परिवहन, रेलवे, हवाई यातायात, व जहाजरानी की आवश्यकता पड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन प्रक्रिया बिना परिवहन के पूरी नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन साधनों को मुद्रा के रूप में भुगतान करना पड़ता है। ये भुगतान बैंकों के माध्यम से होते हैं। हमें घरों और उत्पादन दोनों के लिए बिजली की आवश्यकता पड़ती है।

बुनियादी सुविधा से तात्पर्य उन उद्योगों से है जो आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया को संभव बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक हैं। यह क्षेत्र (बुनियादी सुविधा) या तो वस्तु–उत्पादन का पूरक क्षेत्र है या फिर उत्पादन प्रक्रिया का अनुपूरक है। इसमें वे सभी प्रक्रियाएं शामिल होती हैं जो उत्पादन प्रक्रिया को पूरा करने के लिए आवश्यक हैं।

11.2.2 परिभाषा

बुनियादी सुविधाओं से अभिप्राय उन भौतिक सुविधाओं से है जिनसे वस्तुएं व सेवाएं लोगों तक पहुंचायी जाती हैं। अर्थव्यवस्था से इनका संबंध बहुरूपी व जटिल है क्योंकि ये उत्पादन और उपभोग को सीधे प्रभावित करती हैं, इसके सकारात्मक व नकारात्मक प्रभाव (बाह्यताएं या Externalities) होते हैं और इन पर भारी व्यय आता है।

पॉल रोजनस्टीन–रोडान (Paul Rosenstein-Rodan), रागनर नर्कसे (Ragnar Nurkde) तथा एलबर्ट हर्शमेन (Albert Hirschman) जैसे विकासवादी अर्थशास्त्रियों ने जो 'सामाजिक उपरिव्यय पूंजी' (Social Overhead Capital) गतिविधियों की बात की है, बुनियादी सुविधा उसी का दूसरा नाम है। दोनों ही अवधारणाओं की परिभाषा स्पष्ट नहीं हैं, लेकिन दोनों की तकनीकी विशेषताएं (जैसे पैमाने के प्रतिफल) व आर्थिक विशेषताएं (जैसे बाह्यताएं) एक समान हैं। परिभाषा के अनुसार सामाजिक उपरिव्यय पूंजी में वह सभी कुछ आता है जिनका सीधा संबंध उत्पादन कार्यों से तो नहीं है लेकिन कृषि व उद्योग जैसे सीधे उत्पादन कार्यों के लिए आवश्यक है। ये कुछ ऐसी आगतें हैं जो अधिकतर वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के लिए जरूरी होती हैं। उत्पाद के लिए विशेष आगतों, जैसे सूती कपड़े के लिए कपास, इस्पात के लिए लोह अयस्क, से ये अलग होती हैं।

बोध प्रश्न 1

1) एक वाक्य में 'बुनियादी सुविधा' नामक अवधारणा का अर्थ बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) उत्पादक क्षेत्र और बुनियादी सुविधा क्षेत्र के बीच क्या अंतर है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) किन अर्थशास्त्रियों ने बुनियादी सुविधा के स्थान पर 'सामाजिक उपरि पूंजीव्यय' की अवधारणा प्रयोग की है?

.....

.....

.....

.....

11.3 भौतिक और सामाजिक बुनियादी सुविधाओं का विषय क्षेत्र और इनके बीच अंतर

आर्थिक जगत में भौतिक और बुनियादी सुविधाओं के बीच अंतर किया जाता है। आइए, इस अंतर को समझें। सर्वप्रथम हम क्षेत्रों को चार प्रमुख वर्गों में वर्गीकृत (जैसा कि राष्ट्रीय लेखांकन में किया जाता है) करते हैं। ये हैः (i) वस्तु उत्पादन क्षेत्र, (ii) भौतिक बुनियादी सुविधा क्षेत्र, (iii) सामाजिक बुनियादी सुविधा क्षेत्र तथा (iv) अन्य क्षेत्र। इनका विस्तृत वर्णन इस प्रकार हैः

तालिका-1

आर्थिक क्षेत्रों का वर्गीकरण

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

क) **वस्तु उत्पादन क्षेत्र**

1) कृषि, वानिकी तथा मत्स्य
2) खनन एवं उत्खनन (Mining and quarrying)
3) विनिर्माण
4) निर्माण

ख) **भौतिक बुनियादी सुविधाएं**

5) बिजली
6) परिवहन
7) संचार
8) व्यापार
9) बैंकिंग एवं बीमा

ग) **सामाजिक बुनियादी सुविधाएं**

10) स्वास्थ्य
11) शिक्षा
12) पेयजल आपूर्ति
13) सफाई सेवाएं

14) सामाजिक एवं वैयक्तिक सेवाएं

घ) **अन्य क्षेत्र**

15) लोक प्रशासन एवं रक्षा

16) अन्य सभी कार्य

उपरोक्त (क) वर्ग के सभी क्षेत्र वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। कृषि में गेहूं, चावल, कपास, जूट, आदि का उत्पादन होता है। निर्माण में मकानों व अन्य भवनों, पुलों आदि का निर्माण आता है। विनिर्माण क्षेत्र अन्य क्षेत्रों में उत्पादित वस्तुओं को नया रूप देता है। उदाहरणतः कारें, साइकिलें, फ्रिज, टी.वी. आदि सभी विनिर्मित वस्तुएं हैं।

वर्ग (ख) में भौतिक बुनियादी सुविधाएं हैं जैसे कि बिजली, परिवहन, संचार, व्यापार, आदि। ये उत्पादन प्रक्रिया में सहायता करती हैं। ये सुविधाएं लोगों के सीधे उपभोग में भी काम आती हैं। जैसे कि घरों में बिजली, घूमने के लिए परिवहन आदि। ये सभी क्षेत्र उत्पादन प्रक्रिया में सहायक होते हैं।

वर्ग (ग) में सामाजिक बुनियादी सुविधाएं हैं जो उत्पादन प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करती हैं। उदाहरणतः स्वास्थ्य सेवाएं लोगों को स्वस्थ रखती हैं, बीमारियों का इलाज करती हैं। इससे काम करने के स्थानों पर अनुपस्थिति कम रहती है। इससे उत्पादन में वृद्धि होती है। इसी तरह शिक्षा लोगों को प्रशिक्षित करती है और उन्हें दक्ष बनाती है। कार्य क्षमता में वृद्धि होती है। इस तरह ये क्षेत्र उत्पादन प्रक्रिया में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करते हैं। इन सेवाओं का सीधा उपभोग भी होता है जैसे कि एक शिक्षित गृहणी। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं। बहुत से लोग शिक्षा स्वयं के विकास के लिए प्राप्त करते हैं न कि काम में दक्षता प्राप्त करने के लिए।

वर्ग (घ) में लोक प्रशासन, रक्षा जैसे बाकी सभी क्षेत्र आते है।

आशा है कि अब आप इस स्थिति में होंगे कि विभिन्न बुनियादी सुविधा क्षेत्रों के बीच अंतर कर सकें। आइए, अब देखें कि एक अर्थव्यवस्था में बुनियादी सुविधाएं क्या भूमिका अदा करती हैं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 2

1) भौतिक बुनियादी सुविधाओं के क्षेत्र बताइए।

.....

.....

.....

.....

2) सामाजिक भौतिक सुविधाओं में कौन–कौन से क्षेत्र आते हैं?

.....

.....

.....

.....

11.4 अर्थव्यवस्था में बुनियादी सुविधाओं की भूमिका

परिवारों, उत्पादन इकाइयों व सरकारों को अपना काम काज चलाने के लिए बुनियादी सुविधाएं प्राप्त होना आवश्यक है। सामाजिक उपरिपूंजी का आर्थिक विकास और मानव कल्याण

पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। बुनियादी सुविधाओं के मिलने न मिलने पर यह निर्भर करता है कि अर्थव्यवस्था बढ़ती जनसंख्या, उत्पादन में वृद्धि लाने, गरीबी कम करने, व्यापार बढ़ाने आदि की समस्याओं से कितनी सफलतापूर्वक या असफलतापूर्वक निपटती है। यदि बुनियादी सुविधाएं उपयुक्त हों, तो उत्पादकता बढ़ती है और लागत कम होती है। विकास के लिए आवश्यक है कि ये सुविधाएं तेजी से बढ़ें।

11.4.1 बुनियादी सुविधाएं व आर्थिक विकास

बुनियादी सुविधाओं और आर्थिक विकास के बीच स्पष्ट संबंध क्या है, इस बारे में बहस हो सकती है। लेकिन इतिहास गवाह है कि देश के उत्पादन स्तर व वृद्धि दर तथा बुनियादी सुविधाओं के स्तर और वृद्धि दर के बीच सकारात्मक संबंध पाया गया है। 1994 की विश्व बैंक विकास रिपोर्ट (World Bank Development Report) के अनुसार सकल घरेलू उत्पाद के स्तर और प्रति व्यक्ति बुनियादी सुविधाओं के स्टाक के स्तर में धनात्मक संबंध होता है।

विश्व बैंक के अध्ययन से पता चलता है कि सकल घरेलू उत्पाद में हुई 1 प्रतिशत वृद्धि बुनियादी सुविधाओं की मांग में 1 प्रतिशत वृद्धि करती है। बुनियादी सुविधायें उत्पादकता में वृद्धि तथा सुविधाओं में वृद्धि द्वारा आर्थिक विकास में योगदान देती हैं जिससे जीवन की गुणवत्ता में वृद्धि होती है। सेवाओं में हुई वृद्धि उत्पादन में कई प्रकार से वढ़ोत्तरी लाती है। बुनियादी सुविधाओं की पर्याप्तता उत्पादन में विविधता लाने, व्यापार में विस्तार, जनसंख्या में वृद्धि को कम करने, गरीबी कम करने तथा पर्यावरण में सुधार लाने में मदद करती है।

बुनियादी सुविधाओं से उत्पत्ति के अन्य साधनों, जिसमें श्रम एवं पूंजी शामिल हैं, की उत्पादकता में वृद्धि होती है। इस कारण बुनियादी साधनों को उत्पत्ति के अवैतनिक साधन भी कह देते हैं। क्योंकि उनकी उपलब्धता से पूंजी एवं श्रम का प्रतिफल (returns) अधिक होता है। बुनियादी सेवायें उत्पादन में मध्यवर्ती आदाओं का कार्य करती हैं और इस कारण इनकी लागत में कमी से उत्पादन में लाभ की मात्रा बढ़ जाती है और जिससे उत्पादन आय एवं रोजगार बढ़ता है। जैसे–जैसे आय बढ़ती जाती है, बुनियादी सुविधाओं का ढांचा (composition) पर्याप्त रूप से बदल जाता है। निम्न आय वाले देशों के लिए आधारभूत सुविधायें जैसे पानी, सिंचाई और परिवहन बहुत महत्वपूर्ण हैं। जैसे जैसे ये अर्थव्यवस्थायें परिपक्वता की ओर जाती हैं, जल की अधिकांश आधारभूत मांग पूरी कर ली जाती है, कृषि का अंशदान अर्थव्यवस्था में कम होता है तथा यातायात की मूल सुविधायें अधिक प्रदान की जाती हैं। उच्च आय वाले देशों में शक्ति तथा जनसंचार के साधनों का भाग अधिक होता है।

जैसे–जैसे एक अर्थव्यवस्था विकसित होती है, बुनियादी सुविधाओं में भी मांग के बदलते स्वरूप के साथ–साथ परिवर्तन आने चाहिए। विकास व दूरसंचार का योगदान बढ़ता जाता है।

बुनियादी सुविधाओं के प्रकार से ही यह पता चलता है कि आर्थिक संवृद्धि गरीबी हटा पाती है या नहीं। अधिकतर गरीब लोग गांव में रहते हैं और कृषि उत्पादिता व गैर–कृषि ग्रामीण रोजगार में वृद्धि सीधे ही बुनियादी सुविधाओं से जुड़ी है। चीन की सफलता के पीछे एक महत्वपूर्ण कारण था ग्रामीण स्तर पर परिवहन, दूरसंचार व बिजली का एक न्यूनतम कार्यक्रम। चीन में ग्रामीण उद्यमों में श्रम शक्ति का 18 प्रतिशत लगा है और चीन के सकल घरेलू उत्पाद का लगभग एक–तिहाई भाग इन उद्यमों से आता है।

11.4.2 सामाजिक आयाम

बुनियादी सुविधाओं और पर्यावरण के बीच संबंध जटिल है। इनका पर्यावरण (गरीबी की तरह) पर प्रभाव इसके जीवन की गुणवत्ता और आर्थिक उत्पादकता पर होने वाले प्रभावों से ही जाना जा सकता है। ये प्रभाव सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार के हो सकते हैं जो बुनियादी सुविधाओं के स्वरूप पर निर्भर करता है।

पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव इस कारण होते हैं क्योंकि बुनियादी सुविधा क्षेत्रों की परस्पर निर्भरता पर ध्यान नहीं रखा जाता। उदाहरण के लिए [illegible] तुलना में गंदे जल की निकासी (sewage [illegible] जल मिल कर दूषित हो

जाता है, फालतू जल बहने लगता है और जल–आपूर्ति पर किये गए निवेष से स्वास्थ्य पर होने वाले अच्छे परिणाम कम हो जाते हैं। कूड़ा करकट के ठीक ढंग से निपटारा न होने पर गंदे जल की निकासी की समस्या और बढ़ जाती है।

बुनियादी सुविधा व अन्य क्षेत्रों द्वारा एक साथ कार्य करने के काफी सकारात्मक पहलू भी हैं जो शहरी क्षेत्रों में पर्यावरण और अन्य आर्थिक लाभ लाते हैं। उदाहरण के लिए मल–निकास (sewage) के लिए उपयोग में लायी जा रही उद्धरित भूमि (Reclaimed land) व आद्र भूमि (wetlands) को मनोरंजन पार्कों में बदला जा सकता है। जलावगाहन (duckweed) तालाब मल निर्यास अभिक्रिया हेतु व पशुओं के लिए ऊंची गुणबत्ता की प्रोटीन से युक्त चारा प्राप्त करने के लिए किया जा सकता है। मल–निर्यास अभिक्रिया सयंत्रों तथा भूभराव (landfills) में जैव पदार्थों (Organic matter) के वियोजन (decomposition) पर सड़ी हुई वनस्पति से उत्पन्न गैस (Methane) प्राप्त की जा सकती है और उसे ईधन के तौर पर प्रयोग में लाया जा सकता है। जैव ठोस मल से कूड़ा–खाद (compost) भूमि के उपजाऊपन को वापस ला सकती है। मल निर्यास अभिक्रिया से प्राप्त जल सिंचाई के लिए काम आ सकता है। ठोस मल पदार्थों को पुनः प्रयोग योग्य बनाकर कच्चे माल की मांग कम की जा सकती है, जैसेः लुगदा (Pulp) हेतु पेड़ों की मांग। हो सकता है कि तकनीकी और आर्थिक कारणों से हमेशा ऐसा संभव न हो सके, लेकिन सबसे कम विकसित देशों में भी ऐसे उदाहरण पाये जाते है।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

बुनियादी सुविधाओं की कमी कई प्रकार से स्वास्थ्य पर प्रभाव डाल सकती है जिससे श्रम उत्पादिता भी प्रभावित होती है। जल आपूर्ति और सफाई में सुधार से जल से उत्पन्न बीमारियों से बचाव होता है और मृत्यु दर गिर जाती है। स्वास्थ्य के लिए केवल जल–आपूर्ति के रूप में भौतिक बुनियादी सुविधा ही काफी नहीं है, सफाई भी अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार जल–आपूर्ति और सफाई में समन्वयन अत्यंत आवश्यक है।

परिवहन और संचार के रूप में बुनियादी सुविधाओं का भी स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। वायु प्रदूषण व सुरक्षा जोखिम यानि सड़क दुर्घटनाएं परिवहन से जुड़ी हैं और मृत्यु दर पर प्रभाव डालते है। यह स्थिति प्रायः घनी आबादी वाली जगहों में पायी जाती हैं जहां कि गरीब लोग ज्यादा रहते है।

मनुष्य की कार्यदक्षता पर प्रभाव

बुनियादी सुविधाएं, जैसे कि अच्छी परिवहन व्यवस्था, श्रमिकों द्वारा अनुत्पादक कार्यों पर लगे समय को कम करती है। कुछ बुनियादी सुविधायें जैसे कि पेय जल व सफाई, स्वास्थ्य को अच्छा करती हैं। इससे श्रमिकों की आमदनी बढ़ जाती है। बुनियादी सुविधाओं में कमी गरीबी के पीछे एक बहुत बड़ा कारण है। इन सुविधाओं के न होने से लोगों के पास आय कमाने वाले कार्यों के लिए कम समय बचता है जिससे परिवारों के कल्याण में कमी आती है।

गरीबी से संबंध

बुनियादी सुविधाओं और इनके उत्पादिता व स्वास्थ्य से संबंध के बारे में उपरोक्त चर्चा का अर्थ यह नहीं है कि इन सुविधाओं का वितरण असमान है। यह असमानता तो सभी साधनों के वितरण में पायी जाती है। बल्कि अर्थ इस बात से है कि ये सुविधाएं किस प्रकार दी जाती हैं और किस प्रकार इनके लिए पैसा जुटाया जाता है। इसी से गरीबी कम करने और दीर्घकाल में असमानताएं घटाने में कुछ सहायता मिल सकती है।

कम आय वर्ग के लोगों तक बुनियादी सुविधाओं की पहुंच का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि उनके पास और क्या विकल्प हैं? अमीरों की अपेक्षा गरीबों के पास ये विकल्प बहुत कम होते हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) बुनियादी सुविधाओं और आर्थिक विकास के बीच संक्षेप में संबंध बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) जैसे जैसे आय बढ़ती है बुनियादी सुविधाओं के स्वरूप में परिवर्तन आते हैं – समझाइए।

.....

.....

.....

.....

3) बुनियादी सुविधाओं के विकास का देश के वातावरण पर प्रभाव समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4) स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी श्रम उत्पादिता और परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था के विकास पर किस प्रकार प्रभाव डालती हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

11.5 समूह स्तर पर बुनियादी सुविधा क्षेत्र का विकास

समूह से यहां अभिप्राय सभी बुनियादी सुविधाओं, यानि सभी घटकों जैसे परिवहन, बैंकिग, संचार, आदि को एक साथ लेने से है। यह विश्लेषण इस क्षेत्र की सकल मूल्य वृद्धि (Gross Value added), यानि इसके द्वारा उत्पादित आय, वार्षिक वृद्धि दरें और इसका भारत के सकल घरेलू उत्पाद में योगदान की सहायता से किया गया है। इनसे संबंधित 1950-51 से लेकर 1994-95 तक की अवधि के आंकड़े तालिका 2 व 3 में दिये गए हैं।

तालिका-2: भारत में बुनियादी सुविधाओं का विकास (1980-81 की कीमतों पर)

(करोड़ रु.)

वर्ष	भौतिक बुनियादी सुविधाएं	सामाजिक बुनियादी सुविधाएं	योग
1950-51	8,728 (-)	2,561 (-)	11,379 (-)
1960-61	13,503 (4.46)	3,581 (3.05)	17,084 (4.15)
1970-71	21,213 (4.62)	5,261 (3.92)	26,474 (4.48)
1980-81	33,298 (4.61)	7,041 (2.96)	40,339 (4.30)
1990-91	64,241 (6.79)	12,128 (5.59)	76,369 (6.59)
1994-95	82,248 (6.37)	14,896 (5.27)	97,144 (6.20)

आंकड़ों का स्रोत : विभिन्न वर्षों की 'राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी' पर आधारित

नोट : कोष्ठक में दिये गये वार्षिक वृद्धि दर हैं (जैसे कि 1960-61 वर्ष के आगे दी गयी दर वर्ष 1950-51 से 1960-61 तक की अवधि की है)।

वृद्धि दरें

पिछले 44 वर्षों में बुनियादी सुविधा क्षेत्र द्वारा 1980-81 की कीमतों पर पैदा की गयी आय 8-9 गुना बढ़ी है जबकि चालू कीमतों पर यह 252 गुना बढ़ी है। पहले तीन दशकों यानि 1950 के, 1960 के व 1970 में स्थिर कीमतों पर यह वृद्धि 4.15, 4.48 व 4.30 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही। 80 के दशक में यह वृद्धि तेज हुई यानि 6.59 प्रतिशत प्रतिवर्ष। 1990 के दशक के प्रथम चार वर्षों में यह वृद्धि 6.20 प्रतिशत रही।

सकल घरेलू उत्पाद में योगदान

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बुनियादी सुविधा क्षेत्र का सकल घरेलू उत्पाद में प्रतिशत योगदान तालिका 3 में दिया गया है। भारत के आयोजन के प्रारंभ में यह योगदान 26-27 प्रतिशत था। 1994-95 तक यह बढ़ कर 39 प्रतिशत हो गया। चालू कीमतों के आधार पर यह योगदान 26 प्रतिशत से बढ़कर 38 प्रतिशत हो गया।

तालिका-3

सकल घरेलू उत्पाद में बुनियादी सुविधाओं का योगदान

वर्ष	1980-81 की कीमतों पर			चालू कीमतों पर		
	भौतिक	सामाजिक	कुल	भौतिक	सामाजिक	कुल
1950-51	20.36	6.18	26.54	20.26	6.03	26.29
1960-61	21.47	5.59	27.16	24.61	5.74	30.35
1970-71	23.46	5.82	29.28	24.30	5.32	29.62
1980-81	27.20	5.75	32.95	27.20	5.75	32.95
1981-91	30.26	5.71	35.97	30.38	5.85	36.24
1994-95	32.77	5.93	38.70	32.27	5.97	38.24

आंकड़ों का स्रोत : विभिन्न वर्षों की 'राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी' में दिये गए आंकड़ों पर आधारित।

तालिका–3 से स्पष्ट है कि भौतिक बुनियादी सुविधाओं का योगदान बढ़ा है। 1950-51 में 20 प्रतिशत से यह बढ़कर 1994-95 में 33 प्रतिशत हो गया है, जबकि सामाजिक बुनियादी सेवाओं का योगदान 6 प्रतिशत के आसपास ही है।

11.6 भारत में भौतिक बुनियादी सुविधाओं का विकास

आइए, अब हम भारत में विभिन्न प्रकार की भौतिक सुविधाओं के विकास के बारे में बात करें। इस पाठ में सभी सुविधाओं का एक साथ वर्णन करना संभव नहीं है। अतः हम कुछ महत्वपूर्ण घटकों जैसे बिजली, दूरसंचार, सड़क, रेल व जहाजरानी के बारे में ही बात करेंगे।

बिजली (Power)

भारत में 1947 में केवल 41 करोड़ युनिट (Kwh) का उत्पादन होता था जो कि मार्च 2000 में बढ़कर 480 करोड़ युनिट हो गया। यह वृद्धि चक्रवृद्धि वार्षिक दर से 7.5 प्रतिशत है। फिर भी बिजली की आपूर्ति मांग में वृद्धि से कम रही है। आठवीं पंचवर्षीय योजना में भारत में व्यस्ततम घंटों (Peak hours) में बिजली में 21 प्रतिशत की कमी थी और औसतन 9 प्रतिशत की कमी थी। मार्च 2000 के अंत में ये आंकड़े क्रमशः 20 प्रतिशत और 8.5 प्रतिशत थे।

आपूर्ति में कमी के पीछे प्रमुख कारण ये थे : परियोजना प्रबंध में कमियां, विदेशी सहायता से चलने वाली परियोजनाओं की समस्याएं, कानून और व्यवस्था की समस्याएं तथा साधनों की कमी।

भारत में बिजली उत्पादन के परम्परागत स्रोत कोयला, तेल, गैस व जल रहे हैं। लेकिन इसमें से प्रमुख कोयला व जल रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि अब तक लगभग जल से संभादित बिजली उत्पादन क्षमता का 78% प्रयोग में नहीं लाया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि कोयले से बिजली उत्पादन भविष्य में बिजली क्षेत्र का प्रमुख स्रोत रहेगा। लेकिन संभार–तंत्र (logistic) व पर्यावरण संबंधी प्रश्नों के रहते बिजली आवश्यकताओं के लिए एक समन्वित मध्यम व दीर्घकालीन ईंधन नीति बनाना अत्यंत आवश्यक है।

MAHESHWARI IAS
'way to achieve your dream'

पिछले तीन दशकों में परिवार व कृषि क्षेत्रों में बिजली के उपभोग में अधिकतम वृद्धि हुई है। परिवार उपभोग तो निरंतर बढ़ता रहेगा जबकि कृषि उपभोग के स्थिर होने की आशा है। दीर्घकालीन अनुमानों से संकेत मिलता है कि कुल मांग का 47% घरेलू और कृषि क्षेत्रों में व बाकी 53% व्यावसायिक, औद्योगिक व अन्य क्षेत्रों में रहेगा।

दूरसंचार

दूरसंचार अब आधुनिक अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख आधार है। अतः भारत जैसे विकासशील देश के लिए यह बहुत महत्व का है। भारत में दूरसंचार की बहुत बड़ी मांग पूरी नहीं हो सकी है। इसको जल्द से जल्द पूरा करना अत्यंत आवश्यक है।

भारत में दूरसंचार नैटवर्क कोई छोटा नहीं है। 350 लाख लाइनों के साथ यह विश्व का चौदहवां सबसे बड़ा नैटवर्क है। फिर भी भारत में प्रति 100 व्यक्तियों के पीछे 1.3 टेलीफोन हैं जबकि विश्व का औसत 10 से ऊपर है। भारत में इस समय 21 लाख से भी अधिक उपभोक्ता टेलीफोन लाइन की प्रतीक्षा कर रहे है।

भारत में सन 2001 तक 310 लाख व 2006 तक 640 लाख टेलीफोन लाइनों की मांग की संभावना हैं। इस समय भारत संचार निगम लिमिटेड तथा महानगर टेलीफोन लि. के 122 लाख ग्राहक हैं और 21 लाख प्रतीक्षा सूची में है। अतः अगले पांच वर्षो में 190 लाख लाइनों की और उसके बाद के वर्षो में 330 लाख लाइनों की आवश्यकता होगी। इसमें से दूरसंचार निदेशालय व महानगर टेलीफोन निगम द्वारा 2001 तक 103 लाख लाइनें व 2006 तक और 190 लाख लाइनें डालने का लक्ष्य रखते हैं। बाकी मांग की जाने वाली 90 लाख लाइनें 2001 तक व 140

लाख लाइनें 2006 तक निजी क्षेत्र द्वारा प्राप्त कराने की आशा है। इसके साथ साथ भारत में सैल्युलर मोबाइल (Cellular mobile) सेवाओं की भी मांग है। सन 2001 तक इसके 20 लाख तथा 2006 तक 50 लाख होने की आशा है।

परिवहन

प्रबंध और प्रशासन की दृष्टि से सड़कों को भारत में राष्ट्रीय राजमार्ग, राज्य राजमार्ग, जिला सड़कें व ग्रामीण सड़कों में वृगीकृत किया जाता है। संविधान में राष्ट्रीय राजमार्ग के विकास और रखरखाव की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की है जबकि अन्य सभी सड़कों की जिम्मेदारी राज्य सरकारों की है।

राष्ट्रीय राजमार्ग देश के एक शहर से दूसरे शहर तक यात्रिओं और माल की मध्यम और लंबी दूरी की ढुलाई करते हैं। राज्य राजमार्ग एक राज्य के अंदर ढुलाई करते है। परिवहन प्रणाली प्रमुख तौर पर ये दोनों मिलकर चलाते हैं। जिला और ग्रामीण सड़कें मुख्यतः गांवों को जोड़ती हैं। जिला सड़कें प्रमुख सड़कों को गांव की सड़कों से जोड़ती हैं।

इस समय राष्ट्रीय राजमार्ग का विकास, रख–रखाव और प्रबंध एजेन्सी प्रणाली के अधीन होता है। योजना बनाने, बजट बनाने और मानकीकरण की जिम्मेदारी भूतल परिवहन मंत्रालय की है। भारत सरकार ने 1988 में पारित एक कानून के अधीन **भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण (National Highway Authority of India)** की स्थापना की। राष्ट्रीय राजमार्गों को विकसित करने, रख–रखाव की व प्रबंध करने की यह एकमात्र एजेंसी है। इस समय विदेशी सहायता से संबंधित परियोजनाएं, निजी क्षेत्र की भागीदारी की नीति व सड़कों के दोनों ओर सुविधाएं प्रदान करने की जिम्मेदारी इसी की है।

1951 से 2000 के बीच सड़क यातायात में औसतन 8 से 10 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई है। माल परिवहन 1951 में 60 करोड़ टन किलोमीटर से बढ़ कर 2000 में 8500 करोड़ हो गया है। यात्री परिवहन 230 करोड़ यात्री किलोमीटर से बढ़कर 15000 करोड़ हो गया है। इसके पीछे कारण है लोचशीलता, दरवाजे से दरवाजे तक सेवा, विश्वसनीयता, व गति हैं। गाड़ियों की संख्या भी बढ़ी है। 1951 में यह संख्या 3 लाख थी जो 2000 में 372 लाख हो गयी। सन 2000 तक इनके 600 लाख तक पहुंचने की आशा है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लेकिन जिस दर से यातायात बढ़ा है उससे राष्ट्रीय और राज्य राजमार्ग नहीं बढ़े हैं। ज्यादातर विस्तार गांव की सड़कों में हुआ है। हांलाकि अब भी 50 प्रतिशत गांव सड़कों से नहीं जुड़े हैं। राष्ट्रीय राजमार्ग 1951 में 20 हजार किलोमीटर से 2000 में 34 हजार किलोमीटर यानि 55 प्रतिशत बढ़े हैं। राज्य राजमार्ग 1951 में 60 हजार किलोमीटर यानि 55 प्रतिशत बढ़े हैं। राज्य राजमार्ग 1951 में 60 हजार कि. से 2000 में 137,100 हजार कि यानि 118 प्रतिशत बढ़े हैं।

यातायात की मांग बढ़ने के साथ साथ सड़कों की गुणवत्ता में समान वृद्धि नहीं हुई है। 165 हजार कि. के राष्ट्रीय व राज्य राजमार्गों में से केवल 2% लंबाई 4 लेन (lane) वाली, 39 प्रतिशत 2 लेन वाली व बाकी 64% एक लेन वाली है।

सड़क नैटवर्क उपयुक्त न होने के कारण परिवहन लागत बढ़ी है जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में पीछे रही है।

बंदरगाह (Ports)

भारत में 12 प्रमुख बंदरगाह हैं जिनके विकास और प्रबंध की जिम्मेदारी केन्द्रीय सरकार की है। ये प्रमुख बंदरगाह ट्रस्ट एक्ट (Major Port Trust Act), 1963 के अधीन स्थापित किए गए हैं। राज्य सरकारें मध्यम और छोटे बंदरगाहों की देखभाल करती हैं। राज्य सरकारें 139 मझले तथा छोटे बन्दरगाहों का कार्य चलाती हैं। हर प्रमुख बंदरगाह का न्यासी मंडल (Board of Trustees) होता है जिसमें विभिन्न हितों के सदस्य होते हैं।

31 मार्च 2000 को सभी प्रमुख बंदरगाहों की क्षमता 2580 लाख टन थी। अधिकतर भारतीय बंदरगाह अपनी क्षमता के 100 प्रतिशत से अधिक पर कार्य कर रहे हैं फिर भी अन्य क्षेत्रों की

तुलना में कम कार्यकुशल हैं। इसके पीछे कुछ आर्थिक मजबूरियां हैं। अधिकतर सामान्य माल गोदियां भारी मात्रा में माल जैसे कोयला को उतारने और चढ़ाने के काम में ली जाती हैं। इससे बंदरगाहों का क्षमता उपयोग अस्थायी तौर पर बढ़ जाता है।

95 प्रतिशत यातायात प्रमुख बंदरगाहों से होता है। 1951-61 में यातायात वृद्धि दर केवल 5.2% प्रतिवर्ष थी। 1961-71 के बीच यह बढ़कर 6.8%, व 1971-81 के बीच गिर कर 4.4% हो गयी। लेकिन 1981 व 1991 के बीच यह बढ़कर 8-9% हो गयी। यह पुनः बढ़कर 1992-93 से 1999-2000 के दौरान 7.1 प्रतिशत हो गयी।

प्रमुख बंदरगाहों के वस्तु स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। 1950-51 में पैट्रोल व पेट्रोल पदार्थ केवल 8% थे जो कि आज 41% से भी ऊपर है।

रेलवे

1994 तक रेलवे एवं संबंधित सेवाएं पूरी तरह सार्वजनिक क्षेत्र में थी। लेकिन 1993-94 से गाड़ियों में भोजन की व्यवस्था का निजीकरण किया गया। अभी भी रेलवे लगभग पूरी तरह सरकार के नियंत्रण में हैं। रेल मंत्रालय का वार्षिक बजट लोकसभा के सामने रखा जाता है।

प्रशासन के उद्देश्य से भारत में रेलवे को 6 मंडलो (zones) में बांटा गया है। ये है – मध्य, उत्तर–पूर्व, उतर–पूर्व फ्रंटीयर, दक्षिण, दक्षिण–मध्य तथा पश्चिम।

1950-51 से 2000-2001 तक रेलवे ने काफी उन्नति की है। 50 वर्षो में रेलवे का माल यातायात 8 गुना व यात्री यातायात 6 गुना बढ़ा है।

जहां तक गाड़ियों (Rolling stock) का संबंध है, इंजिनों (locomotives) की संख्या 1950-51 में 8209 से घट कर 31 मार्च 2000 में 6400 हो गयी है। इसका मुख्य कारण भाप इंजिन की संख्या का कम होना है जोकि 1950-51 में 8120 से घटकर 1999-2000 में केवल 160 रह गयी। अब इनका स्थान डीजल और बिजली के इंजिनों ने ले लिया है। 1950-51 व 1999-2000 के बीच डीजल इंजिनों की संख्या 17 से बढ़कर 4500 और बिजली इंजिनों की संख्या 72 से बढ़कर 2500 हो गयी है।

MADHYAM IAS

उपरोक्त के साथ साथ बिजली डिब्बों (coaches) की संख्या 50 वर्ष की अवधि में 460 से बढ़कर 3692 हो गयी है। पारम्परिक डिब्बों की संख्या 8 गुना बढ़ी है। 1950-51 में इनकी (पारंपरिक डिब्बों) संख्या 88 हजार थी जो कि 1999-2000 में 725 हजार हो गयी। इसकी तुलना में मालगाड़ी के डिब्बों में केवल 36 प्रतिशत की वृद्धि हुई। यह संख्या 1950-51 में 206 हजार से बढ़कर 1999-2000 में 298 हजार हो गयी।

इस तरह मालगाड़ी के डिब्बों में बहुत कम वृद्धि हुई है। यही कारण है कि माल यातायात रेलवे से हटकर सड़क परिवहन को जा रहा है। 1950-51 में रेलवे और सड़क परिवहन के बीच 75:25 का अनुपात था। 1999-2000 में यह घटकर 25:75 का हो गया। इसका अर्थ है कि रेलवे जोकि 1950-51 में 75 प्रतिशत माल ढोती थी, 1999-2000 में यह प्रतिशत घटकर केवल 25 रह गया।

प्रथम योजना से लेकर अब तक रेलवे को दी गयी योजना राशि तालिका 4 में दी गयी है :

तालिका-4

योजना व्यय

(करोड़ रु.)

योजना	व्यय	प्रतिशत भाग			
	रेलवे	कुल परिवहन	कुल योजना	परिवहन को कुल योजना का प्रतिशत	रेलवे को कुल योजना का प्रतिशत
1. प्रथम	217	434	1,960	22.1	11.07
2. द्वितीय	723	1,100	4,672	23.5	15.48
3. तृतीय	1,326	1,983	8,577	23.1	15.46
4. चौथी	934	2,522	15,779	16.0	5.92
5. पांचवी	1,523	4,078	18,991	14.1	5.25
6. छठी	6,585	13,841	109,292	12.7	6.02
7. सातवीं	16,437	29,582	220,216	13.4	7.46
8. आठवीं	27,202	53,966	434,100	12.4	6.20

हांलाकि चालू कीमतों पर रेलवे का योजना व्यय 125 गुना बढ़ गया है, इसका प्रतिशत 11 से घटकर 6.3 हो गया है।

बोध प्रश्न 4

1) भारत में बिजली क्षेत्र के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में दूर संचार क्षेत्र छोटा नहीं है। समझाइए।

.....

.....

.....

.....

3) प्रबंध के उद्देश्य से भारत में सड़कों को....., ..., ...में बांटा गया है।

4) भारत में ..... बड़े बंदरगाह हैं और इन बंदरगाहों के विकास और प्रबंध की जिम्मेदारी ..... की है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

5) भारत में 1951 के बाद से रेलवे के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

11.7 भारत में सामाजिक बुनियादी सुविधाओं का विकास

भाग 11.3 में हमने देखा कि सामाजिक बुनियादी सुविधाओं में स्वास्थ्य, पेय जल आपूर्ति, सफाई तथा सामाजिक व वैयक्तिक सेवाएं आती हैं। आइए, इनमें से कुछ के बारे में बात करें।

स्वास्थ्य

भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में कई गुना वृद्धि हुई है। सभी प्रकार की रोग–उपचार प्रणालियों एलोपेथी, होम्योपेथी, आयुर्वेदिक का विकास हुआ है। इस अवधि में उपचार की सभी विधियों का विकास हुआ है, लेकिन आंकड़े केवल एलोपेथी के बारे में ही उपलब्ध हैं।

1951 व 2000 के बीच 50 वर्ष की अवधि में प्रति लाख जनसंख्या के पीछे डाक्टरों की संख्या 1951 में 17 से बढ़कर सन 2000 में 52 हुई है यानि 3 गुना बढ़ी है। यह वृद्धि 2.43% प्रतिवर्ष के हिसाब से हुई है। उसी अवधि में प्रति लाख जनसंख्या के पीछे बिस्तरों की संख्या 1951 में 32 से बढ़कर 2000 में 101 हो गयी। यह वार्षिक वृद्धि दर 2.56 प्रतिशत है। अस्पतालों की संख्या 1951 में 0.75 से बढ़कर 1.62 प्रति लाख जनसंख्या हो गयी। वृद्धि दर की दृष्टि से यह वृद्धि 1.73 प्रतिशत है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

शिक्षा

शिक्षा एक महत्वपूर्ण सामाजिक बुनियादी सुविधा है। भारत में स्कूलों (इन स्कूलों में प्राथमिक मिडिल, माध्यमिक, उच्चतर माध्यमिक सभी स्कूल शामिल हैं) की संख्या 1951 में 2.31 लाख से बढ़कर 2000 में 11.56 लाख हो गयी। इसकी वार्षिक वृद्धि दर 3.22% है।

सामाजिक बुनियादी सुविधाओं पर व्यय

भारत में केंद्र, राज्य आदि सभी स्तर पर सामाजिक बुनियादी सुविधाओं पर होने वाले सरकारी व्यय में काफी वृद्धि हुई है। व्यय के आंकड़े जो चालू कीमतों पर हैं, से पता चलता है शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय 1950-51 में 5 रु. से बढ़कर 1999-2000 में 564रु. हो गया है। यह वृद्धि 9% प्रतिवर्ष है। स्वास्थ्य पर प्रति व्यक्ति व्यय 2रु. से बढ़कर 96 रु. हो गया है। यह वृद्धि 8 प्रतिशत प्रतिवर्ष हैं। इसी अवधि में सामाजिक सुरक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय 1 रु. से बढ़कर 69 रु. हो गया है। यह वृद्धि 10% प्रतिवर्ष है।

बोध प्रश्न 5

1) भारत में प्रति लाख जनसंख्या के पीछे डाक्टरों की संख्या 1951 में ..... से बढ़कर 2000 में ..... हो गयी।

.....

.....

.....

2) शिक्षा पर प्रति व्यक्ति व्यय 1950-51 में ..... से बढ़कर 1999-2000 में ..... हो गया।

.....

.....

.....

.....

.....

11.8 सारांश

बुनियादी सुविधाओं की अर्थव्यवस्था के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। सामाजिक उपरि पूंजी का आर्थिक विकास और मानव कल्याण पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। बुनियादी सुविधाओं के मिलने या न मिलने पर यह निर्भर करता है कि अर्थव्यवस्था बढ़ती जनसंख्या, उत्पादन में वृद्धि लाने, गरीबी कम करने, व्यापार बढ़ाने आदि की समस्याओं से कितनी सफलतापूर्वक निपटती है। यदि बुनियादी सुविधाएं उपयुक्त हों तो उत्पादिता बढ़ती है और लागत कम होती है। विकास के लिए यह आवश्यक है कि ये सुविधाएं तेजी से बढ़ें।

जैसे जैसे एक अर्थव्यवस्था विकास की और बढ़ती है, मांग के बदलते स्वरूप के साथ–साथ बुनियादी सुविधाओं में भी परिवर्तन आने चाहिए। विकास के साथ–साथ जल आपूर्ति व सिंचाई की तुलना में बिजली, सड़क, रेलवे व दूरसंचार का योगदान बढ़ता जाता है।

बुनियादी सुविधाओं के प्रकार से ही यह पता चलता है कि आर्थिक संवृद्धि गरीबी हटा पाती है या नहीं। अधिकतर गरीब लोग गांव में रहते हैं और कृषि उत्पादिता व गैर–कृषि ग्रामीण रोजगार सीधे ही बुनियादी सुविधाओं से जुड़े हैं। चीन की सफलता के पीछे एक महत्वपूर्ण कारक था ग्रामीण स्तर पर परिवहन, दूरसंचार व बिजली का एक न्यूनतम कार्यक्रम। चीन में श्रम शक्ति का 18 प्रतिशत भाग ग्रामीण उद्यमों में लगा है और चीन के सकल घरेलू उत्पाद का लगभग एक तिहाई भाग इन उद्यमों से आता है।

बुनियादी सुविधाएं उत्पादिता में वृद्धि लाकर व सुविधाएं प्रदान कर जीवन की गुणवत्ता बढ़ाती हैं और आर्थिक विकास में योगदान देती हैं। ये सेवाएं उत्पादन में कई प्रकार से वृद्धि लाती हैं। लेकिन भारत में बुनियादी सुविधाओं को उचित स्थान नहीं मिला है।

भारत के सकल घरेलू उत्पाद में बुनियादी सुविधाओं का योगदान बहुत कम है। भौतिक बुनियादी सुविधाओं का योगदान 25% से कम रहा है। अब भी यह 33% से कम है। औद्योगिक देशों में यह 55% और कई विकासशील देशों में 45-50 प्रतिशत है।

भारत में 1947 में बिजली का 41 करोड़ युनिट (Kwh) का उत्पादन होता था जोकि मार्च 2000 में बढ़कर 3500 करोड़ यूनिट हो गया। यह वृद्धि चक्रवृद्धि दर से 7.5 प्रतिशत है। फिर भी बिजली आपूर्ति मांग में वृद्धि की अपेक्षा कम रही है। मार्च 2000 में भारत में व्यस्ततम घंटों (Peak hours) में बिजली में 19 प्रतिशत की कमी थी और औसतन 8 प्रतिशत की कमी थी।

भारत में तेल, गैस व जल बिजली उत्पादन के परम्परागत स्रोत रहे हैं। लेकिन इसमें प्रमुख स्थान कोयला और जल का है। ऐसा अनुमान है कि अब तक लगभग जल से संभावित बिजली उत्पादन क्षमता का 78% भाग प्रयोग में नहीं लाया गया है।

आपूर्ति में कमी के पीछे प्रमुख कारण ये थे : परियोजनाओं के प्रबंध में कमी, विदेशी सहायता से चलने वाली परियोजनाओं की समस्याएं, कानून और व्यवस्था की समस्याएं तथा साधनों की कमी।

भारत में दूरसंचार नैटवर्क कोई छोटा नहीं है। 120 लाख लाइनों के साथ यह विश्व का चौदहवां सबसे बड़ा नैटवर्क है। फिर भी भारत में 100 व्यक्तियों के पीछे 1.3 टेलीफोन हैं जबकि विश्व का औसत 10 है। भारत में इस समय 21 लाख से भी अधिक उपभोक्ता टेलीफोन लाइन की प्रतीक्षा कर रहे है।

भारत में जिस दर से यातायात बढ़ा है उस दर से राष्ट्रीय और राज्य राजमार्गो का विस्तार नहीं हुआ है। ज्यादातर विस्तार गांव की सड़कों में हुआ है। हांलाकि अब भी 50% गांव सड़कों से नहीं जुड़े है। राष्ट्रीय राजमार्ग 1951 में 20 हजार किलोमीटर से 2000 में 34,100 हजार कि. मी. यानि 55% बढ़े हैं। राज्य राजमार्ग 1951 में 60 हजार कि. से 2000 में 131 हजार कि. यानि 11.8% बढ़े हैं।

यातायात की मांग बढ़ने के साथ–साथ सड़कों की गुणवत्ता में समान वृद्धि नहीं हुई है। 165 हजार कि. के राष्ट्रीय व राज्य राजमार्गो में से केवल 2% लंबाई 4 लेन (lane) वाली, 34% 2 लेन वाली व बाकी 64% एक लेन वाली है।

सड़क नेटवर्क उपयुक्त न होने के कारण परिवहन लागत बढ़ी है जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में पीछे है।

भारत में रेलवे केवल सार्वजनिक क्षेत्र में रही है। लेकिन सही गति से इसका विकास नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप इसका यातायात सड़क परिवहन को जा रहा है, विशेषतया माल यातायात। इसके पीछे मुख्य कारण है मालगाड़ी के डिब्बों में धीमीदर से वृद्धि। 1950-51 में माल यातायात में रेलवे और सड़क परिवहन का तुलनात्मक अनुपात 5:25 था जोकि 1999-2000 में 25:75 हो गया। इसका अर्थ है कि 1950-51 में रेलवे कुल माल यातायात का 75% भाग ले जाती थी जबकि 1999-2000 में केवल 30%।

निम्न उत्पादिता भारतीय बंदरगाहों की प्रमुख समस्या है। इसके पीछे निम्नलिखित कारण हैं :

- कार्यात्मक अवरोध जैसे पुराने व गलत प्रकार के होने से माल ढुलाई साज समान द्वारा काम न करना।
- अनुपयुक्त निकर्षण (dredging) व कंटेनर (container) सुविधाएं।
- कुशल व अनुकूल बंदरगाह, साज समान का प्रयोग न होना।
- पूरी संभार तत्र (logistic) कड़ी में समन्वयन की कमी।

कंटेनर व्यवस्था (containerisation) ने परिवहन में एक तकनीकी क्रांति ला दी है लेकिन भारत में इसका प्रभाव बहुत कम है। 1993-94 तक भारत में कंटेनर यातायात कुल यातायात का केवल 6.8 प्रतिशत था।

भारतीय बंदरगाहों में कंटेनर व्यवस्था बहुत मंहगी हैं। दूसरी व तीसरी पीढ़ी के पोत प्रयोग में लाने के कारण एक वर्ष में 25 करोड़ अमरीकी डालर के बराबर लागत भार बढ़ा है। कंटेनर में देरी के कारण भारतीय बंदरगाहों की लागत एक वर्ष में 7 करोड़ डालर बढ़ जाती है।

11.9 शब्दावली

प्राकृतिक साधन : अर्थव्यवस्था को प्रकृति प्रदत्त मुफ्त संसाधन

वस्तु उत्पादन क्षेत्र : भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले क्षेत्र। इनमें कृषि, खनन, विनिर्माण, निर्माण आदि क्षेत्र आते हैं।

मनुष्य की कार्यकुशलता : कारखाने में लगे एक व्यक्ति की वस्तुएं एवं सेवाएं उत्पादन करने की क्षमता

टन किलोमीटर : प्रति एक टन माल की एक किलोमीटर तक ढुलाई। यानि टन × किलोमीटर

व्यक्ति किलोमीटर : व्यक्ति × किलोमीटर

1 विलियन (Billion) : 1,00,00,00,000 = 100 करोड़ = 1 अरब

1 मिलियन (Million) : 1,000,000 = 10 लाख

11.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

विश्व बैंक : वर्ल्ड डेवलपमेंट रिर्पोट

सी एस ओ : नेशनल एकाउन्टस स्टैटिस्टीक

11.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पढ़िए उप–भाग 11.2.2 और उत्तर दीजिए।

2) पढ़िए उप–भाग 11.2.1 और उत्तर दीजिए।

3) पोल रोजनस्टीन रोदाइन, रागनर नर्क्से, एलबर्ट हर्षमेन आदि।

बोध प्रश्न 2

1) बिजली, परिवहन संचार, व्यापार तथा बैकिंग एवं बीमा।

2) स्वास्थ्य, शिक्षा : पेयजल आपूर्ति, सफाई सेवाएं तथा सामाजिक एवं वैयक्तिक सेवाएं।

बोध प्रश्न 3

1) पढ़िए उप–भाग 11.4.1 और उत्तर दीजिए।

2) पढ़िए उप–भाग 11.4.1 और उत्तर दीजिए।

3) पढ़िए उप–भाग 11.4.2 और उत्तर दीजिए।

4) पढ़िए उप–भाग 11.4.2 और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 4

1) पढ़िए भाग 11.6 और उत्तर दीजिए।

2) पढ़िए भाग 11.6 और उत्तर दीजिए।

3) 4

4) 12, केन्द्रीय सरकार

5) पढ़िए भाग 11.6 और उत्तर दीजिए।

बोध प्रश्न 5

1) 17 52

2) Rs. 5 Rs. 564

MAADHYAM IAS

इकाई 12 पर्यावरण और सतत विकास

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 वहन क्षमता

12.3 सतत विकास

- 12.3.1 वानिकी
- 12.3.2 जैवविविधता
- 12.3.3 कृषि
- 12.3.4 जल संसाधन
- 12.3.5 उद्योग
- 12.3.6 ऊर्जा
- 12.3.7 परिवहन

12.4 सतत विकास की रणनीतियां

- 12.4.1 पर्यावरण संबंधी प्रभाव आकलन (EIA)
- 12.4.2 प्राकृतिक संसाधन लेखा और बजटीकरण

12.5 सारांश

12.6 शब्दावली

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर एवं संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- 'विकास' का क्रमबद्ध अर्थ प्रस्तुत कर सकेंगे;
- यह बता सकेंगे कि 'सतत विकास' का क्या अर्थ है और किस प्रकार यह किसी भी सार्थक विकास प्रक्रिया का अंग है;
- 'वहन क्षमता' की धारणा को स्पष्ट कर सकेंगे तथा यह बता सकेंगे कि और किस प्रकार सतत विकास में पारिस्थितिक प्रणालियों की वहन क्षमता पर ध्यान देना शामिल है;
- उन तरीकों के विषय में बता सकेंगे जिनसे विकास प्रक्रिया सतत बन सकती है;
- अर्थव्यवस्था के कुछ प्रमुख क्षेत्रों के सतत विकास से संबंधित मुख्य मुद्दों की पहचान कर सकेंगे; और
- उन दो रणनीतियों के विषय में बता सकेंगे जिनके द्वारा परियोजनाओं, कार्यकलापों और नीतियों को पर्यावरण के अधिक अनुकूल बनाने के काम में लगाया जा सकता है।

12.1 प्रस्तावना

'विकास' विश्व भर में सरकारों और समाजों का एक प्रमुख उद्देश्य है। कई वर्षों से देशों और

विकासशील और विकसित वर्गों में बांटा जाता रहा है। हाल के वर्षों में 'विकासशील' और 'विकसित' देशों के वर्गीकरण के लिए क्रमशः 'दक्षिण' और 'उत्तर' शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा है। बहरहाल भाषा चाहे जो भी हो, मुख्य अभिप्राय विकास के स्तर से ही है।

'विकास' शब्द दरअसल किसी वास्तविक स्थिति के बजाय एक प्रक्रिया से संबंधित है और 'विकसित' शब्द भी भ्रामक है क्योंकि इससे लगता है कि देश एक ऐसे स्तर पर पहुंच गया है जिसके आगे और विकास की आवश्यकता ही नहीं है। परंतु यह सही नहीं है। समाज और देश कितने ही विकसित क्यों न हों और अधिक विकास कर सकते हैं। केवल उनसे कम विकसित देशों की तुलना में ही वे विकसित हैं।

विकास की धारणा का रोचक इतिहास रहा है। आरंभ में जब देशों के प्रतिरूप के तौर पर इसका उपयोग किया जाता था तो इसका तात्पर्य लगभग पूरी तरह आर्थिक विकास अथवा संवृद्धि का प्राप्त स्तर था। अतः देशों को प्रत्यक्ष रूप से उनकी आर्थिक सम्पन्नता के अनुपात में ही विकसित माना जाता था। यूरोपीय देशों, जिनके पास अनेक उपनिवेश थे और फलस्वरूप ढेर सारा राजस्व था, को उन देशों की अपेक्षा अधिक विकसित कहा जाता था जिनके पास उपनिवेश नहीं थे और जो इसी कारण आर्थिक तौर पर निर्धन थे।

फिर भी शताब्दी के परिवर्तन के समय, विशेष रूप से प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) के बाद, कई लोग विकास की इस व्याख्या का विरोध करने लगे। ऐसा महसूस किया गया कि आर्थिक संवृद्धि को तब तक विकास नहीं माना जा सकता जब तक उससे समानता को बढ़ावा न मिले। परिणामस्वरूप, ऐसे देश को विकसित नहीं कहा जा सकता जिसके 'साम्राज्य' के एक भाग में निर्धन उपनिवेश हों। इसी प्रकार, यदि किसी देश में थोड़े से लोग सम्पन्न और बहुत से निर्धन हों तो फिर अत्यधिक कुल सम्पत्ति होने पर भी उसे विकसित नहीं माना जा सकता।

हाल के वर्षों में इस सोच को 'सामाजिक अथवा मानव विकास सूचक' में रूपांतरित किया गया है जिसमें शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई, पेयजल की उपलब्धि, पोषण स्तर और नागरिक अधिकार शामिल हैं। **संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP)** अब एक **मानव विकास रिपोर्ट** प्रकाशित करता है जिसमें विभिन्न देशों को इन सामाजिक और मानव सूचकों की उपलब्धि के स्तर के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

60 के दशक में विकास से संबंधित एक और किस्म की चिंता व्यक्त की जाने लगी। हम अपने प्राकृतिक संसाधनों के साथ क्या कर रहे हैं – इस विषय में बढ़ती जागरूकता के साथ लोग यह पूछने लगे कि क्या ऐसे देश को विकसित माना जा सकता है जिसकी संवृद्धि प्रकृति और प्राकृतिक संसाधनों के विनाश पर आधारित हो। इस विचार के तहत कि प्राकृतिक संसाधन सबसे ज़्यादा–वित्तीय संसाधनों से भी ज्यादा बुनियादी हैं – संवृद्धि की कोई भी प्रक्रिया जो इन संसाधनों को नष्ट करेगी, मध्यम से दीर्घकाल में उसकी असफलता निश्चित है। ऐसी रणनीति के सतत (sustainable) होने की संभावना नहीं है। प्राकृतिक संसाधनों के नाश से वर्तमान में तो विकास हो सकता है, परंतु अर्थव्यवस्था का भविष्य खतरे में पड़ जायेगा। ऐसी ही जागरूकता से सतत विकास की धारणा ने जन्म लिया है।

अतः विकास को इस प्रकार पुनःपरिभाषित किया गया कि उसका अर्थ एक ऐसी आर्थिक और सामाजिक संवृद्धि से है जिससे न केवल समानता बढ़े अपितु दीर्घकाल तक सतत भी रहे। 'सतत विकास' की धारणा का उपयोग विकास की पुरानी परिकल्पना और नये सतत स्वरूप के बीच भेद करने के लिए किया जाने लगा।

सतत विकास को ऐसे विकास के रूप में वर्णित किया गया है जो :

"भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करने की सामर्थ्य के साथ समझौता किए बिना वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करता हो" (आवर कॉमन फ्यूचर, 1987)।

12.2 वहन क्षमता

सतत विकास के अर्थ को पूरी तरह समझने के लिए हमें पहले वहन क्षमता की धारणा को समझना होगा। किसी जीव या प्रणाली की वहन क्षमता विभिन्न प्रकार की मांग को पूरा करने और दबावों को झेलने की ऐसी सामर्थ्य है जिससे न तो उसे स्थायी नुकसान हो और न ही भविष्य के दबावों को सहने और मांग को पूरा करने के साथ उसे कोई समझौता करना पड़े।

एक पारिस्थिति प्रणाली के संदर्भ में इसका अर्थ होगा – निष्कर्षण (Extraction) (उसकी उत्पादन क्षमता) को झेलने और बिना अवक्रमित हुए (उसकी समावेशनीय क्षमता (its assimilative capacity) प्रदूषण का मुकाबला करने की उसकी क्षमता।

इसको बेहतर समझने के लिए इस बात पर ध्यान दीजिए कि मनुष्यों की भी वहन क्षमता होती है। हम सुरक्षित रूप से उतनी ही मात्रा में रक्तदान कर सकते है जितना हमारा शरीर जल्दी लौटा दे। इसी प्रकार अपने स्वास्थ्य को स्थायी नुकसान पहुंचाए बिना हम कुछ मात्रा में कैफ़ीन या अन्य प्रदूषक तत्वों का समावेश कर सकते हैं। परंतु यदि हमारे शरीर से सारा खून बहा दिया जाये अथवा हम शरीर की समावेशनीय क्षमता से बाहर की किस्मों और मात्रा में प्रदूषकों से प्रभावित होते हैं तो हमें गम्भीर हानि हो सकती है। ऐसी स्थिति में हमारे उत्पादन करने और काम करने की क्षमता क्षीण हो जायेगी। यदि अर्से तक यह बहाव अथवा शारीरिक प्रदूषण जारी रहे तो संभवतः हमारी मृत्यु हो जायेगी।

ऐसा ही प्रकृति के साथ होता है। उदाहरण के लिए एक नदी को लीजिए। नदी में यह क्षमता होती है कि यदि उसमें से कुछ मात्रा में जल निकाल कर मानव उपभोग में लगा दिया जाये तो भी नदी बिना किसी स्थायी नुकसान के अपना काम कर सकेगी। परंतु यदि हम नदी का बहुत सारा या तमाम पानी बहा दें तो पारिस्थितिक व्यवस्था के रूप में नदी समाप्त हो जायेगी अथवा उसे स्थायी क्षति पहुंचेगी। इसके साथ ही, नदी में कुछ प्रदूषकों को आत्मसात करने और उनका जैविक अवक्रमण (biodegrade) करने की क्षमता होती है ताकि वह पारिस्थितिक प्रणाली को नुकसान न पहुंचाएं। परंतु यदि हम नदी की समावेशन क्षमता (assimilative ability) के बाहर की किस्मों और मात्राओं में प्रदूशक फैंकते रहें तो नदी को स्थायी क्षति पहुंचेगी। वह नदी नहीं रहेगी।

MRADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

निम्नांकित रेखाचित्र से देखा जा सकता है कि हम और प्रकृति परस्पर कैसे प्रभावित होते हैं और किस प्रकार उसकी वहन क्षमता का प्रयोग करते हैं।

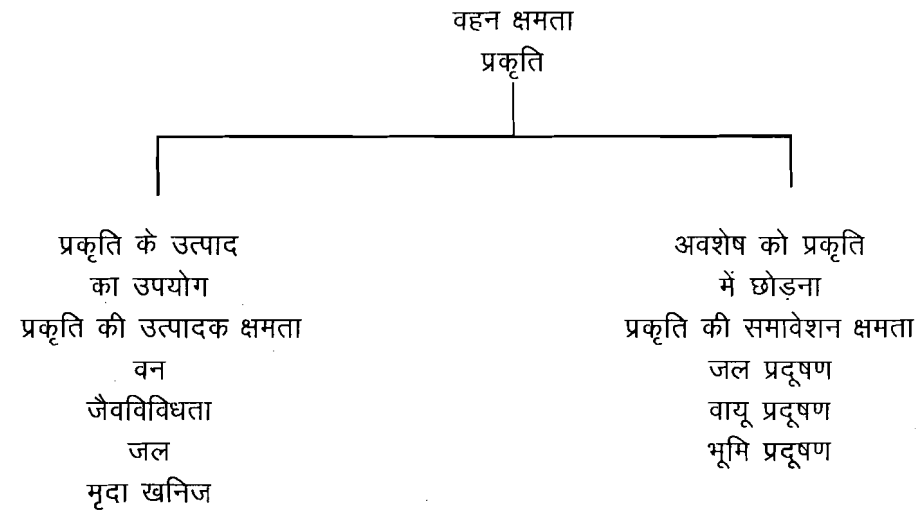

अतः सतत विकास सुनिश्चित करने का एक उपाय यह सुनिश्चित करना है कि आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया प्रकृति से उसकी पुनः उत्पन्न करने की क्षमता से अधिक न ले और प्रकृति को उसकी समावेशन क्षमता से अधिक प्रदूशित न करे।

किसी संसाधन की वहन क्षमता अनंत नहीं होती है। बेहतर प्रबंधन और प्रौद्योगिकी द्वारा विभिन्न प्राकृतिक पारिस्थितिक प्रणालियों की वहन क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। उदाहरण के लिए

आनुवंषिक (genetic) इंजिनीयरी के प्रयोग से, विशेषकर बेहतर बीज और फसलों की तेज़ी से बढ़ने वाली किस्मों के प्रयोग से पोषित वनस्पति और उनको उपजाने वाली भूमि की उत्पादिता में वृद्धि की जा सकती है। उर्वरक और सिंचाई के द्वारा भी भूमि की उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। इसी प्रकार पारिस्थितिक प्रणाली (eco-system) की समावेशन क्षमताओं को भी बढ़ाया जा सकता है। हाल ही में केंचुओं के साथ वर्म कल्चर नामक सफल परीक्षण किये गये जिनसे पता लगा कि वनस्पति खाद के गड्ढों में केंचुओं को डालने से पारिस्थितिक प्रणाली की अपशिष्ट पदार्थों को नष्ट करने की और जीवअवक्रम योग्य पदार्थों का समावेश करने की क्षमता बढ़ जाती है जिसके परिणामस्वरूप मृदा की गुणवत्ता में सुधार होता है।

धरती पर रहने वाले प्राणियों में एकमात्र मनुष्य ही ऐसा है जिसमें पारिस्थितिक प्रणालियों की वहन क्षमता का उस हद तक अतिक्रमण करने की सामर्थ्य है जहां यह पारिस्थितिक प्रणालियां अवक्रमित (degraded) या नष्ट (destroyed) हो जाएं। बाकी प्रकृति में प्राकृतिक संसाधनों का आवश्यकता से अधिक उपयोग रोकने के लिए अंतर्निमित प्रतिबंध और संतुलन हैं। पशुओं द्वारा संसाधनों का उपयोग उन संसाधनों की उपलब्धता द्वारा निर्धारित होता है।

इस प्रकार, उदाहरण के तौर पर यदि किसी विशेष इलाके में हिरणों की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि वे पुनः उत्पन्न किये जा सकने की सीमा से अधिक घास का उपभोग करने लगते हैं तो घास की उपलब्धता कम हो जाएगी और इसके फलस्वरूप हिरणों की आबादी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार यदि किसी क्षेत्र में बाघों की संख्या इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने आहार के लिए आवश्यक अन्य शिकार पशुओं को उनके पुनः उत्पन्न हो सकने से अधिक तेज़ी से खाने लगते हैं तो शीघ्र ही इन बाघों के लिए पर्याप्त भोजन नहीं रहेगा और उनकी आबादी घटने लगेगी। आबादी तेज़ी से उस बिंदु तक पहुंच जाएगी जहां बिना किसी स्थायी नुकसान के बाघों की संख्या तथा उनके शिकार पशुओं की संख्या में पुनः संतुलन स्थापित हो जाएगा। यह क्रम बिना रूके चलता रहता है। निम्नांकित रेखा चित्र में इस संबंध को चित्रित किया गया है।

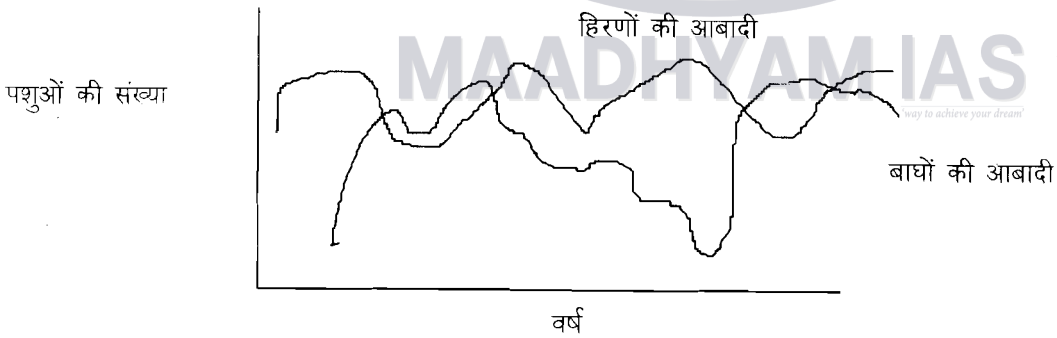

प्रकृति में कुछ भी अपशिष्ट (waste) नहीं है। एक प्राणी का अपशेष दूसरे का भोजन है और आखिर में वह पारिस्थितिक प्रणाली के एक या दूसरे अंग का आगत बन जाता है। अतः कई तरह के कीटाणु और सूक्ष्म जीव विभिन्न पशुओं की विष्ठा में पैदा होते हैं और उसी पर जीते हैं। यह कीटाणु और सूक्ष्म जीव इस विष्ठा को उस बिंदु तक जैवअवक्रमित करते हैं जहां वह मृदा के लिए पोषाहार बन जाता है। इसी प्रकार मरे हुए पौधे और पेड़, यहां तक कि पशुओं की लाश भी अन्य प्राणियों के लिए निवास या भोजन बन जाते हैं और इस प्रक्रिया में पारिस्थितिक प्रणाली द्वारा उनके समावेशन में सहायक होते हैं।

अपने उपभोग की गति, उपभोग को सुसाध्य बनाने के लिए विकसित प्रौद्योगिकी और उसके द्वारा परित्यक्त अपशेष के स्वरूप और मात्रा के कारण केवल मनुष्य में ही अपने अधीन पारिस्थितिक प्रणालियों की वहन क्षमता के अतिक्रमण की प्रवृत्ति होती है। समस्या इस तथ्य के मद्देनज़र बदतर हो जाती है कि मनुष्य में ही अपने निकटतम पारिस्थितिक प्रणाली के नष्ट होने पर अपना ध्यान अन्य दूरस्थ पारिस्थितिक प्रणालियों पर लगा कर स्वयं को अपने निकटतम पर्यावरण के अवक्रमण के परिणामों से बचाने की क्षमता है। अतः ऐसे साधनों और तरीकों को सोच निकालना महत्वपूर्ण है जिनसे बाकी प्रकृति के साथ मनुष्य की पारस्परिक क्रिया के सतत स्तर को बनाये रखा जा सके।

बोध प्रश्न 1

1) वहन क्षमता से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

2) वहन क्षमता को कैसे बढ़ाया जा सकता है?

.....

.....

.....

.....

.....

12.3 सतत विकास

सतत विकास कोई ऐसी चीज़ नहीं है जिसे रातों–रात हासिल किया जा सके। सततता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए यह सुनिश्चित करना होगा कि प्रत्येक परियोजना, प्रत्येक कार्यकलाप, प्रत्येक स्कीम और प्रत्येक नीति को तब तक उत्तरोत्तर पर्यावरण के अनुकूल बनाया जाना चाहिए जब तक वह स्वयं सतत न बन जाये और सम्पूर्ण सततता को बढ़ावा दे। क्षेत्रों के अनुसार सूचीबद्ध कुछ मुद्दे नीचे दिये गये हैं जिन पर सतत विकास की खोज के दौरान हमें ध्यान देना होगा।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

12.3.1 वानिकी

वानिकी क्षेत्र में और उसके ज़रिये सतत विकास का अर्थ है कि हम वनों से उतने ही लट्ठों और अन्य पदार्थों की फसलें लें जितना वह पुनर्उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, यदि एक वन 2% प्रति वर्ष की दर से बढ़ता है तो इसकी कटाई (Harvesting) इस बढ़त से अधिक नहीं होनी चाहिए। यह विवेकपूर्ण वित्तीय प्रबंधन के सिद्धांत जैसा ही है जिसमें लोगों से अपेक्षा की जाती है कि वे अपने बचत की पूंजी में से न खाएं बल्कि उसके ब्याज पर बसर करें।

प्रकृति की पूंजी से नहीं बल्कि उसके ब्याज से लो।

हम क्या लेते हैं और कैसे लेते हैं – यह भी महत्वपूर्ण है। यदि हम जवान और बढ़ते हुए वृक्षों की फसल लेते हैं तो दीर्घकाल में वन नष्ट हो जायेगा। इसी प्रकार, यदि हम वन के एक भाग से फसल लेने पर ध्यान केंद्रित करें तो समूचे तौर पर पुनःउत्पन्न करने की क्षमता से अधिक न निकालने पर भी, वह हिस्सा जहां से हमने फसल ली है, बंजर हो जायेगा।

12.3.2 जैवविविधता

जैवविविधता अथवा जैवविज्ञानिक विविधता को पारिस्थितिक प्रणालियों, प्रजातियों और जीन की भिन्नताओं के रूप में पारिभाषित किया गया है। अब यह माना जाता है कि जैवविविधता मानव कल्याण और जीवन को बनाये रखने के लिए निर्णायक है।

पृथ्वी पर पारिस्थितिक प्रणालियों की बहुत सी किस्में हैं । उदाहरण के लिए सागर और महासागर, नदियां और झीलें, वन, मरुस्थल, घासस्थली, द्वीप और पर्वत मौजूद हैं। इन वर्गों में

भी उपवर्ग पाये जाते हैं। उदाहरण के रूप में, भारत में सोलह प्रमुख किस्मों के वन हैं और इनकी सैंकड़ों उपकिस्में हैं। इसी प्रकार उष्ण सागर और शीतोष्ण सागर हैं, शीत और ऊष्ण मरुस्थल हैं और विभिन्न प्रकार की पर्वत श्रृंखलाएं और घासस्थलियां हैं। पारिस्थितिक प्रणाली के स्तर पर जैवविविधता का अर्थ है पारिस्थितिक प्रणालियों की विविधता।

प्रत्येक पारिस्थितिक प्रणाली में अनेक प्रजातियां होती हैं। मनुष्य इन्हीं प्रजातियों में से एक है। परंतु उसके अलावा बाघ, शेर, हाथी, पीपल के पेड़, देवदार के पेड़, गुलमोहर और नीम के पेड़, मोर, कौआ, मधुमक्खी, मक्खी, इत्यादि अन्य प्रजातियां भी हैं। प्रजातियों के स्तर पर जैवविविधता का अर्थ है प्रजातियों की विविधता।

प्रत्येक प्रजाति में व्यक्तिगत भिन्नता होती है। उदाहरण के तौर पर मनुष्यों में यद्यपि हम सभी एक प्रजाति के है तथापि हममें से प्रत्येक शारीरिक और मानसिक तौर पर एक दूसरे से भिन्न हैं : जीन विविधता/अन्य प्रजातियों के व्यक्तिगत सदस्यों में भी ऐसी ही भिन्नताएं हैं। जीन के स्तर पर जैवविविधता का अर्थ है समान प्रजाति के सदस्यों के बीच विविधता।

जैवविविधता के संरक्षण का निहितार्थ यह सुनिश्चित करना है कि पारिस्थितिक प्रणालियों, प्रजातियों और जीन के बीच विविधता प्राकृतिक स्तर से कम न हो जाये और किसी भी परिस्थिति में कोई भी पारिस्थितिक प्रणाली अथवा प्रजाति लुप्त न हो जाये।

जैवविविधता के संरक्षण के महत्वपूर्ण होने के कई कारण हैं। इनमें से कुछ प्रमुख कारणों को नीचे वर्णित किया गया है।

औषधि : विश्व में प्रयोग की जाने वाली औशधियों (विशेषकर गैर–एलोपेथी पद्धतियों की) का एक बड़ा अनुपात पौधों और पशुओं से प्राप्त किया जाता है। इसके बावजूद हमने ज्ञात प्रजातियों में से केवल एक प्रतिशत की उनके औशधीय अथवा अन्य गुणों के विषय में जांच की है। और ऐसी प्रजातियों में से जिनके पृथ्वी पर मौजूद होने की संभावना है, अब तक शायद केवल बीस प्रतिशत की खोज और पहचान हो पाई है। यदि ऐसी प्रजाति जिसकी अब तक पहचान नहीं हो पाई है या जिसके औषधीय और अन्य उपभोगों की जांच नहीं हुई है, पृथ्वी से लुप्त हो जाये तो एड्स और कैंसर जैसी कई बीमारियों, जिनसे विश्व आज पीड़ित है, की दवाएं हमेशा के लिए खो जाएंगी।

ऐसी प्रजाति के लुप्त होने पर भी गंभीर खतरे हैं जिसकी हम जांच कर चुके हैं और जो उपयोगी भी नहीं पाई गई हैं। इसका कारण यह है कि ऐसी प्रजाति आज ज्ञात बीमारियों के निदान में तो उपयोगी नहीं हैं। लेकिन इस बात की क्या गारंटी है कि भविष्य में, कुछ वर्ष पूर्व एड्स की तरह, नये रोग नहीं उत्पन्न होंगे। और तब हमें पता लगेगा कि उस बेकार मानी गयी प्रजाति के लुप्त होने के साथ इस रोग़ का इलाज भी खत्म हो गया। अतः यह सुनिश्चित करने के लिए कि हमारे विकल्प पहले ही समाप्त न हो जाएं, हमें प्रत्येक और सभी प्रजातियों के संरक्षण की व्यवस्था करनी होगी। यह जैवविविधता का विकल्प मूल्य है।

कृषि : हमारे द्वारा पैदा किये गये सभी पौधे और पालतू बनाये गये सभी पशु जंगली प्रजातियों से प्राप्त किये गये हैं। नई नसलों को उत्पन्न करने और पालने के विकल्प विकसित करने के लिए हमें जंगली प्रजातियों का संरक्षण सुनिश्चित करना होगा। साथ ही, यदि उत्पादित अथवा पाली गई नसलों को कीड़ों और रोगों से प्रतिरक्षित करना है तो प्रतिरक्षित नसलों को जन्म देने के लिए अक्सर जंगली प्रजातियों का उपयोग करना होगा।

जैवप्रौद्योगिकी : यह एक नया क्षेत्र है जो विश्व के सम्मुख निर्धनता, भूख और रोग जैसी प्रमुख समस्याओं के समाधान में सभी तरह की प्रौद्योगिकी में शायद सर्वाधिक सम्भावनाएं प्रस्तुत करता है। जैवप्रौद्योगिकी के 'कच्चा माल' हैं – जंगली पौधे और पशु। विभिन्न पौधों और पशुओं से ही जीन प्राप्त किये जाते हैं जो जेनेटिक इंजनियरी के ज़रिए कई पुरानी समस्याओं के हल की नई आशाएं जगाते हैं। उदाहरण के तौर पर, भारत की हरित क्रांति जेनेटिक इंजनीयरी का ही एक नतीजा थी और चाहे कितनी ही समस्याएं उससे जुड़ी हों, उसके परिणामस्वरूप भारत में खाद्य पदार्थों की उत्पादिता में अवश्य वृद्धि हुई है। लेकिन यदि जंगली प्रजातियां लुप्त हो

जाएं तो फिर जेनेटिक इंजनीयरी का यह 'कच्चा माल' उपलब्ध नहीं रहेगा। अतः हमें यह विकल्प भी खुला रखना होगा।

जीवन का जाल (Web of life) : समस्त जीवन मकड़ी के जाल की तरह अन्तःसम्बद्ध है। प्रत्येक प्रजाति प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से एक दूसरे पर निर्भर है। अतः यदि एक प्रजाति लुप्त हो जाये तो सभी प्रजातियां इससे प्रभावित होंगी। तत्काल इसका असर शायद न महसूस हो, लेकिन अंततः प्रतिक्रियाओं का सिलसिला शुरू हो जाता है।

इन तथा अन्य कारणों से सतत विकास के लिए जैवविविधता का संरक्षण महत्वपूर्ण है।

12.3.3 कृषि

मृदा और जल संसाधनों, जो कृषि का आधार हैं, का भी सतत उपयोग किया जाना आवश्यक है। मृदा को वायु तथा जल द्वारा कटाव (erosion) का और अवक्रमण (degradation) का खतरा होता है। मृदा के वनस्पति आवरण के नष्ट हो जाने पर मृदा को आवरण द्वारा दिया गया बंधन भी हट जाता है। इस खुली हुई मृदा को कटाव का खतरा पैदा हो जाता है। इसके अलावा, वनस्पति आवरण के हटने से मृदा पर सूर्य की किरणों का सीधा असर पड़ता है और वह जल्दी सूख जाती है। इससे उसकी उत्पादिता में गिरावट आती है और कटाव का खतरा बढ़ जाता है। हरे आवरण द्वारा उत्पन्न किया गया पत्तों और वनस्पति का कचरा मृदा को समृद्ध बनाता है और उसे खाद्य–मिट्टी प्रदान करता है। वनस्पति आवरण के गायब होने पर मृदा का भी अवक्रमण हो जाता है।

मिट्टी के कटाव को रोकने के पर्याप्त उपाय किये बिना ढलानों पर खेती करने और जोतने से भी मृदा को गंभीर नुकसान पहुंचता है। मृदा के अवक्रमण का एक और कारक है – फसलों का अनुपयुक्त प्रतिरूप। यदि फसलों के बीच मृदा को आराम न मिले तो उसकी उत्पादिता गिर जाती है। साथ ही, यादे मृदा के पोषक तत्वों की प्राकृतिक उर्वरकों द्वारा भराई न हो तो मृदा का अवक्रमण होता है।

हालांकि कुछ समय के लिए रासायनिक उर्वरकों द्वारा मृदा की उत्पादिता को बढ़ाया जा सकता है, लेकिन दीर्घकाल में वह मृदा के सभी सूक्ष्ममात्रिक (micro organisms) तत्वों की भराई नहीं कर पाते और इस कारण दीर्घकालीन उत्पादिता बनाये नहीं रख पाते। अन्ततः गिरती हुई उत्पादिता को बनाये रखने के लिए बढ़ती हुई मात्र में रासायनिक उर्वरकों का उपयोग करना पड़ता है। इससे न केवल उत्पादिता में गिरावट आती है बल्कि खेती की वित्तीय लागत में भी खासी वृद्धि होती है।

रासायनिक कीटनाषक दवाओं का आवश्यकता से अधिक प्रयोग अथवा अनुपयुक्त कीटनाषक दवाओं के प्रयोग से भी मृदा का अवक्रमण होता है। ऐसी कीटनाशक दवाएं फसलों के कीड़ों को मारने के अलावा मृदा को पुनर्जीवित करने के लिए आवश्यक विभिन्न कीड़ों, पक्षियों और सूक्ष्मजीवों को भी मार देती हैं। ऐसे कीटनाशकों के बचे हुए तत्व पानी और वातावरण में घुल जाते हैं जिससे पर्यावरण का गंभीर अवक्रमण होता है और मनुष्य के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। लापरवाही से इस्तेमाल किये जाने पर यह फसलों को भी दूषित करते हैं और स्वास्थ्य के लिए अतिरिक्त खतरा बन जाते हैं।

जलाक्रांति (Water logging) मृदा के लिए एक और खतरा है। सिंचाई के खंड में इस समस्या पर विस्तार से चर्चा की जायेगी। पर यहां इतना कहना काफी है कि बढ़ते हुए भू–जल स्तर से हुए लवण और क्षार प्रदूषण के कारण उत्पादक भूमि के विस्तृत क्षेत्र बंजर हो गये हैं।

स्रवण–क्षेत्रों (Catchment areas) में वनों की कटाई के परिणामस्वरूप बाढ़ और सूखे का प्रकोप होता है जिससे हमारी मृदा की उत्पादिता को खतरा और बढ़ जाता है। जहां स्रवण क्षेत्र में जंगलों और वनस्पति का आवरण खत्म हो जाता है, वहां मृदा को वायु और पानी के कटाव का खतरा बन जाता है। ग्रीष्मकालीन सूर्य उसे सुखा देता है और वर्षा होने पर वह पानी के साथ बह जाती है। ढलानों पर वनस्पति आवरण के अभाव के फलस्वरूप भूमिगत जलभृतों (under-ground aquifers) का अपर्याप्त पुनर्आवेशन (re-charging) होता है। इसका अर्थ है कि जहां

स्रवण क्षेत्रों का अवक्रमण हो, वहां सरिताओं और नदियों में वर्षा काल के दौरान वनस्पतियुक्त स्रवण–क्षेत्र की अपेक्षा कहीं अधिक जल होगा। इसके अतिरिक्त उपरिमृदा (stop soil) और अन्य मलबा जो वनस्पति के कारण पहाड़ों पर जमा रहता है अब बंजर भूमि से बहने लगता हैं। इसके परिणामस्वरूप निकले जल और गाद की मात्रा इतनी अधिक होती है कि नदीतल में समा नहीं पाती और बाढ़ में बदल जाती है।

इसके अतिरिक्त, जब गाद मैदानी इलाकों में पहुंचती है और नदी की रफ्तार कम हो जाती है तो यह गाद नदीतल में बैठ जाती है और पूरी नदी इससे भर जाती है। इससे नदीतल की क्षमता कम हो जाती है और पानी का सामान्य बहाव भी नदी में नहीं समाता। इस प्रकार भी बाढ़ आ जाती है।

इसके विपरीत, सूखे मौसम में जलभृतों (aquifers) के सही पुनर्आवेशन न होने के कारण नदियों में पानी कम हो जाता है और सूखे की स्थिति पैदा हो जाती है। आरंभ में बाढ़ के कारण प्रभावित क्षेत्रों में भूमि की गुणवत्ता बढ़ जाती है क्योंकि यह अधिग्रहण क्षेत्रों से उपरिमृदा ले आती है। परंतु कुछ ही वर्षों में उपरिमृदा कट जाती है और केवल रोढ़ी जमा हो जाती है। इससे मृदा की उत्पादिता में खासी गिरावट आ जाती है। (देखिए निम्नांकित चित्र)।

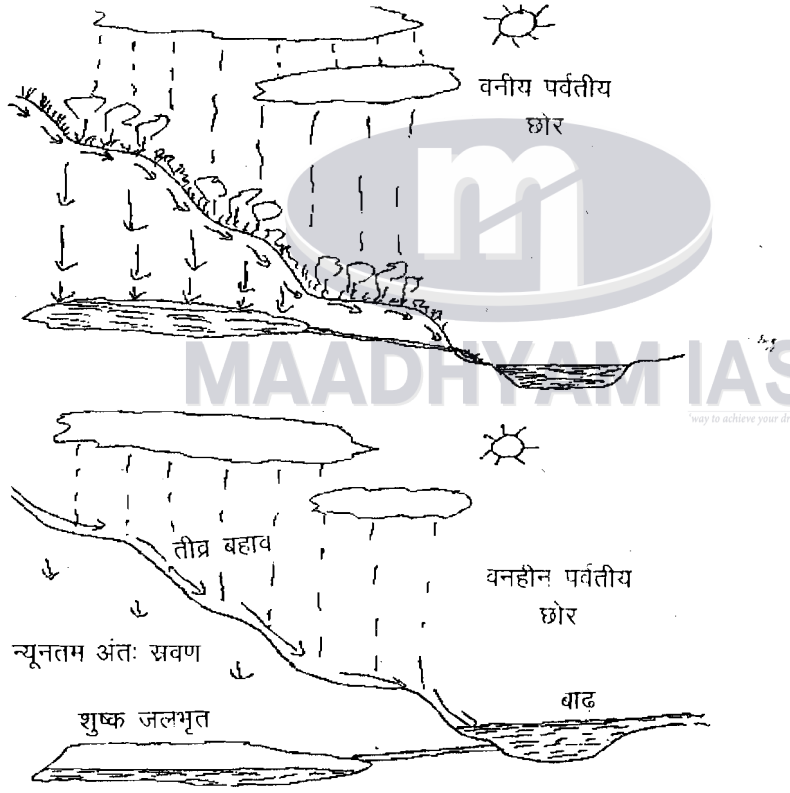

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सतत कृषि के लिए एक और खतरा है जंगली जैवविविधता का विनाश। आज हम जितने भी पौधे उगाते हैं वे जंगल से ही प्राप्त किये गये हैं। हरित क्रांति में शामिल संकर जैसी किस्मों में जिन नसलों को उगाया जाता है, उन्हें जंगली पौधों के जीन से प्राप्त किया जाता है। खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने और उगाये जाने वाले पौधों की नई नस्लों के विकास का विकल्प खुला रखने के लिए हमें जंगली किस्मों के पौधों के संरक्षण की व्यवस्था करनी होगी। वर्तमान में हमारे द्वारा प्रयोग की जा रही किस्मों के सम्मुख खतरों का सामना करने के लिए भी जंगली किस्मों की आवश्यकता होगी। (देखें जैवविविधता पर खंड)

12.3.4 जल संसाधन

वायु के बाद शायद जल ही मानव संसाधनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इतिहास के आरंभ से

संसाधनों के ठिकानों के अनुसार हुआ है और इतिहास गवाह है कि कई समाज और संस्कृतियों का इस कारण नाश हुआ कि वे अपने जल संसाधनों को ठीक से नहीं संभाल सके।

आवश्यक रूप से जल पुनर्जीविति (renewable) करने योग्य संसाधन है और इसका अधिकांश पुनर्जीवन वार्षिक अथवा अर्ध–वार्षिक चक्रों के अधीनस्थ होता है। जल (अथवा जलविज्ञान संबंधी) चक्र जल को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाता है और इसकी कुछ मात्रा को एक रूप से दूसरे रूप में बदलता है। मानसून की हवाएं हिंद महासागर से नमी को पकड़ती है और इस नमी को वृष्टिपात के रूप में देश भर में बांटती हैं। हिमालय में हिम और हिमनदियां भी पिघलती हैं जो हमारी बहुत सी नदियों को भरती हैं।

जल के सतत उपयोग को सुनिश्चित करने के लिए इस बात की व्यवस्था करनी होगी कि जलविज्ञान संबंधी चक्र में गड़बड़ न हो। आरंभ में इसका अर्थ यह सुनिश्चित करना है कि वर्षा के प्रतिरूप में कोई रुकावट न आये। हालांकि अब तक वनों की कटाई और समष्टिगत जलवायु से जुड़े परिवर्तनों के बीच संबंधों को ठीक से नहीं समझा गया है, फिर भी यह मानने के विश्वसनीय प्रमाण हैं कि वनों की कटाई से व्यष्टिगत तौर पर वर्षा के प्रतिरूपों में गंभीर रूकावट आ सकती है।

परंतु अधिक महत्वपूर्ण बात यह है, जैसा कि वर्णित किया जा चुका है, स्रवण क्षेत्रों में वनस्पति आवरण के अवक्रमण से जल चक्रों में रुकावट आती है जिसके कारण बाढ़ या सूखे की स्थिति पैदा होती है। हिमालय के ऊपरी खंडों में वनों की कटाई और अवक्रमण से व्यष्टिगत जलवायु विषयक परिवर्तन होते हैं जिनसे बर्फ और उसके पिघलने की व्यवस्था प्रभावित होती है। फलस्वरूप जलविज्ञान संबंधी चक्र में रुकावट आती है।

अतः पहला कार्य यह सुनिश्चित करना है कि जहां भी आवश्यकता पड़े, वहां जल सही मात्रा और सही समय पर उपलब्ध हो। दूसरा कार्य इस बात की व्यवस्था करना है कि यह जल साफ और पौष्टिक हो। साधारणतया वर्षा के रूप में अथवा बर्फ या उसके पिघलने से प्राप्त जल शुद्ध और प्रदूषण–रहित होता है। परंतु कुछ किस्म के वायु प्रदूषक भूमि पर पहुंचने से पहले ही वर्षा जल को दूषित कर सकते हैं। ऐसे प्रदूषण की एक आम किस्म को 'अम्ल वर्षा' कहते हैं। अम्ल वर्षा उस समय होती है जब वातावरण सल्फ़र डाईऑक्साइड और नाइट्रोजन ऑक्साइडों से प्रदूषित होता है जो वर्षा जल से मिल कर सलफ्यूरिक एसिड और नाइट्रिक ऐसिड बनाते हैं। ऐसी वर्षा मृदा और हरियाली के पोषण के स्थान पर उनका नाश कर देती है। यूरोप और उत्तरी अमरीका में हज़ारों एकड़ वन अम्ल वर्षा से 'जल' गये हैं। वहां मृदा आम्लिक हो गई है और अपनी अधिकांश उत्पादिता खो बैठी है। नदियां और झील प्रदूषित हो गये हैं जिससे मछलियों की विस्तृत रूप से मृत्यु हुई है।

वातावरण से जुड़े प्रदूषण के अलावा जल को भूमि पर भी प्रदूषण का सामना करना पड़ता है। गाद, घरेलू अपषिष्ट (wastes), कृषि और उद्योगों से निकली गंदगी हमारे झीलों, झरनों, नदियों और समुद्र तक को प्रदूषित करती है। ऐसा दूषित जल मानव उपयोग के योग्य नहीं रहता। भारत में व्याप्त जल प्रदूषण के कारण अधिकांश सतही जल मानव उपयोग के अयोग्य है। इसका बड़ा हिस्सा नहाने योग्य भी नहीं है और कुछ भाग को खेती में भी इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। प्रदूषित जल के उद्योग में इस्तेमाल करने पर मशीन को नुकसान पहुंचने अथवा औद्योगिक प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने का खतरा होता है। प्रदूषित जल वातावरण को भी अवक्रमित (degrades) करता है और यह उस जल में रहने वाले या उसका इस्तेमाल कर रहे वनस्पति और जीव जंतुओं को खास तौर पर प्रभावित करता है।

धरती की सतह पर जल का भंडारण और निकासी जलाशयों में अथवा इनके ज़रिए की जाती है। इन प्राकृतिक जलाशयों की अपनी ही पारिस्थितिक प्रक्रिया होती है। इनमें झील, तालाब, समुद्र, महासागर, चष्में (ponds), झरने और नदियां शामिल हैं। ये पानी के भंडारण पात्र या गलियारे ही नहीं बल्कि सैकड़ों जीवित प्राणियों के प्राकृतिक आवास भी हैं, जैसे : मछली, कीड़े, पौधे, सांप, सरी सृप और जलचर। ये जलाशय पानी में ठीक उसी प्रकार शक्ति का संचार करते हैं जिस प्रकार ये स्वयं उससे प्रभावित होते हैं। पानी इनमें जब ठहरता है या इनसे गुजरता है तो उसमें ऑक्सीजन का संचार होता है, सफाई होती है और खनिजों का समावेश

होता है। यदि जल में प्रदूषक तत्व हों तो पारिस्थितिक प्रणालियां सक्रिय हो कर उन्हें जैव–अवक्रमित करती हैं और जल को दोबारा साफ कर देती हैं। सरिताओं और नदियों में चट्टानों और ढालों से पानी में ऑक्सीजन के मिश्रण में सहायता होती है जिसे सांस द्वारा प्राप्त कर पानी में रहने वाली मछलियां और अन्य जंतु जीवित रहते हैं।

जब जल प्रदूषकों का समावेश करने की अपनी क्षमता से अधिक दूषित हो जाता है तो जलीय और समुद्रीय पारिस्थितिक प्रणालियों की विभिन्न क्रियाएं संकट में पड़ जाती हैं। इसी प्रकार, यदि ऐसे जलाशयों से भारी मात्रा में पानी निकाला जाये तो भी पारिस्थितिक प्रणाली प्रभावित होती है और सामान्य रूप से कार्य नहीं कर पाती है। जहां लंबी अवधि तक प्रदूषण अथवा निष्कर्षण चलता रहता है, वहां पारिस्थितिक प्रणाली को असुधार्य क्षति पहुंचती है और कभी कभी तो अत्यंत साधारण जीवों के भरन–पोषण करने की क्षमता भी नष्ट हो जाती है। मछलियों और अन्य जीवों के नुकसान के अलावा इसका यह अर्थ है कि जलाशय अब पानी को साफ करने में समर्थ नहीं हैं और मानव उपयोग के लायक नहीं हैं अथवा दोबारा उपयोग से पहले उन्हें कृत्रिम सफाई की खर्चीली प्रक्रिया से गुजरना होगा।

दूषित जल उपभोक्ताओं के लिए भी खतरा पैदा करता है। पर्यावरण के लिए खतरे की व्याख्या की जा चुकी है। यह मानव स्वास्थ्य के लिए भी खतरा पेश करता है और ऐसा अनुमान है कि भारत में प्रति दिन 10,000 बच्चे पानी से जुड़ी बीमारियों से मर जाते हैं। साथ ही, भारी मात्रा में गाद वाला पानी मनुष्य द्वारा निर्मित ढांचों को नुकसान पहुंचाता है। इससे बांधों और तालाबों में गाद जम जाती है और पनबिजली के टरबाइनों को क्षति पहुंचती है।

बढ़ती जनसंख्या और इसके फलस्वरूप पानी की बढ़ती मांग के मद्देनज़र पानी, विशेष रूप से साफ किये गये पानी के उपयोग और फिजूलखर्ची पर नियंत्रण की उच्च प्राथमिकता है। आवश्यकता इस बात की है कि पानी की मांग पक्ष को व्यवस्थित किया जाये। जल उपयोग के वर्तमान प्रतिरूप न केवल अनुचित हैं बल्कि अपव्ययी और असतत (unsustainable) हैं। शहर में समृद्ध वर्ग के लोग प्रत्येक बार टंकी फ्लश करने में 12 से 16 लीटर साफ किये गए पानी को बहा देते हैं जब कि उसी शहर में गरीबों को एक बाल्टी पानी के लिए घंटों कतार में खड़ा होना पड़ता है। हमारे मकानों और उद्योगों के डिज़ाइन में कुशल जल उपयोग की अनदेखी हुई है और लाखों लीटर पानी टपकते नलों अथवा दकियानूसी (outdated) औद्योगिक प्रक्रियाओं में नष्ट हो जाता है।

MADHYAM IAS

12.3.5 उद्योग

औद्योगिक संवृद्धि को आर्थिक विकास के केंद्र के रूप में देखा जाता है। परंतु उद्योग के पर्यावरण के अनुसार सतत होने और संपूर्ण सतत विकास में उसके योगदान के लिए उसका पर्यावरण स्नेही (friendly) होना अथवा 'पालने से कब्र' (from cradle to grave) तक हरा होना आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि उद्योग के स्थापित किये जाने और कच्चा माल के निष्कर्षण से लेकर ऊर्जा के प्रजनन, उसके उत्पादन की प्रक्रिया और उत्पाद के स्वरूप के साथ साथ प्रत्येक संयत्र के बंद किये जाने ओर प्रत्येक उत्पाद के अंतिम विक्रय तक उस क्षेत्र को हरा ही रहना होगा।

यदि औद्योगिक क्षेत्र पर्यावरण स्नेही न हो तो प्रतिस्थापित किये जा सकने से अधिक प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर और समावेश क्षमता से अधिक अपशेष निकाल, दोनों ही तरह से यह पर्यावरण पर असह्यय दबाव डालता है। प्राकृतिक संसाधनों के अकुशल प्रयोग और अनावश्यक प्रदूषण से उद्योग उन्हीं प्राकृतिक संसाधनों से अतिरिक्त उत्पादन के अवसर खो देता है और परिणामस्वरूप प्रदूषक तत्वों को भी अतिरिक्त मात्रा में छोड़ता है। अतः जो उद्योग हरे नहीं हैं वे न केवल पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव डालते हैं बल्कि अतिरिक्त औद्योगिक उत्पादन के अवसर भी गवां देते हैं।

भारत में जल और बिजली दोनों ही पर सबसिडी दी जाती है – यानी उनकी असली लागत, खासतौर पर पर्यावरण पर खर्च शामिल किये जाने के बाद की लागत, उपभोक्ता से नहीं वसूली जाती है। जल और बिजली ही दो ऐसे संसाधन हैं जिनका अवसर फिजूलखर्ची के साथ

इस्तेमाल किया जाता है। अतः उद्योगों और औद्योगिक क्षेत्र का पर्यावरण संबंधी लेखा करने की व्यवस्था करना अत्यावश्यक है। ऐसी लेखा व्यवस्था को सार्थक बनाने के लिए विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन और सेवाओं को प्रदान करने में इस्तेमाल किये जाने वाले जल और बिजली की मात्रा के मानक निर्धारित करना ज़रूरी है।

बेहतर यह होगा कि प्रदूषण पर रोक लगाई जाये बजाय इसके कि प्रदूषण होने के बाद उस पर नियंत्रण किया जाये। प्रदूषण पर रोक लगाने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादन की तकनीक भी हरित हो। हरित औद्योगिकी न केवल पर्यावरण के लिए अच्छी है बल्कि आर्थिक तौर पर भी लाभदायक है। पर्यावरण स्नेही प्रौद्योगिकी में उत्पादन की प्रति इकाई पानी और बिजली की खपत कम होती है और अपशेष भी कम निकलता है। अतः कच्चे माल और अपशेष के निकास की लागतें भी बिजली और पानी पर व्यय के साथ–साथ न्यूनतम होती हैं। इसके अलावा अनेक हरित प्रक्रियाएं उत्पादन प्रक्रियाओं को ऐसे जोड़ती है कि एक प्रक्रिया के अपशेष दूसरी प्रक्रिया का कच्चा माल बन जाते हैं। अतः उद्योगों को इस प्रकार बसाया और बनाया जा सकता है कि अपशेष की मात्रा न्यूनतम हो और कच्चे माल को खरीदने की लागत में गिरावट लाई जाये।

चिंता का एक और क्षेत्र है – डिब्बाबंदी (packaging)। अब क्योंकि कचरा जमा करना और उसकी निकासी की लागत उद्योग से नहीं बल्कि सार्वजनिक लागत से पूरी की जाती है अतः कई उद्योग अपने उत्पादों को पर्यावरण के प्रतिकूल पदार्थों से डिब्बाबंद करते हैं। प्लास्टिक तथा अन्य विशाक्त अथवा ग़ैर–जैवअवक्रमित (non-biodegradable) पदार्थों को डिब्बाबंदी के लिए इस्तेमाल किये जाने को नियंत्रित करना आवश्यक है। उत्पादों को ऐसा होना चाहिए कि वे अथवा ऐसे पदार्थ जिनसे उन्हें बनाया गया है, दोनों ही अपने जीवनकाल की समाप्ति के बाद दोबारा इस्तेमाल किये जा सकें। इससे न केवल कच्चे माल की बचत होगी बल्कि कचरा नियंत्रण की समस्या भी कम होगी।

12.3.6 ऊर्जा

ऐतिहासिक तौर पर बिजली परियोजनाओं के साथ महत्वपूर्ण सामाजिक और पर्यावरण संबंधी लागतें जुड़ती आई हैं। ऐसी परियोजनाओं की भारत में दो आम किस्में हैं पनबिजली और तापबिजली परियोजनाएं।

पनबिजली परियोजनाएं : पनबिजली परियोजनाओं, विशेष रूप से जिनमें बड़े बांध शामिल हैं, के अधिक महत्वपूर्ण पर्यावरण संबंधी और सामाजिक असर होते हैं। ऐसे कुछ मुख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं :

बांध के धारा-प्रतिकूल (Upstream of the dam)

1) **स्रवण क्षेत्र का अवक्रमण :** यह परियोजना के कारण हो सकता है, कुछ सीमा तक परियोजना के कार्यकलापों के कारण और कुछ सीमा तक स्रवण क्षेत्र के एक भाग के हौज़ में डूब जाने के बाद बकाया स्रवण क्षेत्र पर अतिरिक्त दबाव के कारण। क्षेत्र की जैवविविधता पर इसके प्रतिकूल प्रभाव के अलावा इसके स्थानीय लोगों के जीवन–निर्वाह की आवश्यकताओं के लिए भी अक्सर गंभीर निहितार्थ होते हैं।

2) निस्संदेह अवक्रमित (degraded) स्रवण क्षेत्रों का, चाहे वे किसी भी कारण से अवक्रमित हुए हों, बांध परियोजना पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ सकता है। अन्य बातों के साथ–साथ यह निम्नलिखित तरह से होता है :

   - गाद का बोझ बढ़ने के द्वारा
   - अनियमित जलअपवाह उत्पन्न किये जाने से
   - जल प्रवाह में अचानक वृद्धि से अतिरेह (surplus) संकट की संभावना पेश कर

3) अप्रवाही जल क्षेत्र के निर्माण की आशंका होती है जिसके फलस्वरूप बाढ़ और विनाश का खतरा होता है।

4) साथ ही प्रतिकूल धारा में पानी की कम उपलब्धता का खतरा होता है क्योंकि हौज़ को भरने के लिए पानी की ज़रूरत होती है।

हौज़ (reservoir) और परियोजना स्थल पर :

5) धूल प्रदूषण

6) किनारे की स्थिरता को खतरा

7) रोगवाहकों का संभावित पोषण

8) जलीय पारिस्थितिक प्रणाली और जैवविविधता पर प्रतिकूल प्रभाव

9) मत्स्य क्षेत्रों पर संभावित प्रतिकूल प्रभाव

10) जल के खनिज प्रदूषण की संभावना समेत जल की गुणवत्ता पर प्रभाव

11) वनस्पति और जीव–जंतुओं का जलमग्न होना और विनाश

12) कृषि भूमि का जलमग्न होना

13) चारागाहों का जलमग्न होना

14) स्थानीय ऊर्जा की लकड़ी ओर लकड़ी के अलावा अन्य वन्य उत्पादों के स्रोतों का जलमग्न होना

15) हौज़ द्वारा प्रेरित भूकंपन

16) प्रतिकूल व्यष्टिगत जलवायु परिवर्तन

17) मानव विस्थापन

अनुधारा (Downstream)

18) अनुधारा में जलीय पारिस्थितिक प्रणाली और जैवविविधता पर प्रतिकूल प्रभाव

19) अनुधारा में मत्स्य क्षेत्रों पर प्रतिकूल प्रभाव

20) अनुधारा में जल उपलब्धता पर प्रतिकूल प्रभाव

21) अनुधारा में जल प्रदूषण स्तरों पर प्रतिकूल प्रभाव, विशेष रूप से नदी के घटे हुए प्रवाह के कारण

22) खारे जल के प्रवेश की संभावना

23) जल के अचानक छोड़े जाने से उत्पन्न खतरा

14) बांध की खराबी से ख़तरा

कमांड क्षेत्र (बहुउद्धेशीय परियोजनाओं में)

25) जलमग्नता और खारेपन का खतरा

26) रोगवाहकों के पोषण की आशंका

दुर्भाग्यवश भारत और विश्व के अन्य भागों में ऐसी बहुत सी परियोजनाएं हैं जिनमें इन प्रतिकूल प्रभावों में से एक या अधिक पाये जाते हैं।

भारत में पनबिजली परियोजनाओं की उनके पर्यावरण संबंधी और सामाजिक प्रभावों के विषय में अक्सर सही जांच नहीं होती । अतः उनकी पर्यावरण संबंधी और सामाजिक व्यवहार्यता स्पष्ट रूप से साबित नहीं हो पाती। इसके अलावा सामाजिक और पर्यावरण संबंधी प्रभावों को कम

MAADHYAM IAS

करने के उपाय भी अपर्याप्त हैं। साथ ही पर्यावरण संबंधी और सामाजिक लागतों के आकलन और उन्हें घटाने के काम बहुधा बहुत देर से आरंभ किये जाते हैं और इन्हें तेज़ी से समाप्त कर दिया जाता है ताकि परियोजना के कार्यान्वयन में देरी न हो।

हाल के वर्षों में पनबिजली परियोजनाओं को इस अनुबंध के साथ शर्तबंद मंजूरी देने की दुर्भाग्यपूर्ण प्रवृत्ति रही है कि पर्यावरण संबंधी आकलन और प्रतिकूल प्रभावों का न्यूनीकरण एक साथ किया जाये। ऐसी मंजूरी का लाभ प्राप्त करने वालों में कुछ हैं गुजरात में सरदार सरोवर परियोजना, मध्यप्रदेश में इन्दिरा सागर नर्मदा परियोजना और उत्तर प्रदेश में टेहरी परियोजना।

ऐसी शर्तबंद मंजूरियों का निहितार्थ यह है कि परियोजना को उसके पर्यावरण संबंधी प्रभावों के आकलन से पहले ही आरंभ कर दिये जाने की अनुमति मिल जाती है और फलस्वरूप उसकी व्यवहार्यता साबित हो जाती है। इसका सामान्यतया यह भी अर्थ ही कि आकलन सही ढंग से नहीं किया जाता और न्यूनीकरण उपायों में इतनी देरी हो जाती है कि वे निष्प्रभावी हो जाते हैं।

पुनर्वास : पनबिजली परियोजनाएं जलमग्न होने वाले क्षेत्रों के निवासियों को भारी नुकसान पहुंचाती है जिससे हज़ारों की संख्या में ये लोग बेघर हो जाते हैं। हाल के दिनों तक पुनर्वास नीतियां अत्यंत अमानवीय थीं जिनके अंतर्गत विस्थापितों को उनके घरों, रोज़ी–रोटी और विरासत के बदले एक छोटी सी रकम पकड़ा दी जाती थी और खुद अपनी देखभाल करने को कहा जाता था। हाल ही में इस सब को बदलने का गंभीर प्रयास किया गया है। कुछ नई परियोजनाओं, खासकर गुजरात की सरदार सरोवर परियोजना, में 'परियोजना प्रभावित लोगों' को भूमि के बदले भूमि और अन्य सुविधाएं दी गई हैं।

इसके बावजूद परियोजना प्रभावित लोगों, जिनमें अधिकांश निर्धन ग्रामीण और जनजातियों के सदस्य हैं, ने जो कीमत अदा की है, वह भयंकर है जबकि पैदा की गई बिजली का लाभ अधिकतर सम्पन्न ग्रामीण और शहरी जनसंख्या को पहुंचता है।

कोयले पर आधारित ताप बिजली परियोजनाएं : यद्यपि तापबिजली परियोजनाओं के पर्यावरण संबंधी और सामाजिक प्रभाव बांधों जितने नाटकीय नहीं हैं फिर भी वे महत्वपूर्ण हैं। विशेषरूप से उस स्थिति में जब प्रभावों का आकलन 'झूले से कब्र' तक किया जाये, अर्थात, आकलन कोयले के खनन और बिजली सयंत्र को उसे पहुंचाये जाने तक के प्रभाव समेत किया जाये।

ताप बिजली घरों के प्रमुख पर्यावरण संबंधी और सामाजिक प्रभाव निम्नलिखित हैं :

निर्माण अवस्था

1) लोगों का विस्थापन

2) धूल प्रदूषण

3) स्थानीय स्तर की बाधा

4) वनस्पति और जीव–जंतुओं का विनाश

परिचालन अवस्था

5) वायु प्रदूषण

6) जल प्रदूषण

7) जल की निकासी

8) भूमि प्रदूषण, मुख्य रूप से उड़ती हुई धूल या राख के ज़रिये

9) ध्वनि प्रदूषण

10) व्यष्टिगत जलवायु परिवर्तन

दुर्भाग्यवश ताप बिजलीघरों का उनके पर्यावरण संबंधी और सामाजिक प्रभावों के लिए अक्सर सही ढंग से आकलन नहीं किया जाता और विरले ही वैकल्पिक स्थानों अथवा प्रौद्योगिकी की खोज की जा रही है।

ऐसे ताप बिजलीघरों के अनेक उदाहरण मौजूद हैं जिन्हें पर्यावरण से जुड़े मुद्दों पर ठीक से विचार किये बिना पर्यावरण संबंधी मंजूरी के लिए प्रस्तुत कर दिया गया। कुछ प्रमुख उदाहरणों को नीचे वर्णित किया गया है।

ढोलपुर ताप बिजली परियोजना, राजस्थान

यह बिजली परियोजना चम्बल नदी के किनारे राष्ट्रीय चम्बल शरण–क्षेत्र के निकट और आंशिक रूप से उसके भीतर स्थित है। पर्यावरण मूल्यांकन समिति के इस आशय के प्रयास असफल रहे कि राज्य सरकार इस बिजलीघर को कुछ ही किलोमीटर दूर स्थानांतरित करे ताकि शरण–क्षेत्र पर पड़ने वाले प्रभावों का न्यूनीकरण किया जा सके। परिमाणस्वरूप, कई वर्षों तक परियोजना को मंजूरी नहीं दी गई और अभी हाल में आरंभिक स्थान पर ही मंजूरी प्राप्त करने में सफलता प्राप्त हुई परंतु बहुत सख्त पर्यावरण संबंधी शर्तों के साथ। यदि आरंभ में ही परियोजना को अधिक उपयुक्त स्थान पर अंतरित (shift) कर दिया जाता तो समय की बरबादी और पर्यावरण के बचाव से संबंधित खर्चों से बचा जा सकता था।

कयमकुल्लम बिजली परियोजना, केरल

यह परियोजना केरल राज्य में नाजुक कायल (backwaters) व्यवस्था के निकट स्थित है। परियोजना में कायल से मिट्टी निकालने पर ध्यान दिया जा रहा है ताकि परियोजना स्थल की भराई का सामान मिल सके। इस तरह मिट्टी निकालने पारिस्थितिक प्रणाली के रूप में कायल नष्ट हो जायेगी और इसका क्षेत्र में मत्स्य पालन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। यहां भी परियोजना स्थल को कुछ किलोमीटर सरकाने के प्रयास असफल रहे। अतः परियोजना के मंजूरी की सिफारिश नहीं की गई। बाद में पर्यावरण और वन मंत्रालय ने अपनी ही मूल्यांकन समिति की सिफारिशों को रद्द करते परियोजना को मंजूरी दे दी। परंतु यदि परियोजना पूरी हो जाये तो इसकी पर्यावरण लागत स्वीकार योग्य नहीं होगी।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सामाजिक और पर्यावरण प्रभावों के आधार पर ताप बिजलीघरों से संबंधित शायद तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण मुद्दे हैं:

1) **संयंत्र का स्थान :** अनुपयुक्त स्थान का मतलब है भारी पर्यावरण और सामाजिक लागतें तथा परियोजना को आर्थिक तौर पर गैर–व्यवहार्य बनाये बिना इन लागतों को पर्याप्त रूप से घटाने में असमर्थता।

2) **पानी का उपयोग और निकासी :** देश के अधिकांश भागों में जल की कमी के कारण बिजलीघरों द्वारा जल के उपयोग के फलस्वरूप स्थानीय आबादी को अधिक और कभी–कभी गंभीर संकट का सामना करना पड़ता है।

3) **फ्लाइ ऐश को फेंकना :** पर्यावरण, भूमि और मानव स्वास्थ्य के लिए फ्लाइ ऐश शायद एकमात्र सबसे बड़ा खतरा है।

12.3.7 परिवहन

वायु प्रदूषण स्तरों, विशेष रूप से शहरी वायु प्रदूषण स्तरों में परिवहन क्षेत्र का महत्वपूर्ण योग है। इसके प्रमुख कारण हैं: शहरी इलाकों में वाहनों का केंद्रीकरण, व्याप्त प्रौद्योगिकी, वाहनों के रख–रखाव की खराब स्थिति, ईंधन की घटिया किस्म और कभी कभी स्थानीय जलवायु–विषयक पारिस्थितियाँ।

हमारे अधिकांश शहरों में वायु प्रदूषण स्तर, खासकर प्रलंबित विविक्त तत्व (SPM-Suspanded Particle Matter) के आधार पर निर्धारित सीमा से बहुत अधिक है। कुछ नवीन आंकड़े नीचे दिये गये हैं।

औसत वार्षिक SPM
(ug/m3 में)
विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा अनुशंसित मानक 75 ug/m3

आगरा	451.93	पटना	230.91
मुम्बई	226.00	पुणे	226.07
दिल्ली	543.00	कलकत्ता	394.00
धनबाद	364.64	सूरत	283.81
लुधियाना	380.17	वाराणसी	489.23

स्रोत : राष्ट्रीय पर्यावरण इन्जीनियरिंग शोध संस्थान तथा केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की रिपोर्टस

पिछले कुछ वर्षों में सरकार ने समस्या के हल के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाये हैं। उसने मोटरवाहन उत्सर्जन मानकों की घोषणा की है और ऐसी व्यवस्था आरंभ की है जिसके अंतर्गत मोटरवाहनों को नियमित रूप से प्रदूषण जांच करानी पड़ती है। महानगरों में ऐसे कारों के विक्रय पर रोक लगा दी है जिनमें केटेलिटिक कन्वर्टर लगे नहीं हों। सीसा रहित पेट्रोल का इस्तेमाल शुरू किया गया है। आपूर्तित ईधन की किस्म में सुधार, मोटर वाहन प्रौद्योगिकी में उन्नति, पैट्रोल पंपों पर खुले तेल की बिक्री पर प्रतिबंध और दिल्ली जैसे शहरों में 15 वर्ष से पुराने सार्वजनिक वाहनों के चलने पर रोक लगाने के भी प्रयास किये जा रहे हैं।

फिर भी, जब तक सड़क पर वाहनों की संख्या बढ़ती रहेगी समस्या और गंभीर ही होती जायेगी। एकमात्र सतत उपाय है सार्वजनिक परिवहन में सुधार जिससे निजी वाहनों के इस्तेमाल और टैक्सी और तिपहिये वाहनों जैसे व्यक्तिगत सार्वजनिक परिवहन की मांग कम होगी। इसके साथ ही बेहतर और अलग अलग ईधन तथा अधिक हरित टैक्नालोजी के विकल्पों की खोज में रहना आवश्यक है।

कस्बों और शहरों के बीच तथा देश के आरपार यात्रा और परिवहन के कुछ बहुत महत्वपूर्ण विकल्प अब उपलब्ध नहीं हैं। यदि सही तरह संचालित किया जाये तो नदी परिवहन यात्रा का अत्यंत पर्यावरण स्नेही तरीका हो सकता है। दुर्भाग्यवश हमारी बहुत सी नदियों में इतनी गाद भर गई है कि इस विकल्प की संभावना नहीं रही है। फिर भी यदि स्रवण क्षेत्र उपचार और वनीकरण के ऊपर वर्णित तरीके लागू किये जायें तो नदियों और अन्य जलमार्गों से गाद निकालना फिर संभव हो सकेगा और उन्हें लोगों और माल को लाने ले जाने के लायक बनाया जा सकेगा।

रेल परिवहन भी सड़क परिवहन से बेहतर है। इसके बावजूद पिछले कुछ दशकों में रेल परिवहन के बजाय सड़क परिवहन के विकास पर अधिक ध्यान केंद्रित किया गया है। इस रणनीति पर भी पुनर्विचार आवश्यक है।

बोध प्रश्न 2

1) जैव विविधता (Bio-diversity) से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

2) सतत विकास से संबंधित जल संसाधन के क्षेत्र में मूलभूत मुद्दों को बताइए।

.....

.....

3) जल आधारित बिजली परियोजनाओं से जुड़ी सामाजिक एवं आर्थिक लागतों की चर्चा कीजिए।

.....

.....

12.4 सतत विकास की रणनीतियां

विकास की प्रक्रिया को अधिक हरित और पर्यावरण की दृष्टि से सतत बनाने में यह सुनिश्चित करना शामिल है कि प्रत्येक क्षेत्र में और क्षेत्र के भीतर प्रत्येक परियोजना, स्कीम और कार्यकलाप पर्यावरण स्नेही हो और ऐसे विकास की प्रक्रिया में योगदान दे, जो सततशील हो।

ऐसी परियोजनाओं और कार्यकलापों के पर्यावरण संबंधी प्रभावों के आकलन और उनकी पर्यावरण विषयक व्यवहार्यता सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न तरीके और उपकरण उपलब्ध हैं। इनमें से दो हैं : पर्यावरण संबंधी प्रभाव आकलन और प्राकृतिक संसाधन बजटीकरण और लेखा।

12.4.1 पर्यावरण संबंधी प्रभाव आकलन Environmental Impact Assessment (EIA)

किसी परियोजना अथवा कार्यकलाप के EIA तैयार करने के अंतर्गत एक पर्यावरण संबंधी प्रभाव वक्तव्य तैयार करना और फिर परियोजना अथवा कार्यकलाप के अपेक्षित प्रभावों का आकलन शामिल है।

पर्यावरण संबंधी प्रभाव वक्तव्य (EIS) में आमतौर पर उन कार्यकलापों और क्रियाओं की सूची होती है जिनका पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इसके बाद इन्हें प्रकृति तथा पर्यावरण के विभिन्न तत्वों पर इनके प्रभाव की गंभीरता के आधार पर विवेचित किया जाता है। उदाहरण के लिए एक प्रस्तावित बिजलीघर का EIS – Environmental impact statement) कुछ इस प्रकार का होगा :

पर्यावरण निर्धारक

कार्यकलाप	वायु गुणवत्ता	जल उपलब्धता	जल गुणवत्ता	भूमि	मृदा	भूजल	स्थानीय निकासी
स्थान की सफाई	L	L	L	H	H	L	H
भूमि की भटाई	L	L	M	H	H	L	M
निर्माण सामग्री को लाना ले जाना	H						M
भवन निर्माण	H			M	M		
जल प्रस्राव		H	H			H	H
जल निकासी		M	H			M	H
फ्लाय ऐश की निकासी	H	H	H	H	H	H	H
502 की निकासी	H		M		M		H
कोयले का परिवहन	H			H	H		H

H = उच्च प्रभाव, M = मध्यम, L = निम्न, रिक्त स्थान = कोई प्रभाव नहीं

इस वक्तव्य में दिये गये प्रभावों का आकलन विभिन्न कारकों पर आधारित है। इसका उद्धेश्य यह निर्धारित करना है कि प्रस्तावित परियोजना अथवा कार्यकलाप पर्यावरण की दृष्टि से व्यवहार्य है कि नहीं और तदनुसार पर्यावरण संबंधी मंजूरी दिये जाने के योग्य है कि नहीं। इसका निर्णय करने के लिए विभिन्न प्रश्नों पर विचार किया गया है। इनमें शामिल हैं – क्या अपेक्षित प्रतिकूल प्रभावों से बचना या न्यूनीकरण संभव है? अंतिम प्रभाव कितने तेज़ होते हैं? प्रभावित पारिस्थितिक प्रणाली कितनी मूल्यवान अथवा विशिष्ट है? और क्या प्रस्तावित कार्यकलाप अथवा परियोजना से होने वाले लाभ को देखते हुए इस प्रकार के प्रभाव उचित हैं?

12.4.2 प्राकृतिक संसाधन लेखा और बजटीकरण

हाल के समय तक राष्ट्रीय नियोजन अभ्यासों में पर्यावरण संबंधी लागतों पर शायद ही ध्यान दिया जाता था। इसका कारण यह है कि नियोजन का काम वित्त और अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ करते हैं और वे इस कार्य को मूल रूप से वित्तीय अथवा आर्थिक संदर्भ में ही करते हैं। लेकिन प्राकृतिक संसाधन मानव संसाधनों में अत्यंत मूलभूत हैं, निश्चित रूप से वित्तीय और आर्थिक संसाधनों से भी कहीं अधिक मूलभूत।

विश्व भर में तीव्र पर्यावरण अवक्रमण (degradation) के मद्देनज़र पिछले कुछ दशकों में कई देशों ने स्पष्ट अनुभव किया है कि जब तक पर्यावरण लागतों को उनकी राष्ट्रीय लेखा प्रणाली में शामिल नहीं किया जाता तब तक उनके अर्थव्यवस्था के स्वास्थ्य की सही तस्वीर उभर कर नहीं आयेगी। कदाचित इसी से प्रेरित हो कर भारत सरकार ने सतत विकास से संबंधित नीति की घोषणा में संसद में प्रति वर्ष एक प्राकृतिक संसाधन बजट पेश करने की वचनबद्धता व्यक्त की है।

साथ ही भारत सरकार ने राष्ट्रीय पर्यावरण कार्यवाही कार्यक्रम (NEAP) तैयार किया है और वह एजेंडा-21 की पक्षधर है। ये दोनों दस्तावेज़ सतत विकास के मॉडल की ओर सरकार के रुझान के संकल्प को दोहराते हैं।

उत्तर के देशों में पर्यावरण संबंधी अर्थशास्त्र अब एक लोकप्रिय और तेज़ी से बढ़ता हुआ विषय है। दुर्भाग्यवश, इन देशों में विकसित मॉडल हमेशा भारत के लिए उपयुक्त नहीं होते। इसके बावजूद उत्तर के कई देश और बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियां भारत और अन्य देशों द्वारा प्राकृतिक संसाधन लेखा के उनके मॉडल स्वीकार कराने की दिशा में खूब प्रयत्नशील रही हैं।

राष्ट्रीय संसाधन लेखा की आवश्यकता ऊपरी तौर पर राष्ट्रीय संसाधन निर्धारकों को राष्ट्रीय लेखा पद्धतियों से जोड़ने की इच्छा से निकली लगती है। इसका अर्थ यह है किसी देश के सकल राष्ट्रीय उत्पाद के अनुमान वहां प्रति वर्ष प्राकृतिक संसाधनों के इस्तेमाल और प्राप्ति को प्रतिबिंबित करते हैं। विशेष परियोजनाओं और कार्यकलापों के लिए राष्ट्रीय संसाधन लेखा पद्धति का अर्थ है कि प्राकृतिक संसाधनों की वित्तीय और आर्थिक लागत परियोजना की व्यवहार्यता का आकलन करने के लिए किये गये लागत हितलाभ विश्लेषण में प्रतिबिंबित होंगे।

दुर्भाग्यवश, प्राकृतिक संसाधन लेखाओं को बनाने के लिए उत्तर के कई देशों द्वारा इस्तेमाल किये गये तरीकों में बहुत सी समस्याएं है। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :

प्रकृति का वर्गीकरण

पहली समस्या प्रकृति के उस वर्गीकरण से संबंधित है जिसमें एक भाग का आर्थिक मूल्य है अथवा, जैसा कभी कभी अर्थशास्त्री कहते हैं, वैकल्पिक प्रयोग हैं और दूसरा जिसका कोई आर्थिक मूल्य अथवा वैकल्पिक प्रयोग नहीं है। यह विचार कि प्रकृति के कुछ तत्वों का कोई वैकल्पिक प्रयोग नहीं है और इसलिए उनका कोई आर्थिक अथवा वित्तीय मूल्य नहीं है, अनुचित लगता है। यदि 'मूल्य' और 'प्रयोग' को अत्यंत संकीर्ण रूप से पारिभाषित किया जाये तो शायद इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। परंतु यह सर्वमान्य है कि प्रत्येक जीवित अवयव जैवविविधता के एक विशिष्ट तत्व का प्रतिनिधित्व करता है। अतः ऐसे किसी एक भी पौधे या प्राणी की कल्पना करना कठिन है जिसका कोई प्रयोग न हो।

MADHYAM IAS

मूल्य देना

प्रकृति के तत्वों को आर्थिक अथवा वित्तीय मूल्य देने का तरीका तो और भी कठिन है। दुर्भाग्यवश विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र केवल उन वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिस्थापन मूल्य लगाता है जो आर्थिक प्रक्रिया में आगत या निर्गत हैं। अतः अर्थशास्त्रियों के लिए वह अमूल्य अथवा मूल्यरहित है। अर्थशास्त्र अमूल्य की धारणा के विषय में नहीं बोल सकता और इस कारण अधिकांश प्रकृति को मूल्यरहित ही मानता है।

उदाहरण के तौर पर, अर्थशास्त्र किस प्रकार एक ऐसे प्रजाति के पक्षी के अंतिम जोड़े का मूल्यांकन करेगा जिसकी वर्तमान में कोई आर्थिक क्रिया नहीं है? वर्तमान प्रणाली के अनुसार ऐसे जोड़े को साधारणतया बिना आर्थिक मूल्य का माना जायेगा। परंतु यही प्रजाति यदि जीवित रहे तो भविष्य में बहुत ऊंचा आर्थिक मूल्य हासिल कर सकती है। फिर भी, इस बात की निश्चित भविष्यवाणी न किये जा सकने के कारण कि ऐसा होगा या नहीं, मूल्य लगाना असंभव काम बन जाता है।

उत्तर-दक्षिण विभाजक

हालांकि प्रकृति के तत्वों का आर्थिक मूल्य लगाने की कठिनाइयां विश्व भर में समान रूप से पाई जाती हैं, फिर भी दक्षिण के देशों के लिए इसके निहितार्थ कहीं अधिक हैं। जहां उत्तर के देशों के अधिकांश लोगों के पास अपनी तत्कालीन बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद मनोरंजन और पर्यावरण संरक्षण जैसी दीर्घकालीन आवश्यकताओं पर खर्च करने की इच्छा पूरी करने के लिए पर्याप्त बचत होती है, वहीं दक्षिण के देशों में ऐसा नहीं है। यदि वर्तमान में प्रचलित कई प्रणालियों के अनुरूप पर्यावरण के मूल्य का निर्धारण बाज़ार शक्तियों के ज़रिये किया जाये तो इस बात की संभावना नहीं है कि भारत जैसे निर्धन देशों के लोग अपनी तत्कालीन आवश्यकताओं के होते दीर्घकालीन ज़रूरतों को चुनने की स्थिति में होंगे। परिणामस्वरूप बाज़ार शक्तियां किसी भी वस्तु को संरक्षित और सुरक्षित रखना मुश्किल कर देंगी।

साथ ही, दक्षिण के देशों में समाज के विभिन्न टुकड़ों के बीच तथा उत्तर और दक्षिण के बीच क्रय शक्ति में विशाल अंतर को देखते हुए यह सुनिश्चित करना कठिन है कि प्राकृतिक संसाधनों का सामाजिक तौर पर न्यायपूर्ण उपयोग हो। ऐसा विशेष रूप से उस स्थिति में होगा जब निर्णय पूरी तरह अथवा प्रमुख रूप से आर्थिक आधार पर लिये जायें।

प्रकृति का अवमूल्यन

आर्थिक संवृद्धि की आवश्यकता के दबाव तले सरकारों में प्राकृतिक पारिस्थितिक प्रणालियों द्वारा अर्थव्यवस्था और सामान्य मानव कल्याण के क्षेत्र में किये गये योगदान का जानबूझ कर अवमूल्यन करने की प्रवृत्ति होती है। उदाहरण के तौर पर वन की मनुष्य द्वारा निर्मित उद्योग से तुलना की जा सकती है। जहां मानव निर्मित उद्योग को उत्पादक बनाने के लिए पूंजी, ऊर्जा, कच्चा माल, रखरखाव, पुनःस्थापन और श्रमशक्ति जैसे आगतों की आवश्यकता होती है, वहीं एक उद्योग के रूप में वन बिना इनमें से किसी की आवश्यकता के मानवजाति के लिए बेहद ज़रूरी वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन करता है। वह स्वयं अपनी ऊर्जा का निर्माण करता है, स्वयं अपना कच्चा माल उत्पादित करता है, स्वयं रखरखाव और पुनःस्थापन करता है और बिना किसी मानवीय आगत के अनंत काल तक चलता रहता है। इसके बावजूद वनों के लिए आकलित किया गया आर्थिक मूल्य उत्पादकता और पुनर्नवीकरण के इस चमत्कार को प्रतिबिंबित नहीं करता है।

समाधान

परंतु समाधान क्या है? शायद एक उपाय यह है कि बजटीकरण और लेखा की व्यय प्रणाली अपनायी जाये। इस प्रणाली के तत्वों का नीचे वर्णन किया गया है।

प्रथम, किसी भी प्राकृतिक साधन, जैसे पानी के लिए भौतिक तौर पर बजट बनाने तथा पर्यावरण और समाज की ज़रूरतें पूरी करने के लिए आबंटन करने की आवश्यकता होती है। इसका अर्थ यह है कि एक नदी में अपने पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने और इसके लिए

अपने आपको साफ करने और जीवन चक्र के चलने में सहायता देने की क्षमता को बनाये रखने के लिए आवश्यक न्यूनतम प्रवाह सुनिश्चित करना होगा।

ऐसा किये जाने के बाद अतिरिक्त जल का नदी पर निर्भर जनसंख्या की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए आवंटन करना होगा। इसमें उनकी पेय जल की आवश्यकता और अन्य मूल ज़रूरतें शामिल हैं। यदि कुछ 'अतिरेक' पाया जाता है तो उसे बाज़ार शक्तियों के हवाले करना चाहिए और उसका उपयोग विभिन्न प्रतियोगी उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए।

एक ऐसे मॉडल में जहां पानी की औद्योगिक मांग है, वहां औद्योगिक क्षेत्र को कमी वाले मौसम प्रवाह बढ़ाने, जैसे अधिक जलप्राप्ति के लिए स्रवण–क्षेत्रों के पुनर्उद्धार करने, आदि के लिए कीमत अदा करनी होगी। ऐसी स्थिति में जल की वास्तविक लागत लिये जाने के कारण पानी बचाने वाली प्रौद्योगिकी में निवेश करने का आर्थिक प्रलोभन होगा।

बोध प्रश्न 3

1) पर्यावरण संबंधी प्रभाव आकलन क्या है?

.....

.....

.....

.....

2) प्राकृतिक संसाधन लेखा और बजटीकरण की कौन–कौन सी विधियाँ हैं?

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS

12.5 सारांश

इस इकाई के आरंभ में हमने देखा कि 'विकास' शब्द का कई वर्षों तक किस प्रकार प्रयोग किया गया और किस प्रकार इसका अर्थ मात्र आर्थिक संवृद्धि से विस्तृत हो कर समानता (Equity) के साथ समृद्धि और अब सतत विकास में परिवर्तित हुआ। इसके बाद हमने 'वहन क्षमता' का विवेचन किया।

हमने देखा कि किस प्रकार प्रत्येक पारिस्थितिक प्रणाली की उत्पादन और समावेशन की क्षमता सीमित होती है। इन सीमाओं का उल्लंघन होने पर पारिस्थितिक प्रणाली अवक्रमित हो दुष्क्रिय (dysfunctional) बन जाती है। दुष्क्रिय पारिस्थितिक प्रणाली अपना योगदान नहीं बनाये रख पाती और धीरे धीरे मृतप्राय हो जाती है।

इसके आगे हमने चर्चा की कि किस प्रकार एक पारिस्थितिक प्रणाली की वहन क्षमता उन सीमाओं का निर्धारण करती है जिसके भीतर विकास प्रक्रिया सतत होती है।

फिर, हमने अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों पर नज़र डाली और देखा कि किस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र को पर्यावरण स्नेही बनाया जा सकता है ताकि सतत विकास की ओर बढ़ा जा सके। हमने पाया कि क्षेत्रों को पर्यावरण की दृष्टि से अनुकूल बनाने से न केवल पर्यावरण को फायदा पहुंचता है बल्कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अर्थव्यवस्था को भी बढ़ावा मिलता है।

अंत में हमने दो रणनीतियों के विषय में बात की जिनसे यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि विकास क्रियाएं, परियोजनाएं और नीतियां पर्यावरण स्नेही हों और इस प्रकार सतत विकास में सहायक बन सकें। इनमें से पहली रणनीति यानी पर्यावरण प्रभाव आकलन करने में शामिल था – पर्यावरण के विभिन्न तत्वों पर क्रियाओं, परियोजनाओं और नीतियों के प्रभाव का आकलन। आकलन के आधार पर इस विषय पर निर्णय लिया जा सकता है कि इनमें से कौन सा व्यवहार्य है।

प्राकृतिक संसाधन लेखा और बजट एक और रणनीति है जो हमें यह सुनिश्चित करने में सहायक है कि प्राकृतिक संसाधनों का अनुकूलतम रूप से आवंटन हो और उनका सतत उपयोग हो सके।

12.6 शब्दावली

अम्ल वर्षा : अम्ल द्वारा प्रदूषित जल वर्षा

जलसंबंधी (Aquafic) : जलीय, जल में या इसके निकट स्थित

जलमृत (Aquifer) : एक प्राकृतिक भूगर्भीय या अवसतही जलाशय

जैवअवक्रमण (Biodegrade) : किसी चीज को ऐसे अंशों में तोड़ना जिनका प्रकृति द्वारा समावेश किया जा सके

स्रवण-क्षेत्र (Catchment area) : वह क्षेत्र जहां से जल नदी, झील या अन्य जलाशयों में बहता है।

विकास : आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया जो समतापूर्ण और सतत हो

समुद्री : जो समुद्र से संबंधित हो

अपवाह : पानी का ढलान की ओर अथवा सतह से बहना

सतत विकास : विकास की ऐसी प्रक्रिया जो भावी पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के सामर्थ्य के साथ समझौता किये बिना वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करती हो।

MADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Human Development Report, 1998: United Nations Development Programme, Oxford unversity Press, Delhi.

Ismail Serageldin and Andrew Steer (editors) (1444) *Making Development Sustainable: From Concept to Action,* 1994, The World Bank, Washigton DC.

National Environmental Programmes – India, 1994, Ministry of Environment and Forests, Government of India, New Delhi.

National Strategy for Conservation and Sustainable Development, 1990, Report of the Core Committee, Ministry of Environment and Forests, Government of India, New Delhi.

Our Common Future (1987) The World Commission on Environment and Development, Oxford University Press, Delhi.

Report of the Steering Group on Environment, Forests and Development for the Formulation of the Eighth Five Year Plan, 1989, Planning Commission, Government of India, New Delhi.

Sustainable Development, 1995, Special Issue of The Administrator, Journal of the Lal Bahadur Shastri Academy of Administration, Mussoorie, New Age International (P) Limited, Publishers, New Delhi.

Towards Sustainable Development of Society – Imperatives and Perspectives, 1993, Special Issue of the Indian Journal of Public Administration (IJPA), Indian Institute of Public Administration, New Delhi.

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर एवं संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 12.2 पढ़ें और उत्तर दें।

2) भाग 12.2 पढ़ें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 2

1) उप–भाग 12.3.2 पढ़ें और उत्तर दें।

2) उप–भाग 12.3.4 पढ़ें और उत्तर दें।

3) उप–भाग 12.3.6 पढ़ें और उत्तर दें।

बोध प्रश्न 3

1) उप–भाग 12.4.1 पढ़ें और उत्तर दें।

2) उप–भाग 12.4.2 पढ़ें और उत्तर दें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 13 कृषि की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 आर्थिक विकास में कृषि का योगदान

13.3 भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व

13.3.1 राष्ट्रीय आय में योगदान

13.3.2 रोज़गार में योगदान

13.3.3 विदेशी विनिमय साधनों में योगदान

13.4 स्वतंत्रता के पूर्व एवं पश्चात् कृषि

13.5 हरित क्रांति तथा कृषि में संवृद्धि

13.5.1 हरित-क्रांति से पूर्व और बाद की अवधि में संवृद्धि

13.5.2 खाद्यान्न संवृद्धि

13.5.3 ग़ैर-खाद्यान्न संवृद्धि

13.5.3 हरित क्रांति के बाद की अवधि के प्रारंभिक काल तथा उत्तर-काल में कृषि संवृद्धि

13.6 उत्पादिता पर प्रभाव डालने वाले कारक

13.7 सारांश

13.8 शब्दावली

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आज़ादी के पश्चात् से भारतीय कृषि की दशा का परिचय दिया गया है। इससे विद्यार्थियों को भारत के आर्थिक विकास में कृषि के महत्त्व को समझने में सहायता मिलेगी। इस इकाई में भारतीय कृषि की संवृद्धि प्रक्रिया के विभिन्न चरणों तथा उत्पादिता पर प्रभाव डालने वाले कारकों का भी विश्लेषण किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् विद्यार्थी निम्नलिखित बातें समझ सकेंगे :

- आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका;
- भारत के आर्थिक विकास में कृषि का महत्त्व;
- हरित क्रांति अवधि से पूर्व एवं पश्चात् भारतीय कृषि की संवृद्धि; तथा
- भारतीय कृषि की संवृद्धि के साधन, विशेष रूप से उत्पादिता।

13.1 प्रस्तावना

राष्ट्रीय आय तथा रोज़गार में अपने योगदान के कारण कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख क्षेत्र है। इसने उद्योगों को कच्चा माल देकर तथा उद्योगों में काम कर रहे श्रमिकों को खाद्य सामग्री देकर औद्योगिक विकास में योगदान दिया है। निर्यात में योगदान देने के साथ-साथ इसे खाद्यान्न आयात को कम करने में भी सहायता की है। स्वतंत्रता प्राप्त के समय भारतीय कृषि में बुनियादी सुविधाओं की कमी, पिछड़ी प्रौद्योगिकी, शोषणकारी संस्थाओं के साथ-साथ अवरुद्धता (stagnancy) थी। फिर भी आजादी के बाद भारत ने कृषि उत्पादन में

कई विशेष उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। प्रथम, उत्पादन और उपज के रूप में आज़ादी से पश्चात् की कृषि विकास दर आज़ादी से पूर्व की दर से काफी आगे थी। दूसरे, आज़ादी के बाद के कृषि विकास को दो चरणों– हरित क्रांति से पूर्व और पश्चात्– में बाँटा जा सकता है। हरित क्रांति के बाद की अवधि में कुछ फसलों में नई प्रौद्योगिकी अपनाई गई थी। इस अवधि को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है : (1) 1967-68 से लेकर 1980-81 तक हरित क्रांति का प्रारंभिक काल; (2) 1980-81 से लेकर 1994-95 तक हरित क्रांति का उत्तरकाल।

13.2 आर्थिक विकास में कृषि का योगदान

कुजनेट के अनुसार देश के विकास में कृषि क्षेत्र का योगदान चार प्रकार का होता है :

पहला, उत्पाद योगदान : इसमें यह ग़ैर-कृषि क्षेत्रों की भोजन आवश्यकताएँ पूरी कर, उत्पादों के बनाने के लिए कच्चा माल (जैसे कपड़ा उद्योग को) देकर उनके विस्तार में सहायता करता है।

दूसरा, बाज़ार योगदान : इसमें कृषि-क्षेत्र घरेलू उद्योगों के उत्पादों, उपभोक्ता उत्पाद तथा उत्पादक, दोनों के लिए माँग पैदा करता है।

तीसरा, उत्पादन साधन योगदान : इसमें कृषि क्षेत्र ग़ैर-कृषि क्षेत्रों को पूँजी तथा निवेश प्रदान करता है। साथ-साथ कृषि क्षेत्र में पड़ा अतिरिक्त श्रम ग़ैर-कृषि क्षेत्रों में उपलब्ध करवाता है।

चौथा, विदेशी विनिमय योगदान : कृषि पदार्थों के निर्यात से विदेशी विनिमय प्राप्त होता है। विदेशों से आयात किए जाने वाले उत्पादों को देश में ही उगाकर विदेशी मुद्रा की बचत की जा सकती है।

13.3 भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्त्व

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का सबसे बड़ा क्षेत्र है। इससे जनसंख्या के बहुत बड़े भाग को भोजन, कच्चा माल तथा रोज़गार मिलता है। प्रमुख क्षेत्र होने के कारण कृषि उत्पादन का कुल उत्पादन पर बहुत प्रभाव पड़ता है। समय के साथ-साथ कृषि क्षेत्र ने अपने लिए पूँजी जुटायी है और साथ-साथ अतिरिक्त पूँजी देश के आर्थिक विकास के लिए भी उपलब्ध करवाई है। कृषि पदार्थों के निर्यात ने बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमायी है जिससे उद्योगों तथा बुनियादी सुविधाओं के विकास के लिए पूँजीगत वस्तुओं का आयात संभव हो सका है। भारत में कृषि की भूमिका भारतीय अर्थव्यवस्था में इसके प्रमुख स्थान के कारण ही है। देश की जनसंख्या का तीन-चौथाई भाग गाँवों में रहता है। 1991 की जनगणना के अनुसार श्रमशक्ति का 64.8 प्रतिशत भाग अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर है।

13.3.1 राष्ट्रीय आय में योगदान

कृषि-क्षेत्र के राष्ट्रीय आय, विदेशी विनिमय तथा रोज़गार में योगदान से देश की अर्थव्यवस्था में इस क्षेत्र का महत्त्व पता चलता है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् से सरकारी स्तर पर राष्ट्रीय आय के वार्षिक आँकड़े मिलने प्रारंभ हो गए थे। स्वतंत्रता-पूर्व के आँकड़ों से पता चलता है कि कृषि-उत्पादन का देश के कुल उत्पादन में अनुपात में परिवर्तन आया है। 1925-29 तथा 1931-32 में यह अनुपात क्रमशः 57 प्रतिशत 53 प्रतिशत था। लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् वर्ष 1950-51 में कृषि का शुद्ध घरेलू उत्पादन में अनुपात 50.2 प्रतिशत था (तालिका-1)। 1970-71 तक यह घटकर 41.5 प्रतिशत रह गया था। 1980-81 तक यह अनुपात फिर घटा और 36.3 प्रतिशत हो गया। 1990-91 तक यह और घटकर 30.4 प्रतिशत रह गया। 1990-91 तथा 1994-95 के बीच यह केवल 1.2 प्रतिशत ही घटा (29.2 प्रतिशत)। ऐसा कृषि पदार्थों की कीमतों में तेज़ी से वृद्धि के कारण हुआ। कुल मिलाकर कृषि-क्षेत्र का योगदान जोकि 1950-51 में 50.2 प्रतिशत था 1990-91 में घटकर 30.4 प्रतिशत हो गया। यानि 40 वर्ष में लगभग 20 प्रतिशत बिंदु गिर गया।

तालिका-1 : शुद्ध घरेलू उत्पादन में कृषि का प्रतिशत योगदान (समस्त भारत)

(1980-81 की कीमतों पर)

वर्ष	शुद्ध घरेलू उत्पाद में कृषि का भाग	घरेलू उत्पाद में प्राथमिक क्षेत्र का भाग
1950-51	50.2	57.2
1960-61	47.5	52.7
1970-71	41.5	46.5
1980-81	36.3	40.0
1990-91	30.4	32.7
1994-95	29.2	31.2
1996-97	25.8	27.6

स्रोत : National Accounts Statistics, 1996, New Delhi, Central Statistical Organisation, Department of Statistics, Ministry of Planning Government of India.

हालाँकि देश के शुद्ध घरेलू उत्पाद में कृषि का प्रमुख योगदान रहा है, लेकिन इसकी संवृद्धि दर (growth rate) काफी कम रही है। बीसवीं शताब्दी के पहले आधे भाग में यह केवल 0.25 प्रतिशत थी। आज़ादी के बाद से यह दर 2.7 प्रतिशत के आसपास रही है जोकि जनसंख्या वृद्धि-दर से ज़रा ही अधिक है।

तालिका 2 : जनसंख्या और कृषि श्रमिक

वर्ष	कुल जनसंख्या (करोड़ में)	ग्रामीण जनसंख्या (करोड़ में)	प्रतिशत ग्रामीण जनसंख्या	प्रतिशत कृषक	प्रतिशत खेतिहर मज़दूर	प्रतिशत कुल मज़दूर
1951	361.1	298.6	82.7	49.9	19.5	69.4
1961	439.2	360.3	82.0	52.8	16.7	69.5
1971	548.2	439.1	80.1	43.4	26.3	69.7
1981	685.2@	525.5	76.7	37.8	22.7	60.5
1991	846.3*	628.7	74.3	38.7	26.1	64.8

स्रोत : विभिन्न जनसंख्या गणना : भारत के रजिस्ट्रार जनरल।

@ कुल ग्रामीण जनसंख्या में असम की जनसंख्या तो शामिल है, लेकिन श्रमिकों के बारे में आँकड़े शामिल नहीं हैं।

* जम्मू और कश्मीर में 1991 की जनगणना नहीं हुई थी। भारत की कुल/ग्रामीण जनसंख्या में जम्मू और कश्मीर के आँकड़े शामिल हैं लेकिन जम्मू और कश्मीर के श्रमिकों के बारे में आँकड़े शामिल नहीं हैं।

13.3.2 रोज़गार में योगदान

भारत की जनसंख्या के एक बड़े भाग के लिए कृषि, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रोज़गार का मुख्य साधन रही है। जनसंख्या गणनाओं से पता चलता है कि वर्ष 1971 तक कृषि में श्रमिकों का अनुपात 70 प्रतिशत के आसपास रहा। 1991 में यह घटकर 64.8 प्रतिशत हो गया यानि कुछ सीमा तक ग़ैर-कृषि क्षेत्रों के पक्ष में चला गया (देखिए तालिका 2)। यह भी पता चलता है कि कृषि श्रमिकों में अधिकतर किसान हैं हालाँकि कुल श्रम में उनका अनुपात घट रहा है, जबकि खेतिहर मज़दूरों का अनुपात बढ़ रहा है। तालिका 2 से यह भी पता चलता है कि कृषि में लगे श्रमिकों का अनुपात कृषि के शुद्ध घरेलू उत्पाद में अनुपात की अपेक्षा कम गति

से गिर रहा है। इससे यह अर्थ निकलता है कि अन्य आर्थिक क्षेत्रों में निवेश की दर और स्वरूप ऐसा नहीं रहा कि कृषि क्षेत्र के अतिरेक (surplus) श्रमिकों को अपने यहाँ रोज़गार में लगा सके। इसका अर्थ यह भी है कि अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कृषि क्षेत्र की उत्पादिता का स्तर नीचा रहा है। कृषि क्षेत्र में संवृद्धि की दर धीमी होने के कारण यह रोज़गार के अतिरिक्त अवसर जुटाने में सफल नहीं रहा है। इसके परिणामस्वरूप देश के कृषि क्षेत्र में व्यापक बेरोज़गारी तथा अल्प-रोज़गार की स्थिति बनी हुई है।

13.3.3 विदेशी विनिमय साधनों में योगदान

कृषि पदार्थों तथा कृषि आधारित विनिर्मित पदार्थों का भारत के निर्यात व्यापार में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब भारत एक उपनिवेश था, कृषि निर्यात में कपास, पटसन, अविनिर्मित तम्बाकू, तिलहन, मसाले, चाय, कॉफी प्रमुख थे और कुल निर्यात मूल्य के 49 प्रतिशत थे। 1947 में देश के विभाजन ने देश के कृषि-अतिरेक को कम कर दिया जिससे पटसन, कपास तथा खालों के निर्यात पर प्रभाव पड़ा। फिर भी स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय कृषि का कुल निर्यात में अनुपात 41 प्रतिशत था।

भारतीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि के कारण भारतीय निर्यातों में विविधता आई जिससे कृषि वस्तुओं का अनुपात गिर गया। विनिर्मित वस्तुओं का अब अधिक भाग है। कृषि-आधारित विनिर्मित वस्तुओं का निर्यात बढ़ा है। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि कृषि एवं संबंधित वस्तुओं का निर्यात में अनुपात कृषि वस्तुओं की नीची कीमतें, आंतरिक उत्पादन तथा माँग स्थिति और अंतरराष्ट्रीय बाज़ार स्थिति के कारण निरंतर गिरा है।

कृषि उत्पादों का, निर्यात की तुलना में, आयात व्यापार में महत्त्व कम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् प्रारंभ में कृषि उत्पादों का आयात कुल आयात का 39 प्रतिशत था। आगे वर्षों में यह कम हुआ। हमारे कृषि आयात में भोजन (अनाज तथा अनाज से बनी वस्तुएँ) सबसे महत्त्वपूर्ण था। हालाँकि इसका काफी भाग हमें रियायती शर्तों पर तथा उपहार के रूप में मिलता था। योजनाकाल की प्रारंभिक अवधि में कपास और पटसन का आयात बहुत था जोकि देश के विभाजन के कारण माँग और आंतरिक उत्पादन के अंतर को दूर करने के लिए आवश्यक था।

लेकिन योजनाबद्ध प्रयत्नों के कारण इन वस्तुओं का आंतरिक उत्पादन बढ़ा। इसके कारण इन वस्तुओं का आयात काफी गिर गया और केवल 15 प्रतिशत रह गया। आयात प्रतिस्थापन (import substitution) का यह एक अच्छा प्रभाव था। जहाँ तक खाद्यान्न का प्रश्न है 60 के दशक के दौरान इनके आयात में बहुत वृद्धि हुई। लेकिन बाद में नई प्रौद्योगिकी अपनाने के कारण खाद्यान्न उत्पादन में तेज़ी से वृद्धि हुई, जिसके कारण इनका आयात तेज़ी से गिरा। इस प्रकार निर्यात तथा आयात प्रतिस्थापन के मिले-जुले प्रयत्नों के परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र ने विदेशी मुद्रा कमाने और उसके बचाए रखने में योगदान दिया।

तालिका 3a : भारत के मुख्य निर्यात

(कोष्ठक में दिए आँकड़े प्रतिशत हैं)

(मूल्य करोड़ रुपये में)

	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96
I. कृषि एवं संबंधित उत्पाद	284 (44.24)	487 (31.73)	2057 (30.65)	6317 (19.41)	21138 (19.8)
I.1 कॉफी	7	25	214	252	1503
I.2 चाय तथा मैट	124	148	426	1070	1171
I.3 रुई	12	14	165	846	204
I.4 चावल	–	5	224	462	4568
II. अयस्क तथा खनिज (कोयला छोड़कर)	52 (8.09)	164 (10.68)	414 (6.17)	1497 (4.60)	306 (2.88)

	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96
III. विनिर्मित वस्तुएँ	291 (45.33)	771 (50.22)	3747 (55.82)	23736 (72.91)	80219 (75.42)
IV. खनिज ईंधन तथा चिकनाई (कोयला सहित)	7 (1.09)	13 (0.85)	28 (0.42)	948 (2.91)	1832 (1.65)
V. अन्य	8 (1.25)	100 (6.52)	466 (6.94)	55 (0.17)	232
कुल योग	**642**	**1535**	**6711**	**32553**	**118817**

स्रोत : आर्थिक सर्वेक्षण, 2000-2001– भारत सरकार।

तालिका 3b : भारत के मुख्य आयात

(कोष्ठक में दिए आँकड़े प्रतिशत हैं)

(करोड़ रुपये में)

	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96
I. भोजन एवं जीवित पशु	214 (19.07)	242 (14.81)	380 (3.03)	N.A.	N.A.
I.1 खाद्यान्न तथा खाद्यान्न से बनी वस्तुएँ	181	213	100	182	80
II. कच्चा माल एवं मध्यवर्ती विनिर्मित उत्पाद	527 (46.97)	889 (54.41)	9760 (77.77)	N.A.	N.A.
II.1 काजू (असंसाधित)	–	29	9	134	769
II.2 कच्चा रबर (कृत्रिम सहित)	11	4	32	226	719
II.3 रेशे (लकड़ी, रुई, पटसन आदि)	101	127	164	259@	291@
III. पूँजीगत वस्तुएँ	356 (31.73)	404 (24.72)	1910 (15.22)	10466 (24.23)	28289 (234.06)
IV. अन्य	25(2.23)	99(6.06)	499(3.98)	N.A.	N.A.
कुल योग	**11622**	**1634**	**12549**	**43198**	**122678**

@ केवल, ऊन, रुई, जूट तथा मनुष्य निर्मित कृत्रिम रेशों का योग

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक विकास में कृषि की भूमिका समझाइए। (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

2) भारत के आर्थिक विकास में कृषि का क्या महत्त्व है? (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

3) उचित शब्द पर सही का निशान लगाइए ताकि वक्तव्य सही रहे :

i) राष्ट्रीय आय में संवृद्धि के साथ-साथ कृषि का राष्ट्रीय आय में योगदान बढ़ा/घटा है।

ii) स्वतंत्र भारत में कृषि की संवृद्धि दर जनसंख्या वृद्धि-दर की अपेक्षा कम/अधिक है।

iii) कृषि क्षेत्र में समय के साथ रोज़गार का भाग तेज़ी से/मंद गति से गिरा है।

iv) कृषि का कुल निर्यात में योगदान समय के साथ-साथ गिरा/बढ़ा है।

13.4 स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तथा पश्चात् की अवधि में कृषि

ब्रिटिश शासन के दौरान भारतीय कृषि गतिहीन (stagnant) थी। इसमें पिछड़ी प्रौद्योगिकी का प्रयोग होता था तथा शोषणकारी संस्थाएँ थीं। तालिका-4 में स्वतंत्रता पूर्व की अवधि में 1891 से लेकर 1946 तक भारतीय कृषि की संवृद्धि दरें दी गई हैं। इसमें भारतीय कृषि की गतिहीनता साफ झलकती है।

तालिका 4 : स्वतंत्रता-पूर्व और बाद की अवधि में प्रमुख फसल समूहों की संवृद्धि दरें

प्रमुख फसल क्षेत्र	स्वतंत्रता-पूर्व की अवधि (1891-1946)			स्वतंत्रता पश्चात् की अवधि (1949-95 तक)		
	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज
1. खाद्यान्न	0.31	0.11	(-) 0.18	0.47	2.52	1.72
2. ग़ैर-खाद्यान्न	0.42	1.31	0.86	1.22	2.90	1.32
3. सभी फसलें	0.40	0.37	0.01	0.65	2.65	1.5

स्रोत : संक्षेप में कृषि आँकड़े।

स्वतंत्रता-पूर्व के 50 वर्षों में सभी कृषि फसलों की संवृद्धि दर केवल 0.4 प्रतिशत थी। इसमें अधिकतर योगदान क्षेत्रफल में वृद्धि का था। प्रति-हेक्टेयर उपज में वृद्धि का योगदान न के बराबर था। खाद्यान्न और ग़ैर-खाद्यान्न फसलों में अलग-अलग प्रवृत्ति देखने को मिलती है। खाद्यान्न उत्पादन की संवृद्धि दर केवल 0.11 प्रतिशत प्रति वर्ष थी जबकि ग़ैर-खाद्यान्न फसलों की 1.31 प्रतिशत। खाद्यान्न फसलों के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि के बावजूद भी खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि बहुत धीमी थी। इस अवधि में खाद्यान्न फसलों की प्रति-हेक्टेयर उपज की दर गिर रही थी। दूसरी ओर, ग़ैर-खाद्यान्न फसलों की उपज दर बढ़ रही थी जोकि ब्रिटिश शासकों द्वारा व्यापारिक फसलों को समर्थन देने के कारण था। ऐसा ब्रिटिश उद्योगों को कृषि-आधारित कच्चे माल को उपलब्ध करवाने के कारण था।

इस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारतीय कृषि क्षेत्र गतिहीन थी। जो भी थोड़ी-बहुत संवृद्धि थी वह केवल ग़ैर-खाद्यान्न फसलों में थी। ऐसा ब्रिटिश शासकों द्वारा जान-बूझकर लागू की गई व्यापारीकरण की नीति के कारण था क्योंकि घरेलू उत्पाद का लगभग आधा भाग कृषि क्षेत्र से आता था। इस क्षेत्र की उन्नति में कमी सारी अर्थव्यवस्था की उन्नति में रुकावट बन गई।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कृषि विकास को प्राथमिकता मिली। कृषि विकास केवल सारी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए ही आवश्यक नहीं था बल्कि औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के लिए भी ज़रूरी था। कृषि

उत्पादन संबंधी नीतियाँ एवं कार्यक्रम लागू कर यह उद्देश्य पूरा किया गया। इन नीतियों में मुख्य बल सिंचाई सुविधाओं को बढ़ाने तथा प्रौद्योगिकी में सुधार पर दिया गया। कृषि पदार्थों की कीमतें सुनिश्चित करने और विपणन सुविधाओं में सुधार लाने पर भी बल दिया गया। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कृषि उत्पादन में वृद्धि काफी प्रभावशाली रही। 1949-50 से लेकर 1994-95 तक की अवधि में कुल कृषि उत्पादन 2.7 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से हुई। प्रति-हेक्टेयर उपज में वृद्धि इससे भी अधिक थी। एक विशेष बात यह थी कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की खाद्यान्न उत्पादन दर न केवल स्वतंत्रता-पूर्व की दर से अधिक थी, यह हाल के दशकों में जनसंख्या वृद्धि की दर से भी अधिक थी। ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय कृषि का स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद का रिकॉर्ड कई विकासशील देशों के आर्थिक विकास के प्रारंभिक चरणों की तुलना में काफी असाधारण रहा है।

13.5 हरित-क्रांति तथा कृषि में संवृद्धि

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की अवधि में कृषि क्षेत्र की प्रभावशाली संवृद्धि भारतीय आयोजकों द्वारा कृषि क्षेत्र को प्राथमिकता देने का परिणाम थी। कृषि को पुनर्जीवित करने के लिए नीति बनाने वालों ने दोहरी रणनीति अपनाई। पहली रणनीति थी– कृषि में संस्थानिक रुकावटों को हटाने के लिए भूमि सुधार लागू करना। दूसरी थी– कृषि प्रौद्योगिकी को नवीनतम बनाने के लिए सिंचाई और अन्य बुनियादी सुविधाओं में भारी निवेश करना।

पचास के दशक के मध्य भूमि-सुधारों को कुछ सीमा तक बिचौलियों को हटाने में सफलता मिली। लेकिन भूमि का समान वितरण लाने में ये असफल रहे। फिर भी, इनके तथा सिंचाई और बुनियादी सुविधाओं में भारी निवेश और साथ-साथ सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के मिले-जुले परिणाम के कारण शुद्ध बोए गए क्षेत्रफल (Net Area Sown) तथा सकल फसल क्षेत्रफल (Gross Crop Area), दोनों में वृद्धि हुई जिसके कारण उत्पादन में स्पष्ट वृद्धि हुई। लेकिन पूरी अवधि में भारतीय कृषि की विकास प्रक्रिया एक जैसी नहीं थी। अनुकूल कृषि नीति के बावजूद पचास के दशक के अंत तक खाद्यान्न उत्पादन के मामले में भारतीय अर्थव्यवस्था की स्थिति संकटमय हो गई थी। यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि क्षेत्रफल में वृद्धि की अपनी सीमाएँ हैं। भूमि उपज में वृद्धि लाने के लिए उपाय करने की आवश्यकता थी।

MADHYAM IAS

अगले दशक में कृषि में एक नई उत्पादनजनक रणनीति अपनाई गई। इस रणनीति का उद्देश्य कुछ चुने हुए क्षेत्र, विशेषतया सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में उत्पादन में तुरंत वृद्धि प्राप्त करना था। ऐसे क्षेत्र चुने गए जिनमें उत्पादन की बेहतर विधियों के उपयोग की दिशा में निरंतर प्रयत्न करने थे। प्रारंभ में यह कार्यक्रम गहन कृषि जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural Programmes) यानि IADP के रूप में शुरू किए गए थे। लेकिन 1960 के दशक के मध्य तक इस कार्यक्रम में 'अधिक उपज देने वाली किस्मों' (High Yielding Varieties) यानि HYV को इसमें जोड़कर इसका विस्तार किया गया। साथ-साथ और अधिक क्षेत्रों में यह कार्यक्रम लागू किया गया।

'अधिक उपज देने वाली किस्मों' यानी HYV प्रौद्योगिकी की एक विशेषता थी इसका पैकेज स्वरूप (package approach)। इस स्वरूप में नई अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीज, उर्वरक, कीटनाशक दवाइयाँ, नियंत्रित जल-आपूर्ति, बीज बोने की मशीन से लेकर ट्रैक्टर और फसल काटने की मशीन तक के मशीनी उपकरण शामिल हैं। अलग से विकसित किए गए उपज देने वाली किस्मों के बीज इस पैकेज का सार हैं। ये बीज उर्वरक के साथ मिलकर अच्छा परिणाम देते हैं। लेकिन, चूँकि इनें बीमारी हो सकती थी इसलिए जीवनाशी तथा शाकनाशी दवाइयों का उपयोग ज़रूरी था। बोने और काटने के बीच के विभिन्न चरणों में ज़मीन की नमी को नियंत्रित करने के लिए पानी की नियंत्रित पूर्ति आवश्यक थी। थोड़ी अवधि में पक जाना इन बीजों की एक और विशेषता थी। इससे फसल गहनता में वृद्धि हुई। इस प्रकार, उपज दर में वृद्धि के साथ-साथ फसल गहनता में वृद्धि हरित क्रांति के बाद की अवधि में कृषि उत्पादन में प्रभावशाली वृद्धि लाई।

13.5.1 हरित-क्रांति से पूर्व और बाद की अवधि में संवृद्धि

1960 के दशक के मध्य में भारत में अपनाई गई नई प्रौद्योगिकी (जीव रासायनिक प्रौद्योगिकी) ने कृषि उत्पादन को बढ़ाया। 1949-50 से लेकर 1964-65 तक (हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि) तथा 1967-68 से 1994-95 (हरित-क्रांति के बाद की अवधि) की दो अवधियों के आँकड़े तालिका-5 में दिए गए हैं।

1949-50 से 1964-65 तक कृषि उत्पादन की संवृद्धि दर 3.15 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। खाद्यान्न उत्पादन दर 2.82 प्रतिशत थी। गैर-खाद्यान्न की एक और मुख्य विशेषता यह थी कि प्रमुख खाद्यान्नों गेहूँ, ज्वार, बाजरा और मक्का की वृद्धि-दर ऊँची थी जोकि इन फसलों के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण थी न कि उपज वृद्धि के कारण। दूसरी तरफ, चावल की उपज वृद्धि-दर की इसके अधीन क्षेत्रफल वृद्धि-दर की अपेक्षा अधिक थी।

मोटे अनाज की उपज की वृद्धि-दर इसके अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि की दर से अधिक थी। दाल वर्ग में कुछ अलग था। इसका उत्पादन मुख्यत: इसके अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि के कारण बढ़ा। वास्तव में इनकी उपज वृद्धि-दर मंद पड़ गई थी। अत: कुल मिलाकर खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि समान रूप से इनके अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि तथा प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि के कारण थी।

तालिका से यह स्पष्ट है कि कृषि उत्पादन में कुल वृद्धि में उपज वृद्धि की तुलना में क्षेत्रफल वृद्धि का प्रमुख योगदान था। ऐसा गैर-खाद्यान्न फसलों के बारे में अधिक सही था। तालिका से स्पष्ट तौर पर पता चलता है कि गेहूँ को छोड़कर नई प्रौद्योगिकी अपनाने के बावजूद भी जो वृद्धि-दर हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि में थी, हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि की तुलना में बाद की अवधि में काफी कम थी। तालिका में सूखे के दो वर्ष 1965-66 एवं 1966-67 शामिल नहीं किए गए हैं।

13.5.2 खाद्यान्न संवृद्धि

नई प्रौद्योगिकी का गेहूँ उत्पादन पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। गेहूँ उत्पादन की वृद्धि-दर जो हरित-क्रांति से पहले 4 प्रतिशत थी, हरित-क्रांति के बाद बढ़कर 4.8 प्रतिशत हो गई। लेकिन चावल उत्पादन की वृद्धि-दर 3.5 प्रतिशत से घटकर 2.9 प्रतिशत हो गई, यानि लगभग 17 प्रतिशत गिर गई। मोटे अनाज में तो उत्पादन वृद्धि-दर में कमी काफी महत्त्वपूर्ण रही। यह वृद्धि-दर 2.25 प्रतिशत से घटकर केवल 0.62 प्रतिशत रह गई, यानि 70 प्रतिशत से भी अधिक गिरी। मोटे अनाज और दालों में यह गिरावट इन फसलों के अधीन क्षेत्रफल में भारी कमी के कारण थी, हालाँकि इनकी उपज वृद्धि-दर कुछ बढ़ी थी। मोटे अनाज की उत्पादन की वृद्धि-दर गिरने के बावजूद हरित क्रांति के बाद की अवधि में खाद्यान्न वर्ग की वृद्धि-दर 2.62 प्रतिशत बनी रही जोकि हरित-क्रांति से पूर्व 2.82 प्रतिशत थी।

हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि में कृषि उत्पादन में वृद्धि मुख्यत: फसलों के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि थी। फिर भी, प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। लेकिन हरित-क्रांति के बाद की अवधि में प्रमुख भूमिका प्रति हेक्टयेर उपज में वृद्धि ही थी। यहाँ यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि 1960 के दशक के अंतिम भाग, यानि हरित-क्रांति शुरू होते-होते, फसलों के अधीन शुद्ध क्षेत्रफल बढ़ाने की गुंजाइश लगभग समाप्त हो चुकी थी। फिर भी सिंचाई विस्तार तथा कम अवधि उपज वाले बीज की किस्मों को अपनाने से फसलों की गहनता में वृद्धि के कारण फसलों के अधीन सकल क्षेत्रफल में वृद्धि हुई।

तालिका 5 : सारे भारत की प्रमुख फसलों का क्षेत्रफल, उत्पादन एवं उपज की चक्रवृद्धि संवृद्धि दरें (प्रतिशत प्रतिवर्ष)

(आधार : 1981-82 को समाप्त होने वाले तीन वर्ष = 100)

फसलें	1949-51 से 1964-65 तक			1967-68 से लेकर 1994-95* तक		
	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज
चावल	1.21	3.50	2.25	0.64	2.91	2.34
गेहूँ	2.69	3.98	1.27	1.60	4.80	3.14
ज्वार	0.99	2.51	1.49	-1.17	0.79	1.98
बाजरा	1.08	2.34	1.24	-0.88	0.76	1.65
मक्का	2.67	3.88	1.18	-0.01	1.63	1.64

मोटै अनाज	0.90	2.25	1.23	-1.25	0.62	1.86
सभी अनाज	1.25	3.21	1.77	0.05	2.93	2.43
सभी दालें	1.72	1.41	0.18	0.13	1.04	0.90
सभी खाद्यान्न	**1.32**	**2.32**	**1.36**	**0.06**	**2.67**	**2.21**
गन्ना	3.28	4.26	0.95	1.65	2.99	1.32
मूँगफली	4.01	4.34	0.31	0.56	1.71	1.14
कुल तिलहन	2.67	3.20	0.30	1.25	3.43	1.65
रुई	2.47	4.55	2.04	-0.16	2.64	2.81
पटसन	3.00	3.50	0.49	0.17	2.19	2.02
सभी रेशे	2.71	4.56	1.88	-0.23	2.49	2.69
ग़ैर-खाद्यान्न	2.44	3.74	0.89	1.30	3.20	1.72
सभी फसलें	1.58	3.15	1.21	0.36	2.87	2.02

* ग़ैर-खाद्यान्न तथा सभी फसलों के अनुमान अस्थायी हैं।

$ वृद्धि-दरें 1970-71 से आगे की अवधि की है।

- नौ तिलहनों में मूँगफली, एरंडी, तिल, तोरिया एवं सरसों, अलसी, तिल्ली, करड़ी, सूरजमुखी तथा सोयाबीन शामिल हैं।
- कुल तिलहनों में नौ तिलहन, बिनौले और नारियल शामिल हैं।

MAADHYAM IAS

हरित-क्रांति के पूर्व की अवधि, यानि 1949-50 से 1964-65 में खाद्यान्न उपज दर 1.36 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। जबकि हरित-क्रांति के बाद की अवधि में यह काफी अधिक यानि 2.21 प्रतिशत थी। कृषि संवृद्धि के पीछे यह एक महत्त्वपूर्ण कारक था। तालिका से पता चलता है कि हरित-क्रांति के बाद की अवधि में चावल, गेहूँ, ज्वार, बाजरा, मक्का, मोटे अनाज, दालों और कुल खाद्यान्न की उपज दरों में वृद्धि हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि में वृद्धि से अधिक थी जबकि क्षेत्रफल में वृद्धि की दर का अनुभव इसके विपरीत था। वास्तव में दोनों अवधियों की तुलना से पता चलता है कि हरित-क्रांति के बाद की अवधि में क्षेत्रफल में वृद्धि की दर काफी नीची रही।

संक्षेप में, सुधरी हुई प्रौद्योगिकी अपनाने के बावजूद क्रांति से पूर्व की अवधि की तुलना में बाद की अवधि में संवृद्धि दरें नीची थीं। यह दर भी गेहूँ के उत्पादन की वृद्धि-दर प्रभावशाली होने के कारण था। कुल खाद्यान्नों में गहूँ का स्थान काफी ऊँचा है, इसीलिए अन्य अनाजों तथा दालों में होने वाली कमी की भरपाई यह कर पाया है। वास्तव में कुछ विद्वानों ने हरित-क्रांति को गेहूँ-क्रांति का नाम भी दिया है। सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि कुल कृषि उत्पादन की वृद्धि में प्रति-हेक्टेयर उपज में वृद्धि का योगदान रहा है।

13.5.3 ग़ैर-खाद्यान्न संवृद्धि

हरित-क्रांति के बाद की अवधि में संवृद्धि दरों में गिरावट केवल खाद्यान्न फसलों में ही नहीं ग़ैर-खाद्यान्न फसलों में भी थी। इनकी उत्पादन वृद्धि की दर जोकि क्रांति से पूर्व की अवधि में 3.74 प्रतिशत थी बाद की अवधि में घटकर 3.20 प्रतिशत हो गई। लेकिन तिलहन, जिनकी कि प्रौद्योगिकी में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया, की वृद्धि-दर 3.20 प्रतिशत से बढ़कर 3.42 प्रतिशत हो गई जबकि कुछ प्रमुख तिलहनों जैसे मूँगफली की वृद्धि दर तेज़ी से गिर गई। ग़ैर-खाद्यान्नों में हरित-क्रांति के बाद की अवधि में उपज दर की दरों में वृद्धि क्रांति से पहले की तुलना में काफी अधिक थी। गन्ना, मूँगफली, सभी तिलहन, रुई, पटसन तथा कुल रेशों, आलू तम्बाकू में ये दरें ऊँची थीं। यह स्पष्ट है कि ग़ैर-खाद्यान्न फसलों की तुलना में खाद्यान्न फसलों की उपज दर की औसत वार्षिक वृद्धि अधिक थी।

दो अवधियों में संवृद्धि दो प्रकार से अलग-अलग विशेषता रखती थी। प्रथम, क्रांति से पूर्व की अवधि में क्षेत्रफल विस्तार का योगदान अधिक था जबकि क्रांति से बाद की अवधि में नवीन प्रौद्योगिकी के प्रयोग के कारण उत्पादन में वृद्धि का योगदान अधिक था। दूसरे, क्रांति से पूर्व की अवधि में संवृद्धि मापने का आधार स्तर क्रांति के बाद की अवधि की तुलना में काफी नीचा था। घटते सीमांत प्रतिफल वाले उद्योग के लिए ऊँचे आधार स्तर पर वही संवृद्धि दर बनाए रखना काफी कठिन कार्य था।

13.5.4 हरित-क्रांति के बाद की अवधि के प्रारंभिक काल तथा उत्तर काल में कृषि संवृद्धि

हरित-क्रांति से पूर्व और बाद की अवधि की तुलना तो हम ऊपर कर चुके हैं। लेकिन हरित-क्रांति के बाद की अवधि में दो प्रवृत्तियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। 1980 के दशक के प्रारंभ से कई बातों में स्पष्ट परिवर्तन नज़र आया। 1967-68 से 1980-81 की अवधि (क्रांति का प्रारंभिक काल) की तुलना में 1980-81 से 1994-95 की अवधि (क्रांति क उत्तर काल) में खाद्यान्न तथा ग़ैर-खाद्यान्न दोनों की वृद्धि-दर में तेज़ी आई। चावल, सभी अनाज, दालें तथा तिलहन जैसी फसलों की वृद्धि-दर जोकि हरित-क्रांति से पूर्व की अवधि की तुलना में हरित क्रांति के पहले दशक में कम हो गई थी अब ऊँची होने लगी। इससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि विभिन्न फसलों में जो असंतुलन क्रांति के प्रारंभिक चरणों में आया क्रांति के उत्तर-काल में कुछ-कुछ दूर होने लगा है।

तालिका-6 : सारे भारत की प्रमुख फसलों का क्षेत्रफल, उत्पादन एवं उपज की चक्रवृद्धि संवृद्धि दरें (प्रतिशत प्रतिवर्ष)

(आधार : 1981-82 को समाप्त होने वाले तीन वर्ष = 100)

फसलें	1967-68 से 1980-81 तक			1980-81 से लेकर 1994-95* तक		
	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज	क्षेत्रफल	उत्पादन	उपज
चावल	0.77	2.22	1.45	0.49	3.48	2.98
गेहूँ	2.94	5.65	2.62	0.68	3.70	3.01
ज्वार	-1.15	2.04	3.22	-2.30	-0.04	1.90
बाजरा	-1.15	-0.38	0.77	-1.21	1.53	2.78
मक्का	0.01	0.02	0.00	0.11	2.49	2.38
मोटै अनाज	-1.03	0.67	1.64	-1.90	0.54	2.31
सभी अनाज	0.37	2.61	1.70	-0.34	3.06	2.90
सभी दालें	0.44	-0.40	-0.67	-0.37	1.67	1.85
सभी खाद्यान्न	**0.38**	**2.15**	**1.33**	**-0.34**	**2.89**	**2.77**
गन्ना	2.60	0.80	1.87	3.86	1.36	--
मूँगफली	-0.31	0.64	0.96	1.43	3.00	1.55
कुल तिलहन	0.26	0.98	0.68	2.37	5.89	2.52
रुई	0.07	2.61	2.54	-0.22	3.88	4.10
पटसन	1.23	2.06	0.81	-1.24	1.56	2.83
ग़ैर-खाद्यान्न	0.94	2.20	1.99	1.18	4.31	2.27
सभी फसलें	0.51	2.19	1.28	0.23	3.48	2.54

* ग़ैर-खाद्यान्न तथा सभी फसलों के अनुमान अस्थायी हैं।

$ वृद्धि-दरें 1970-71 से आगे की अवधि की है।

MAADHYAM IAS

- नौ तिलहनों में मूँगफली, एरंडी, तिल, तोरिया एवं सरसों, अलसी, तिल्ली, करड़ी, सूरजमुखी तथा सोयाबीन शामिल हैं।
- कुल तिलहनों में नौ तिलहन, बिनौले और नारियल शामिल हैं।

तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि उत्तर काल में खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि की दर बढ़ी। क्रांति के इस काल में चावल उत्पादन में वृद्धि 3.48 प्रतिशत थी जोकि प्रारंभिक काल में 2.22 प्रतिशत थी। लेकिन गेहूँ की उत्पादन वृद्धि-दर स्पष्टत: गिरी। मोटे अनाजों में बाजरा, मक्का और ज्वार की दर बढ़ी। कुल मिलाकर 'सभी खाद्यान्नों' की वृद्धि-दर 2.61 से बढ़कर 3.60 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई। 'सभी दाल' तथा 'सभी खाद्यान्न' की दर भी बढ़ी। साथ-साथ 'सभी ग़ैर-खाद्यान्न' तथा सभी फसलों की उत्पादन वृद्धि दरें भी बढ़ीं।

तिलहन और दालें प्राय: वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों में उगाई जाती है। चावल के अधीन भी लगभग 60 प्रतिशत क्षेत्र वर्षा पर निर्भर हैं। ये उत्साहजनक परिणाम नई प्रौद्योगिकी के फैलाव से मिले हैं। चावल और तिलहनों के लिए लागू किए गए विशेष कार्यक्रमों का भी इसमें योगदान है। इसके अतिरिक्त, बागनी खेती तथा कम विकसित राज्यों की और अधिक ध्यान देने के भी परिणाम सामने आने लगे हैं। कुछ विशेष स्थानों पर ही प्रयोग में आने वाली प्रौद्योगिकी जैसे जल-विभाजन प्रबंध का बागनी खेती वाले क्षेत्रों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सिंचित तथा सूखे क्षेत्रों की वृद्धि दरों के बीच जो असमानताएँ हरित-क्रांति के प्रारंभिक काल में थीं, अब कम हो गई हैं।

यह खाद्यान्न में उत्पादिता यानि उपज स्तर में वृद्धि का ही परिणाम है कि क्षेत्रफल की वृद्धि-दर होने के बावजूद भी कुल उत्पादन की वृद्धि-दर वही रही जो हरित-क्रांति के प्रारंभिक काल में थी। तालिका-6 में क्रांति के प्रारंभिक तथा उत्तर कालों की तुलना से पता चलता है कि उत्पादन की ऊँची वृद्धि-दर कर ही परिणाम थी। ज्वार और बागी को छोड़कर सभी खाद्यान्नों की उपज दर में वृद्धि-क्रांति के प्रारंभिक काल की अपेक्षा उत्तर काल में काफी ऊँची रही। ज्वार और रागी की दर गिरी। दालों की उपज दर में वृद्धि भी अच्छी रही। क्रांति के प्रारंभिक काल में दाल वर्ग की उत्पादन और उपज दरों में गिरावट आ रही थी। दालों की उत्पादन दर में वृद्धि मुख्यत: उपज दरों में वृद्धि के कारण ही है।

क्रांति के उत्तर काल में ग़ैर-खाद्यान्नों, जैसे गन्ना, मूँगफली, कुल तिलहन, रुई तथा पटसन की उपज दरों में भी वृद्धि हुई। लेकिन खाद्यान्न में यह वृद्धि अधिक थी।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

प्राय: किसी भी फसल की प्रौद्योगिकी में यदि कोई महत्त्वपूर्ण सुधार आता है तो साथ-साथ उसके अधीन क्षेत्रफल और उपज दर में भी वृद्धि होने लगती है। विश्लेषण से पता चलता है कि प्रौद्योगिकी के कारण केवल अधिक उपज वाली किस्मों के बीच प्रयोग में लाने वाली केवल चावल और गेहूँ के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई। लेकिन यह वृद्धि क्रांति के प्रारंभिक काल की अवधि में वृद्धि की अपेक्षा कम थी।

संक्षेप में, क्रांति के प्रारंभिक काल तथा उत्तर-काल के तुलनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि सतत कृषि वृद्धि खाद्यान्नों एवं ग़ैर-खाद्यान्नों दोनों के उपज स्तरों में वृद्धि के कारण संभव हो सकी।

13.6 उत्पादिता पर प्रभाव डालने वाले कारक

हरित-क्रांति की बाद की अवधि में खाद्यान्न उत्पादन में जो उपलब्धि मिली वह दो कारणों से था– उपलब्ध बुनियादी सुविधाओं का सही प्रयोग तथा प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि। जैसाकि पहले बता चुके हैं, 62 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन और 58 प्रतिशत कुल कृषि उत्पादन उपज में वृद्धि का परिणाम था। क्रांति के उत्तर काल में ये प्रतिशत क्रमश: 96 प्रतिशत तथा 73 प्रतिशत थे। इसका अर्थ है कि कुल कृषि उत्पादन एवं विशेष तौर पर खाद्यान्न की वृद्धि-दर मुख्यत: उपज दरों में वृद्धि पर निर्भर है न कि क्षेत्रफल पर। इससे उपज बढ़ाने वाली प्रौद्योगिकी के महत्त्व का पता चलता है।

स्पष्टत:, उर्वरक और सिंचाई जैसी आगतें आज संवृद्धि का महत्त्वपूर्ण साधन बन गई हैं। यदि उन क्षेत्रों में जहाँ उर्वरक का प्रयोग कम रहा है और उर्वरक प्रयोग में लाए जाते तो उर्वरक की प्रति इकाई उत्पादिता में वृद्धि होती। अभी भी उत्पादिता में वृद्धि लाने तथा इसके लाभ समान रूप से वितरित करने की बहुत गुंजाइश

है। स्पष्टत: उर्वरक का संवृद्धि में महत्त्व बढ़ता जा रहा है। कृषि उत्पादन और उत्पादिता का उत्साहजनक प्रदर्शन फसलों और पीछे रह गए क्षेत्रों में नई प्रौद्योगिकी के फैलाव का परिणाम है।

अधिक उपज देने वाली किस्मों का प्रयोग नियंत्रित सिंचाई को दशाओं में भी होने लगा है। अधिक उपज वाले बीजों की किस्मों तथा उर्वरकों के अधिक प्रयोग पर आधारित गहन खेती के लिए सुनिश्चित जल-आपूर्ति एक आवश्यक शर्त है। लेकिन अभी भी सकल फसल क्षेत्र का लगभग 64 प्रतिशत वर्षा पर निर्भर है जोकि वर्ष के केवल कुछ महीने ही आती है।

खाद्यान्न के अधिक उपज वाली किस्मों के अधीन क्षेत्र 1966-67 में 20 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 1990-91 में 650 लाख हेक्टेयर तथा 1995-96 में 750 लाख हेक्टेयर हो गया। गेहूँ के अधीन 92 प्रतिशत तथा चावल के अधीन 77 प्रतिशत क्षेत्र अधिक उपज वाली किस्मों के अधीन है। इसके साथ-साथ उर्वरक का उपभोग भी काफी बढ़ा है क्योंकि अधिक उपज वाली किस्मों की पूरी क्षमता प्राप्त करने के लिए उर्वरक की पूर्व-निश्चित मात्रा प्रयोग में लाना आवश्यक है। उर्वरक का उपभोग जोकि 1950-51 में, केवल 0.7 लाख टन था, 1970-71 में 22 लाख टन हो गया और 1994-95 में 136 लाख टन हो गया। प्रति-हेक्टेयर भूमि में इसका प्रयोग 1950-51 में 13.13 किलोग्राम से बढ़कर 1994-95 में 75.68 किलोग्राम हो गया।

देश में सिंचित सकल फसल क्षेत्र (gross cropped area) केवल 225.6 लाख हेक्टेयर था जोकि देश के सकल फसल क्षेत्र का केवल 17 प्रतिशत था। निरंतर सरकारी प्रयत्नों एवं बड़ी और छोटी सिंचाई परियोजनाओं में भारी निवेश के कारण सकल सिंचित क्षेत्र 1992-93 में बढ़कर 66104 लाख हेक्टेयर हो गया जोकि देश के सकल फसल क्षेत्र का 36 प्रतिशत था। चार दशकों में सकल सिंचित क्षेत्र में केवल 5 प्रतिशत बिंदुओं की वृद्धि हुई। सिंचाई की यह छोटी-सी वृद्धि भी फसल गहनता बढ़ाकर सकल फसल क्षेत्र तथा कुल उत्पादन में वृद्धि लाई।

बोध प्रश्न 2

1) स्वतंत्रता प्राप्ति के समय कृषि की स्थिति का वर्णन कीजिए। (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

2) हरित-क्रांति से पूर्व और बाद की अवधियों के बीच तुलना कीजिए। (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

3) फसलों की उपज के लिए जिम्मेदार कारक बताइए। (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

निम्नलिखित वक्तव्य सही हैं या गलत :

i) ब्रिटिश नीति खाद्यान्न उत्पादन के प्रति सहायक थी। ( )

ii) उपनिवेशकाल में खाद्यान्न की वृद्धि-दर ग़ैर-खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक थी। ( )

iii) स्वतंत्रता के बाद की अवधि में खाद्यान्न की वृद्धि-दर ग़ैर-खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक थी। ( )

iv) हरित-क्रांति के दौरान खाद्यान्न वृद्धि मुख्यत: क्षेत्र विस्तार के कारण थी। ( )

v) हरित-क्रांति के उत्तर-काल में कृषि संवृद्धि मुख्यत: उपज स्तर में वृद्धि के कारण थी। ( )

13.7 सारांश

एक अर्थव्यवस्था के विकास में कृषि की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। यह राष्ट्र की आर्थिक संवृद्धि में चार प्रकार से योगदान देती है। प्रथम, ग़ैर-कृषि क्षेत्र को भोजन और कच्चे माल की आपूर्ति करके, उत्पाद में योगदान देती है। दूसरे, घरेलू उद्योगों की माँग में वृद्धि लाकर बाज़ार में योगदान देती है। तीसरे, ग़ैर-कृषि क्षेत्रों को पूँजी और अपना अतिरिक्त श्रम उपलब्ध करवाकर उत्पादन-साधन में योगदान देती है। चौथे, विदेशी विनियम में योगदान देती है।

कृषि भारत का महत्त्वपूर्ण और सबसे बड़ा क्षेत्र है जिसने राष्ट्रीय आय में भारी योगदान दिया है। वह रोज़गार का मुख्य साधन बना हुआ है। यह औद्योगिक क्षेत्र को भोजन सामग्री तथा कच्चा माल उपलब्ध करवाता है। इस प्रकार, कृषि ने देश के आर्थिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभाई है। विदेशी विनिमय कमाने का यह प्रमुख साधन बना हुआ है। इसके विकास से हमें मँहगी विदेशी मुद्रा बचाने में सहायता मिली है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारतीय कृषि गतिहीन कही जाती थी, जिसमें प्रौद्योगिकी पिछड़ी, बुनियादी सुविधाओं की कमी तथा शोषणकारी संस्थाएँ थीं। स्वतंत्रता से पूर्व की अवधि में कृषि उत्पादन में वृद्धि नगण्य थी और उपज स्तर में कोई परिवर्तन नहीं था। ब्रिटिश सरकार की नीतियों के कारण ग़ैर-खाद्यान्नों की तुलनात्मक वृद्धि-दर अधिक थी।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लेकिन स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की अवधि में कृषि उत्पादन में प्रभावशाली वृद्धि हुई, साथ-साथ उपज दर में भी वृद्धि हुई। जनसंख्या में वृद्धि की तुलना में खाद्यान्न उत्पादन अधिक तेज़ी से बढ़ा जिससे खाद्यान्न की प्रति व्यक्ति उपलब्धता बढ़ी। खाद्यान्न उत्पादन में यह वृद्धि नवीन प्रौद्योगिकी अपनाने तथा सिंचाई और उर्वरक जैसी बेहतर आगतों के प्रयोग के कारण संभव हुई।

13.8 शब्दावली

औपनिवेशिक कृषि : ब्रिटिश शासन के दौरान कृषि प्रवाहहीन थी, उसमें कोई प्रगति नहीं हुई। शोषण करने वाली संस्थाओं ने पुरानी व आदिम तकनीकी प्रौद्योगिकी अपनाई।

हरित क्रांति : कृषि में नई तकनीक छठे दशक के मध्य से अपनाई गई। उच्च उपज वाले बीजों से कृषि उत्पाद में वृद्धि हुई। इस प्रौद्योगिकी की एक मुख्य विशेषता थी–'एक पैकेज दृष्टिकोण' जिसमें उर्वरक, नियंत्रित जलपूर्ती, ग़ैर फार्म सेवाएँ, यान्त्रिक उपस्कर तथा नाशीकीटमार शामिल थे।

कृषि में नई नीति : कृषि में प्रौद्योगिकी परिवर्तन; जो छठे दशक के मध्य में हुआ।

प्रौद्योगिकी परिवर्तन : यह हरित क्रांति के नाम से भी जाना जाता है। इसमें जीव-रासायनिक तकनीक का प्रयोग हुआ। इसे परिवर्तन द्वारा कृषि की उपज दर में वृद्धि हुई।

13.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhatia, B.M. (1988) : *Indian Agriculture: A Policy Perspective.*

Brahmananda, P.K. and V.R. Panchmukhi (ed.) (1986) : *The Development Process of the Indian Economy.*

Dantwala, M.L. and others (Ed.) (1986) : *Indian Agricultural Development since Independence*. The Indian Society of Agricultural Economics, Bombay.

Dhingra, I.C. (2001) : *The Indian Economy-Environment and Poicy*, Sultan Chand & Sons, New Delhi.

Government of India (1976) : *National Commission on Agriculture*, Ministry of Agriculture and Irrigation, Report, Part 1, Review and Press.

Government of India (1976) : *National Commission on Agriculture*, Ministry of Agriculture and Irrigation, Report, Part-II, Policy and Strategy.

Sharma, R.K. (1992) : *Technical Change, Income Distribution and Rural Poverty: A Case Study of Harayana*

13.10 बोध प्रश्नों के उत्तर व दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए भाग 13.2 देखें।

2) कृषि अपने विकास और विस्तृत आर्थिक विकास के लिए खाद्य, कंच्चा माल, रोज़गार तथा पूँजी उपलब्ध कराती है। साथ ही वह मूल्यवान विदेशी मुद्रा भी उपार्जित करती है।

3) (1) घटा (2) अधिक (3) मंद (4) गिरा

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए भाग 13.4 देखें।

2) उत्तर के लिए भाग 13.5 देखें।

3) उत्तर के लिए भाग 13.6 देखें।

4) i) गलत ii) गलत iii) गलत iv) गलत v) सही।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 14 सांस्थानिक तथा प्रौद्योगिक कारक

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 भूमि सुधार से पूर्व की कृषिक परिस्थितियाँ

- 14.2.1 सुधारों के समय प्रचलित कृषिक प्रणालियाँ
- 14.2.2 सांस्थानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

14.3 स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कृषिक सुधार, कानून एवं कार्यान्वयन

- 14.3.1 मध्यस्थों का उन्मूलन
- 14.3.2 काश्तकारी सुधार
- 14.3.3 उच्चतम सीमा कानून
- 14.3.4 कार्यान्वयन

14.4 कृषि संवृद्धि में प्रौद्योगिकी कारकों का योगदान

- 14.4.1 बीजों की अधिक उपज वाली किस्में
- 14.4.2 सिंचाई तथा जल प्रयोग
- 14.4.3 रासायनिक उर्वरक
- 14.4.4 यंत्रीकरण

14.5 सारांश

14.6 शब्दावली

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

14.0 उद्देश्य

इस इकाई में स्वतंत्रता के समय कृषिक ढाँचे के बारे में बताया गया है। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् लागू किए विभिन्न भूमि सुधार उपायों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया गया है। कृषि विकास में तकनीकी कारकों के योगदान का भी वर्णन किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्नलिखित कर सकेंगे :

- भूमि सुधारों की आवश्यकता बता सकेंगे;
- भूमि सुधारों की सफलता व असफलता के पीछे कारण समझा सकेंगे; तथा
- कृषि विकास में विभिन्न प्रौद्योगिकी कारकों की भूमिका समझा सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

बढ़ता निवेश और बढ़ता बाज़ार कृषि विकास की आधारभूत आवश्यकताएँ हैं। लेकिन कृषि विकास के लिए जटिल प्रक्रियाओं व कार्यविधियों से घिरे संस्थानिक परिवर्तन, आर्थिक व राजनीतिक शक्ति का पुन: वितरण तथा आर्थिक संवृद्धि के लाभों का पुनर्वितरण करने हेतू नियोजित सरकारी नीति भी आवश्यक है। भूमि का स्वामित्व, विशेषतया गरीब कृषिक अर्थव्यवस्थाओं में, शक्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा, विशेषाधिकार, नियंत्रण तथा स्थानीय संस्थाओं तक पहुँच से जुड़ा रहता है। भारत व तीसरी दुनिया के अन्य देशों के अनुभव से पता चलता है कि इन देशों में भूमि-वितरण ही आय-वितरण निर्धारित करता है। अत: भूमि सुधार एक ऐसा उपकरण

है जो ग्रामीण क्षेत्र में भूमि वितरण तथा शक्ति ढाँचे में परिवर्तन ला सकता है। भूमि सुधार कोई आधुनिक बात नहीं है। अपने अधिक समानता या सामाजिक न्याय की माँग के जवाब में ये वर्षों से होते आ रहे हैं।

14.2 भूमि सुधारों से पूर्व की कृषिक परिस्थितियाँ

स्वतंत्रता-प्राप्ति के समय भारत में तीन कृषिक प्रणालियाँ थीं। निजी कृषि भूमि के 57 प्रतिशत पर ज़मीदारी प्रणाली, 38 प्रतिशत पर रैयतवाड़ी प्रणाली तथा शेष 5 प्रतिशत पर महालवाड़ी प्रणाली थी। अधिक से अधिक भूमि-कर इकट्ठा करने के उद्देश्य से ब्रिटिश शासक भूमि और काश्तकारी प्रणाली में फेर बदल करते रहे हैं। इन प्रणालियों का संक्षेप में वर्णन हम यहाँ कर रहे हैं।

14.2.1 सुधारों के समय प्रचलित कृषिक प्रणालियाँ

ज़मीदारी प्रणाली

भारत में जमींदारी प्रणाली इंग्लैण्ड की ज़मीदारी प्रणाली के आधार पर बनी थी। 18वीं तथा 19वीं शताब्दी का अंगरेज़ ज़मीदार अपनी भूमि का पूरा मालिक था और कृषि को आगे बढ़ाने में योग्य था। इसके विपरीत भारत का ज़मीदार केवल ऊँचे किराए पर काश्तकारी के लिए देने और पैसा बनाने में रुचि रखता था न कि कृषि के विकास में। यह प्रणाली मुख्यत: भारत के पूर्वी भागों पश्चिम बंगाल, बिहार व उड़ीसा में प्रचलित थी। बंदोबस्त का प्रयत्न किया लेकिन ऐसा करना संतोषजनक नहीं पाया गया क्योंकि अपने विशेषाधिकारों को कायम रखने के उद्देश्य से ज़मीदार अधिक ऊँची बोली लगा देते थे और बाद में भुगतान नहीं कर पाते थे।

फिर उन्होंने स्थायी बंदोबस्त का सहारा लिया तथा ज़मीदार के लिए प्रतिवर्ष भूमि-कर निश्चित कर दिया। ज़मीदार अपने से नीचे के भूमिदारों से जितना भी इससे इकट्ठा कर पाता वह उसकी अपनी आमदनी मानी जाती थी।

ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में यह प्रणाली स्थापित करने के पीछे दो आधारभूत उद्देश्य : (1) भू-स्वामियों का एक ऐसा वर्ग बनाना जो भारत में ब्रिटिश शासन के आधार स्तम्भ बन सके; (2) पैसे वाले लोगों को भू-सम्पत्ति खरीदने तथा उसपर पूँजी लगाने के लिए उत्साहित करना। पहली अपेक्षा तो पूरी हो गई, लेकिन दूसरी अपेक्षा बिल्कुल भी न पूरी हो पाई। लेकिन, सरकार और किसान के बीच बिचौलियों की शृंखला बन गई थी। इस प्रक्रिया में उप-स्वामियों का एक वर्ग अस्तित्व में आ गया था। काश्त-सुरक्षा सहित वास्तविक किसान के सभी पारम्परिक अधिकार छिन गए थे। कृषि मज़दूर बंधक मज़दूर बनकर रह गए थे।

रैयतवाड़ी प्रणाली

इस प्रणाली के अधीन प्रत्येक भूमिधर किसान के साथ-साथ अलग से बंदोबस्त किया गया था। उस किसान को रैयत कहते थे जो ज़मीन का स्वामी था और उसे इसे किराए पर देने, रहन रखने तथा हस्तांतरण करने का अधिकार था। जब तक वह एक पूर्वनिश्चित राशि सरकार को देता रहता था उसे भूमि से बेदखल नहीं किया जा सकता था। वह प्रणाली मद्रास तथा बम्बई में लागू की गई थी।

हालाँकि कि रैयतवाड़ी क्षेत्रों में कोई ज़मीदार या बिचौलिए नहीं थे और बंदोबस्त सीधा रैयत से था, लेकिन बड़े-बड़े रैयत भू-स्वामी कृषिक व्यवस्था पर हावी होने लगे तथा ज़मीदारी जैसा व्यवहार करने लगे। उन्होंने सामन्ती प्रकार के शोषण के कई तरीके अपनाए जैसे कि बटाई, उप-काश्तकारी, बेदखली, जबरन श्रम, सूदखोरी आदि। रैयतवाड़ी क्षेत्रों में बड़े स्तर पर असुरक्षित काश्तकारी विकसित हो गई। काश्तकारी दूरवासी ज़मीदारी प्रथा (absentee landlordism) का रूप ले लिया। इसमें उन्हें केवल वार्षिक लगान वसूल करने से ही मतलब था और उन्होंने भूमि और कृषि सुधार में कोई रुचि नहीं दिखाई।

महालवाड़ी प्रणाली

यह प्रणाली प्रारम्भ में संयुक्त प्रान्त (United Provinces) (उत्तर भारत) में लागू की गई और बाद में पंजाब में भी लागू की गई। इस प्रणाली में पूरे गाँव के साथ बंदोबस्त किया गया था। हर भू-स्वामी गाँव का संयुक्त स्वामी था और लगान के भुगतान के लिए संयुक्त रूप में ज़िम्मेदार था।

14.2.2 सांस्थानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

भारत में प्रचलित भू-प्रणालियों ने कृषि कुशलता में रुकावट डाली और ये उत्पादन बढ़ाने हेतू प्रौद्योगिकी सुधार लाने में सहायक नहीं थी। इसीलिए भूमि सुधारों की आवश्यकता पड़ी। इन प्रणालियों के मुख्य दोष ये थे :

1) सरकार और किसान के बीच बिचोलियों की एक शृंखला।

2) छोटे किसानों के बीच काश्तकारी असुरक्षा : यह ऋणग्रस्तता, रहन तथा स्वामित्व के अधिकार न होने के कारण थी। इससे किसान ने भूमि पर स्थायी सुधार लाने में कोई रुचि नहीं दिखाई।

3) किराए की ऊँची दर : इससे किसानों में उत्पादन करने का उत्साह नहीं रह गया था, विशेषतया बँटाई की दशा में।

4) छोटे और विखंडित जोत : इसके कारण कृषि तकनीक में सुधार लाना, विशेषता मशीनों का प्रयोग करना संभव नहीं था।

5) भूमि का असमान वितरण : इसके कारण ग्रामीण जनसंख्या के बड़े भाग के पास या तो कोई ज़मीन नही थी या फिर इतनी कम थी कि उसपर लाभकारी ढंग से खेती करना संभव न था।

6) प्रति हेक्टेयर बहुत कम उपज और गरीबी– कृषि क्षेत्र में सामान्य बात थी।

7) ग्रामीण स्तर पर प्रभावशाली व्यवस्था की कमी : दूसरी और किसान भी पूरी तरह अव्यवस्थित थे। प्रचलित कृषिक प्रणाली ने आर्थिक विकास में तीन प्रकार से गंभीर रुकावटें डालीं।

प्रथम, क्योंकि उपज का बड़ा भाग कुछ खर्च न करके भी भू-स्वामी ले जाता था, काश्तकार ने उत्पादन में वृद्धि लाने में कोई उत्साह नहीं दिखाया।

दूसरे, वास्तविक किसान के पास कुछ बचता ही नहीं था जो वह ज़मीन पर निवेश कर सके।

तीसरे, सम्पत्ति भूमि के रूप में थी। अत: काश्तकार अच्छा साज़ समान बीजों के प्रयोग में कोई रुचि नहीं दिखाता था।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

संक्षेप में, प्रचलित कृषिक प्रणाली में ज़मीदार अमीर होते चले गए। बिचोलिए सम्पन्न हुए। किसान और काश्तकार कंगालों की तरह रहने लगे। इनके कारण आज़ादी के पश्चात् तुरंत भूमि सुधार लागू करने की आवश्यकता पड़ी।

14.3 स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् कृषिक सुधार, कानून व कार्यान्वयन

वांछित उद्देश्य पूरे करने के लिए कृषिक सुधार लाना आज़ादी प्राप्त करने के पश्चात् पहला कार्य था। आज के संदर्भ में कृषिक सुधार से अभिप्राय मध्यस्थों के उन्मूलन, काश्तकार की सुरक्षा, भूमि का पुनर्वितरण से है जोकि भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित कर और चकबंदी द्वारा प्राप्त किए जा सकते थे। इस संबंध में भारत में कांग्रेस कृषिक सुधार कमेटी से शुरू होकर बहुत-सी कमेटियाँ, पैनल या आयोग गठित किए गए, जिन्होंने ने बड़ी संख्या में दस्तावेज़ तैयार किए जिनमें वर्तमान स्थिति के बारे में चिंता जताई गई और उग्र हल बताए गए। इन दस्तावेज़ों के पीछे मंशा तो अच्छी थी, लेकिन मंशा और व्यवहार के बीच काफी अंतर था। अत: कृषिक सुधार नीति को लागू करने के लिए बहुत से कानून बनाए गए और लागू किए गए।

संक्षेप में, ग्रामीण भारत सामंती व सामंती जैसे कृषिक संबंधों से ग्रसित था। ऊँचे किराए, काश्तकारी असुरक्षा, जबरन श्रम, सूदखोरी आदि के रूप में किसानों का शोषण होता था। इससे एक ओर तो किसानों की गरीबी बढ़ी तथा दूसरी ओर कृषि उत्पादन गतिहीन हो गया। इससे इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि किसानों को सामंती संबंधों से बचने तथा कृषि विकास लाने के लिए कृषिक संबंधों का पुनर्निर्माण किया जाए।

14.3.1 मध्यस्थों का उन्मूलन

भूमि सुधार आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के आधार में परिवर्तन लाते हैं। अंत शक्ति ढाँचे में निहित वर्गों का इनके बारे में नीति व इसके कार्यान्वयन पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। शुरू का भूमि सुधार कुछ कार्यक्रम मध्यस्थों का उन्मूलन था। आम तौर पर मध्यस्थ से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से है जोकि किसान और राज्य के बीच मध्यस्थता करता है। इससे अभिप्राय ज़मीदारी प्रणाली से उत्पन्न कुछ मान्यता प्राप्त भूमि के स्वामित्व या उपस्वामित्व के अधिकार धारण करने वालों से है। इसमें रैयतवाड़ी क्षेत्रों के भू-स्वामी शामिल नहीं है।

मध्यस्थों के उन्मूलन के पीछे निम्नलिखित कारण थे :

1) परजीवी वर्ग (Parasite Class) के हाथों में भूमि का स्वामित्व केंद्रित था।

2) भूमि पर वास्तव में खेती करने वाले बड़ी संख्या में किसान-मज़दूर भूमि स्वामित्व से वंचित थे।

3) कृषि अर्थव्यवस्था गतिहीन थी जोकि बढ़ती हुई नई स्वतंत्र अर्थव्यवस्था की माँग पूरी करने में असमर्थ थी।

मध्यस्थों का उन्मूलन आज़ादी के तुरंत बाद प्रारंभ हो गया था।

इन सुधारों की सफलता के पीछे कई कारण थे :

1) मध्यस्थों का राष्ट्र विरोधी स्वरूप।

2) राष्ट्रीय संघर्ष के भाग के रूप में किसानों की ज़मीदारी के विरुद्ध लम्बा संघर्ष।

3) अन्दरूनी ग्रामीण क्षेत्रों में ज़मीदारों का अलग-थलग हो जाना।

4) ग्रामीण क्षेत्रों मे राजनीतिक सत्ता के लिए उच्चवर्ग और ज़मीदारों के बीच संघर्ष।

इस उपाय के परिणामस्वरूप 1950 के दशक के मध्य तक सारे देश की लगान प्रशासन के ज़िम्मेदारी स्वयं सरकार ने अपने ऊपर ले ली थी। इससे भूमि स्वामित्व संबंधी रिकार्डों में सुधार हुआ। भूमि का हस्तांतरण, रहन व बिक्री अब बेहतर तरीके से हो सकती थी। जैसाकि रैयतवाड़ी क्षेत्रों में पहले होता था। कृषि विकास की व्यवस्था का भी अब बेहतर आधार था। इस उपाय की आलोचना दो आधार पर की गई थी। प्रथम, मुआवज़े की जो बड़ी रकमें दी गई थीं वह विलासिता उपभोग पर या शहरों में सम्पत्ति खरीदने पर खर्च कर दी गईं। इसका केवल एक छोटा-सा भाग ही कृषि उत्पादन बढ़ाने पर निवेश किया गया था। मुआवज़ा देना भारत की सांविधानिक आवश्यकता थी। भारतीय संविधान में कोई भी सम्पत्ति बिना मुआवज़े के नहीं ली जा सकती थी। सरकारी रिकार्डों में अधिकतर ज़मीदारों के पास भू-स्वामित्व के अधिकार थे, अत: उन्हें मुआवज़े देना ज़रूरी था।

दूसरे, सर, खुदकाश्त तथा भूमियों का मध्यस्थों द्वारा स्वयं खेती करने के लिए निजी सम्पत्ति के रूप में कानून के दायरे से बाहर रखा गया। मध्यस्थों के लिए कानून में बचाव का रास्ता था जिसका भरपूर लाभ इन्होंने उठाया। इस बचाव के रास्ते ने सामंती हितों के सामाजिक व आर्थिक आधार को बनाए रखा और काश्तकारों को उस उपाय के लाभ से वंचित रखा। बड़े भू-स्वामियों ने अपनी सर व खुदकाश्त भूमि खुद निर्धारित की और बड़े पैमाने पर काश्तकारों और बटाईदारों को बेदखल किया। बड़े स्तर पर इस बेदखली ने भौतिक और नैतिक तौर पर ग्रामीण जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है और भूमि सुधारों से जाग्रत आशाओं और आकांक्षाओं को विफल कर दिया है।

वास्तव में, मध्यस्थों के उन्मूलन से भूमि स्वामित्व में असमानताओं एवं श्रमिकों की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हालाँकि इसने दखलकारों (Occupants) को स्थायी वंशागत एवं हस्तांतरणीय अधिकार दिलाने में सहायता की है। लेकिन, कानूनी ज़मीदारी समाप्त करने का काम अब लगभग पूरा हो चुका है जिससे दो करोड़ किसान राज्य के सीधे सम्पर्क में आ गए।

14.3.2 काश्तकारी सुधार

काश्तकारी कानून की विशिष्टताएँ भूमि सुधार नीति की उस आधारभूत रूपरेखा से उत्पन्न हुई जिसमें न तो बड़े स्तर पर ज़मीदारों के स्वामित्व अधिकार समाप्त करना था और न ही बड़े स्तर पर काश्तकारों को बेदखल करना था। काश्तकारी कानून के बारे में बीच का रास्ता अपनाया गया था। मध्यस्थों के उन्मूलन के कानून

के साथ-साथ काश्तकारों को भी संरक्षण देने की व्यवस्था की गई। ऐसा विशेषतया कानूनी ज़मीदारों वाले क्षेत्रों में किया गया। लेकिन काश्तकारी को संरक्षण देने के उपाय ने सामाजिक प्रक्रिया को विपरीत दिशा में मोड़ दिया और बड़े स्तर पर काश्तकार और बटाईदारों को बेदखल किया जाने लगा। बेदखली का अभियान इतना शक्तिशाली था कि काश्तकारी की सभी व्यवस्थाएँ टूट गई और नई व्यवस्था बनाने में वर्षों लग गए। आगे वर्षों में अधिकतर राज्यों ने काश्तकारी कानून बनाने या उसमें फेरबदल करने का प्रयत्न किया, और साथ-साथ इससे बच निकलने के रास्तों को बंद करने का प्रयत्न किया ताकि काश्तकारों को प्रभावशाली सुरक्षा प्रदान की जा सके। पिछले 25 वर्षों में विभिन्न राज्यों में बने इन कानूनों की मुख्य बातें ये थीं :

i) पट्टेदारी (Tenure) की सुरक्षा

ii) काश्तकारी की समाप्ति

iii) व्यक्तिगत खेती बहाल करना

iv) अपनी इच्छा से कब्जा देना (Surrenders)

v) किराया (Rent) नियंत्रण

विभिन्न राज्यों के काश्तकारी कानूनों में काफी विभिन्नताएँ होते हुए भी मौटे तौर पर इसका एक जैसा स्वरूप था।

काश्तकारी सुधारों में काफी प्रगति हुई है लेकिन इनके कानूनों में कई कमियाँ बनी हुई हैं। 'काश्तकार' की परिभाषा में बटाईदारों को, जिनकी संख्या बहुत अधिक है। शामिल नहीं किया गया है। इससे बटाईदारों को काश्तकारों के अधिकारों से वंचित रखा गया है।

छोटी-छोटी बातों पर काश्तकारों को बेदखल कर देना अभी भी होता है, जैसे किराया न देना, दी गई अवधि में भुगतान न करना, निश्चित समये पर फसल का हिस्सा न देना, भूमि को सही ढंग से जोतने के लिए करारनामा न करना आदि। भूमि से पूर्ण बेदखली वर्तमान सुधारो का सबसे बड़ा दोष है।

स्वैच्छिक कब्जा देना, जिसका प्रावधान कानून में है, शायद कभी ही स्वैच्छिक होता है यह काश्तकारों की सुरक्षा के विरुद्ध बहुत बड़ा हथियार बन गया है। चौथी योजना का सुझाव कि स्वैच्छिक तौर पर छोड़ी गई भूमि का कब्जा भू-स्वामी का नहीं दिया जाना चाहिए। किसी भी राज्य ने लागू नहीं किया है।

भूमि के पुनर्ग्रहण के अधिकार के पीछे यह औचित्य था कि भू-स्वामी अब स्वयं खेती करेंगे और उत्पादन में वृद्धि लाएँगे। जोर 'व्यक्तिगत खेती' पर था। लेकिन इसकी परिभाषा कुछ इस प्रकार की गई है कि भाड़े के मज़दूरों द्वारा खेती करवाना भी व्यक्तिगत खेती माना जाता है। चाहे यह मज़दूरी नगद दें या वस्तुओं के रूप में लेकिन बटाई के रूप में नहीं। भू-स्वामी या उसके परिवार द्वारा व्यक्तिगत देखभाल की भी कोई शर्त न थी। व्यक्तिगत खेती की ऐसी परिभाषा भू-स्वामियों के पास भूमि हथियाने का एक हथियार बन गई। इससे चोरी छुपे काश्तकारी होने लगी। जिसमें छिपे काश्तकार को खेतीहर मज़दूर या कृषि साझेदार कहा जाता था।

किरायों पर नियंत्रण न ला पाना भूमि सुधारों की एक बहुत बड़ी कमी थी। राज्यों के कानूनों में 'उचित किराये' की परिभाषा एक जैसी नहीं की गई। इसके अतिरिक्त, बटाईदारों असुरक्षित काश्तकारों पर यह कानून लागू करना एक कठिन कार्य है। इसके साथ-साथ जनसंख्या बढ़ने और कृषि क्षेत्र के बाहर रोज़गार के अवसरों के अभाव के कारण भूमि की माँग निरंतर बढ़ रही है। काश्तकारी सुधार का एक मुख्य उद्देश्य था। काश्तकारों को उस भूमि का स्वामी बनाना जिसको वे जोत रहे थे। यह उद्देश्य व्यवहारिक नहीं हो पाया क्योंकि काश्तकारों को मुआवजे की एक लम्बी रकम देनी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त, काश्तकारों की अपनी इच्छा थी कि वे भूमि का स्वामित्व खरीदें या न खरीदें। कानून में यह प्रावधान है कि यदि काश्तकार यह सिद्ध कर सकें कि लगातार 12 वर्ष तक भूमि का कब्जा उसके पास था तो वह उस जमीन का दखल अधिकार प्राप्त कर यानि उसे अपने नाम करवाने का अधिकार था। लेकिन यह प्रावधान अव्यवहारिक रहा क्योंकि भारत में भू-स्वामी काश्तकार संबंध कुछ इस प्रकार के रहे हैं कि एक साधारण काश्तकार के लिए कब्जा सिद्ध लगभग असंभव था। बेहतर होता अगर यह प्रावधान होता कि यदि कोई भी काश्तकार कानून के अधीन दखल-अधिकार का दावा पेश करे तो सिद्ध करने का भार भू-स्वामी पर पड़े न कि काश्तकार पर।

MADHUKAM IAS
to achieve your dream

14.3.3 उच्चतम सीमा कानून

आज़ादी से पहले निजी भूमि की सीमा निर्धारण करने का सिद्धांत अखिल भारतीय किसान सभा ने सुझाया था। ज़मींदारी तथा रैयतवाड़ी दोनों क्षेत्रों में वर्तमान भूमि धारकों को स्वयं खेती करने के लिए अधिक से अधिक 25 एकड़ प्रति धारक भूमि ग्रहण करने की आज्ञा होगी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने भी उच्चतम सीमा का मामला उठाया था। इस प्रश्न के बारे में सत्ता क्षेत्र काफी असहमति थी। इसके तीन कारण थे। प्रथम, केवल ज़मींदारी पर ही नहीं पूरे भू-स्वामी वर्ग पर इसका सीधा प्रभाव पड़ता था। दूसरे, ये उपाय सामंतों तथा उपसामंतों पर ही लागू नहीं होते थे, सभी बड़े भूधारियों पर लागू होते थे। किसानों के उच्च वर्ग के हाथ में काफी भूमि थी और उन्हें यह सही डर था कि उनके हित भी प्रभावित हो सकते हैं।

भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित करने के पीछे निम्नलिखित उद्देश्य थे:

i) किसानों की ज़मीन प्राप्त करने की व्यापक इच्छा को पूरा करना;

ii) भूमि के स्वामित्व और उपयोग में असमानताओं को दूर करना;

iii) कृषि आय में असमानता कम करना;

iv) स्व-रोज़गार का दायरा बढ़ाना।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट घोषणा की गई थी कि कृषिक नीति, विशेषता उच्चतम सीमा निर्धारण, का एक उद्देश्य कृषिक प्रणाली से शोषण तथा सामाजिक अन्याय को मिटाना है। लेकिन इस नीति में भविष्य के भू-स्वामी वर्ग की स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत नहीं की गई थी।

उच्चतम सीमा निर्धारण उपाय एक पुनर्वितरण उपाय है। इसकी अत्यंत आवश्यकता तीन बातों से प्रभावित है: निर्भर जनसंख्या की तुलना में भूमि की स्थायी कमी; ग़ैर- कृषि क्षेत्र की ओर जनसंख्या का सीमित हस्तांतरण तथा उत्पादन और रोज़गार बढ़ाने की आवश्यकता। लेकिन यह आवश्यकता व्यवहारिक रूप नहीं ले पाई। इस प्रकार आज़ादी के पचास साल बाद भी कृषिक सुधार कार्यक्रम उच्चतम सीमा निर्धारण अस्पष्ट ही बना हुआ है। यह एक अस्पष्ट राजनीतिक-आर्थिक अवधारणा बनी हुई है और कहीं छिपी बैठी है। सामाजिक न्याय के आधार पर तो यह तर्क संगत है लेकिन उत्पादन में वृद्धि लाने और कषि विकसित करने के आधार पर नहीं।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

उच्चतम सीमा कानून दो चरणों में बनाए गए और लागू किए गए। पहले चरण की अवधि 1972 तक थी। दूसरे चरण की अवधि राष्ट्रीय दिशा-निर्देश अपनाने के बाद 1972 के बाद की है। उच्चतम सीमा निर्धारण राज्य विषय है। अत: प्रत्येक राज्य ने अपना-अपना कानून बनाया। ऐसे में उन कानूनों में विविधता होना आवश्यक था। भूमि-धारकों की दो इकाइयाँ थीं, व्यक्ति और परिवार। परिवार और भूमि के प्रकार की परिभाषा अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग थी। इन कानूनों में बचने के बहुत से रास्ते थे जिसका बड़े भू-स्वामियों ने पूरा फायदा उठाया। उन्होंने कानून के लागू होने की आशा में पहले ही अपनी भूमि को कई भागों में बाँट दिया था और उसका बड़े स्तर पर नकली नामों में बेमानी हस्तांतरण कर दिया था। इसके कारण पुनर्वितरण के लिए बहुत कम अतिरिक्त भूमि प्राप्त हो सकी। इसके अतिरिक्त, कानून संतोषजनक ढंग से लागू नहीं किए गए। कानून तोड़ने के बदले किसी सज़ा का प्रावधान न होने से इससे बचने की प्रवृत्ति में और भी वृद्धि हुई।

उच्चतम सीमा कानून से बचने के रास्तों में से ऊँची उच्चतम सीमाएँ, हेराफेरी तथा गुप्त हस्तांतरण की गुंजाइश, विभिन्न प्रकार की भूमियों को सीमा कानून से छूट, काफी गंभीर थे। अब यह समझा जाने लगा है कि यदि भूमि का पुनर्वितरण उच्चतम सीमा कानून का मुख्य उद्देश्य था तो या बिल्कुल भी पूरा नहीं हो पाया है।

पहले चरण में उच्चतम कानूनों के प्रभावहीन होने, कृषि उत्पादन की अति आवश्यकता होने, व देश में कृषिक असंतोष होने से, इन कानूनों पर पुनर्विचार की तुरंत आवश्यकता थी। इस पुनर्विचार के आधार पर बने 'राष्ट्रीय दिशा निर्देश' 1972 के बाद के उच्चतम सीमा निर्धारण कानूनों के आधार बने।

1972 के बाद के चरण के कानूनों में सुधार लाए गए और उन्हें सारे देश में लगभग एक समान आधार पर लागू किया गया। ये राष्ट्रीय सहमति के आधार पर थे। इनमें उच्चतम सीमा काफी कम कर दी गई, छूट वाली भूमि की सूची छोटी कर दी गई, गुप्त हस्तांतरण पर नियंत्रण रखने के उपाय किए गए। लेकिन विभिन्न राज्यों

के कानूनों में कानूनी में अवश्य रह जो कि सुनिश्चित सिंचाई सुविधा वाली भूमि उच्चतम सीमा की बाहरी सीमाएँ, मुआवज़ों की दर तथा लागू होने की तिथि से संबंधित है। समस्या अब इन्हें प्रभावशाली ढंग से लागू करने की है।

14.3.4 कार्यान्वयन

ज़मीदारी उन्मूलन और भूमि के पुनर्वितरण के रूप में कृषिक भूमि के प्रश्न को सुलझाने में असफल रहे, बल्कि वे किसानों सामंती प्रकार के शोषण से भी पूरी तरह न बचा सके। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण (National Sample Survey) के 8वें चक्र (round) के अनुसार, 1953-54 में कृषि-भूमि का 20.34 पट्टों (leases) पर था। प्रमुख पट्टाकर्ता (lessor) बड़े-बड़े भूमि धारक थे जबकि सारे भारत में केवल 12.3 प्रतिशत भूमि के स्वामी ग्रामीण परिवारों ने भूमि पट्टे पर थी। सर्वेक्षण से पता चला है कि 50 एकड़ से अधिक भूमि के स्वामित्व वाले परिवारों ने अपना 36.26 प्रतिशत क्षेत्र पट्टे पर दिया, जबकि 30-50 एकड़ वालों ने 28.07 प्रतिशत दिया। ये सभी परिवार कुल ग्रामीण परिवारों के 3.31 प्रतिशत थे और उन्होंने 40.15 प्रतिशत भूमि पट्टे पर दी। यह स्थिति ज़मीदारी क्षेत्रों से दखलकारी काश्तकारी को स्वामी बनाने की घोषणा के बाद की थी।

शासकों ने कृषिक सुधारों के लिए केवल कानून पर भरोसा किया तथा इसके कार्यान्वयन की अनदेखी की। उनका विश्वास था कि कानून लागू करने से अपने आप ही इच्छित सामाजिक-आर्थिक परिणाम प्राप्त होने चालू हो जाएँगे। वास्तव कानूनों के कार्यान्वयन में ढील बहुत अधिक और बहुत पहले से है।

प्रभावहीन कार्यान्वयन के पीछे राजनीतिक इच्छा की कमी एक महत्त्वपूर्ण कारक रहा है। भूमि सुधारों को लागू करने की एकमात्र ज़िम्मेदारी कुछ प्रशासनिक एजेंसियों की समझी जाती रही है जो बिना किसी समयबद्ध कार्यक्रम के या किसानों को इसमें शामिल किए बिना ही इस कार्यक्रम को लागू करती है। कार्यान्वयन मुख्यत: संभावित लाभ उठाने वालों की चेतना और संगठन पर निर्भर होता है। सरकार और लाभ उठाने वालों के बीच सम्पर्क की कमी ने भूमि सुधारों से सम्पत्ति अधिकारी को प्रभावित करने वाले ढाँचागत परिवर्तन आते हैं। केवल प्रशासनिक अधिकारी ही ये परिवर्तन नहीं ला सकते। वास्तव में सरकारी मशीनरी अपने आप इस काम के अनुकूल नहीं बन पाई। सरकार में इच्छाशक्ति की कमी और उपरि दबावों के कारण सरकारी अधिकारियों के हाथ में यह कार्यक्रम असफल होता रहेगा। ऐसी स्थिति में सम्भावित लाभ उठाने वालों का इसमें शामिल होना बहुत महत्त्व रखता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) भूमि सुधार अवधि से पूर्व कृषिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए। (50 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) आप समझाइए कि कृषिक सुधारों से क्या अभिप्राय है। (30 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) विभिन्न भूमि सुधारों में मध्यस्थों के उन्मूलन की कुछ सफलता प्राप्त करने के पीछे कारण बताइए। (30 शब्दों में)

.....

.....

.....

.....

.....

4) सही और गलत बताइए।

i) भूमि सुधारों से मोटे तौर पर अभिप्राय उन सुधारों से है जो किसानों के पक्ष में भूमि का पुनर्वितरण करते हैं। .....

ii) स्वयं खेती कानून से बचने का एक रास्ता था जिसका उपयोग मध्यस्थों ने काश्तकारों को लाभ से वंचित रखने के लिए किया। .....

iii) काश्तकारी कानून काश्तकारों की बड़े स्तर पर की गई बेदखली के लिए प्रयोग में लाए गए। .....

iv) काश्तकार की परिभाषा में बटाइदार भी शामिल थे। .....

v) कृषि भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित मुख्यत: एक पुनर्वितरण उपाय था। .....

14.4 कृषि संवृद्धि में प्रौद्योगिक कारकों का योगदान

अधिक उपज वाली किस्मों के प्रवेश से पूर्व भारत की खाद्य स्थिति गंभीर थी। खाद्य आयात निरंतर बढ़ रहा था। विश्व में खाद्य कमी वाले देशों की बढ़ती माँग के कारण इस आयात की भी संभावनाएँ गिर रही थीं। विश्व बाज़ार में खाद्य कीमतें ऊँची थीं और निरंतर बढ़ रही थी, जिससे आयात करने की क्षमता भी सीमित थी। भूमि उद्धार द्वारा कृषि के अधीन अधिक भूमि लाकर उत्पादन बढ़ाने की संभावनाएँ बहुत कम थीं। भविष्य में उत्पादन केवल उत्पादिता में वृद्धि लाकर ही बढ़ाया जा सकता था। इसलिए 1965 में चौथी योजना में कृषि के लिए एक नई रणनीति तैयार की गई। इसके निम्नलिखित उद्देश्य थे :

i) सभी चरणों, विशेषतया खेतों, में कृषि उत्पादन की वैज्ञानिक विधियों एवं ज्ञान को प्रयोग में लाना।

ii) वर्षा और सिंचाई के आधार पर कुछ क्षेत्रों का चुनाव करना और इनमें ऐसे उन्नत किस्म के बीजों पर आधारित आगतों के पैकेज का सकेन्द्रित प्रयोग करना जो उर्वरक व अन्य आधुनिक आगतों से मिलकर अच्छा उत्पादन में वृद्धि लाना।

उपरोक्त रणनीति बीजों की अधिक उपज की किस्मों (HYV) से नहीं बँधी थी। यदि ये बीज उपलब्ध न भी होते तो भी यह लागू की जाती।

14.4.1 बीजों की अधिक उपज वाली किस्में (HYV Seeds)

यह एक संयोग ही था कि कुछ अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के वर्षों के अनुसंधान व परीक्षणों के परिणाम स्वरूप बीजों की अधिक उपज वाली किस्म भारत में व्यापारिक खेती के लिए उपलब्ध हो गई थी। यह बीज कम अवधि का, छोटे तने का तथा उर्वरक प्रभावी था। इससे कृषि विकास रणनीति में नाटकीय परिवर्तन आया। यह पारम्परिक कृषि की ओर था। इसमें उर्वरक, जीवनाशक, दवाइयाँ, बिजली व डीजल के पम्प, ट्रेक्टर, हार्वेस्टर कम्बाइन (फसल काटने की मशीन) जैसी ग़ैर-खेती आगतों का प्रयोग किया गया। इस अधिक उपज वाली किस्मों की प्रौद्योगिकी के ऐसे शानदार परिणाम निकले कि इसे हरित क्रांति की संज्ञा दी गई। 1960-61 से 1964-65 में यह औसत 8 करोड़ 30 लाख टन थी। यह इसके बावजूद है कि यह वृद्धि कुछ अनाज फसलों तक ही सीमित थी और वह भी अच्छी सिंचाई सुविधा, उर्वरक के उपयोग तथा बीजों की

तालिका : 1 कृषि आगतों के उपयोग में प्रगति

अधिक उपज वाली किस्मों के अधीन क्षेत्र	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1994-95
धान	8.9	55.9	182.9	273.9	310.2
गेहूँ	5.4	64.8	161.8	209.7	232.5
ज्वार	1.6	8.0	35.0	70.7	0.8
बाजरा	0.6	20.5	36.4	57.0	53.9
मक्का	2.1	4.6	16.0	26.1	33.8
कुल	**18.9**	**153.8**	**430.8**	**649.8**	**712.7**
रासायनिक उर्वरकों का उपभोग (लाख टन में)					
कुल (N+P+K)	2.92	21.77	55.16	125.46	135.64
प्रति हेक्टेयर (किलोग्रम)	1.90	13.13	31.83	67.49	75.68

स्रोत : Agricultural Statistics at a Glance DE & S, कृषि मंत्रालय, भारत सरकार, 1996।

अधिक उपज वाली किस्मों की प्रगति तालिका 1 में दिखाई गई है। इन किस्मों के अधीन चावल का क्षेत्र जोकि 1966-67 में 8.8 लाख हेक्टेयर था 1994-95 तक बढ़कर 310.2 लाख हेक्टेयर हो गया। गेहूँ के अधीन यह क्षेत्र 5.4 लाख हेक्टेयर से बढ़कर 232.5 लाख हेक्टेयर हो गया। लेकिन मक्का, ज्वार, बाजरा में कम सफलता मिली।

उन फसलों का क्षेत्र, जिनमें अधिक उपज वाली किस्मों को प्रयोग किया गया, इसी अवधि में 18.9 लाख हेक्टेयर हो गया। 1996-67 में अधिक्र उपज वाली किस्मों के अधीन क्षेत्र कुल क्षेत्र का चावल में 2.5 प्रतिशत, गेहूँ में 4.2 प्रतिशत, मक्का में 4.1 प्रतिशत, ज्वार में 1.05 प्रतिशत तथा बाजरा में 0.5 प्रतिशत था। 1993-94 में चावल में यह 67.5 प्रतिशत, गेहूँ में 88 प्रतिशत, मक्का में 50 प्रतिशत, ज्वार में 53.2 प्रतिशत और बाजरा में 54.5 प्रतिशत हो गया। खाद्यान्न में अधिक उपज वाली किस्मों वाला कुल क्षेत्र 1966-67 में 1.63 प्रतिशत से बढ़कर 1993-94 में 54.3 प्रतिशत हो गया।

कार्यक्रम की शानदार सफलता के कारण अनाजों (विशेषतया चावल और गेहूँ) में और कुल खाद्यान्न में भी भारी वृद्धि हुई। चावल की उत्पादिता जोकि 1996-67 में केवल 863 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी। 1993-94 में बढ़कर 1888 कि.ग्रा. प्रति हेक्टेयर हो गई यानि दुगने से भी अधिक हो गई। गेहूँ का कुल उत्पादन क्रमश: 2.6 व 5.3 गुना बढ़ा। ऐसी ऊँची उपज दर होने के कारण इनके अधीन क्षेत्र में वृद्धि के कारण था। मक्का, ज्वार और बाजरा में ज्यादा सुधार नहीं हुआ। अधिक उपज वाली किस्मों के कार्यक्रम की सफलता की कहानी केवल दो प्रमुख खाद्यान्नों यानि चावल और गेहूँ तक ही सीमित थी। यह भी भारत के कुछ राज्यों तक ही सीमित थी, विशेषतया गेहूँ में। गेहूँ में यह सफलता पंजाब, हरियाणा व उत्तर प्रदेश (पश्चिमी) में मिली जहाँ पानी काफी मात्रा में उंपलब्ध था। एक सीमा तक सरकार की प्रोत्साहन कीमत समर्थन नीति ने भी बीजों के प्रयोग में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

वास्तव में गेहूँ उत्पादन देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन को स्थायित्व प्रदान करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया है। अब पश्चिम बंगाल, महाराष्ट्र, असम, पूर्वी बिहार और उड़ीसा जैसे गैर-पारम्परिक क्षेत्रों में भी गेहूँ का उत्पादन होने लगा है। अधिक उपज की किस्मों के अधीन धान की खेती ने भी उन्नति की है। लेकिन उतनी नहीं जितनी की गेहूँ की खेती ने। यह इस कारण से है क्योंकि यह वर्षा पर निर्भर है और खरीफ के मौसम में उगाई जाती है जब मानसून अनिश्चित रहता है, जिससे या तो सूखा पड़ जाता है या फिर बाढ़ आ जाती है। इस फसल को जीव भी अधिक नष्ट करते हैं और इसमें बीमारी होने की संभावना भी अधिक रहती है। लेकिन रबी के मौसम में (यानि सर्दी में) जब वर्षा कम होती है और जल का प्रबंध से बेहतर परिणाम प्राप्त हुए है। अधिक उपज की किस्मों के कारण अब चावल के गैर-पारम्परिक क्षेत्रों, जैसे पंजाब, हरियाणा

तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भी तेजगति से उत्पादन हो रहा है। स्थानीय उपभोग सीमित होने के कारण इसका केन्द्र द्वारा सरकारी खरीद में भी अच्छा अनुपात है।

14.4.2 सिंचाई तथा जल प्रयोग

पौधों के बढ़ने के लिए पानी एक अत्यावश्यक आगत है। भारत में जल का एक मुख्य स्रोत वर्षा है। औसत वार्षिक वर्षा लगभग 1200 मिलिमीटर है लेकिन यह मौसमी है तथा इसका भौगोलिक वितरण असमान है। देश के कुछ क्षेत्रों में, जैसे कि पश्चिमी राजस्थान में, वर्षा 200 मिलिमीटर से भी कम है। अन्यों में, जबकि दक्षिण-पश्चिम भारत और असम के कुछ भागों में, यह 4000 मिलिमीटर तक है। भारत के कई प्रदेशों में 75 प्रतिशत वर्षा दक्षिण पश्चिम मानसून से मिलती है जो कि जून से सितम्बर चार महीने रहती है। भारत के बहुत कम प्रदेशों में सर्दी और गर्मी के मौसमों में वर्षा होती है। शुद्ध बोया क्षेत्र का लगभग 34 प्रतिशत कम वर्षा वाले इलाकों में है जहाँ वार्षिक वर्षण 750 मिलिमीटर से कम रहता है। 36 प्रतिशत क्षेत्र में 750 से 1150 मिलिमीटर तक वर्षा होती है। बाकी 30 प्रतिशत शुद्ध बोया क्षेत्र को अच्छी वर्षा का लाभ मिलता है जहाँ 1150 मिलिमीटर से अधिक वर्षा होती है। वर्षा ऋतु में वर्षा न होने, या देर से होने या फिर जल्दी समाप्त हो जाने से फसलों में अनिश्चितता की स्थिति हो जाती है। इस अनिश्चित वर्षा के कारण खरीफ के मौसम में पानी की कमी को पूरा करने के लिए, कम वर्षा या अधिक वर्षा वाले सभी क्षेत्रों में सिंचाई व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

भारतीय कृषि में सिंचाई का बहुत महत्त्व है। इसका महत्त्व केवल अच्छी फसल के लिए ही नहीं देश के खाद्य उत्पादन में वृद्धि लाने में भी है। सिंचाई सुविधाओं द्वारा सारा साल पानी उपलब्ध करवाकर दोहरी फसल उगा सकते हैं और वर्षा की अनिश्चितता से बच सकते हैं। देश के खेती के अधीन अतिरिक्त भूमि लाने के अवसर कम हैं। ऐसे में सिंचाई सुविधाएँ गहन खेती के माध्यम से अतिरिक्त भूमि का उपयोग कर सकती हैं। गहन खेती और भूमि की उत्पादिता में वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्न व कृषि में वृद्धि ला सकती है।

भारत की अधिकतर सफल हरित क्रांति क्षेत्र, क्रांति से पूर्व की अवधि में अपने विकसित नहर सिंचाई प्रणाली के लिए प्रसिद्ध थे। खेती में नई किस्मों का प्रयोग करने के लिए सुनिश्चित जल आपूर्ति आवश्यक है चाहे ये भारी वर्षा वाले क्षेत्र ही हों, जैसे कि दक्षिण भारत के डेल्टा क्षेत्र। बौने आकार की नई किस्में बाढ़ वाले निचले क्षेत्रों में नहीं लाई जा सकती जहाँ परम्परागत ऊँचे आकार की किस्में जल से भरे खेतों में लगाई जाती रही है। फिर भी इस बात के प्रयत्न जारी है अधिक उपज वाली किस्मों का उपयोग गहरे पानी में किया जा सके। 1972 के सिंचाई आयोग के अनुसार, शुद्ध सिंचित क्षेत्र जोकि 1934-35 को समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में बढ़कर 194 लाख हेक्टेयर हो गया यानि 13.5 प्रतिशत बढ़ा। इसी अवधि में सरकारी नहरों द्वारा सिंचित क्षेत्र 28 प्रतिशत और कुओं से सिंचित क्षेत्र 10.4 प्रतिशत बढ़ा।

तालिका 2 : भूमि उपयोग वर्गीकरण के कुछ वर्ग

वर्ष	शुद्ध बोया क्षेत्र (लाख हेक्टेयर)	शुद्ध सिंचित क्षेत्र (लाख हेक्टेयर)	सिंचित शुद्ध बोया क्षेत्र का प्रतिशत	सकल बोया क्षेत्र का प्रतिशत	सकल सिंचित क्षेत्र (लाख हेक्टेयर)	सिंचित सकल क्षेत्र का प्रतिशत	फसल गहनता
1950-51	1187.5	208.5	17.56	1318.9	225.6	17.11	111
1955-56	1299.6	227.6	17.62	1473.1	256.4	17.41	114
1960-61	1332.0	246.6	18.51	1527.7	279.8	18.32	114
1965-66	1362.0	263.4	19.34	1552.8	309.0	19.90	114
1970-71	1402.7	311.0	22.17	1657.9	381.2	23.04	118
1980-81	1400.0	387.2	27.66	1726.3	497.8	28.84	123
1990-91	1422.5	477.8	33.59	1859.1	624.7	23.60	130

स्रोत : Indian Agriculture in brief.

योजना काल के प्रारंभ में अधिक से अधिक क्षेत्र सिंचाई के अधीन लाने पर ज़ोर दिया गया। 1990-91 तक शुद्ध सिंचित क्षेत्र बढ़कर 477.8 लाख हेक्टेयर हो गया था जोकि 1950-51 में 208.5 लाख हेक्टेयर था। हरित क्रांति के बाद की अवधि में यह 2.41 प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ी दर भी हरित क्रांति से पूर्व की अवधि में यह वृद्धि-दर 1.57 प्रतिशत थी। सकल सिंचित क्षेत्र की वृद्धि-दर भी हरित क्रांति के बाद ही अवधि में अधिक थी। इससे यह अर्थ निकलता है कि हरित क्रांति के बाद की अवधि में उपलब्ध सिंचाई सुविधाओं का गहन उपयोग किया गया।

दूसरी ओर, क्रांति से पूर्व की अवधि यानि 1950-51 से 1965-66 शुद्ध सिंचित क्षेत्र का शुद्ध बोया क्षेत्र अनुपात मंदगति से बढ़ा और 17.56 प्रतिशत से बढ़कर 19.34 प्रतिशत हो गया। सकल सिंचित क्षेत्र का सकल बोया क्षेत्र से यह अनुपात 17.11 प्रतिशत से बढ़कर 19.9 प्रतिशत हो गया। क्रांति से बाद की अवधि में ये दरें तेज गति से बढ़ीं। ऐसा सकल गहनता से भी पता चलता है जोकि 1950-51 में 111.1 से बढ़कर 1990-91 में 130.79 हो गई।

प्रारंभ में शुद्ध सिंचित क्षेत्र में वृद्धि नहरों और कुँओं के माध्यम से थी। तालिका 3 के अनुसार, इन दो साधनों से सिंचित क्षेत्र का प्रतिशत 1950-51 में 68.5 था जो 1960-61 तक बढ़कर 71.1 प्रतिशत हो गया। 1960 के दशक के मध्य से ट्यूबवैल द्वारा सिंचाई तेजी से बढ़ी। इसका अर्थ है कि सिंचाई की गुणवत्ता में सुधार आया है और हरित क्रांति के बाद की अवधि में यह अधिक सुनिश्चित हो गई है।

तालिका 3 : स्त्रोतों के अनुसार सिंचित क्षेत्र

(हजार हैक्टर में)

स्त्रोत	1950-51	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91
नहरें	8295(39.8)	10370(42.1)	12838(41.3)	15292(39.5)	16900(35.7)
तालाब	3613(17.3)	4561(18.5)	4112(13.2)	3182(8.2)	3245(6.2)
ट्यूबवैल	*(a)*	135(0.6)	4461(14.3)	9531(24.6)	142111(29.9)
अन्य कुँए	5978(28.7)	7155(29.0)	7426(23.9)	8164(21.1)	9999(21.1)
अन्य स्त्रोत	296(14.2)	2440(9.8)	2266(7.3)	2551(6.6)	3079(6.5)
कुल शुद्ध सिंचित क्षेत्र	20853 (100.00)	24661 (100.00)	31103 (100.00)	38720 (100.00)	47434 (100.00)

(कोष्ठक में दिए गए अंक प्रतिशत है)

(a) अलग आँकड़े ने मिलने के कारण 'अन्य कुँए' में शामिल

स्त्रोत : Indian Agriculture in brief, 25th Ed., कृषि मंत्रालय भारत सरकार।

14.4.3 रासायनिक उर्वरक

तेजी से बढ़ती जनसंख्या और ग़ैर कृषि कार्यों के लिए भूमि की बढ़ती हुई माँग से भूमि पर दबाव बढ़ता जा रहा है। ऐसे में आवश्यक है कि मुख्य बल प्रति हेक्टेयर उत्पादिता बढ़ाने और गहन खेती पर हो। शुद्ध बोया क्षेत्र लोचहीन रहा है और 1970-71 से 1992-93 में इससे कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई है। 1970-71 में यह 1402.7 लाख हेक्टेयर था जोकि 1992-93 तक यह 1425.01 लाख हेक्टेयर हुआ। यह वृद्धि बहुत मामूली यानि 0.07 प्रतिशत प्रतिवर्ष था। कृषि उत्पादन में वृद्धि लाने के लिए पौधे के पोषक के रूप में रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग आवश्यक है। भूमि-मानव अनुपात निरंतर घटने के कारण भूमि की उत्पादिता में वृद्धि लाना आवश्यक है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उर्वरक एक महत्त्वपूर्ण आगत है। उर्वरक की मात्रा फसल के प्रकार, की उपलब्धता तथा खेती के प्रबंध की विधियों पर निर्भर रहती है। यह हम पहले ही बता चुके हैं। उर्वरक प्रयोग करने पर नई किस्में अच्छा परिणाम देती है। पारम्परिक किस्मों के साथ उर्वरक का अधिक प्रयोग केवल परिणाम किस्मों के साथ उर्वरक का अधिक प्रयोग केवल सीमित परिणाम देता है। नई किस्मों के साथ उर्वरक का प्रयोग उपज बढ़ाने में बहुत सहायक है। अत: नई किस्मों पर प्रौद्योगिकी की सफलता के लिए उर्वरक की उचित मात्रा में आपूर्ति एक आवश्यक शर्त है।

प्रारंभ के लिए भारत में उर्वरक का उपभोग का स्तर काफी नीचा था। यह एक किलोग्राम प्रति हेक्टेयर से भी कम था। 1960-61 तक यह थोड़ा-सा बढ़कर 1.90 किलोग्राम हो गया। लेकिन बीजों की अधिक उपज वाली किस्मों के आने से इसका उपभोग में अचानक तेजी आ गई। 1970-71 में उर्वरक का उपभोग बढ़कर 13.3 किलोग्राम हो गया। ऐसा बीजों की अधिक उपजवाली किस्मों के आने से हुआ। 1980-81 तक यह बढ़कर 31.83 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गया। 1994-95 तक यह 74.5 किलोग्राम तक पहुँच गया। लेकिन भारत की तुलना में अन्य ऐशियाई देशों, जैसे कोरिया और जापान, में यह क्रमश: 399.7 किलोग्राम है।

नाइट्रोजन उर्वरक का घरेलू उत्पादन 1960-61 में 98 हजार टन से बढ़कर 1945-95 में 10438 हजार टन हो गया। लेकिन भारतीय किसान उर्वरक के लिए अभी आयात पर भारी निर्भर है। उर्वरक के आयात निरंतर बढ़ते रहे हैं और इस समय ये 29.65 लाख टन के स्तर पर है जोकि कुल उपभोग का 22 प्रतिशत है।

1960 के दशक के मध्य से कृषि के उत्पादन और उत्पादिता में भारी वृद्धि अधिक उपज वाली किस्मों के साथ उर्वरक के बढ़ते उपयोग के कारण प्राप्त हुई। उर्वरक के साथ बेहतर बीजों का और सिंचाई का प्रयोग सफलता की कुंजी है। हालाँकि योजनाकाल के प्रारंभ से ही उर्वरकों के महत्त्व का पता था। लेकिन इसका अधिक उपभोग नई कृषि प्रौद्योगिकी के आने से ही हुआ जिसमें ग़ैर-पारम्परिक आगतों की आवश्यकता थी।

उर्वरक उपभोग में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन और वितरण संबंधी बुनियादी सुविधाओं को भी मजबूती देना आवश्यक है ताकि सही प्रकार के उर्वरक किसान को सही समय पर, सही स्थान पर और सही कीमत पर मिल सकें। इसके साथ-साथ किसानों को विस्तार समर्थन देना और अन्य आगतों जैसे सिंचाई, ऋण, बढ़िया बीज उपलब्ध करवाना भी आवश्यक है।

14.4.4 यंत्रीकरण

समय के साथ-साथ जब शक्ति के जैविक स्रोत मशीनी स्रोत की अपेक्षा महँगे होने लगते हैं तो यंत्रीकरण को बढ़ावा मिलता है। इसका एक कारण तो यह है कि जब प्रौद्योगिकी में परिवर्तन आता है तो इससे श्रम की बचत होती है और कृषि में श्रम के स्थान पर पूँजी का प्रयोग में लाना आसान रहता है। साथ-साथ जब किसान की आय बढ़ने लगती है तो उसे शारीरिक परिश्रम नीरस लगने लगता है। यंत्रीकरण से किसान को काफी खाली समय मिल सकता है और काम करने से उसका मन भी लग सकता है। वे भी अब खेती करने को तैयार हो सकते हैं जो शारीरिक परिश्रम की नीरसता से बचना चाहते हैं। हनुमन्त राव के अनुसार यदि खाद्य आपूर्ति अनिवार्यताओं के अतिरिक्त मशीनें, विशेषता ट्रेक्टर, किसान की प्रतिष्ठा में भी वृद्धि लाती हैं।

जीवरासायनी नवप्रर्वतन (Innovations) मशीनी नवप्रर्वतनों के सहायता से और प्रभावशाली हो जाते है। बीजों की अधिक उपज वाली किस्मों को सिंचाई की भारी व नियंत्रित मात्रा की आवश्यकता होती है। क्योंकि अधिक उपजवाली किस्मों की फसल जल्दी पक जाती है, तो फसल काटने की और अगली फसल बोने की तैयारी समय सारणी के अनुसार पूरी करनी पड़ती है। अत: समय पर विभिन्न खेती प्रक्रियाओं को पूरा करने में बहुत सहायक होते हैं और ये फसल की गहनता में वृद्धि लाते हैं।

तालिका 4 : कुछ कृषि उपकरणों व मशीनों की संख्या (हजारों में)

मदें	1966	1987
1. हल (लकड़ी के व लोहे के)	43446	51888
2. डीजल एंजिन (पम्पसेट)	471	116666
3. सिंचाई के लिए प्रयुक्त बिजली के पम्प	415	4518
4. कृषि के लिए प्रयुक्त ट्रेक्टर	54	738
5. थ्रेशर (Threshers)	349	515
6. गन्ना कोल्हू/ पशु-गाड़ी	695	748

स्रोत : *(Livestock Census - 1966, 1987)*

1966 से तालिका 4 से भारतीय कृषि में 1966 से यंत्रीकरण के आँकड़े दिए गए हैं। नई प्रौद्योगिकी अपनाने के समय 1966 में यंत्रीकरण बहुत कम था। लेकिन इसके बाद से यंत्रीकरण की गति तेज़ी से बढ़ने लगी। खेत की सिंचाई के लिए एंजिन से चलने वाले पम्पसेट व बिजली के पम्पसेट, चार पहियों वाले ट्रेक्टर, थ्रेशर आदि प्रयोग में आने लगे। बिजली के पम्पसेट की संख्या 1966 में 415 हजार से बढ़कर 1987 में 4518 हजार हो गई यानि लगभग 10 गुना बढ़ी।

नई किस्मों के आने के साथ देश में ट्रेक्टरों के उपयोग में वृद्धि के पीछे कई कारक थे। पूर्तिपक्ष पर चीज़ों की अधिक उपज वाली किस्में प्रयोग आने लगी थी। साथ-साथ ऋण नीति भी उदार कर दी गई थी जिससे कृषि खरीदना आसान हो गया था।

लेकिन केवल आसान ऋण के कारण ही ट्रेक्टरों के उपयोग में वृद्धि नहीं हुई। 1970 तक केवल 10 प्रतिशत ट्रेक्टर संस्थानिक ऋण के द्वारा खरीदे गए थे। ये अधिकतर निजी स्रोतों से प्राप्त वित्त से खरीदे गए थे। इसके अतिरिक्त लाभ में से आया था। एक और महत्त्वपूर्ण कारक था सरकार द्वारा ट्रेक्टरों के आपात को उदार बनाना और घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहन देना। देश में 1966 में ट्रेक्टर की संख्या 54 हजार से बढ़कर 1987 में 738 हजार हो गई। यानि यह हरित क्रांति की बाद की अवधि में लगभग 14 गुना बढ़ी।

माँग पक्ष पर, ट्रेक्टर तीन प्रकार के कार्यों के लिए प्रयोग में आता है, जुताई, गुढ़ाई और परिवहन के लिए। इन सभी कार्यों में ट्रेक्टर ने बैल शक्ति और मानय श्रम का स्थान लिया है। बैल एक ग्रामीण परिवार के बहुत सारे काम करता है। यह जुताई, गुढ़ाई और ढुलाई करता है, पानी निकालता है और साथ-साथ खाद का साधन भी है। लेकिन ट्रेक्टर का लाभ यह है कि इससे समय की बचत होती है और विशेष कृषि कार्य समय पर पूरा किया जा सकता है। नए बीजों के प्रयोग में समय पर जुताई करने की आवश्यकता अधिक होती है। ऐसे में बैलों की बजाय ट्रेक्टर अधिक विश्वसनीय होते हैं। उर्वरक, बीज, फसल, उत्पादन और लोगों के परिवहन में भी बहुत प्रयोग में आता है।

बोध प्रश्न 2

1) अधिक उपज वाली किस्मों के आने के समय भारत में खाद्य स्थिति का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) उत्पादन में वृद्धि लाने हेतु चौथी योजना में कौन-सी नई रणनीति अपनाई गई थी। (तीन वाक्यों में)

.....

.....

.....

.....

.....

3) नवीन प्रौद्योगिकी की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4) सही के लिए 'स' और गलत के लिए 'ग' लिखिए।

i) 1960 के दशक के मध्य तक क्षेत्र का विस्तार करके उत्पादन बढ़ाने की संभावनाएँ समाप्त हो गई थी। ( )

ii) कृषि का यंत्रीकरण अधिक उपज वाली किस्मों की प्रौद्योगिकी की मुख्य विशेषता थी। ( )

iii) अधिक उपज वाली किस्मों की सफलता की कहानी केवल चावल और गेहूँ तक ही सीमित थी। ( )

iv) भारत में प्रति हेक्टेयर उर्वरक उपभोग कोरिया (DPR) तथा जापान की तुलना में अधिक है। ( )

v) सिंचाई अधिक उपजवाली किस्मों की प्रौद्योगिकी को लागू करने की पहली शर्त है। ( )

14.5 सारांश

आज़ादी के समय भारतीय कृषि में गरीब किसानों और भूमिहीन श्रमिकों की प्रधानता थी। खेती क्षेत्र का एक बड़ा प्रतिशत धनी किसानों तथा भूस्वामी महाजनों के छोटे से वर्ग के पास था। उत्पादन स्वरूप पुराना था। कृषिक संबंध सामंती या सामंती प्रकार के थे। ऊँचे किरायों, काश्तकारी असुरक्षा, जबरन श्रम, सूदखोरी आदि द्वारा किसानों का शोषण होता था। इससे किसान कंगाल हो गया था और कृषि उत्पादन गतिहीन हो गया था। इसलिए आज़ादी के तुरंत बाद कृषिक सुधार प्रारंभ हो गए।

ये सुधार मध्यस्थों के उन्मूलन, भूमि की उच्चतम सीमा के निर्धारण द्वारा भूमि का पुनर्वितरण, काश्तकारी सुरक्षा और खेतों की चकबंदी के रूप में थे। मध्यस्थों के उन्मूलन के रूप में कृषिक सुधार भूमि प्रश्न को हल करने में असफल रहे। मध्यस्थों के उन्मूलन का भूमि स्वामित्व में असमानताओं और बटाईदार भूमिहीन मज़दूरों की स्थिति पर कोई प्रभाव न पड़ा। फिर भी इससे दखली काश्तकारों को स्थायी, वंशागत व हस्तांतरण अधिकार प्राप्त करने में सहायता मिली। काश्तकारों सुधारों का यह मुख्य उद्देश्य कि काश्तकारों को भूमि का स्वामी बनाया जाए पास नहीं हो सका। ऐसा अब स्पष्ट है कि यदि उच्चतम सीमा निर्धारण कानूनों का उद्देश्य भूमि का पुनर्वितरण था तो यह बिल्कुल भी पूरा नहीं हो पाया।

अधिक उपजवाली किस्मों के आने से पहले भारत की खाद्य स्थिति काफी गंभीर थी। विश्व में खाद्यान्न की कमी वाली देशों की बढ़ती माँग के कारण विश्व आपूर्ति अनिश्चित हो गई थी और खाद्यान्न आयात की संभावना भी लगभग समाप्त हो रही थी। खाद्यान्न के अधीन क्षेत्र के विस्तार द्वारा उत्पादन बढ़ाने की संभावना भी समाप्त हो रही थी। केवल एक ही विकल्प बचा था उत्पादिता में वृद्धि लाना।

ठीक इसी समय गेहूँ और चावल की ऐसी उन्नत किस्में उपलब्ध होने लगीं जिनपर उर्वरक और सिंचाई का अच्छा प्रभाव पड़ता है। इनके प्रयोग से गेहूँ और चावल के उत्पादन और उत्पादिता में असाधारण वृद्धि हुई। बीजों की अधिक उपजवाली किस्मों के अधीन क्षेत्र के विस्तार के साथ-साथ तकनीकी आगतों का भी प्रयोग बढ़ा। इस प्रौद्योगिकी की सफलता की पहली शर्त यह है कि उर्वरक आपूर्ति उपयुक्त हो। सुनिश्चित ट्यूबवैल सिंचाई द्वारा सारा वर्ष पानी उपलब्ध होने से अधिक उपज वाली किस्मों की फसलों की उत्पादिता बढ़ी और कम्बाइन हारवेस्टर, ने बैल शक्ति और मानव श्रम का स्थान ले लिया। इसका लाभ यह था कि कृषि प्रक्रियाएँ समय पर पूरी की जा सकती थी। इससे एक ओर तो फसल गहनता बढ़ी तथा दूसरी और उत्पादिता बढ़ी।

14.6 शब्दावली

भू-सम्पदा संबंधी सुधार : इसका तात्पर्य मध्यस्थों के उन्मूलन, भूमि-स्वामित्व की उच्चतम सीमा निर्धारण के माध्यम से भूमि का साम्य वितरण एवं पट्टेदारी की सुरक्षा से है।

सामन्तिक कृषि संबंध : वह कृषि प्रणाली जिसमें किसानों का शोषण, पट्टेदारी की असुरक्षा, ऊँची ऋण-दर इत्यादि के ज़रिए, जिसका नतीजा होता है : किसानों की गरीबी और कृषि उत्पादन में निष्प्रवाहता।

मध्यस्थों का उन्मूलन : ज़मीदारी का उन्मूलन क्योंकि वे किसानों का शोषण करते थे और सरकार और किसानों में प्रत्यक्ष संबंध की स्थापना।

काश्तकारी सुधार : इसका अर्थ है पट्टेदारी की व्यवस्था में सुधार। इसमें शामिल हैं : (क) पट्टेदारी की सुरक्षा, (ख) किराया का नियंत्रण तथा, (ग) स्वामित्व प्रदान करना।

भूमि-स्वामित्व की उच्चतम सीमा : यह एक नीति है जिसका उद्देश्य है भूमि का समान वितरण। इससे भूमिहीन कृषि श्रमिक तथा सीमांत किसानों में भूमि का पुनः वितरण किया जाता है।

14.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Khusro, A.M. (1973), *Economics of Land Reform and Farm Size in India*, Macmillan, Delhi.

Joshi P.C. (1976), *Land Reforms in India, Trends and Perspectives*, Allied, Delhi.

Rao C.H.H. (1975), *Technological Change and the Distribution of Gains in Indian Agriculture,* Macmillan, Delhi.

Rao C.H.H. (1994), *Agricultural Growth, Rural Poverty and Environment Degradation in India*, Oxford University Press, Delhi.

Sharma, R.K. (1992), *Technical Change, Income Distribution and Rural Poverty: A Case Study of Haryana.*

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

14.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए भाग 14.2 देखें।

2) उत्तर के लिए भाग 14.3 देखें।

3) उत्तर के लिए उप-भाग 14.3.1 देखें।

4) (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) सही (v) सही

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए भाग 14.4 देखें।

2) उत्तर के लिए भाग 14.4 देखें।

3) (i) सही (ii) सही (iii) सही (iv) सही

इकाई 15 ग़ैर-फार्म सेवाएँ

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 कृषि के विकास में ऋण की भूमिका

- 15.2.1 ऋण का महत्त्व
- 15.2.2 पारम्परिक कृषि में ऋण की भूमिका
- 15.2.3 आधुनिक कृषि में ऋण की भूमिका

15.3 कृषि विकास में विपणन की भूमिका

- 15.3.1 विपणन कुशलता
- 15.3.2 भण्डारण तथा संग्रह

15.4 कृषि मूल्य नीति

- 15.4.1 कृषि मूल्यों के कार्य
- 15.4.2 भारत में कृषि मूल्य नीति का विकास
- 15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली
- 15.4.4 सार्वजनिक वितरण में प्रवृत्तियाँ

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

15.0 उद्देश्य

इस इकाई ग़ैर-फार्म सेवाओं, जैसे कृषि ऋण, विपणन एवं भण्डारण तथा कृषि मूल्य नीति और साथ-साथ सार्वजनिक वितरण प्रणाली की खाद्यान्न उत्पादन और वितरण में भूमिका बताई गई है। इसमें विद्यार्थी निम्नलिखित बातें समझ सकेंगे:

- कृषि उत्पादन बढ़ाने में सांस्थानिक ऋण भूमिका;
- कृषि उत्पादों के उत्पादन और वितरण में बाज़ार की भूमिका;
- खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि में मूल्य नीति की भूमिका; तथा
- गरीबों को अनाज उपलब्ध कराने में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भूमिका।

15.1 प्रस्तावना

कृषि के विकास के लिए न केवल निवेश में वृद्धि पर्याप्त बाज़ार का उपलब्ध होना आवश्यक है बल्कि सांस्थानिक परिवर्तन की जटिल पद्धति, आर्थिक और सामाजिक शक्ति का नए प्रकार से वितरण तथा सरकार की नीति, जिससे आर्थिक विकास के लाभ का सही प्रकार से लोगों में वितरण हो, इनका होना भी आवश्यक है। भूमि सुधार का सटीक अर्थ है वह नीतियाँ जिससे भूमि का वितरण छोटे व लघु किसानों के पक्ष में हो। भूमि सुधार एक आधुनिक प्रक्रिया नहीं है। एक तरह से, पारम्परिक अर्थ से समानता तथा सामाजिक न्याय की प्रतिक्रिया में भूमि सुधार होता आया है।

15.2 कृषि विकास में ऋण की भूमिका

15.2.1 ऋण का महत्त्व

यह सर्वमान्य बात है कि किसी भी उद्योग की तरह कृषि को बने रहने के लिए ऋण की आवश्यकता होती है। इसकी राशि और अवधि इस बात पर निर्भर होती है कि उत्पादन कार्य नहीं चला सकता। किसान की गरीबी और ऋणग्रस्तता इस बात के प्रमाण हैं। यह वित्तीय साधनों और फार्म प्रबंध कौशल एक साथ जाकर ऋण देने वाले और लेने वाले दोनों को लाभ पहुँचता है। लेकिन दुर्भाग्यवश इसका प्रयोग कई बार ऐसे होता है जिससे एक या दोनों को हानि हो सकती है।

कृषि उत्पादन बढ़ाने में ऋण की भूमिका एक विवाद का विषय नहीं है। कृषि उत्पादन और विपणन की आवश्यकताओं के कारण कृषि के विकास में ऋण की भूमिका अब तक सीमित रही है।

15.2.2 पारम्परिक कृषि में ऋण की भूमिका

आज़ादी के समय भारतीय कृषि की जो स्थिति थी उसे पारम्परिक कृषि कहा जा सकता है। निर्वाह खेती (Subsistence farming) इस कृषि की विशेषता है और इसके उत्पादन को अधिकतर भाग किसान परिवार अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ही रख लेता है। सारे किसानों की शक्ति केवल अनाज का उत्पादन करने में ही लग जाती है। बाज़ार के लिए बहुत कम अनाज बचता है। किसान को बाज़ार की आदत नहीं होती इसलिए यह नगद फसलें (Cash Crops) उगाने में कतराता है।

जो कृषि के अल्पविकास में सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों का हाथ मानते हैं, उनका विचार है कि कृषि ऋण का विस्तार हमेशा उसके अनुरूप कृषि उत्पादन में परिवर्तन नहीं ला पाता। कृषि विकास के प्रारंभिक चरणों में 'ऋण प्राय: हेतू ही लिया जाता है। इसके लिए कई कारक ज़िम्मेदार हैं : निर्वाह खेती, भोजन का सुरक्षित भण्डार न होना, अपव्यय, फसल खराब हो जाना व अन्य विपदाएँ, जनसंख्या में तेज़ी से वृद्धि, ग्रामीण जीवन के पारम्परिक रीति रिवाज़, जिनमें धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों पर भारी व्यय होना आदि।

पारम्परिक खेती में पारिवारिक और खेती के खर्चों को अलग-अलग करना मुश्किल होता है। इसी तरह उपभोग के लिए ऋण और उत्पादन के लिए ऋण में अंतर करना मुश्किल होता है। अत: विकास में प्रारम्भिक चरणों में कृषि उत्पादन बढ़ाने में पूँजी लगाने की संभावनाएँ कम रहती हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लेकिन यह कहना गलत होगा कि भारत की पारम्परिक खेती में ऋण की कोई आवश्यकता ही नहीं होती थी। किसान अपने साधनों से पूँजी जुटाने की कोशिश करते हैं। गरीबी और सांस्कृतिक कारणों से उसकी अपनी बचत बहुत कम होती है। उन्हें बाहरी साधनों पर निर्भर रहना ही पड़ता है। सांस्थानिक साधनों के होने से ये महाजनों के चंगुल में फँस जाते हैं। महाजन उन्हें बहुत ऊँचे ब्याज पर उधार देते हैं। उन्हें यह भी पता होता है कि ये किसान कभी भी उधार नहीं चुका पाएँगे। कभी अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण समिति के अनुसार यदि कभी-कभी ऋण घातक भी होता है लेकिन इसके बिना किसानों का गुजारा भी नहीं होता। सभी प्रकार के वित्त में कृषि ऋण का स्वरूप सबसे कम सांस्थानिक होता है लेकिन इसका फैलाव सबसे अधिक होता है।

भारतीय किसानों द्वारा उधार लेना कोई गलत बात नहीं है लेकिन इसके लिए ज़मीदार-महाजन-व्यापारी के दिये ऋण पर ब्याज का दर अत्यधिक होने से और किसानों द्वारा उपभोग पर इसे खर्च करने से गरीबी बढ़ती है और साथ-साथ भारतीय कृषि की दशा भी खराब होती है। महाजनों से उधार लेने के सामान्य दुष्परिणाम ये हैं :

1) पैसा देते समय महाजन पूरे वर्ष का ब्याज पहले ही काट लेता है और उधार लेने वाले से यह हस्ताक्षर करा लेता है कि पूरा मूल ले लिया है।

2) कुछ महाजन उधार देने से पहले कोरे कागज़ पर दस्तखत या अँगूठा लगवा लेते हैं और बाद में उस कागज़ पर अधिक रकम भर लेते हैं।

3) अपने खातों में हेराफेरी करना महाजनों के लिए आम बात है। वे कई बार जानबूझ कर ब्याज या मूल प्राप्त करने की रसीद भी नहीं देते या फिर अपने खातो में इसको नहीं चढ़ाते। अत: इनके चंगुल में एक बार फँसने के बाद बच निकलना कठिन हो जाता है।

4) महाजन ब्याज की ऊँची दर तो वसूल करते हैं साथ-साथ हेरा-फेरी भी करते हैं।

5) उधार लेने वालों को उधार मिलने से पहले महाजनों को बहुत से भुगतान करने पड़ते हैं जैसे गिरह खुलाई, कटौती, बटावन आदि।

6) महाजन बिक्री दस्तावेज़ भी ले लेते हैं। यदि ऋण लेने वाला उधार व चुका पाए तो वे इनका प्रयोग करते हैं।

उपरोक्त बातों ने सरकार को इनके बारे में कानून लाने, महाजनों को इस व्यवसाय और किसान को इनके चंगुल से छुड़ाने के लिए मजबूर किया। इस बात को महसूस किया गया कि इन ग़ैर-सांस्थानिक साधनों के स्थान पर सांस्थानिक साधन अत्यंत आवश्यक है।

15.2.3 आधुनिक कृषि में ऋण की भूमिका

आधुनिक कृषि में किसान एक साहसी की भूमिका निभाता है और दृष्टिकोण एक उद्योगपति से कोई विशेष भिन्न नहीं होता। कृषि पूरी तरह व्यापारिक बन जाती है। किसान लाभ उद्देश्य से प्रेरित रहता है और बाज़ार के लिए उत्पादन करता है।

कृषि में प्रयोग में आने वाली नई प्रौद्योगिकी के दो पहलू हैं, एक शक्ति के जैविक साधनों पर और दूसरा मशीनी साधनों पर निर्भर है। जीव रसायन प्रौद्योगिकी भूमि में वृद्धि लाने वाली और श्रम को लगाने वाली होती है। इसमें पारम्परिक औज़ार, मानव और पशु श्रम का प्रयोग होता है, लेकिन साथ-साथ सिंचाई, उर्वरक और बीजों की अधिक उपज की किस्मों का भी काफी प्रयोग होता है। यांत्रिकी प्रौद्योगिकी में मानव और पशु श्रम के स्थान पर मशीनों का, जैसे ट्रेक्टर, थ्रेशर, हार्वेस्ट कम्बाइन आदि का प्रयोग होता है। यह प्रौद्योगिकी श्रम को हटाने वाली प्रौद्योगिकी होती है।

ऋण को आधुनिक बनाने व इसकी उत्पादिता बढ़ाने में सक्रिय भूमिका होगी। कृषि ऋण सक्रिय भूमिका निभाता है, जबकि इसका एक बड़ा भाग नई प्रौद्योगिकी निभाता है, यहाँ हमें इस तथ्य को याद रखना चाहिए कृषि कारकों में से केवल एक कारक है लेकिन फिर भी सांस्थानिक ऋण नई प्रौद्योगिकी के संदर्भ में सकारात्मक भूमिका निभाता है क्योंकि इसमें किसानों पर ब्याज का बोझ कम पड़ता है। यह भूमि उत्पादिता बढ़ाने का भी साधन बन सकता है। इसके अतिरिक्त सांस्थानिक ऋण महाजन-व्यापारियों की तरह किसानों का शोषण नहीं करता।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

सांस्थानिक एजेंसियाँ वे संस्थाएँ कहलाती हैं जिनकी ऋण देने की शर्तें सरकारी नियंत्रण के अधीन निर्धारित होती है। ये संस्थाएँ सरकार के सीधे नियंत्रण में होती हैं और राष्ट्रीय योजना और विकास की प्रक्रिया के अनुसार अपनी नीति की रूपरेखा बनाती है।

प्रौद्योगिकी परिवर्तनों के साथ कृषि उत्पादन में पूँजी का महत्त्व बढ़ा है, विशेषतया जहाँ अधिक उपज वाली किस्मों का प्रयोग हो रहा है और जहाँ गहन विकास कार्यक्रम चल रहे हैं। परिणामस्वरूप, उर्वरक जीवनाशक दवाइयाँ, सिंचाई संबंधी बुनियादी सुविधाएँ कृषि मशीनें व उपकरण आदि की माँग निरंतर बढ़ रही है। किसान इन आगतों पर पहले से अधिक व्यय कर रहें हैं। कृषि में पूँजी की सीमांत मूल्य उत्पादिता बढ़ने से किसान अब ऋणों, यानि बाहरी साधनों पर, अधिक निर्भर रहने लगे हैं। इसने कृषि ऋण की समस्या को नया आयाम दिया है।

ग़ैर-सांस्थानिक एजेंसियों की अपेक्षा सांस्थानिक एजेंसियाँ इन सामाजिक आवश्यकताओं को समझने और इनके अनुसार काम करने के बेहतर स्थिति में है। तालिका-1 से पता चलता है कि संस्थागत ऋण में सहकारी ऋण समितियों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अखिल भारतीय ग्रामीण ऋण समीक्षा कमेटी ने इस बात की समीक्षा की थी कि ये समितियाँ किस सीमा तक ऋण की माँग को पूरा कर सकती हैं। लेकिन यह जानकर कि ऋण की बढ़ती हुई माँग को ये समितियाँ पूरा नहीं कर पा रही हैं, कमेटी ने यह उचित समझा कि भारतीय स्टेट बैंक सहित वाणिज्य बैंकों को कृषि ऋण के दायरे में लाना आवश्यक है। इससे कृषि ऋण में एक से अधिक संस्थानिक एजेंसियाँ आ गई।

जुलाई 1969 में 14 प्रमुख वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ। 1980 में और 6 बैंकों का राष्ट्रीयकरण हुआ। इससे ये बैंक ऋषि के प्रति अधिक ज़िम्मेदार हो गए। इन्होंने ग्रामीण क्षेत्रों में बड़ी संख्या में शाखाएँ खोलीं और

ऋण दिये। लेकिन ये भी कृषि की आवश्यकताओं को संतोषजनक ढंग से पूरा न कर सके। परिणाम स्वरूप कमी पूरी करने के लिए एक और नई एजेंसी क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक स्थापित किए गए।

15.3 कृषि विकास में विपणन की भूमिका

पारम्परिक कृषिक समाज में गाँव के स्तर पर व व्यक्तिगत परिवार के स्तर पर आत्म निर्भरता होती है। ऐसे समाज में विपणन सेवाओं की, जैसे परिवहन, भोजन का संसाधन व भण्डारण की, माँग काफी सीमित रहती है लेकिन आर्थिक संवृद्धि और माँग के साथ-साथ यह निरंतर बढ़ती जाती है।

उत्पादन और विपणन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। इससे पहले की उत्पादकों को व्यापारिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए उनको यह विश्वास होना ज़रूरी है कि उनके उत्पाद, विशेषता नए उत्पाद बाज़ार में बिक सकते हैं। एक आकर्षक बाज़ार वह होता है जिससे अच्छी कीमत मिले और माल आसानी से बिक सके। कृषि विकास योजनाओं में अब तक इसकी अनदेखी होती रही है।

कृषि उत्पादन में निरंतर वृद्धि के लिए सही ढंग से कृषि विपणन का विकास आवश्यक होता है। एक कुशल विपणन प्रणाली वह होती है जिसमें किसान को अपने उत्पाद से अधिकतम प्रतिफल मिले, खर्चे कम से कम हों और उपभोक्ता कीमत पर उत्पाद पा सकें। प्रणाली ऐसी हो जो बढ़ते हुए बिक्री योग्य अतिरेक (marketable surplus) को बेच सकें, कीमत निर्धारण की व्यवस्थित प्रणाली विकसित कर सके, और प्रतियोगिता ला सके। आमतौर पर यह समझा जाता है कि भारत में कृषि उत्पादों का निज़ी व्यापार शोषणकारी है, आर्थिक तौर पर अकुशल है व लाभ का मार्जिन बहुत रखता है। लेकिन हाल के सर्वेक्षण से पता चला है कि भारत में अनाज का निजी व्यापार काफी कुशल और तर्क पूर्ण बाज़ार की तरह काम करता है।

हरित क्रांति से उत्पादन की तेज़ी से वृद्धि हुई लेकिन वितरण प्रणाली इसके अनुरूप विकसित न हो पाई। बाज़ार के स्वरूप के विकास पर निवेश उत्पादन प्रौद्योगिकी निवेश की तुलना में पीछे रहा और उत्पादन पर भी प्रभाव डाला। इस प्रकार बाज़ार स्वरूप को विकसित करने में साधन नहीं लगें। कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन के रूप में वह निवेश आवश्यक है। रतन और हयामी के अनुसार सफल कृषि विकास के लिए बाज़ार स्वरूप में सुधार लाना एक आवश्यक शर्त है। यदि वितरण प्रणाली अकुशल रही तो कृषि उत्पादिता में वृद्धि वास्तविक आय में वृद्धि में उतनी नहीं बदल पाएगी। अत: कुशल विपणन प्रणाली एक आर्थिक आवश्यकता है।

कृषि योजना बनाने वालों को यह समझना चाहिए कि जब तक एक कुशल विपणन प्रणाली नहीं होगी, आर्थिक प्रोत्साहन उत्पादकों तक नहीं पहुँच पाएँगे। एक व्यवस्थित विपणन प्रणाली का उद्देश्य उत्पादक को उचित कीमत दिलवाना है। दूसरे, इसमें पारम्परिक हेरा-फेरी नहीं होनी चाहिए और विपणन सेवाओं पर कम से कम खर्चा आए। जब तक विपणन में ये मापदण्ड नहीं अपनाए जाएँगे और एक व्यवस्थित विपणन वातावरण नहीं बनेगा अधिकतर उत्पादकों को, जिनमें छोटे और सीमांत किसानों की संख्या अधिक है, उचित कीमत नहीं मिल पाएगी।

उत्पादन और विपणन एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं। जब तक खेत में पड़े उत्पाद उपभोक्ता तक न पहुँचे उनका कोई मूल्य नहीं होता क्योंकि बहुत देशों में उत्पादक अपने उत्पादन का स्वयं उपभोग नहीं होता। इसे औद्योगिक उत्पादों की भाँति, उपभोक्ताओं की माँग पूरी करने के लिए बाज़ार में बेचना आवश्यक है। विपणन प्रक्रिया उत्पाद बेचने के निर्णय से प्रारम्भ होती है। इसके लिए समन्वित बाज़ार प्रणाली की आवश्यकता होती है कि कार्यात्मक और सांस्थानिक दोनों हों।

15.3.1 विपणन कुशलता

कृषि विपणन कृषि वस्तुओं की कीमतों को निर्धारण करने की एक प्रक्रिया है। ये कीमतें माँग पूर्ति की शक्तियों द्वारा या अन्य किसी प्रक्रिया से निर्धारित होती है। विपणन प्रक्रिया में संग्रहण, श्रेणीकरण, संचयन परिवहन तथा वितरण क्रियाएँ आती हैं। विकास के साथ-साथ विपणन केवल एक उत्पादक उपभोक्ता संबंध न रहकर और जटिल होती चली जा रही है। अब इन दोनों के बीच बहुत से बिचोलिए हैं। उत्पादक विपणन प्रणाली को उत्पाद देते हैं और वे ही इसके अकुशल होने से सबसे अधिक प्रभावित वह होती है जो न्यूनतम बाज़ार के खर्चे घटाने के बाद उत्पादक को अधिकतम प्रतिफल दे ताकि वह उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित हो। यहाँ तकनीकी कुशलता व आर्थिक कुशलता में भेद करना उपयोगी होगा। तकनीकी कुशलता का संबंध यंत्रीकरण और प्रक्रियाओं को बुद्धिसंगत बनाने से है। प्रौद्योगिकी कुशलता के लिए आवश्यक है कि

विपणन स्वरूप ऐसा हो जो हर विपणन कार्य के लिए सर्वोत्तम उपलब्ध विधि अपनाए जोकि अधिकतम प्रभावी हो। दूसरी और आर्थिक कुशलता प्रणाली यह सुनिश्चित करती है कि उत्पाद के व्यापार में सुधार से भौतिक बचते प्राप्त होती है वे उपभोक्ता और उत्पादक दोनों को मिले। ये बचतें अपव्यय, ऊँची लागत और शोषणकारी लाभों से बचकर प्राप्त की जा सकती है। प्रतियोगिता के दबाव से इनसे बचा जा सकता है। एक बाज़ार पूर्ण प्रतियोगिता के जितना समीप होता है व उतना ही आर्थिक कुशल होता है और उसमें अपव्यय और शोषण न्यूनतम रहता है। अत: एक आर्थिक कुशल विपणन प्रणाली के लिए आवश्यक है कि यह किसान को अधिकतम प्रतिफल, न्यूनतम खर्चे और उचित कीमत सुनिश्चित कराएँ।

सामान्यत: आर्थिक कुशलता का अर्थ परिचालन और मूल्यन कुशलता से लिया जाता है। परिचालन कुशलता से अभिप्राय आगत-निर्गत अनुपात और भौतिक विपणन, जैसे भण्डारण, परिवहन आदि की लागतों को कम करने से है। मूल्यन कुशलता से अभिप्राय है कि विक्रेताओं को अपने उत्पाद की कीमत मिले और उपभोक्ताओं को अपने पैसे की कीमत मिले। मूल्यन कुशलता क्रय, विक्रय और मूल्य लगाने से संबंधित पहलूओं में सुधार लाती है ताकि ये उपभोक्ताओं के निर्देशों के अनुरूप हो। सारे बाज़ार में एक जैसी कीमत मूल्यन कुशलता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उत्पादकों और उपभोक्ताओं को बिचोलियों के शोषण बचाने हेतू नीति निर्धारक मूल्यन कुशलता पर अधिक जोर देते रहे हैं।

यह विचार कि 'भारत के कृषि बाज़ार अपूर्ण, शोषणकारी असहायक हैं', धीरे-धीरे बदल रहा है। लेकिन यह आम विश्वास कि 'इन बाज़ारों में छलकपट से कीमतों पर प्रभाव डालकर बहुत लाभ कमाते हैं', अभी नहीं बदला है। लेकिन अधिकतर बाज़ार अब किसानों को फायदा पहुँचा रहे हैं और आर्थिक विकास प्रक्रिया में योगदान दे रहे हैं। कृषि बाज़ार प्रतियोगी तो लगता है लेकिन अनिश्चितताओं से भरा है। ये अनिश्चितताएँ कृषि उत्पादों की माँग और पूर्ति में हैं। जब किसी मौसम में काफी आपूर्ति नहीं हो पाती तो बढ़ती हुई माँग को पूरा करना कठिन हो जाता है। परिणामस्वरूप कीमतों में अल्पकालीन उतार-चढ़ाव आते हैं जोकि शुद्ध प्रतिस्पर्धा में नहीं आते। यह आवश्यक है कि किसानों का उत्पादन उपभोक्ता तक पहुँचाने और बेहतर आगतों को किसानों को उपयुक्त मात्रा में और समय पर पहुँचाने के कुशल प्रबंध हों।

बाज़ार प्रणाली से किसान को लाभ पहुँचे इसके लिए आवश्यक है कि समाज इन बाज़ारों के नियम व मानदण्ड बनाए। यदि समाज ऐसा नहीं करता तो सरकार को इन बाज़ारों में सुधार लाने पड़ेंगे। सरकार द्वारा इस ओर ध्यान 1897 से दिया जा रहा है। लेकिन उत्पादकों और उपभोक्ताओं को लाभ पहुँचाने के लिए व्यवस्थित और कुशल बाज़ार प्रणाली स्थापित करने में बहुत समय लगेगा।

कृषि बाज़ार सुधारों में एक बड़ा परिवर्तन अधिकतर राज्यों में नियंत्रिण (Regulated) बाज़ारों के रूप में आया है। इन बाज़ारों में खुली नीलामी और बाज़ार प्रभारों के बारे में स्पष्ट विनियम होते हैं। इन बाज़ारों में अहातों (Yards) के रूप में उपयुक्त बुनियादी सुविधा मिलती है। ये ग़ैर-कानूनी प्रभार कम करने में सफल हुई हैं।

15.3.2 भण्डारण तथा संग्रह

व्यवस्थित कृषि विपणन के विकास हेतू यह आवश्यक है कि उपज को लम्बी अवधि तक जमा रखने के लिए गोदामों की व्यवस्था हो। इस संबंध में ग्रामीण ऋण सर्वेक्षण कमेटी ने उपज जमा रखने की तीन स्तरीय ढाँचे की सिफारिश की है : (क) राष्ट्रीय, (ख) राज्य तथा जिला व (ग) ग्रामीण स्तर। इस उद्देश्य से अखिल भारतीय महत्त्व के सभी केन्द्रों पर भण्डारण सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के लिए भारतीय खाद्य निगम (Food Corporation of India या FCI) तथा केन्द्रीय भण्डारण निगम (Central Warehousing Corporation या CWC) की स्थापना की गई। राज्य स्तर और जिला स्तर महत्त्व के केन्द्रों पर सुविधाएँ उपलब्ध करवाने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों और राज्य भण्डारण निगमों की थी। गाँवों की तथा ग्रामीण आवश्यकताओं को पूरा करने की जिम्मेदारी सहकारी संस्थाओं की थी।

यह सभी जानते हैं कि उपज तो किसी एक विशेष मौसम में होती है जबकि इसकी आवश्यकता सारा वर्ष होती है। अत: उपज को जमा करके रखना कृषि अर्थव्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अंग है। केन्द्रीय और राज्य सरकारों के गोदामों व निजी और सार्वजनिक इकाइयों से किराए पर ली गई जगहों पर काफी कृषि उपज जमा है। खाद्यान्न जमा कर रखने वाली प्रमुख सरकारी संस्था भारतीय खाद्य निगम या FCI है। किराए पर जगह देने वाली प्रमुख सरकारी संस्थाएँ केन्द्रीय भण्डारण निगम (CWC) व राज्य भण्डारण निगमें हैं। तालिका-2 में भारत के मुख्य राज्यों में गोदामों की संख्या और उनकी भण्डारण क्षमता के बारे में आँकड़े कि इनमें कितनी उपज और कितने समय तक जमा रहती है। अधिकतर उत्पादों के बारे में यह सूचना नहीं मिलती। गेहूँ बाज़ार

में आमद के व्यवहार से ही यह पता चलता है कि पंजाब और हरियाणा के मझले और बड़े किसानों ने कितना गेहूँ जमा कर रखा था। चावल मिलों में भी गोदाम की व्यवस्था होती है लेकिन उसमें कितना धान जमा रहता है इसके बारे में आँकड़े उपलब्ध नहीं है।

भण्डारण के मामले में निजी व्यापारी भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन इसके बारे में भी आँकड़े उपलब्ध नहीं है। कुछ शोधकर्ताओं ने यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया है कि विभिन्न खाद्यान्न कितने समय तक गोदामों में रखी जाती है और भण्डारण के दौरान कितनी हानि होती है।

जैसे-जैसे कृषि में बाज़ार अतिरेक बढ़ रहा है, भण्डारण सुविधा कम पड़ती रही है। पिछले कुछ वर्षों में फसल कटने के बाद की यह गंभीर समस्या है। ऐसा अनुमान है कि भण्डारण सुविधाओं की कमी के कारण उपज का लगभग 1.5 प्रतिशत भाग खराब हो जाता है या फिर चूहे खा जाते हैं।

अतिरेक क्षेत्रों में खेतों के समीप भण्डारण सुविधाएँ विकसित करने की अत्यंत आवश्यकता है। सरकार ने इस बारे में एक योजना बनाई जिससे उपज का विपणन व्यवस्थित करने में सहायता मिलेगी। इस समस्या का एक और आयाम है। कमी वाले राज्यों को यह विश्वास दिलाने की आवश्यकता है कि उनको सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए सारा साल अनाज मिलता रहेगा। ऐसा राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा प्रणाली के अभिन्न अंग के रूप में कमी वाले राज्यों में भण्डारण सुविधाएँ मजबूत करके किया जा सकता है।

सहकारिता क्षेत्र में भी भण्डारण सुविधाओं का विस्तार होना चाहिए। सहकारिता भण्डारण कार्यक्रम एक समन्वित कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य आवश्यक कृषि वस्तुओं का वितरण, विपणन और उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराने की सुविधाएँ देना है।

कुछ अन्य बातें जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है, ये हैं : (1) गोदामों के स्थान; (2) वर्तमान सुविधाओं के बेहतर उपयोग; (3) कृषि उत्पादन क्षेत्रीय तौर पर केन्द्रित होने के कारण भण्डारण की राष्ट्रीय योजना तथा (4) भण्डारण के दौरान नुकसान को कम करना।

बोध प्रश्न 1

निम्नलिखित के उत्तर पचास शब्दों में दीजिए।

1) आधुनिक कृषि में सांस्थानिक ऋण की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) कृषि की प्रगति में कुशल विपणन की भूमिका की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

15.4 कृषि मूल्य नीति

कृषि मूल्यों में वर्ष के दौरान बहुत अधिक उतार-चढ़ाव आने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इसके तीन कारण हैं:

क) कृषि वस्तुओं की नीची कीमत माँग लोच।

ख) कृषि उत्पादन का जैविक स्वरूप।

ग) कृषि उद्योग का मौसमी स्वरूप। उत्पादन वर्ष के कुछ भागों में ही होता है।

अधिकतर औद्योगिक वस्तुओं की तुलना में कृषि वस्तुओं की कीमत माँग का लोच न केवल कम होता है बल्कि अधिकतर एक से कम रहता है। माँग बेलोच इसलिए होती है क्योंकि अधिकतर कृषि जीवन के लिए आवश्यक होते हैं। विकसित देशों की तुलना में विकासशील देशों में यह कम बेलोच होती है। अत: जिस वर्ष सूखा पड़ने के कारण उत्पादन कम रहता है, कीमत में आनुपातिक वृद्धि उत्पादन में आनुपातिक गिरावट की तुलना में अधिक रहती है। इसके विपरीत जब फसल अच्छी होती है, कीमत में आनुपातिक गिरावट उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि की अपेक्षा अधिक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि आपूर्ति में एक प्रतिशत वृद्धि कीमत में एक प्रतिशत से अधिक गिरावट लाती है।

अपनी जैविक प्रकृति के कारण कृषि उत्पादन में इच्छानुसार वृद्धि लाने में तो रुकावट होती ही है, इसमें स्थिति के अनुसार उत्पादन में तेजी से कमी या बढ़ोतरी नहीं की जा सकती है। उत्पादन क्षमता में वृद्धि और परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि के बीच समय लगता है जिससे माँग और आपूर्ति के बीच समंजन लाना, विशेषतया, अल्पवधि में, कठिन होता है।

ऐसा विशेषतया उन विकासशील देशों में सही पाया जाता है जहाँ आपूर्ति की कीमत लोच कम रहती है। माँग और आपूर्ति के कीमत बेलोच होने से विकासशील देशों कृषि मूल्यों में बहुत अधिक चढ़ाव होते हैं और सभी यह समझते हैं कि उनके उत्पाद की माँग पूर्णतया बेलोच हैं, लेकिन वे ये नहीं जानते कृषि उत्पाद की समग्र माँग (यानि सारे देश की माँग) काफी अधिक लोचदार होती है। कृषि उत्पादन में मौसम के कारण एक वर्ष से दूसरे वर्ष परिवर्तन आते रहते हैं। दूसरे, अधिकतर कृषि वस्तुओं का उत्पादन मौसमी होता है। उत्पादन तो किसी विशेष मौसम में होता है और बाज़ार में छा जाता है फिर उसकी कीमतें गिरने लगती हैं और जब किसान अपनी अधिकतर उपज बेच चुके होते हैं, फिर बढ़ने लगती हैं।

15.4.1 कृषि मूल्यों के कार्य

कृषि मूल्यों के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं : (क) साधनों का आबंटन करना; (ख) आयों का वितरण करना तथा (ग) पूँजी निर्माण को प्रोत्साहन देना।

कृषि मूल्य उत्पादकों को उत्पादन स्तर के बारे में और उपभोक्ताओं को उपभोक्ता स्तर के बारे में संकेत देते हैं। कृषि वस्तुओं की कीमतों में तुलनात्मक परिवर्तन इनके बीच साधनों के बँटवारे और उपभोक्ताओं द्वारा इनके उपभोग को प्रभावित करते हैं। उदाहरणत: यदि एक कृषि वस्तु की कीमत, अन्य वस्तुओं की अपेक्षा, बढ़ जाती है तो उत्पादक भूमि और अन्य आगतों इसके उत्पादन में अधिक लगाएँगे। उपभोक्ता इसके स्थान पर सस्ते कृषि उत्पादों को उपभोग करने का प्रयत्न करेंगे।

कृषि मूल्य एक और किसानों की आय निर्धारित करते हैं, और दूसरी ओर ग़ैर-कृषि लोगों के जीवन स्तर पर प्रभाव डालते हैं। कृषि मूल्यों में परिवर्तन अर्थव्यवस्था के कृषि और ग़ैर-कृषि क्षेत्रों के बीच आय का हस्तांतरण लाते हैं।

15.4.2 भारत में कृषि मूल्य नीति का विकास

भारत में कृषि नीति का विकास दो चरणों में हुआ। इसका जन्म युद्ध के दौरान हुआ जब खाद्यान्नों की बेहद कमी के कारण कीमतों के बढ़ने से समस्याएँ पैदा हो गई थीं। ये नीतियाँ उपभोक्ता जनक थी जो स्फीति को नियंत्रण करने और जीवन निर्वाह व्यय को कम रखने के लिए बनाई गई थी। इन नीतियों में ये बातें शामिल थीं : (i) स्थानीय तौर पर उपलब्ध अतिरेक खाद्यान्न का आयात; (ii) खाद्यान्न का आयात; तथा (iii) पूर्ण या आंशिक राशनिंग वाले क्षेत्रों में उपलब्ध आपूर्ति का समान वितरण करना। ये नीतियाँ जून 1952 तक रहीं जिसके बाद इनमें ढील दी गई और मुक्त व्यापार शुरू हुआ। ये परिवर्तन इसलिए हुआ क्योंकि यह महसूस होने लगा था कि इससे खाद्यान्न संकट बहुत बढ़ सकता था।

क्योंकि एक तरफ तो सरकार को बहुत अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता थी जबकि सरकारी खरीद में कठिनाइयाँ आ रही थीं। वास्तविक हल आयात या सरकारी खरीद या नियंत्रित वितरण में न होकर कम से कम समय में अधिक से अधिक उत्पादन करने में था। यह बताना आवश्यक है कि 1951-52 से 1964-65 के बीच में आयात से और बाज़ार कीमत से कम कीमत पर वितरण करने से कमी दिनों में कीमतों में स्थिरता लाने में मदद मिली। लेकिन इससे उत्पादन प्रोत्साहन को धक्का लगा और उत्पादन में गतिहीनता आ गई। इसलिए तीसरी योजना में उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों के हितों को ध्यान में रखकर मूल्य नीति बनाई गई।

इस उद्देश्य से कि किसानों को अपनी उपज की उचित कीमत मिले ताकि वे उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाने और निवेश बढ़ाने के प्रति उत्साहित हों, 1965 में कृषि मूल्य आयोग (Agricultural Prices Commission) की स्थापना हुई। इसका कार्य कृषि मूल्य नीति के बारे में सरकार को सलाह देना था। 1965 की नीति में इस बात पर जोर था कि नीति संतुलित और समन्वित हो तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों के हितों का ध्यान रखे। आयोग को इन बातों का ध्यान रखना था :

क) उत्पादन अधिकतम करने हेतू उत्पादक को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता;

ख) भूमि व अन्य उत्पादन साधनों का सही उपयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता; तथा

ग) शेष अर्थव्यवस्था पर संभावित प्रभाव, विशेषतया निर्वाह व्यय, मजदूरी के स्तर, औद्योगिक लागत पर आदि।

1965 में सबसे ऊँची प्राथमिकता उत्पादन को अधिकतम करने को दी गई क्योंकि देश में खाद्यान्न आने लगा था तो आयोग के मापदण्डों में संशोधन किया गया। अब आयोग को ये कुछ करने के लिए कहा गया :

1) राष्ट्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रख उत्पादकों को उन्नत प्रौद्योगिकी अपनाने और उत्पादन ढाँचों को विकसित करने के लिए प्रोत्साहन देने की आवश्यकता;

2) भूमि, जल व अन्य उत्पादन साधनों का सही उपयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता;

3) मूल्य नीति के शेष अर्थव्यवस्था पर प्रभाव, विशेषतया निर्वाह व्यय, मजदूरी स्तर, औद्योगिक लागत ढाँचा आदि।

4) कृषि क्षेत्र और ग़ैर-कृषि क्षेत्र के बीच व्यापार शर्तें (terms of trade)।

15.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली

विकसित हो या विकासशील दुनिया के सभी देश किसी न किसी देश में जनसंख्या के संवेदनशील भाग को खाद्यान्न व अन्य आवश्यक वस्तुएँ वित्तीय सहायता प्राप्त दरों (Subsidised Prices) पर उपलब्ध करवाते हैं। भारत में 1939 से जब इसकी शुरुआत हुई थी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली खाद्यान्न प्रबंध का एक महत्त्वपूर्ण साधन रही है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तीन मुख्य उद्देश्य हैं :

1) संवेदनशील उपभोक्ताओं को खाद्यान्न की एक न्यूनतम मात्रा उपलब्ध करवाना। ऐसे उपभोक्ताओं की आय लोच अधिक और कीमत लोच कम होती है। खाद्य उत्पादन में उतार-चढ़ाव के होते इससे प्रति व्यक्ति भोजन उपलब्धता बनाए रखने और उपभोग को स्थिर रखने में सहायता मिलती है।

2) कीमतों में स्थिरता लाना। ऐसा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से बाज़ार से कम कीमतों पर खाद्यान्न की आपूर्ति करके किया जा रहा है। इससे स्फीति को रोकने में भी सहायता मिलती है।

3) गरीबी विरोधी उपाय के रूप में कम आय वर्ग में उपभोक्ताओं को आय का हस्तांतरण करना ताकि उनके पौषणिक स्तर को बढ़ाया जा सके।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली को राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक प्रबंध का उदाहरण या फिर एक गरीबी विरोधी उपाय कहा जा सकता है। आर्थिक प्रबंध के उपकरण के रूप में नीति बनाने वालों की चिंता कमी, सूखा, राशनिंग, आयात, उत्पादन में उतार-चढ़ाव के रहते उपलब्धता सुनिश्चित करना, खाद्य स्फीति को रोकना और मजदूरी लागत के बारे में थी।

गरीबी विरोधी उपाय के रूप में सार्वजनिक वितरण प्रणाली का उद्देश्य कम आय वर्ग के लोगों की ओर आय का हस्तांतरण करना है। इससे इस कार्यक्रम का लक्ष्य गरीब लोग और गरीब क्षेत्र है। इसका उद्देश्य समाज के संवेदनशील वर्गों के पौषणिक स्तर को बढ़ाना और परिवार स्तर पर भोजन सुरक्षा सुनिश्चित करना है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली तीन चरणों से गुजरी है। पहला चरण हरित क्रांति प्रारम्भ होने तक था। इसमें प्रणाली ने शहरी उपभोक्ताओं को उपयुक्त आपूर्ति सुनिश्चित की और राशनिंग व आयात के माध्यम से खाद्य व्यवस्था की। दूसरा चरण 1970 के दशक तक था। इस चरण में आपूर्ति की स्थिति ठीक हो गई थी और सार्वजनिक वितरण प्रणाली सरकारी खरीद कार्यक्रम की उपभोक्ता प्रतिरूप बन गई थी। तीसरे चरण, यानि

1980 के दशक में सरकार ने मजदूरी रोज़गार कार्यक्रम प्रारम्भ किया। ऐसा भोजन की ओर आर्थिक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए किया। इसकी मुख्य विशेषता आय हस्तांतरण थी विशेषता पिछड़े इलाकों में। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सबसे नया कार्यक्रम है गरीबी रेखा के नीचे वाले गरीब परिवारों को चावल और गेहूँ सामान्य राशन कीमत से आधे दाम पर उपलब्ध करवाना। इस कार्यक्रम के अधीन गरीबों के लिए राज्य सरकारों को गेहूँ 2.50 रुपये और चावल 3.50 रुपये प्रति किलोग्राम पर करवाया जाएगा। राशन की दुकानों पर इसकी कीमत केवल 50 पैसे प्रति किलोग्राम ही अधिक हो सकती है। हाल के वर्षों ये कार्यक्रम गरीबी-विरोधी कार्यक्रम का रूप ले रहा है।

15.4.4 सार्वजनिक वितरण में प्रवृत्तियाँ

1965-67 में उचित दर की दुकानों द्वारा वितरित चावल और गेहूँ की औसत मात्रा 90 लाख टन थी जोकि 1988-90 में बढ़कर 158 लाख टन हो गई। यह देश में उपलब्ध इन दोनों की मात्रा का क्रमश: 18.6 प्रतिशत और 15 प्रतिशत थी। 1965-67 में गेहूँ का सार्वजनिक वितरण कुल उपलब्धता का 42.5 प्रतिशत था जबकि चावल का 11.2 प्रतिशत था। 1988-90 में प्रतिशत क्रमश: 17.3 व 14.3 प्रतिशत था। इस प्रकार 1980 के बाद से सार्वजनिक वितरण में महत्त्वपूर्ण वृद्धि हुई है। यह वृद्धि मुख्यत: चावल के कारण थी जिसकी प्रौद्योगिकी और उत्पादन में बड़ा परिवर्तन आया था। कुल वितरण में गेहूँ का प्रतिशत जोकि 1965-67 में 66 प्रतिशत था, 1980-90 में घटकर 45 प्रतिशत रह गया था।

राज्य स्तर पर वितरण में केरल, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और दिल्ली को काफी मात्रा में खाद्यान्न मिले। इनका 1990 में चावल और गेहूँ दोनों के वितरण में भाग 48 प्रतिशत था जबकि 1987-88 में इनकी कुल जनसंख्या का केवल 26 प्रतिशत भाग ही गरीबी रेखा के नीचे था। दूसरी ओर बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, ओड़ीशा व उत्तर प्रदेश का भाग कम था। इन सबका कुल मिलाकर गेहूँ और चावल में इनका भाग 16 प्रतिशत था जबकि गरीबी रेखा से नीचे जनसंख्या 52 प्रतिशत थी।

अनाजों (चावल और गेहूँ) का प्रति व्यक्ति वितरण 1973-74 में 17.22 किलोग्राम (कलेण्डर वर्ष 1973 व 1974 का औसत) से बढ़कर 1988-89 में 21.74 कि. हो गया। इसी अवधि में गेहूँ का वितरण 11.16 कि. से घटकर 10.14 कि. हुआ जबकि चावल का वितरण 6.06 कि. से बढ़कर 11.6 कि. हो गया लेकिन राज्य स्तर पर इसमें विभिन्नताएँ थीं।

MAADHYAM IAS

कुछ राज्यों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से होने वाला प्रति व्यक्ति उपभोग ऊँचा था जो यह दिखाता है कि इन राज्यों की केन्द्रों पर निर्भरता दर काफी अधिक थी। हमने 1973-74 व 1988-89 में इस निर्भरता दर को मापा है। यह दर प्रति व्यक्ति वितरण का प्रति व्यक्ति उपभोग के प्रतिशत के रूप में है। इसमें उपभोग का आधा भाग सार्वजनिक वितरण के रूप में था। इन दो अवधियों के बीच कुछ राज्यों के भागों (जिसमें तमिलनाडु प्रमुख हैं) में तो तेजी से वृद्धि हुई जबकि अन्यों में कमी आई (सबसे अधिक कमी महाराष्ट्र में थी)।

बोध प्रश्न 2

1) कृषि विकास में भण्डारण तथा संग्रह की क्या भूमिका होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) किसी अर्थव्यवस्था में कृषि मूल्यों के क्या कार्य हैं?

.....

.....

.....

.....

3) गरीबों को खाद्य उपलब्ध कराने में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की क्या भूमिका रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली कितनी सफल रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

15.5 सारांश

यह इकाई इस खंड की तृतीय व अंतिम इकाई है, जो कृषि क्षेत्र से संबंधित है। इस इकाई के अंतर्गत कृषि-क्षेत्र में गैर-खेती सेवाओं की चर्चा की गई है। यह संस्थागत सेवाएँ हैं जैसे ऋण तथा विपणन। साथ ही इस इकाई में सरकार की कृषि से संबंधित नीतियों की भी चर्चा की गई है। ये हैं : कृषि मूल्य नीति तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली। इनके तहत आवश्यक अनाज गरीबों को कम दाम में उपलब्ध होते हैं।

इस इकाई में कृषि के लिए ऋण के महत्त्व की चर्चा की गई है तथा ऋण के संस्थागत तथा गैर-संस्थागत स्रोत बताए गए हैं। इसके उपरांत इकाई में कृषि सामग्री के विपणन की व्याख्या की गई। इसके पश्चात् इकाई में कृषि मूल्य नीति की चर्चा की गई और यह समझाया गया कि कैसे सरकार इस नीति का उपयोग करती है किसानों को अधिक से अधिक विपणीय आधिक्य की पूर्ति के प्रणोदन के लिए। इकाई के अंत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विस्तार से विवेचना की गई है।

15.6 शब्दावली

कृषि मूल्य नीति : एक नीति जिसके माध्यम से सरकार किसानों को न्यूनतम या अधिप्राप्ति मूल्यों का आश्वासन देती है ताकि वे उत्पादन में वृद्धि करें।

निर्गम मूल्य : वह मूल्य जिसमें राशन की दुकानों को आदेश है कि वे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत खाद्यान्न बेचें।

गैर-संस्थागत ऋण : वह ऋण जो कि महाजनों, निधियों इत्यादि द्वारा किसानों को प्रदान किया जाता है।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Dantwaia M.L. and others (ed.) 1986, *Indian Agricultural Development Since Independence*, Oxford & I BH Publishing Co. Pvt. Ltd. New Delhi.

Government of India 1976, *National Commission on Agriculture,* Ministry of Agriculture and Irrigation.

Kabra K.N. and Itteyrah A.C. 1992, *The Distribution System in India*, Eastern Book, New Delhi.

Tyagi D.S. and Kahlon A.S. 1983, *Agriculture Price Policy in India.*

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए उपभाग 15.2.3 देखें।

2) उत्तर के लिए उपभाग 15.3.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए उपभाग 15.3.2 देखें।

2) उत्तर के लिए उपभाग 15.4.1 देखें।

3) उत्तर के लिए उपभाग 15.4.3 देखें।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

इकाई 16 औद्योगिकीकरण: अवधारणा एवं समस्याएँ

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 औद्योगिकीकरण की अवधारणा
16.3 भारत में औद्योगिक क्षेत्र के घटक
16.3.1 विभिन्न औद्योगिक गतिविधियाँ
16.3.2 उपयोगिता के आधार पर वर्गीकरण
16.4 उद्योगों का क्षेत्रीय केन्द्रीकरण
16.5 औद्योगिक रुग्णता
16.5.1 रुग्णता की परिभाषा
16.5.2 भारत में औद्योगिक रुग्णता के प्रभाव
16.5.3 बड़े उद्योगों की रुग्णता के लिए उत्तरदायी कारक
16.5.4 लघु उद्योगों में रुग्णता के लिए उत्तरदायी कारक
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर व दिशा-संकेत

16.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप जानेंगे :

- औद्योगिकीकरण की अवधारणा की व्याख्या;
- उद्योगों से संबंधित विभिन्न गतिविधियों का आंकलन;
- औद्योगिकीकरण की भारी उद्योग कार्यनीति से उत्पन्न समस्याओं का विश्लेषण;
- औद्योगिक रुग्णता की परिभाषा; और
- औद्योगिक रुग्णता के लिए उत्तरदायी तत्त्व की व्याख्या।

16.1 प्रस्तावना

15 अगस्त 1947 के पश्चात् भारत के औद्योगिक पटल में आश्चर्यजनक परिवर्तन आया। देशी उद्यम अब विदेशी हितों की पूर्ति का साधन मात्र नहीं था। स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में औद्योगिक उत्पादन कम था और जनसंख्या वृद्धि अधिक हो रही थी। अतः स्वतंत्रता के पश्चात्, जो कार्यनीति अपनायी गयी वह थी विशाल, आधारभूत और यंत्र निर्माण करने वाले उद्योगों में निवेश के माध्यम से द्रुतगामी औद्योगिकीकरण। भारी उद्योगों में निवेश बृहतर पूँजी भंडार के निर्माण में सहायक होता है। इससे एक स्वावलंबी और मज़बूत अर्थव्यवस्था की नींव पड़ती है क्योंकि अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का द्रुतगति से विस्तार होता है और उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनरी और कलपुर्जों के आयात पर निर्भर नहीं रहना पड़ता ।

प्रारम्भ में चूँकि उद्योगों में निवेश की मात्रा अधिक होने के कारण पक्वन अवधि (Gestation

Period) बहुत अधिक थी और लाभ देयता कम, इसलिए सरकार ने भारी उद्योगों को सार्वजनिक उद्यम के अन्तर्गत रखा। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों से भी आर्थिक योजनाओं से संबंधित नीतियों और विभिन्न लक्ष्य के साथ तालमेल रखते हुए कार्य करने की अपेक्षा रखी गयी। औद्योगिक विकास की इस कार्यनीति के फलस्वरूप ही भारत विश्व का दसवाँ औद्योगिक देश बन सका। भारत की औद्योगिक नीति की विवेचना अगली इकाई में विस्तार से होगी । यहाँ हम औद्योगिक क्षेत्र के विभिन्न वर्गों तथा औद्योगिक क्षेत्र की मुख्य समस्याओं तक सीमित रहेंगे।

16.2 औद्योगिकीकरण की अवधारणा

संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् (यूनेस्को) ने 1965 में औद्योगिकीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी :

"औद्योगिकीकरण आर्थिक विकास की वह प्रणाली है जिसमें राष्ट्रीय संसाधनों का मुख्य भाग तकनीकी रूप से अद्यतन एवं बहुशाखी ऐसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को विकसित करने में प्रयोग हो जो सम्पूर्ण रूप से अर्थव्यवस्था की उच्च वृद्धि-दर और सामाजिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन पर नियत्रंण रखने में सक्षम हो।" इस परिभाषा में निम्नलिखित कारकों पर जोर दिया गया है :

1) औद्योगिकीकरण के अंतर्गत उत्पादन की पुरानी तकनीकों को नई तकनीकों में परिवर्तन की प्रकिया सम्मिलित है।

2) औद्योगिकीकरण आर्थिक विकास की गति को तीव्र करता है जिससे लोगों के जीवन स्तर में सुधार हो।

3) आधुनिकीकरण के द्वारा औद्योगिकीकरण बहु-क्षेत्रक आधार तैयार करके बहुशाखी राष्ट्रीय उद्योग को विकसित कर सकता है। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि भारी एवं पूँजीगत पदार्थ क्षेत्रक का विकास करना औद्योगिकीकरण की पूर्व शर्त हैं। किसी अर्थव्यवस्था का औद्योगिकीकरण अन्य नई क्षेत्रकों में किया जा सकता है और इससे उत्पादित अतिरिक्त वस्तुओं का निर्यात करके पूँजीगत पदार्थों का आयात किया जा सकता है।

संक्षेप में, यह परिभाषा अर्थव्यवस्था के औद्योगिकीकरण के लिए किसी संकीर्ण या स्थिर क्रम की अनुगमन के निर्देश नहीं देती।

इस विचारधारा के विपरीत मार्क्सवादी अर्थशास्त्र में 'औद्योगिकीकरण' दो भिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। संकीर्ण रूप में यह भारी और आधारभूत उद्योगों के विकास और स्थापना या उत्पादन के साधनों के उत्पादन के लिए प्रयोग होता है। किन्तु उदारवादी रूप में यह उस औद्योगिक क्रांति की ओर संकेत करता है जिसमें अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रकों के लिए उत्पादन की औद्योगिक (तकनीकी) विधियों को अपनाया जाता है।

प्रारम्भिक अवस्था में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में भारी उद्योगों की स्थापना की जाती है। फिर जैसे-जैसे यह प्रक्रिया जोर पकड़ती है और अर्थव्यवस्था का औद्योगिक आधार बनता जाता है वैसे-वैसे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली में रूपान्तरित होने लगती है। इस प्रकार औद्योगिकीकरण की मार्क्सवादी परिभाषा औद्योगिकीकरण के विभिन्न क्रमों की व्याख्या करती है। जिसमें पहले भारी उद्योगों अथवा उत्पादन के साधनों का उत्पादन करके एक औद्योगिक आधार बनाया जाता है। तत्पश्चात् दूसरे चरण में सम्पूर्ण

अर्थव्यवस्था उत्पादन की औद्योगिक विधियों में परिवर्तित हो जाती है। औद्योगिकीकरण के मार्क्सवादी स्वरूप के मूल में सोवियत संघ का विकास निहित है। प्रारम्भिक चरण में सोवयित संघ ने भारी उद्योगों का विकास किया। सोवियत संघ के पास लघु उद्योगों और भारी उद्योगों को विकसित करने की क्षमता थी क्योंकि वहाँ की जनसंख्या बहुत बड़ी थी और भूमि, खाद्यान्न, परिवहन और संचार साधन आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थे। साथ ही उत्पादन की खपत के लिए बहुत बड़ा घरेलू बाजार भी सोवियत संघ के पास था। फिर सोवियत संघ ने सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को उत्पादन की औद्योगिक प्रणाली में परिवर्तित करने का निर्णय तत्काल न लेकर आगे चल कर लिया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत में परिस्थितियाँ भी सोवियत संघ जैसे ही थी। भारत में लघु और भारी दोनों प्रकार के उद्योग विकसित हो सकते थे किन्तु भारतीय योजनाकारों ने पहली अवस्था में भारी उद्योगों को विकसित करने का निर्णय लिया। यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि भारी उद्योगों में वे सब उद्योग सम्मिलित हैं जिनमें उन पूँजीगत पदार्थों का उत्पादन होता है जो अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता को बढ़ाते हैं। इसके अंतर्गत रेलवे और आधारिक संरचना (Infrastructure) जिसमें जल विद्युत तथा थर्मल विद्युतशक्ति आदि परियोजनाएँ भी सम्मिलित हैं। भारी उद्योगों के विकास को औद्योगिक नीति 1956 में शामिल किया गया।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के वास्तुविद प्रो. महलनोबिस (Mahalanobis) भारतीय आर्थिक विकास की आधार भूत कार्यनीतिक रूप में भारी उद्योगों के विकास के पक्षधर थे। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू भी उनके विचारों के समर्थक थे। जवाहरलाल नेहरू भारी उद्योगों के विकास को औद्योगिकीकरण का समानार्थी मानते थे। नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में कहा था :

MADHYAM IAS

"यदि हमें औद्योगिकीकरण करना है तो प्रमुख आवश्यकता है कि हम उन भारी उद्योगों में निवेश करें जो मशीनें बनाती हैं। एक अन्य संदर्भ में उन्होंने कहा था कि कुछ लोग यह तर्क देते हैं कि हम भारी उद्योगों की अपेक्षा लघु उद्योगों का विकास करे। निसंदेह देश में लघु उद्योग होने चाहिए किन्तु जब तक हम अपना ध्यान औद्योगिक विकास के उपयोग में आने वाली मशीनों का उत्पादन करने वाले मूल उद्योगों पर केन्द्रित नहीं करते तब तक राष्ट्र का तीव्र गति से औद्योगिकरण सम्भव नहीं है।"

दूसरी पंचवर्षीय योजना में नेहरू के औद्योगिकीकरण सम्बंधी दर्शन को सम्मिलित किया गया। जिसमें स्पष्ट कहा गया है "दीर्घकाल में औद्योगिकीकरण की दर तथा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की संवृद्धि कोयला, बिजली, लोहा और इस्पात, भारी मशीनरी, रसायन और भारी उद्योगों के बढ़ते उत्पादन पर निर्भर करेगी जो पूँजी निर्माण की क्षमता को बढ़ाते हैं। भारत को यथा सम्भव उत्पादक वस्तुओं के आयात से जल्द मुक्त कराना एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है। ताकि दूसरे देशों से आवश्यक उत्पादक वस्तुओं की प्राप्ति में आने वाली कठिनाइयों के कारण पूँजी संचय में बाधा न आए। अतः भारी उद्योगों का यथासम्भव तीव्र गति से विस्तार करना आवश्यक है।"

भारी उद्योगों में पक्वन अवधि (Gestation Period) बहुत लम्बी होती है और लाभ की दर अपेक्षाकृत कम जिस कारण निजी क्षेत्रक भारी उद्योगों में निवेश करने का इच्छुक नहीं होता। अतः भारी उद्योगों के विकास का उत्तरदायित्व सार्वजनिक क्षेत्र को दिया गया है। इसलिए यह तर्क दिया गया है कि सार्वजनिक क्षेत्रक संवृद्धि का इंजन होगा तथापि निजी क्षेत्रक से भी यह अपेक्षा रखी गयी कि वह सार्वजनिक क्षेत्रों के प्रयासों में सहायक होगा।

बोध प्रश्न 1

1) औद्योगिकीकरण के अर्थ की विवेचना करें। क्या औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में विभिन्न स्तरों पर विकास के लिए उद्योगों के स्थिर क्रम की अनुगमन की आवश्यकता होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

16.3 भारत में औद्योगिक क्षेत्र के घटक

खंड एक में हमने जाना कि आर्थिक गतिविधियाँ मोटे तौर पर तीन श्रेणियों में बंटी होती हैं जिन्हें अर्थव्यवस्था के तीन मुख्य क्षेत्रकों के रूप में भी जाना जाता है यथा प्राथमिक, माध्यमिक और तृतीयक । इस विभाजन के अनुसार औद्योगिक गतिविधियाँ माध्यमिक क्षेत्र में आती है। आपने खंड एक में गौर किया होगा कि माध्यमिक क्षेत्रक के अन्तर्गत दो मुख्य वर्ग आते हैं : उद्योग और निर्माण। निर्माण की गतिविधियाँ माध्यमिक क्षेत्र का भाग होते हुए भी औद्योगिक क्षेत्र का अंश नहीं है। 1999-2000 के दौरान भारत की सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का लगभग 27 प्रतिशत माध्यमिक क्षेत्र से आया।

16.3.1 विभिन्न औद्योगिक गतिविधियाँ

औद्योगिक क्षेत्र की मुख्य तीन गतिविधियाँ इस प्रकार हैं :

i) विनिर्माण (Manufacturing)

ii) विद्युत, गैस और जल प्रदाय (Electricity, Gas and Water Supply)

iii) खनन और खादान (Mining and Quarrying)

विनिर्माण की गतिविधि के भी दो मुख्य उपविभाग हैं :

i) कारखाना क्षेत्रक (Factory Sector)

ii) गैर कारखाना क्षेत्रक (Non-Factory Sector)

कारखाना क्षेत्रक को संगठित क्षेत्र या पंजीकृत क्षेत्र भी कहते हैं। आपने देखा होगा कि वह सभी औद्योगिक इकाइयाँ जिनमें दस या अधिक श्रमिक शक्ति (Power) की मदद से कार्य करते हैं उनको भारतीय कारखाना अधिनियम 1948 के अंतर्गत पंजीकृत करना आवश्यक है। इस प्रकार की यह औद्योगिक इकाइयाँ पंजीकृत क्षेत्रक कहलाती हैं। शेष औद्योगिक इकाइयाँ जिनमें दस से कम श्रमिक शक्ति (Power) की मदद से कार्य करती हैं वह गैर कारखाना क्षेत्रक के अंतर्गत आती है। यह उप क्षेत्रक अपंजीकृत या असंगठित क्षेत्रक भी कहलाता है। सामान्यतः इसमें घरेलू उद्योग और गैर घरेलू लघु उद्योग आते हैं। वर्ष 1999-2000 के दौरान औद्योगिक क्षेत्रक की विभिन्न इकाइयों के हिस्सा तालिका 16.1 में दिए गए हैं।

तालिका 16.1 : औद्योगिक गतिविधियों का प्रतिशत वितरण

(1993-94 के मूल्य दर, 1999-2000 के लिये)

क्रमांक	उपक्षेत्रक	भागेदारी प्रतिशत
1.	विनिर्माण (क+ख)	63.57
	क) पंजीकृत	42.01
	ख) गैर पंजीकृत	21.56
2.	विद्युत	9.29
3.	खनन	8.55
4.	निर्माण	18.96
5.	औद्योगिक क्षेत्रक (1+2+3)	81.04
6.	माध्यमिक क्षेत्रक (1+2+34)	100.00

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन (CSO) निरन्तर सभी औद्योगिक इकाइयों से संबंधित आँकड़े एकत्र करता है। प्रत्येक वर्ष कारखाना क्षेत्रक के विभिन्न उत्पादन पक्षों में जानकारी वार्षिक औद्योगिक सर्वेक्षण के रूप में एकत्रित की जाती है। दूसरी ओर गैर कारखाना क्षेत्रक के आँकड़े हर पाँच वर्ष के अंतराल में एकत्र किए जाते हैं। केन्द्रीय सांख्यकीय के संगठन (CSO) ने औद्योगिक क्षेत्रक को 20 औद्योगिक समूहों में विभाजित किया है। यह वर्गीकरण द्विअंकीय वर्गीकरण है। प्रत्येक समूह आगे चलकर त्रिअंकीय (3 digit level) स्तर पर वर्गीकृत होता है। उदाहरण के लिए कागज़ उत्पादन द्विअंकीय समूह में आता है। इसके अंतर्गत त्रिअंकीय स्तर में समाचार मुद्रण, मुद्रण और विभिन्न कागज उत्पादन के समूह आते हैं। तालिका 16.2 में ये औद्योगिक समूह (2 digit level) अपनी पंजीकृत विनिर्माण में भागेदारी के साथ प्रस्तुत है ।

तालिका 16.2 : पंजीकृत विनिर्माण निर्गत में औद्योगिक समूहों की भागेदारी

उद्योग का कोड	उद्योग का नाम	प्रतिशत भागेदारी (1997-98)
20-21	खाद्य उत्पाद	9.32
22	पेय पदार्थ और तंबाकू	3.09
23	सूती वस्त्र उद्योग	4.27
24	ऊनी, सिल्क और तंतु वस्त्र	3.79
25	जूट और अन्य वनस्पति तंतु वस्त्र	0.95
26	वस्त्र उत्पाद	2.52
27	लकड़ी और लकड़ी उत्पाद	0.29
28	कागज और कागज उत्पाद	2.82
29	चमड़ा और चमड़ा उत्पाद	0.91
30	रसायन और रासायनिक उत्पाद	18.57
31	रबड़ और रबड़ उत्पाद	6.19
32	गैर धातु मिनरल उत्पाद	4.47
33	आधारभूत धातु और एलॉय	15.95
34	धातु उत्पाद (मशीनरी और यंत्रों के अतिरिक्त)	2.49
35-36	परिवहन यंत्रों के अतिरिक्त मशीनरी और यंत्र	14.52
37	परिवहन यंत्र और पुर्जे	7.98
38	अन्य विनिर्माण उद्योग	1.88
	कुल	**100.00**

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

16.3.2 उपयोग पर आधारित वर्गीकरण

इससे पहले अनुभाग में वर्णित औद्योगिक गतिविधियों का समान रूप से आर्थिक विकास पर प्रभाव नहीं पड़ता। उदाहरण के लिए अन्य उत्पादों के विनिर्माण में लोहा और इस्पात आधारभूत मध्यस्थ के रूप में प्रयुक्त होते हैं जबकि रोटी एक उपभोग के लिए उपयोग में आने वाला भोज्य पदार्थ है। लोहा व इस्पात और भोज्य पदार्थ के उत्पादन में असंगति (Variation) अर्थव्यवस्था के लिए एकदम भिन्न संवृद्धि मार्ग निर्धारित करता है। अतः औद्योगिक गतिविधियों को उनके उत्पादों की प्रकृति के आधार पर वर्गीकृत करना आवश्यक है।

विनिर्माण गतिविधियाँ उपयोग के आधार पर चार मुख्य समूहों में विभाजित है। इस प्रकार का उपयोगाधारित वर्गीकरण अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक परिवर्तनों को पहचानने में सहायक होता है। ये चार उपयोगाधारित वर्ग हैं :

1) आधारभूत वस्तुएँ (Basic Goods)

2) मध्यस्थ वस्तुएँ (Intermediate Goods)

3) पूँजीगत वस्तुएँ (Capital Goods)

4) उपभोक्ता वस्तुएँ (Consumer Goods)

उपभोक्ता वस्तुएँ दो अनुवर्गो में बँटी हैं :

1) स्थायी उपभोक्ता वस्तुएँ

2) अस्थायी उपभोक्ता वस्तुएँ

आधारभूत वस्तुओं में नमक, खाद, भारी रसायन, सीमेंट, आधारभूत धातु, विद्युत और खनन आते हैं। वस्त्र निर्माण, लकड़ी, समाचार मुद्रण, चमड़ा, रबड़ उत्पाद, अधातु खनिज उत्पाद और रसायन के कुछ वर्ग मध्यस्थ वस्तुओं की श्रेणी में आते हैं। दूसरी ओर पूँजीगत वस्तुओं में सभी प्रकार की मशीनरी, मशीनी यंत्र और परिवहन यंत्र आते हैं। उपभोक्ता वस्तुओं के अंतर्गत स्थायी उपभोक्ता वस्तुओं की श्रेणी में फर्नीचर और स्थिर वस्तुएँ, दफ्तरी और घरेलू समान, विद्युत और दूरसंचार के साधन, वाहन आदि सम्मिलित हैं जबकि अस्थायी उपभोक्ता वस्तुओं में खाद्य उत्पाद, वस्त्र, फुटवेयर, कागज उत्पाद, मैषज पदार्थ (Drugs) व दवाईयाँ आदि शामिल हैं।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित में भेद बताएँ :

i) माध्यमिक क्षेत्रक और औद्योगिक क्षेत्रक

.....

.....

.....

ii) विनिर्माण क्षेत्रक और औद्योगिक क्षेत्रक

.....

.....

.....

iii) स्थायी उपभोक्ता वस्तुएँ और अस्थायी उपभोक्ता वस्तुएँ।

.....

.....

.....

16.4 उद्योगों का क्षेत्रीय केन्द्रीकरण

भारत में उद्योग संबंधित विचार वस्तु में एक विषय क्षेत्रीय असंतुलन है जिस पर हमने खंड एक में विचार किया । हमने जाना कि कुछ राज्य आर्थिक चरों (Variables) में पिछड़े हैं जबकि कुछ अन्य राज्यों की स्थिति बेहतर है। यह असमानता समय के साथ-साथ बढ़ती गई जिसके परिणामस्वरूप निर्धन राज्य अधिक निर्धन और सम्पन्न राज्य और अधिक सम्पन्न

होते गए। यह तथ्य औद्योगिक विकास में भी देखा गया ।

जैसे-जैसे देश में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में प्रगति हुई क्षेत्रीय संकेन्द्रण की प्रवृत्ति औद्योगिकीकरण में आती गई। चार राज्य, जिनमें महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आंध्र प्रदेश और गुजरात मुख्य हैं, को औद्योगिकीकरण का लाभ मिला। तालिका 16.3 से ज्ञात होता है कि 1997-98 में इन चार राज्यों में कुल कारखानों का 53 प्रतिशत रहा और कुल कारखाना रोजगार का 48.5 प्रतिशत। औद्योगिक वर्धित मूल्य (Value Added) में इन राज्यों की भागीदारी क्रमशः 51 प्रतिशत और 47 प्रतिशत थी। जबकि इन चार राज्यों में देश की कुल जनसंख्या का केवल 28.7 प्रतिशत रहता है। इसी से राज्यों में औद्योगिक असमानता का पता चलता है।

तालिका 16.3 : उद्योग की क्षेत्रीय स्थिति 1997-98

प्रतिशत

राज्य	कारखानों की संख्या	स्थिर पूँजी में लोग	रोजगार + मूल्य	बर्हिगमन	वर्धित मूल्य	जनसंख्या
महाराष्ट्र	15.15	18.1	14.76	21	21.67	9.33
तमिलनाडू	14.57	8.26	12.85	10.01	8.66	6.60
गुजरात	9.88	15.24	8.80	12.87	9.23	4.88
आंध्र प्रदेश	13.84	7.52	12.09	6.99	7.43	7.86
कुल (चार राज्यों)	53.44	49.11	48.5	50.75	46.98	28.67
शेष राज्यों	46.56	50.89	51.5	49.25	53.02	71.33
कुल	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**	**100**

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

महाराष्ट्र को अधिकतम लाभ पहुँचा है। क्योंकि कुल कारखाना उत्पाद में इस राज्य की भागीदारी 21 प्रतिशत थी जो मूल्य जोड़ने पर 22 प्रतिशत होती है। जबकि इस राज्य की जनसंख्या देश की कुल जनसंख्या का केवल 9 प्रतिशत है। दूसरी ओर बिहार है जिसकी जनसंख्या तो बहुत बड़ी है किन्तु उसके अनुपात में कारखानों की श्रेणी में यह राज्य बहुत नीचे है। कारखानों की संख्या, औद्योगिक निर्गत और उत्पादन की श्रेणी में उत्तर प्रदेश का स्थान बहुत ऊँचा है हालाँकि इस राज्य की जनसंख्या का प्रतिशत भी बहुत अधिक है। इसी कारण इसे औद्योगिक रूप से विकसित राज्य नहीं कहा जा सकता।

कारखानों की वृद्धि, औद्योगिक निर्गत और मूल्य में क्षेत्रीय असन्तुलन यह संकेत करता है कि देश एक सन्तुलित क्षेत्रीय औद्योगिक प्रणाली विकसित करने में असफल रहा है।

16.5 औद्योगिक रुग्णता

भारत के बड़े, मध्यम और लघु उद्योग औद्योगिक रुग्णता से ग्रस्त हैं। अतः इस समस्या का अध्ययन करना उपयुक्त होगा।

16.5.1 रुग्णता की परिभाषा

जब एक औद्योगिक इकाई वर्षों तक घाटे में रहती है और इस प्रक्रिया में संचित घाटे से उस इकाई की निवल सम्पत्ति (Net Worth) का ह्रास होता है तो उस स्थिति को औद्योगिक

रुग्णता कहते है। रुग्ण औद्योगिक कम्पनी (विशेष उपबंध) अधिनियम 1985 के अनुसार एक रुग्ण कम्पनी से तात्पर्य ऐसी मध्यम या बड़ी औद्योगिक कम्पनी (लघु उद्योग नहीं) से है जिसकी वित्तीय वर्ष के अंत में संचित हानि उसकी सम्पूर्ण निवल सम्पत्ति के बराबर या उससे अधिक हो तथा उस वित्तीय वर्ष से पहले वित्तीय वर्ष में भी उसे नकद घाटा हुआ हो। इस परिभाषा के अंतर्गत सरकारी कम्पनियाँ, शीपिंग कम्पनियाँ और छोटे पैमाने की औद्योगिक इकाइयाँ/आनुवांशिक इकाइयाँ नहीं आती है।

रुग्ण कंपनी घोषित होने से पहले इकाई कमजोर हो जाती है। जब कोई इकाई दुर्बल होने लगे उस अवस्था में कार्यवाही करना आवश्यक है ताकि वह रुग्ण इकाई के श्रेणी में न जा सके। यदि वर्तमान लेखा वर्ष से पूर्व के पाँच लेखा वर्षों में उस इकाई का संचित घाटा सर्वाधिक निवल मूल्य के बराबर या 50 प्रतिशत से अधिक है वह कमज़ोर इकाई कहलाती है।

'निवल मूल्य' से तात्पर्य मुक्त आरक्षिति (Free Reserves) और युक्त पूँजी (Paid-up capital) के योग से है। मुक्त आरक्षिति का अर्थ है : लाभ और भागेदारी बढ़ौती खाता (Share Premimum) से बचाए गए सभी आरक्षिति।

लघु उद्योगों में औद्योगिक रुग्णता बड़े पैमाने पर व्याप्त है। 1989 की रुग्ण लघु उद्योग इकाई की परिभाषा में कहा गया है कि यदि किसी लघु उद्योग इकाई की संचित हानि एक लेखावर्ष के अंत में पिछले पाँच वर्षों के उस इकाई के निवल मूल्य के 50 प्रतिशत के बराबर या उससे अधिक हो तो वह लघु उद्योग इकाई रुग्ण मानी जाएगी।

16.5.2 भारत में औद्योगिक रुग्णता का प्रभाव

पिछले दशक के दौरान भारत में औद्योगिक रुग्णता बढ़ रही है। इसने न केवल कुछ परम्परागत उद्योगों जैसे— सूती वस्त्र, जूट, चीनी और कागज उत्पादन में प्रवेश किया है बल्कि उन महत्वपूर्ण उद्योगों को भी प्रभावित किया है जो विशेषतः स्वतंत्रता के बाद स्थापित किए गए जैसे प्रोद्योगिकी, रसायन, लोहा और इस्पात तथा सीमेंट आदि।

MADHYAMIAS
'way to achieve your dream'

औद्योगिक क्षेत्र में बढ़ती रुग्णता के कारण उद्योगों को दिए गए ऋण की एक बहुत बड़ी रकम निधि रुद्ध (Locked up) है जो संसाधनों की बरबादी की द्योतक है।

तालिका 16.4 : मार्च 1994 के अंत में भारत में औद्योगिक बीमारी

	बीमार इकाइयों की संख्या	कुल बैंक ऋण का निधि-रोध (करोड़ रुपये)	कुल का प्रतिशत
1. गैर SSI बीमार इकाइयाँ	1909	8151	59.5
2. SSI कमज़ोर इकाइयाँ	591	1864	13.6
3. SSI बीमार इकाइयाँ	2,56,452	3680	26.9
कुल	**2,58,952**	**13,695**	**100.0**

31 मार्च 1994 तक बड़ी और मध्यम उद्योग क्षेत्रक में (गैर लघु उद्योग क्षेत्रक) 1,909 रुग्ण इकाइयाँ थी। जिनमें कुल 8,151 करोड़ रुपये बैंक ऋण का निधिरोध थी। इनके साथ 591 अन्य गैर लघु उद्योग इकाई रुग्ण थी उनमें कुल 1,864 करोड़ रुपये बैंक ऋण का निधि रोध था। दोनों का योग करने पर बड़ी और मध्यम उद्योग क्षेत्रक में रुग्ण इकाइयों में कुल 10,015 करोड़ रुपये की निधिरोध था जो कुल बैंक ऋण का 73 प्रतिशत है। इसके अतिरिक्त लघु उद्योग क्षेत्रक में 2,56,452 बीमार इकाइयाँ थी जिनमें 3680 करोड़ रु.

निधिरोध था। इस प्रकार पता चलता है कि कुल बैंक ऋण का 27 प्रतिशत रुग्ण इकाइयों में अवरूद्ध था।

तालिका 16.5 : उद्योगों के अनुसार बड़े और मध्यम उद्योगों की रुग्ण इकाइयों का वर्गीकरण

उद्योग	रुग्ण एवं दुर्बल इकाइयाँ	कुल का प्रतिशत	बकाया बैंक ऋण	कुल का प्रतिशत
वस्त्र	466	18.7	2018	20.1
प्रौद्योगिकी	297	11.9	1303	13.0
रसायन	207	8.3	866	8.6
लोहा और इस्पात	142	5.7	749	7.5
विद्युत	87	3.5	768	7.7
कागज	134	5.4	405	4.0
सीमेंट	67	2.7	336	3.4
चीनी/शकर	32	1.3	100	1.0
जूट	44	1.8	187	1.9
रबड़	52	1.7	129	1.3
अन्य	975	39.0	3154	31.5
कुल	**2500**	**100.0**	**10,015**	**100.0**

MAAPHYAM IAS

तालिका 16.5 में दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट है कि वस्त्र, प्रौद्योगिकी, रसायन, लोहा और इस्पात तथा विद्युत ये पांच उद्योग में बड़े व मध्यम उद्योग की 1199 कमजोर और बीमार इकाइयाँ आती हैं और इनमें कुल 5704 करोड़ रु. की बैंक ऋण निधि रूद्ध है (कुल बैंक ऋण का 57 प्रतिशत)। यह द्योतक है कि इन उद्योगों में बीमारी की मात्रा बहुत अधिक थी। निसंदेह, कागज, सीमेंट, शकर, जूट, रबड़ आदि उद्योग में भी बीमार इकाइयाँ थी किन्तु इनमें बीमार इकाइयों की संख्या कम थी।

भारत में राज्य अनुसार औद्योगिक रुग्णता का विश्लेषण

विभिन्न राज्यों की रुग्ण लघु उद्योग इकाइयों (SSI) और गैर लघु उद्योगों की बीमार व दुर्बल इकाइयों तथा उनमें बकाया बैंक ऋण से संबंधित आँकड़े तालिका 16.6 में दिए गए हैं। इकाइयों की संख्या भ्रमित करती है। क्योंकि संबद्ध इकाइयों का आकार भिन्न हो सकता है। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण संकेतक बकाया बैंक ऋण है। इसे आधार मानकर एकत्र किए आँकड़े बताते हैं कि औद्योगिक रूप से उन्नत सात राज्यों (महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु और केरल) की बीमार और कमजोर गैर लघु उद्योगों (Non SSI) इकाइयों में 7,376 करोड़ रुपये (कुल का 73.6 प्रतिशत) बकाया बैंक ऋण था। इन सात राज्यों में रुग्ण और कमजोर लघु उद्योग इकाइयों में बकाया बैंक ऋण 2593 करोड़ था (कुल का 70.5 प्रतिशत)। लघु और गैर लघु उद्योगों को मिलाकर इन राज्यों में कुल बकाया बैंक ऋण की राशि 9,969 करोड़ रुपये (72.7 प्रतिशत) थी। सबसे ऊपर महाराष्ट्र था जिसमें अवरुद्ध बैंक ऋण 2677 करोड़ रुपये (19.5 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल में 17.61 करोड़ रुपये (13 प्रतिशत) उत्तर प्रदेश में 1256 करोड़ रुपये (9.2 प्रतिशत) बकाया बैंक ऋण था।

तालिका 16.6 : 31 मार्च 1994 को भारत में औद्योगिक बीमारी का राज्यों के अनुसार विश्लेषण

	इकाइयों की संख्या		बकाया बैंक ऋण (करोड़ रुपये)			कुल का
	Non-SSI	SSI	Non-SSI	SSI	Total	प्रतिशत
1. महाराष्ट्र	436	21,350	1909	768	2677	19.5
2. पश्चिम बंगाल	292	56,083	1401	360	1761	12.9
3. उत्तर प्रदेश	201	33,915	948	335	1275	9.3
4. आंध्र प्रदेश	263	13,915	993	263	1256	9.2
5. गुजरात	222	7,812	862	235	1097	8.1
6. तमिलनाडु	207	8,125	644	428	1070	7.8
7. कर्नाटक	151	15,145	627	204	831	6.1
उपयोग(1से 7 तक)	1772 (70.9)	156272 (60.9)	7376 (73.6)	2593 (70.5)	9969 (72.7)	72.7
8. केरल	85	10,272	519	169	688	5.0
9. हरियाणा	88	1,669	366	80	446	3.3
10. बिहार	71	17,063	322	114	436	3.2
11. मध्य प्रदेश	117	9,795	283	144	427	3.1
12. उड़ीसा	61	17,235	281	75	356	2.6
13. राजस्थान	82	14,665	225	75	300	2.2
14. पंजाब	51	2,434	122	65	187	1.4
15. असम	35	14,210	145	40	185	1.4
16. अन्य	138	12,317	376	325	701	5.1
कुल का योग (1 से 16 तक)	**2500 (100.0)**	**256452 (100.0)**	**10015 (100.0)**	**3680 (100.0)**	**13695 (100.0)**	**100.0**

MADHYAM IAS

तालिका 16.7 : भारत में औद्योगिक बीमारी में वृद्धि

	बकाया बैंक ऋण (करोड़ रुपये) दिसम्बर 1980	मार्च 1994	औसत वार्षिक संवृद्धि-दर
Non SSI इकाइयाँ (बड़ी और मध्यम)	1,520	10,015	15.6
SSI बीमार इकाइयाँ	306	3,680	24.9
कुल	**1,826**	**13,695**	**16.8**

औद्योगिक रुग्णता में वृद्धि

तालिका 16.7 में 1981-94 तक उद्योगों में फैली रुग्णता की जानकारी दी गई है। यह आँकड़े बताते हैं कि बड़े और मध्यम इकाइयों में कुल बकाया बैंक ऋण दिसम्बर 1980 में 1520 करोड़ रुपये से बढ़कर मार्च 1994 में 10015 करोड़ रुपये हो गया। इसके विपरीत लघु उद्योग क्षेत्रक में बकाया बैंक ऋण दिसम्बर 1980 के 306 करोड़ रुपये से बढ़कर मार्च 1994 में 3680 करोड़ रुपये हो गया। इससे ज्ञात होता है कि औद्योगिक रुग्णता की घटना गैर लघु उद्योग इकाइयों की तुलना में लघु उद्योग इकाइयों में तीव्र गति से बढ़ी। दोनों

क्षेत्रकों का योग करने पर बकाया बैंक ऋण 1826 करोड़ से बढ़कर 13695 करोड़ रुपये तक पहुँचा जो 16.8 प्रतिशत की वार्षिक औसत वृद्धि-दर की ओर संकेत करता है।

16.5.3 बड़ी इकाई में रुग्णता के लिए उत्तरदायी कारक

औद्योगिक बीमारी के लिए दो प्रकार के कारक उत्तरदायी हैं–

बाह्य और आंतरिक

बाह्य कारकों की सूची में सम्मिलित हैं :

1) उत्पादन वितरण और कीमत से संबंधित सरकारी नीतियाँ

2) योजनाओं में नई प्राथमिकताओं के फलस्वरूप निवेश के ढांचे में परिवर्तन

3) बिजली, परिवहन और कच्चे माल की कमी

4) खराब औद्योगिक संबंध

औद्योगिक रुग्णता में सरकारी नीति भी कई मायनों में जिम्मेदार रही है। उदाहरण के तौर पर नियंत्रित वस्त्र योजना से कपास की कीमत भी नहीं निकल पाती और यही कपड़ा उद्योग की रुग्णता का मुख्य कारण बना। इसी प्रकार राष्ट्रीयकरण से पूर्व कोयले के मूल्य पर कठोर नियंत्रण थोपे जाने के कारण कोयला उद्योग में बीमारी फेली। किन्तु राष्ट्रीयकरण के तुरन्त बाद कोयले का मूल्य तीन साल की अवधि में ढाई गुना बढ़ा। ऐसी तर्कहीन नीतियाँ औद्योगिक रुग्णता का कारण बनी।

दूसरा कारक जो औद्योगिक बीमारी के लिए उत्तरदायी है वह है मजदूरी और आय के लिए एक स्पष्ट नीति का न होना। भारतीय रिर्जव बैंक, स्टेट बैंक, राष्ट्रीयकृत वाणिज्य बैंकों, जीवन बीमा निगम और इसी प्रकार के अधिक लाभ कमाने वाले अन्य उद्योगों के कर्मचारियों को सरकार अधिक मजदूरी और सुविधायें देती रही है। इन उद्योगों की देखा-देखी अन्य उपक्रमों/उद्योगों में कार्यरत श्रमिक भी अधिक मजदूरी की मांग करते है। सरकार का नियम बनना चाहिए कि समान योग्यता वाले कर्मचारी की मजदूरी सभी उद्योगों में एक समान या लगभग एक समान हो। ऐसा न करने पर उद्योगों में हड़ताल की स्थिति आ जाती है।

आतंरिक कारकों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण है :

1) मालिकों का कुप्रबंध

2) निधि पद्यांतरण (Diversion of Fund)

3) लाभांश से संबंधित गलत नीति

4) अत्यधिक उपरिव्यय

5) मशीनरी और अन्य उपकरणों के मूल्य ह्रास के प्रावधान का अभाव

6) मांग का अति अनुमान

16.5.4 लघु उद्योग इकाइयों में रुग्णता के लिए उत्तरदायी कारक

विभिन्न अध्ययनों के आधार पर निम्नलिखित कारक प्रकाश में आते हैं :

उद्योग प्रबन्धन के आधारभूत नियमों की अनदेखी : अनेक लघु उद्यमी थोड़े सी आरम्भिक पूँजी के साथ उद्योग प्रारम्भ करते हैं। तथा आगे आने वाले वर्षों में आन्तरिक वित्तीय शक्ति को मजबूत करने के लिए प्रयत्न ही नहीं करते। वे लघु काल के लिए कर्ज लेते हैं किन्तु मध्यम काल की परियोजनाओं में निवेश करते हैं जिससे संसाधन का संकट उत्पन्न होता है। इन लघु निवेश कर्ताओं के संकट का सामना करने की असमर्थता के कारण ऐसी इकाइयों में रुग्णता की स्थिति उत्पन्न होती है।

प्रबन्धन कुशलता की कमी : यह देखा गया है कि युवा उद्यमी रोमांचकारी विचारों के साथ उद्यम प्रारम्भ करते हैं। वे सुविधा सम्पन्न कार्यालय स्थापित करने के लिए उपरि व्यय बढ़ा लेते हैं। और ब्याज की ऊँची दरों पर उधार लेते हैं। यह उद्यमी लागत कम रखने की ओर विशेष ध्यान नहीं देते और विभिन्न ग्राहकों को उधार देते हैं जिसके परिणामस्वरूप व्यतिक्रम अधिक होता है। अतः अनुभवी प्रबन्धन का अभाव और बाजार की अपर्याप्त जानकारी रुग्णता का कारण बन जाती है।

सामर्थ्य का न्यून उपयोग : कच्चे माल की अनुपलब्धता या मांग में कमी या कार्य पूँजी की कमी के कारण भी लघु उद्योगों में रुग्णता पैदा होती है।

मुख्य उद्योगों द्वारा भुगतान न होना : अनेक लघु उद्योग इकाई बड़े इकाइयों को सामान देती है। यह बड़े उद्योग लघु उद्यमियों को कई महीनों तक भुगतान नहीं करते जिसके फलस्वरूप छोटे उद्योगों के पूँजी प्रवाह में बाधा आती है और छोटे उद्यम रुग्ण हो जाते हैं।

सरकार ने विभिन्न स्तर पर रुग्णता को रोकने के लिए कई कदम उठाए हैं। 1985 में रुग्ण औद्योगिक कम्पनी एक्ट पास किया गया था। भारतीय रिजर्व बैंक ने रुग्ण इकाइयों के निष्पादन को अनुवीक्षण (Monitor) करने के लिए एक विशेष प्रकोष्ठ स्थापित किया। सरकार ने एक निश्चित समय अवधि में मुख्य उद्योगों द्वारा लघु उद्योगों को भुगतान के लिए बाध्य करने वाला नियम भी पास किया जिसके पालन न करने पर उन्हें जुर्माना देना होगा। सरकार के विविध उपायों के उपरान्त भी औद्योगिक रुग्णता को नियंत्रित करना संभव नहीं हो सका। अतः सरकार को अब तक के मापदण्डों का पुनरनिरिक्षण करना होगा।

MADHYAM IAS

बोध प्रश्न 3

1) रुग्ण उद्योग कम्पनी एक्ट (1985) के अनुसार रुग्ण और दुर्बल इकाई की परिभाषा क्या है ?

.....

.....

.....

.....

.....

2) बड़ी और मध्यम इकाइयों में औद्योगिक रुग्णता के पाँच मुख्य कारण बताएं।

.....

.....

.....

.....

.....

3) लघु उद्योगों में औद्योगिक रुग्णता के तीन प्रमुख कारणों की सूची बनाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

16.6 सारांश

औद्योगिकीकरण के अंतर्गत उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन की प्रक्रिया आती है जो पुरानी से नयी तकनीक के रूप में होती है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की पुस्तकों में औद्योगिकीकरण के दो चरण दिए गए है। प्रथम चरण में भारी और मूल उद्योगों की स्थापना आती है। दूसरे चरण में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को औद्योगिक उत्पादन प्रणालियों में रूपान्तरित करना आता है। मार्क्सवाद के अनुसार विकासोन्मुख गैर औद्योगिक देशों में औद्योगिकीकरण का सोवियत मॉडल ही एकमात्र सही प्रणाली है। गैर मार्क्सवादी अर्थशास्त्रीयों ने कोई क्रम निर्धारित नहीं किया।

भारत में औद्योगिकीकरण के मार्ग में दो कठिनाईयाँ हैं : औद्योगिक इकाइयों का क्षेत्रीय केन्द्रीकरण और इकाइयों की रुग्णता।

भारत में कुछ राज्य अन्य राज्यों की अपेक्षा औद्योगिक रूप से अधिक विकसित है ये राज्य हैं : महाराष्ट्र, गुजरात, आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु।

औद्योगिक रुग्णता उस स्थिति को कहते हैं जब किसी इकाई को वर्ष के बाद दूसरे वर्ष में हानि होती है और इस प्रक्रिया में होने वाले घाटे के कारण उसका निवल मूल्य ह्रास होता है। यदि निवल मूल्य ह्रास 50 प्रतिशत तक हो तो वह इकाई कमजोर मानी जाती है। निवल मूल्य ह्रास 100 प्रतिशत या उससे अधिक होने पर इकाई को बीमार माना जाता है।

बड़े और मध्यम उद्योगों के साथ-साथ लघु उद्योगों में भी औद्योगिक बिमारी व्याप्त है। औद्योगिक रुग्णता मुख्यतः पांच उद्योगों में केन्द्रित है अर्थात वस्त्र, इंजीनियरीं, रसायन, लोहा इस्पात और विद्युत उद्योग। दूसरी ओर सात राज्यों जैसे महाराष्ट्र, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, गुजरात, तमिलनाडु और केरल में औद्योगिक बिमारी का केन्द्रीकरण दर्शित होता है।

1981-94 की अवधि में भारत में बकाया बैंक ऋण के आधार पर मापी गई औद्योगिक रुग्णता के प्रतिवर्ष 16.8 प्रतिशत वृद्धि हुई है। गैर लघु उद्योगों की इकाइयों में यह वृद्धि-दर 15.6 प्रतिशत थी जबकि लघु उद्योगों की इकाइयों में औद्योगिक रुग्णता की वृद्धि-दर 24.9 प्रतिशत थी। सरकार ने औद्योगिक रुग्णता की समस्या दूर करने के लिए अनेक उपाय किए किन्तु ये उपाय सभी उद्योगों में सफल नहीं रहे।

16.7 शब्दावली

पूँजी-प्रधान उद्योग : वे उद्योग जिनमें श्रम की प्रति इकाई पर अधिक पूँजी लगती है।

आर्थिक आधारिक संरचना : से अभिप्राय उन प्रायोजनाओं से होता है जिनमें विद्युत शक्ति, सिंचाई, परिवहन और संचार के उत्पादन पर बल दिया जाता है।

भारी उद्योग : के अंतर्गत लोहा और इस्पात, भारी मशीनरी, इंजीनियरी उद्योग, बिजली, कोयला और भारी रसायन आते हैं, जिनका संबंध पूँजीगत पदार्थ क्षेत्रक से होता है।

औद्योगिक रुग्णता : तब मानी जाती है जब किसी औद्योगिक इकाई में एक के बाद दूसरे वर्ष में हानि होती रहती है और इस प्रक्रिया में उसकी निवल संपत्ति में कमी होती है।

उद्योगीकरण : आर्थिक विकास की एक प्रणाली जिसमें प्राकृतिक संसाधनों के मुख्य भाग का उपयोग तकनीकी रूप से अद्यतन और बहुशाखी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का विकास करने के लिए किया जाता है, जो समस्त अर्थव्यवस्था में तेजी से संवृद्धि ला सके और आर्थिक एवं सामाजिक पिछड़ेपन को दूर कर सके।

निवल संपत्ति : इससे अभिप्राय होता है प्रदत्त पूँजी और मुक्त रिजर्व का योग। मुक्त रिजर्व का अर्थ होता है लाभों और शेयर प्रीमियम खाते से क्रेडिट किए गए सभी रिजर्व।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Ruddar Datt and KPM Sundaram (1999), *Indian Economy*, 38th Ed. S.Chand & Co., New Delhi.

Reserve Bank of India, Report on Currency and Finance, (1994-95).

Government of India (1961), Problems in Third Plan- A Critical Miscellany.

Planning Commission (1961), Second Five Year Plan - The Framework.

Shirokov, G.K. (1973), *Industrialisation of India*, Peoples' Publishing House, New Delhi.

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए भाग 16.2 में पढ़े।

बोध प्रश्न 2

क) औद्योगिक क्षेत्रक माध्यमिक क्षेत्रक का ही एक अंग है। माध्यमिक क्षेत्रक में उद्योगों के साथ-साथ विनिर्माण गतिविधियाँ भी सम्मिलित हैं।

ख) औद्योगिक क्षेत्रक में उत्पादन के अतिरिक्त विद्युत और खनन भी शामिल है।

ग) टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं ज्यादा लम्बे समय तक प्रयोग में आती है। जबकि अल्पकालिक उपभोक्ता वस्तु केवल एक बार प्रयोग में आती है।

बोध प्रश्न 3

क) रुग्ण औद्योगिक कम्पनी एक्ट 1985 के अनुसार रुग्ण इकाई वह है जिसका संचित हानि उसके कुल मूल्य से अधिक या उसके बराबर है। इसके अतिरिक्त इस कम्पनी ने वर्तमान वित्त वर्ष और उससे पहले वित्त वर्ष में भी घाटा भुगता हो।

ख) बड़े और मध्यम उद्योगों में औद्योगिक रुग्णता के मुख्य कारण है:

1) सरकारी नीतियाँ
2) सरकार की प्राथमिकताओं में परिवर्तन
3) विद्युत और कच्चे माल की कमी
4) बिगड़ते औद्योगिक संबंध
5) कु-प्रबंधन

ग) लघु उद्योगों में औद्योगिक रुग्णता के मुख्य कारण हैं:

1) व्यापार प्रबंधन के आधारभूत मूल्यों का पालन न होना
2) क्षमता का कम उपयोग
3) मूल्यों द्वारा भुगतान न करना ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 17 औद्योगिक विकास में राज्य की भूमिका

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 प्रारम्भिक परस्पर-विरोधी विचार
  17.2.1 दो चरम विचार
  17.2.2 मुख्य धारा विचार
17.3 औद्योगिक नीति के आधार
  17.3.1 आयात प्रतिस्थापन तथा नियंत्रण
  17.3.2 विदेशी पूँजी
17.4 औद्योगिक नीति प्रस्ताव
  17.4.1 औद्योगिकी नीति का उद्देश्य
  17.4.2 उद्योगों का वर्गीकरण
  17.4.3 औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956
  17.4.4 लाइसेंसीकरण प्रणाली
17.5 औद्योगिक नीति प्रस्ताव-1956 : एक मूल्यांकन
  17.5.1 मूल्यांकन का मानदंड
  17.5.2 नियंत्रणों का मूल्यांकन
17.6 उदारीकरण की ओर
  17.6.1 औद्योगिक लाइसेंसीकरण नीति, 1970
  17.6.2 औद्योगिक नीति, 1977
  17.6.3 उदारीकरण नीति, 1980
  17.6.4 उदारीकरण उपाय, 1985
17.7 नई औद्योगिक नीति, 1991
  17.7.1 औद्योगिक लाइसेंसीकरण
  17.7.2 विदेशी निवेश
  17.7.3 विदेशी प्रौद्योगिकी समझौते
  17.7.4 सार्वजनिक क्षेत्र
  17.7.5 MRTP अधिनियम
17.8 नई औद्योगिक नीति की समीक्षा
17.9 सारांश
17.10 शब्दावली
17.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्नलिखित कर सकेंगे :

- जान सकेंगे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के समय हमारा औद्योगिक ढाँचा क्या था और अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण के लिए हमने क्या नीति अपनाई;
- विभिन्न औद्योगिक प्रस्तावों और उनमें प्राथमिकताओं की व्याख्या कर सकेंगे;
- अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण की प्रक्रिया में अपनाई गई लाइसेंसीकरण नीति की व्याख्या कर सकेंगे;

- अपनाए गए उदारीकरण के कार्यक्रम को समझ सकेंगे;
- उदारीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करने में समर्थ होंगे; तथा
- विदेशी निवेश व विदेशी प्रौद्योगिकी के संदर्भ में, नीति परिवर्तनों की समीक्षा कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

खंड 1 में हम यह देख चुके हैं कि, प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व, भारत में बहुविकसित सूती कपड़े और पटसन वस्त्रों के उद्योग थे। इसके अतिरिक्त अंतर-युद्ध अवधि (inter-war period) में इस्पात, चीनी, सीमेंट, माचिस, वनस्पति, साबुन तथा इंजीनियरी की अनेक शाखाएँ जैसे अनेक उद्योग स्थापित किये गए थे। लेकिन इतना काफी नहीं था। वास्तव में बड़े उद्योगों के क्षेत्र का महत्व तो इस बात से ही पता चलता है कि 1948-49 में देश की कुल कार्यकारी जनसंख्या का केवल 6.5 प्रतिशत ही कारखानों में काम कर रहा था। औद्योगिक ढाँचे में प्रमुख कमी यह थी कि यह असंतुलित था, क्योंकि यह केवल उपभोक्ता वस्तुओं पर आधारित था। कुछ अपवादों को छोड़ कर इनका स्वामित्व निजी क्षेत्र के पास था। सूती कपड़ा उद्योगों को छोड़ अधिकतर उद्योगों का नियंत्रण विदेशी था। जो कुछ भी विकास हुआ उसका आधार दीर्घकालीन कार्यक्षमता न होकर लाभकर स्थान (location), बाजार का आकार, कच्चे माल की उपलब्धता, उपयुक्तता (जो कि अधिकतर सुरक्षित बाजार एवं युद्ध की आवश्यकताओं के कारण थी) थे।

यह तो हम पहले जान चुके हैं कि आजादी से पहले की उपनिवेशी सरकार की उद्योग व कृषि दोनों के ही विकास में रुचि नहीं थी, क्योंकि उसके हित भारतीय जनता के हित से मेल नहीं खाते थे। लेकिन आजादी के बाद की नयी सरकार को गरीबी का दुश्चक्र तोड़ने, औद्योगीकरण के लिए वातावरण तैयार करने और आर्थिक विकास करने का मौका मिला। प्रश्न यह था : विकास के बारे में उपनिवेशी विचारों की प्रधानता कैसे त्यागें और राष्ट्रीय आंदोलन की अपेक्षाओं को कैसे पूरा करें। इस इकाई में हम इन उद्देश्यों को पूरा करने हेतु औद्योगिक नीति, विनियमन तथा नियंत्रणों, आदि, उपायों पर विचार करेंगे।

17.2 प्रारम्भिक परस्पर-विरोधी विचार

1950 के दशक में इस बात पर बहुत बहस हुई थी कि आर्थिक विकास की ऋणनीति क्या हो। गरीबी के दुष्चक्र को कैसे तोड़ा जाए। उस समय इस पर बहुत से विचार व्यक्त किये गए थे।

17.2.1 दो चरम विचार

एक विचार मुक्त उद्यम विचारधारा का था। इसके अनुसार सभी आर्थिक गतिविधियाँ निजी क्षेत्र तथा बाजार शक्तियों पर छोड़ देनी चाहिए। यह विचार कुछ एक उद्योगपतियों व अर्थशास्त्रियों का था।

इसके विपरीत बहुत से लोगों का विश्वास था कि आज़ादी से पूर्व भारत के अल्पविकास के पीछे कारण यह था कि सरकार ने औद्योगीकरण को बढ़ावा नहीं दिया और सारे घरेलू उद्यमों को बाजार शक्तियों पर छोड़ दिया था, जिससे कि उनका विकास नहीं हुआ। अतः आर्थिक विस्तार हेतु उचित वातावरण तैयार करने के लिए आर्थिक कार्यों में सरकार की सक्रिय भूमिका की आवश्यकता थी। ऐसा दो कारणों से आवश्यक था :

1) सड़क, बिजली, संचार आदि, जैसी बुनियादी सुविधाओं को विकसित करना, तथा
2) औद्योगिक क्षेत्र के असंतुलन को दूर करने हेतु मशीन विनिर्माण क्षेत्र को स्थापित करना।

कई अन्य कारणों से भी केवल बाजार शक्तियों पर भरोसा रखना ठीक नहीं समझा गया था। ऐसा विचार था कि इन शक्तियों पर भरोसा करने से औद्योगीकरण की प्रक्रिया में देरी होगी, जैसा कि इग्लैंड और पश्चिम यूरोप में हुआ। न ही भारतीय उद्योगपति और न ही भारतीय लोग विकास को बाजार शक्तियों पर छोड़ कर एक शताब्दी या इससे अधिक तक प्रतीक्षा करना चाहते थे। रूस और जापान के आर्थिक विकास के अनुभव सामने थे जिससे यह पता चलता था कि यदि राज्य द्वारा विनियमित व नियोजित आर्थिक कार्य सही ढंग से हो, तो एक शताब्दी की विकास प्रक्रिया को 30-40 वर्षों में प्राप्त किया जा सकता है। इन सभी कारणों से मुक्त उद्यम विचारधारा अल्पमत में रह गई थी।

एक दूसरा चरम विचार यह था सम्पत्ति संबंधों में क्रांतिकारी परिवर्तन लाए जाएँ, यानि सभी सम्पत्तियाँ, ग्रामीण व शहरी, कृषि में व उद्योग में, राज्य और समाज को हस्तांरित कर दी जाएँ, जैसा कि एक समाजवादी देश में होता है। इस विचार को भी त्याग दिया गया क्योंकि इसको आवश्यक समर्थन नहीं मिला।

17.2.2 मुख्य धारा विचार

चरम विचारधाराओं से अलग, तीन अन्य विचार थे : (i) गाँधीवादी विचार लघु उद्योगों और आत्म निर्भरता के पक्ष में था, (ii) राष्ट्रवादी उद्योगपतियों का विचार था कि बड़े उद्योगों के माध्यम से तेजी से औद्योगिकीकरण हो और विदेशी प्रतियोगिता से संरक्षण मिले; (iii) नेहरू और उनके जैसे सामाजिक लोकतंत्रवादियों का विचार था कि सार्वजनिक क्षेत्र के अधीन पूँजीगत वस्तु उद्योगों के माध्यम से तेजी से औद्योगीकरण हो, और साथ-साथ लघु और कुटीर क्षेत्र के समर्थन की भी व्यवस्था हो। बड़े उद्योगों और छोटे उद्योगों पर केंद्रित इन विचारों में विभिन्नता के पीछे रोज़गार और तेजी से विकास के बीच चुनाव करना था। गाँधीवादियों का तर्क था कि बड़े उद्योगों की अपेक्षा छोटे उद्योगों से अधिक रोजगार मिलेगा। सामाजिक लोकतंत्रवादियों ने यह कहकर आलोचना की कि इससे विकास की गति धीमी रहेगी। अंततः फैसला पूँजी वस्तुओं पर आधारित औद्योगीकरण के पक्ष में हुआ जिसमें लघुस्तर और कुटीर उद्योगों के विकास की भी व्यवस्था थी। इस बात पर जोर दिया गया कि पूँजीगत वस्तुओं (मशीन विनिर्माण) के क्षेत्र के उचित विकास के बिना विकास की कोई भी रणनीति सफल नहीं हो पाएगी, चाहे यह लघु उद्योगों या फिर बड़े उद्योगों पर आधारित हो।

इस विचार को प्रोफेसर महालनोबिस (Mahalanobis) का भी समर्थन मिला कि अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर का सीधा संबंध पूँजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में लगे विनियोग अनुपात से है। जितना अधिक यह अनुपात होगा उतनी अधिक संवृद्धि की दर होगी।

जब यह तय हो गया कि औद्योगिक ढाँचा पूँजीगत वस्तुओं के पक्ष में होगा, तो प्रश्न यह उठा कि यह कौन करेगा? सरकार या निजी उद्योगपति? इसका निर्णय वित्त उपलब्धता के आधार पर होना था। उस समय निजी क्षेत्र के पास न तो तकनीकी जानकारी थी और न ही वित्तीय साधन।

अतः यह आवश्यक समझा गया कि अगर तीव्र विकास के उद्देश्य को पाना है, तो आधारभूत व सामरिक महत्त्व के सभी उद्योग, व सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाएँ सार्वजनिक क्षेत्र में

होगी। अन्य आवश्यक उद्योग, जिनमें बहुत अधिक धन की आवश्यकता थी, भी सार्वजनिक क्षेत्र में होंगे। अन्य सभी उद्योगों का विकास निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया।

इस प्रकार बहुत से उद्योगों के विकास की जिम्मेदारी सरकार को लेनी थी। सरकार ने इस हेतु आयोजन का सहारा लिया। इसके स्वरूप की व्याख्या इकाई–7 में की गई है। यहाँ इतना जानना आवश्यक है कि भारत ने केंद्रीय आयोजन एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के लिए अपनाया, जिसमें निजी और सार्वजनिक क्षेत्रों को विकास में पूरक भूमिकाएँ निभानी थी। इस बारे में रणनीति निम्नलिखित खंडों में बताई गई है।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित में से कौन सा वक्तव्य सही है, कौन सा गलत?

   i) स्वतंत्रता पूर्व के भारत के औद्योगिक ढाँचे की मुख्य विशेषता पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विकास था। ( )

   ii) भारत में उपनिवेशी सरकार कृषि या उद्योग के विकास में रुचि नहीं रखती थी। ( )

   iii) सामाजिक लोकतंत्रवादी लघु उद्योगों के विकास और आत्मनिर्भरता के पक्ष में थे। ( )

   iv) महालनोबिस के अनुसार, "अर्थव्यवस्था की संवृद्धि दर का सीधा संबंध पूंजीगत वस्तुओं के क्षेत्र में लगे विनियोग अनुपात से था"। ( )

2) औद्योगीकरण को बढ़ावा देने हेतु सरकारी हस्तक्षेप क्यों आवश्यक था? दो वाक्यों में उत्तर दीजिए।

   .....

   .....

   .....

3) विकास के बारे में नेहरू और गाँधी के विचारधाराओं के बीच अंतर की व्याख्या कीजिए (तीन वाक्यों में)।

   .....

   .....

   .....

17.3 औद्योगिक नीति के आधार

सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में निवेश सीधे प्रत्यक्ष आयोजन द्वारा होना था। निजी क्षेत्र में निवेश सरकारी भौतिक नियंत्रण के आधार पर होना था। ये नियंत्रण व्यापक लाइसेंसीकरण प्रणाली और योजना आयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्यों के रूप में थे। इस प्रणाली से दो बातें निर्धारित होनी थी : (i) उत्पाद स्तर तक निवेश ढाँचा, तथा (ii) प्रौद्योगिकी, पैमाने, विस्तार,

स्थान, आयातित तत्त्व (import content), वित्त एवं जानकारी में विदेशी सहयोग का चुनाव।

17.3.1 आयात प्रतिस्थापन तथा नियंत्रण

आयात प्रतिस्थापन का आधार दो महत्त्वपूर्ण कारक थे। एक निराशाजनक निर्यात तथा दूसरे, घरेलू प्रारम्भिक उद्योगों को संरक्षण की आवश्यकता।

इनमें से प्रमुख विकास के दौरान प्रारम्भिक उद्योगों को संरक्षण देने की आवश्यकता थी। इस रणनीति के अधीन ऊँचे प्रशुल्क (tariff) एवं कोटा प्रतिबंधों (quota restrictions) द्वारा प्रारम्भिक उद्योगों को आयातों से प्रतिस्पर्धा से संरक्षण देना था।

इस रणनीति में यह भी निहित था कि जैसे-जैसे ये प्रारम्भिक उद्योग विकसित हो जाते हैं, यह संरक्षण हटा लिया जाएगा और उद्योग अंतरराष्ट्रीय बाजारों में स्पर्धा कर पाएँगे और आयात आय में वृद्धि होगी। इसके पीछे औचित्य यह था कि अल्पकाल में तो कुछ लागत चुकानी पड़ेगी, लेकिन दीर्घकाल में एक गतिशील औद्योगिक क्षेत्र की बढ़ती हुई घरेलू माँग को पूरा करने में सक्षम होगा। यह आत्मनिर्भरता की दिशा में एक कदम था। लेकिन महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था कि आयात प्रतिस्थापन कहाँ तक और कितनी कुशलता से प्राप्त किया जा सकता था।

भौतिक नियंत्रण औद्योगिक लाइसेंसीकरण व आयात लाइसेंसीकरण तक ही सीमित नहीं थे। कई विनिर्मित व अर्धविनिर्मित वस्तुओं के मूल्यों एवं वितरण पर भी नियंत्रण लगाए गए थे। इसके पीछे ये उद्देश्य थे :

i) प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को उचित दरों पर उपयुक्त आबंटन (allocation) सुनिश्चित करना;

ii) आधारभूत वस्तुओं, जिनका व्यापक अग्रानुबंधन (forward linkage) है अर्थात् जिनका प्रयोग अनेक वस्तुओं के बनाने में होता है, कीमत वृद्धि के कारण होने वाले स्फीतिकारी प्रभावों को रोकना, तथा समाज के आर्थिक तौर पर कमजोर वर्गों के हितों की रक्षा करना; और

iii) समानता का विचार

17.3.2 विदेशी पूँजी

औद्योगिक रणनीति में विदेशी निवेश और प्रौद्योगिकी के आयात के बारे में भी एक नीतिगत वक्तव्य था। विदेशी पूँजी के बारे में सरकार का दृष्टिकोण 1949 में लोकसभा में प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा दिए गए नीतिगत वक्तव्य से तय होना था। भारतीय अर्थव्यवस्था में औद्योगिकीकरण तेज करने के लिए सरकार ने विदेशी पूँजी और उद्यम की भागीदारी, विशेषतया औद्योगिक तकनीक और जानकारी के बारे में, प्राप्त करने की आवश्यकता को समझा। वक्तव्य में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि स्वामित्व में प्रमुख भागीदारी और प्रभावी नियंत्रण भारतीयों के हाथ में होगा। नीति यह थी कि फीस या रायल्टी देकर प्रौद्योगिकी को सीधे ही खरीद लिया जाए न कि यह विदेशी निवेश के रूप में आए।

17.4 औद्योगिक नीति प्रस्ताव

भारत में औद्योगिक नीति के व्यापक उद्देश्य 1948, 1956 व 1973 के औद्योगिक नीति प्रस्तावों तथा 1975, 1980, 1985-86 व 1991 के औद्योगिक नीति वक्तव्यों में स्पष्ट किए गए

हैं। औद्योगिक नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं :

17.4.1 औद्योगिक नीति का उद्देश्य

i) योजना की प्राथमिकताओं एवं लक्ष्यों के अनुसार औद्योगिक निवेश और उत्पादन का विकास एवं विनियमन;

ii) उद्योगों में स्वामित्व के केंद्रीयकरण को रोकना;

iii) छोटे और कुटीर उद्योगों का संरक्षण और बढ़ावा;

iv) विदेशी निवेश को सीमित करना और नियंत्रण करना;

v) विकास के स्तरों में असमानता घटाने हेतु देश के विभिन्न क्षेत्रों का संतुलित आर्थिक विकास;

vi) आयात प्रतिस्थापन पर आधारित औद्योगिक नीतियों के माध्यम से आत्मनिर्भरता प्राप्त करना; और

vii) विकास प्रक्रिया में सार्वजनिक क्षेत्र को केंद्रीय भूमिका देना।

उत्पादन लक्ष्य प्राप्त करने हेतु औद्योगिक निवेश का नियमन करना व एकाधिकारिक प्रवृत्तियों को रोका जाना था ताकि घरेलू कारीगरों एवं स्थानीय विशेषज्ञता को बढ़ावा मिले, और छोटे और कुटीर उद्योगों को संरक्षण मिले। विदेशी निवेश को नियंत्रित कर एक सीमा में रखा गया ताकि घरेलू उद्योग फले-फूलें। इसी तरह असंतुलित विकास कम करने के लिए, संतुलित विकास की नीति अपनाना एक और उद्देश्य था। आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए, आयात प्रतिस्थापन की नीति अपनायी गयी और सार्वजनिक क्षेत्र के माध्यम से विकास में राज्य को महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

7.4.2 उद्योगों का वर्गीकरण

948 की औद्योगिक नीति में विकास की गति तेज करने हेतु एक मिश्रित अर्थव्यवस्था की ीव रखने पर बल दिया गया जिसमें निजी एवं सार्वजनिक उद्यम एक साथ काम करेंगे। उद्योगों को चार वर्गों में बाँटा गया :

i) सरकार का एकमात्र एकाधिकार : हथियार व गोला बारुद, रेलवे, परमाणु ऊर्जा, परिवहन।

ii) नए उद्योग जिनमें नया निवेश केवल राज्य करेगा : जैसे कोयला, इस्पात, लोहा, वायुयान विनिर्माण, पोत निर्माण, टेलीफोन, तार व बेतार उपकरण का विनिर्माण।

iii) आधारभूत महत्त्व के उद्योग जिनके बारे में सरकार योजना बनाएगी और इनका नियमन करेगी : जैसे नमक, स्वचालित वाहन, मशीनी औजार, रसायन, अलोह धातु, सीमेंट, चीनी, कागज आदि।

iv) शेष सभी उद्योग निजी क्षेत्र के लिए छोड़ दिए गए।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 पास किया गया। इसके अनुसार, (i) अनुसूचित उद्योगों में वर्तमान उपक्रमों का पंजीकरण कराना आवश्यक , तथा (ii) केन्द्रीय सरकार से लाइसेंस प्राप्त किए बिना न तो नए उपक्रम खुल सकते थे और न ही वर्तमान उपक्रमों का विस्तार हो सकता था।

1948 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव अपनान क बाद भारत में काफी महत्त्वपूर्ण गतिविधियाँ हुई। आयोजन प्रारम्भ हुआ और प्रथम पंच वर्षीय योजना 1951 में प्रारम्भ हुई। संसद ने 1955 में समाजवादी ढाँचे को अपनाया। इसके कारण औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन की आवश्यकता हुई। अंततः अप्रैल 1956 में दूसरा औद्योगिक नीति प्रस्ताव अपनाया गया।

17.4.3 औद्योगिक नीति प्रस्ताव, 1956

इस प्रस्ताव में उद्योगों को तीन वर्गों में बाँटा गया और प्रत्येक वर्ग में राज्य की भूमिका स्पष्ट की गई।

i) वे उद्योग जिनके भविष्य में विकास की पूर्ण जिम्मेदारी राज्य पर होगी।

ii) वे उद्योग जो अधिकतर राज्य के स्वामित्व में होंगे और जिनमें नए उपक्रम खोलने में सरकार पहल करेगी, लेकिन निजी क्षेत्र से भी पूरक भूमिका निभाने की आशा है।

iii) बाकी सभी उद्योग जिनके, विकास और उनके खोलने में पहल करने की जिम्मेदारी निजी क्षेत्र की रहेगी।

ये वर्ग कठोर नहीं थे। उदाहरण के तौर पर प्रथम वर्ग में निजी क्षेत्र को पूरी तरह बाहर नहीं रखा गया था। सरकार राष्ट्रीय हित में नई इकाइयाँ खोलने में निजी क्षेत्र का सहयोग लेने में स्वतंत्र थी। लेकिन साथ-साथ यह भी व्यवस्था थी कि पूँजी में प्रमुख भागीदारी सरकार की ही रहेगी ताकि इनकी नीतियों और कार्यों पर सरकार का नियंत्रण ही रहे। दूसरा वर्ग एक मिश्रित वर्ग था जिसको आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी सरकार की थी, लेकिन निजी क्षेत्र अपने तौर पर या फिर राज्य के सहयोग से इसमें योगदान देने के लिए स्वतंत्र था। शेष सभी उद्योगों, जिनके विकास के लिए सामान्यतः पहल निजी क्षेत्र को करना था, लेकिन सरकार इनमें भी कोई उद्योग खोलने के लिए स्वतंत्र थी।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

17.4.4 लाइसेंसीकरण प्रणाली

सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच विभाजन लाइसेंसीकरण प्रणाली के माध्यम से करना था। किसी भी उद्यम को किसी नई वस्तु का उत्पादन शुरू करने से पहले, या क्षमता में वृद्धि से पहले, सरकार से लाइसेंस प्राप्त करना आवश्यक था। इसके लिए दिए गए आवेदन की जाँच तकनीकी-आर्थिक दृष्टिकोण से तकनीकी विकास महानिदेशालय करता था। यह जाँच करता था कि उद्योग में वर्तमान क्षमता काफी है या नहीं, मशीनों, कच्चेमाल व तकनीकी जानकारी के आयात की आवश्यकता होगी या नहीं, और क्या यह आयोजन की प्राथमिकताओं के अनुसार है या नहीं। अच्छी तरह जाँच करने के बाद 1951 के उद्योग अधिनियम की रूपरेखा के अनुसार कार्य करने वाली एक लाइसेंसीकरण कमेटी (अंतः अनुसचिवीय), जिसको 1952 में स्थापित किया गया था, इसको पास करती थी।

इसके अलावा भावी निवेशक को और बहुत से नियंत्रणों से गुजरना पड़ता था। पूँजीगत वस्तु लाइसेंसीकरण कमेटी से लाइसेंस प्राप्त करना पड़ता था। यह कमेटी आयात लाइसेंस देती थी। और यदि कोई विदेशी सहयोग लेना होता था तो विदेशी समझौता कमेटी से सहमति आवश्यक थी।

इस औद्योगिक नीति प्रस्ताव में छोटे पैमाने के उद्योगों की समस्या के बारे में भी कहा गया था। इन उद्योगों के कुछ लाभ होते हैं। ये तुरंत रोजगार दिलाते हैं। राष्ट्रीय आय का अधिक समान वितरण करने में सहायक होते हैं। ऐसी पूँजी और कौशल प्राप्त करवाने में सहायक

होते हैं, जो कि लघु उद्योग न होने पर प्रभावहीन हो जाता। इसमें सरकार की भूमिका यह थी कि इन उद्योगों के आधुनिकीकरण में सहायता करे और इनके प्रबंध ढाँचे में सुधार लाए।

17.5 औद्योगिक नीति प्रस्ताव -1956 : एक मूल्यांकन

इस प्रस्ताव के संदर्भ में प्रथम तीन योजना अवधियों में औद्योगीकरण प्रक्रिया, कीमत व वितरण नियंत्रण व व्यापार नीति की समीक्षा पहली बार भगवती व देसाई (1970) ने की। इस बारे में उन्होंने सूचना भारत सरकार की विभिन्न समितियों की रिपोर्टों से प्राप्त की। वे अधिकतर हजारी समिति (1967) की औद्योगिक आयोजन एवं लाइसेंसीकरण नीति पर रिपोर्टों, एकाधिकार जाँच कमीशन (1964), अनुमान समिति (1967-68) की औद्योगिक लाइसेंसीकरण पर नवीं रिपोर्ट, तकनीकी विकास महानिदेशालय पर माथुर अध्ययन दल (1965), तथा स्वामीनाथन समिति की दो रिपोर्ट (1964 व 1966), पर निर्भर रहे। उन्होंने औद्योगिक आयोजन की दृष्टिकोण से (i) लाइसेंसीकरण प्रणालियों की आर्थिक कुशलता, (ii) पंचवर्षीय योजनाओं में निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों द्वारा लक्ष्य निर्धारित करने की विधियाँ, तथा (iii) कीमत व वितरण नियंत्रणों की जाँच की।

17.5.1 मूल्यांकन का मानदंड

औद्योगिक आयोजन हेतु लाइसेंसीकरण प्रणालियों की आर्थिक कुशलता की जाँच इन आधार पर की :

i) मशीनों के वास्तविक चुनाव में अपनाया गया मानदंड।

ii) इन प्रश्नों पर किसी फैसले पर पहुँचने के लिए तकनीकी विकास महानिदेशालय द्वारा इकट्ठी की गई सूचना।

iii) लक्ष्य पूरा करने हेतु प्रार्थना-पत्रों के चुनाव में लाइसेंसीकरण समिति द्वारा अपनाई गई कार्यविधि।

iv) प्रार्थना-पत्र मंजूर करने में लिया गया समय।

v) औद्योगिक स्वामित्व के केंद्रीयकरण को रोकने और प्रतियोगी प्रणाली को बढ़ावा देने में लाइसेंसीकरण और विनियमन प्रणाली की भूमिका।

विश्लेषण से पता चलता है कि स्थिति काफी असंतोषजनक थी। तीनों योजनाओं की पूरी अवधि में लक्ष्य निर्धारण का आधार कमजोर था, लेकिन विस्तृत और व्यापक था। लाइसेंसीकरण बहुत गंभीरता से लिया गया, विशेषतया क्षमता पर नियंत्रण रखने के लिए। लक्ष्यों की प्राप्ति सुनिश्चित करने के लिए लाइसेंसीकरण कार्यविधियों में काफी कमियाँ पाई गई। अनुवर्ती कार्यवाही कमजोर थी। प्रार्थियों के लिए कुशलता के चुनाव का मापदंड की परिभाषा स्पष्ट नहीं थी। लायसेंसीकरण कार्यविधियाँ कुछ इस प्रकार बनी थी कि इनमें इन चुनावों का ध्यान नहीं रखा जाता था। संतुलित क्षेत्रीय विकास तथा स्वामित्व के केंद्रीयकरण को रोकने जैसे उद्देश्यों पर बल तो दिया जाता था, लेकिन न्यूनतम आर्थिक लागत पर इन्हें प्राप्त करने की कोई कार्यविधियाँ नहीं बनायी गयी थी। कई बार तो कार्यविधि इस उद्देश्य को प्राप्त करने में बाधक थी। बड़े औद्योगिक घराने अपना प्रभाव प्रयोग में लाकर लायसेंस प्राप्त कर लेते थे। बड़े व्यावसायिक समूहों का अधिक विकास, पहले से ही प्राप्त अधिकृत क्षमता के कारण, छोटे व मध्यम दर्जे के उद्यमों के विकास में रुकावट था।

17.5.2 नियंत्रणों का मानदंड

प्रमुख कानूनी प्रावधान जिनके अधीन सरकार कार्य करती थी, ये थे : (i) आवश्यक वस्तु

अधिनियम, (ii) उद्योग (विकास व नियमन) अधिनियम। इसके अलावा अनौपचारिक मूल्य नियंत्रण भी होते थे। 1970 तक की सारी अवधि में कई वस्तुओं के मूल्य और वितरण पर नियंत्रण थे। ये मुख्यतः इन वस्तुओं पर थे : लोहा, इस्पात, अलोह धातु, कोयला, खाद, कार्बन, सूती कपड़ा, कागज़, चीनी, मोटर कार, स्कूटर, व्यावसायिक वाहन, शराब, शीरा, सीमेंट, दवाईयाँ, मिट्टी का तेल व अन्य पेट्रोल पदार्थ, साईकलें, टायर, ट्यूब, प्राकृतिक रबर, वनस्पति, साबुन व माचिस। इन सभी मदों पर सभी समय एक साथ नियंत्रण नहीं थे, न ही सभी पर कीमत और वितरण दोनों प्रकार के नियंत्रण एक साथ थे; काफी मदों पर केवल मूल्य नियंत्रण थे।

विस्तृत समीक्षा से पता चला कि ये नियंत्रण अविवेचित थे। भगवती व देसाई का तर्क था कि बिना प्रत्यक्ष कुशलता की जाँच किए और बिना कोई इनके विकल्प ढूँढे, ये नियंत्रण प्रत्यक्ष दखल के रूप में सामान्य आर्थिक दर्शन के परिणाम थे।

प्रशासनिक प्रक्रिया के माध्यम से कार्य करने वाली इन नीतियों के क्षुब्ध करने वाले आर्थिक परिणाम निकले। बड़े औद्योगिक घराने अपने प्रभावों का इस्तेमाल कर नई इकाई लगाने और वर्तमान क्षमता बढ़ाने के लायसेंस प्राप्त कर लेते थे।

इससे व्यक्तिगत उद्योगों में प्रवेश करने में रुकावटें आईं। इसके कारण घरेलू प्रतियोगिता की संभावना कम हुई और साथ-साथ उद्योगों के प्रादेशिक फैलाव की संभावनाएँ भी कम हुई। भौतिक नियंत्रणों से लायसेंस देने में लचीलापन घटा। ऐसी परियोजनाएँ इस तरह से पास की गईं कि परियोजना लागत और उत्पादन लागत बढ़ी। विदेशी प्रतियोगिता न होने से और भारतीय उद्योग को निरंतर संरक्षण देने से निर्यात पर बुरा असर पड़ा और अकुशलता को बढ़ावा मिला।

इसके अतिरिक्त, छोटे पैमाने की इकाइयों के बारे में यह सोचना कि इनमें कम पूँजी लगती है और ये प्रति पूँजी इकाई अधिक रोजगार देते हैं, भी सही साबित नहीं हुआ। 1960 के दशक में किए गए अध्ययनों से पता चला कि पैमाने और पूँजी या श्रम गहनता में कोई निर्णायक सहचर्य नहीं है। और, अलाभकर व अव्यवहार्य इकाइयों को बंद करने की आज्ञा न देकर इन ठीक न होने वाली बीमार इकाइयों को संभालने की जिम्मेदारी भी सरकार पर आ पड़ी। उद्यमी (entrepreneurs) बिना किसी वित्तीय जोखिम के इनसे बच गये। अंत में, औद्योगिक नीतियों और कार्यविधियों में निहित लायसेंस संबंधी अनिश्चितताओं से उद्यमी दीर्घकालीन योजना बनाने में निरुत्साहित हुए।

17.6 उदारीकरण की ओर

1970 के दशक की औद्योगिक नीति घरेलू और विदेशी दोनों प्रकार के उद्यमों में कठोर लायसेंसीकरण प्रणाली से परे हटने लगी। भगवती व देसाई के अनुसार यह परिवर्तन 1 जून 1966 के आसपास होना प्रारम्भ हुआ जब भारतीय रुपये का अवमूल्यन हुआ। औद्योगिक नीति में दिशा परिवर्तन 1970 में पहली बार सामने आया जब औद्योगिक लायसेंसीकरण पर दत्त समिति रिपोर्ट (1969) की सिफारिशों के आधार पर एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, (MRTP Act) जो कि 1969 में पास किया गया और 1 जून 1970 से लागू किया गया। इसमें बड़े औद्योगिक घरानों के विस्तार पर रोक लगाने की बात थी। यह रोक 20 करोड़ रु. से अधिक के सकल परिसम्पत्तियों वाले जुड़े हुए (interlinked) उपक्रमों पर, या एक करोड़ रु. से ऊपर वाले प्रमुख (dominant) उपक्रमों पर लागू होनी थी।

17.6.1 औद्योगिक लायसेंसीकरण नीति, 1970

इस नीति में उस समय की औद्योगिक प्राथमिकताओं और लक्ष्यों को ध्यान में रख 1956 के

औद्योगिक प्रस्ताव के अनुसूचित उद्योगों को तीन वर्गों में दुबारा बाँटा गया। ऐसा ही कुछ 1973 के औद्योगिक नीति वक्तव्य में किया गया। इस वक्तव्य में उद्योगों को 6 वर्गों में बाँटा गया : महत्त्वपूर्ण (Core) क्षे सार्वजनिक क्षेत्र, दोहरे कार्यक्षेत्र (dual coverage), छोटा तथा मध्यम क्षेत्र, विदेशी क्षेत्र और संयुक्त (joint) क्षेत्र।

महत्त्वपूर्ण क्षेत्र (Core Sector)

ये राष्ट्रीय आर्थिक विकास के आधार हैं। इनका सीधा संबंध महत्त्वपूर्ण उद्योगों से होता है। इनमें निर्यात की काफी संभावना होती है।

सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector)

इसमें 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव की तालिका में दिए गए उद्योग हैं जो सार्वजनिक क्षेत्र के लिए सुरक्षित है।

दोहरे कार्यक्षेत्र (Dual coverage)

महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के इस शेष भाग में वे सभी बड़े औद्योगिक घराने (प्रत्येक की परिसम्पत्तियाँ 20 करोड़ रु. से अधिक) आते हैं जो लायसेंस क्षमता के लिए आवेदन दे सकते हैं।

लघु एवं मध्यम क्षेत्र

इस क्षेत्र में आरक्षण की व्यवस्था की गई थी। इसके पीछे उद्देश्य था बड़े औद्योगिक घरानों की इसमें घुसपैठ रोकना। इस क्षेत्र में सहकारिता को, विशेषतया आम उपभोग वस्तुओं में, भी प्रोत्साहन देना था।

विदेशी कंपनियाँ

MAADHYAM IAS

विदेशी उपक्रम, उनकी सहायक कंपनियाँ तथा विदेशी कम्पनियों की भारतीय शाखाएँ अब लायसेंस क्षमता के लिए आवेदन कर सकती थीं।

संयुक्त क्षेत्र (Joint Sector)

एक मध्यवर्ती क्षेत्र, यानि संयुक्त क्षेत्र, के विकास के लिए केंद्रीय तथा राज्य सरकारें स्वयं निजी क्षेत्र से सहयोग की बात करेंगी।

सभी क्षेत्रों से साधन आकर्षित करने की इस प्रक्रिया को 1975 की लायसेंसीकरण नीति में और बल मिला। इस नीति में महत्त्वपूर्ण छूटें दी गईं थीं। ये छूटें लायसेंसीकरण समाप्त करने और निर्यात करने वाले 21 उद्योगों को असीमित विस्तार के रूप में थी। यह छूट एकाधिकार घरानों सहित बड़े औद्योगिक घरानों व बहु-राष्ट्रीय कम्पनियों दोनों के लिए थी।

17.6.2 औद्योगिक नीति, 1977

1977 में केंद्र में सरकार बदलने से एक नई औद्योगिक नीति बनी जिसमें पिछली औद्योगिक नीतियों की समीक्षा की गई। ऐसा महसूस किया गया कि पिछली नीतियों के साथ-साथ, (i) बेरोजगारी बढ़ी, (ii) ग्रामीण-शहरी अंतर बढ़ा, (iii) औद्योगिक रुग्णता (sickness) एक राष्ट्रव्यापी बीमारी हो गई, (iv) वास्तविक औद्योगिक विकास और समग्र औद्योगिक निवेश रुके हुए से थे। कुल और छिपी बेरोजगारी के बीच अंतर समाप्त करने के लिए और अर्थव्यवस्था के विकास में असंतुलन ठीक करने के लिए, 1977 की औद्योगिक नीति में

कुटीर तथा लघु उद्योगों को महत्वपूर्ण स्थान मिला। इनके विकास के लिए ये उपाय किए गए :

क) उत्पादन में आरक्षण,

ख) बड़े पैमाने की क्षमता विस्तार नहीं,

ग) बड़े पैमाने के उद्योगों पर प्रतिबंध

घ) सेवाएँ और सहायता प्रदान करने के लिए जिला स्तर जिला उद्योग केंद्र की स्थापना।

लघु क्षेत्र में आरक्षित मदों की संख्या 180 से बढ़ाकर 807 कर दी गई। बड़े उद्योगों को प्रदूषण नियंत्रण की न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कहा गया। छोटे पैमाने और लघु उद्योगों के विस्तृत फैलाव और कृषि क्षेत्र को मजबूती प्रदान करने के उद्देश्य रखे गये। बड़े और एकाधिकार व्यावसायिक घरानों को लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित क्षेत्रों में जाने की आज्ञा नहीं थी। सार्वजनिक क्षेत्र की पूरे औद्योगिक क्षेत्र के विकास की भूमिका को बरकरार रखा गया। विदेशी पूँजी और ऊर्जा पर निर्भरता घटानी थी। लेकिन कुछ देशों की बहु-राष्ट्रीय कंपनियों को हटकर अनुमति भी दी गई।

नीति में तकनीकी आत्मनिर्भरता पर बल दिया गया। अतः जटिल और ऊँची प्राथमिकता वाले उन क्षेत्रों में जहाँ घरेलू प्रौद्योगिकी उन्नत नहीं थी, बाहर से प्रौद्योगिकी का आना जारी रखा गया।

नीति में रुग्ण इकाइयों के प्रति गुण-दोष के आधार पर दृष्टिकोण रखा गया। कहा गया कि हालाँकि वर्तमान रोजगार स्तर को बनाये रखने की जिम्मेदारी सरकार की है, लेकिन ऐसा करने की लागत को भी ध्यान में रखा जाएगा। सरकार द्वारा ली गई बहुत सी बीमार इकाइयों में बहुत सा पैसा लगा दिया गया लेकिन फिर भी वे नुकसान दिखा रही थी। यह नुकसान फिर सरकारी खजाने को भरना पड़ता। ऐसा निरंतर नहीं चलेगा।

MAATHYAM IAS
'way to achieve your dream'

लेकिन केंद्र में सरकार केवल कुछ वर्ष ही रहने के कारण इस क्षेत्र में कोई विशेष प्रगति नहीं हुई। जबकि शुरू हुई घरेलू उदारीकरण की नीति 1980 में सरकार बदलने के साथ-साथ भी निरंतर चलती रही।

17.6.3 1980 की औद्योगिक नीति

यह नीति 1956 के ही औद्योगिक नीति प्रस्ताव पर आधारित थी। इस नीति में कहा गया कि छोटे और बड़े उद्योगों के बीच परस्पर विरोध का बनावटी भेद समाप्त करने के लिए कुछ चुने हुए औद्योगिक तौर पर पिछड़े जिलों में कुछ केंद्रक संयंत्र (nucleus plants) स्थापित कर आर्थिक संघवाद (Economic Federalism) की अवधारणा को बढ़ावा दिया जाएगा। यह भी तय किया गया कि ये केंद्रक संयंत्र इनके कार्यक्षेत्र में पड़ने वाले सहायक उद्योगों के उत्पादों के संयोजन का काम करेंगे। ये छोटी इकाइयों की प्रौद्योगिकी में भी सुधार लाएँगे। सरकार बड़े केंद्रक-संयंत्रों तथा इसके अधीन सहायक उद्योगों के बीच संबंध बढ़ाने की कोई प्रणाली बनाएगी।

लघु उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए लघु एवं अत्यंत लघु (tiny) इकाइयों की निवेश सीमा बढ़ा दी गई। राज्यों में लघु उद्योग विकास निगमों तथा केंद्र में राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम के माध्यम से छोटे उद्योगों के लिए कच्चे माल का सुरक्षित भंडार रखने की एक योजना चालू की गई।

वर्तमान औद्योगिक क्षमताओं का पूर्ण उपयोग सुनिश्चित करने के लिए, विशेषतया महत्त्वपूर्ण उद्योगों और निर्यात संभावना वाले उद्योगों को तुरंत क्षमता विस्तार की सुविधा दी गई। शत-प्रतिशत निर्यात करने वाली इकाइयों की स्थापना और वर्तमान इकाइयों में विस्तार के लिए आवेदनों पर सहानुभूति से विचार किया गया।

17.6.4 उदारीकरण उपाय, 1985

भौतिक नियंत्रणों से वित्तीय नियंत्रणों की ओर जाने के सिद्धांतों की जाँच करने वाली एक समिति की 1985 में प्रकाशित रिपोर्ट ने सुधारों की गति को तेज करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। नीतिगत उपाय किए गए जिनमें प्रमुख ये थे :

i) कई उद्योगों का लायसेंसीकरण समाप्त करना;

ii) उत्पादों की संख्या में लचीलापन लाने के लिए कुछ उद्योगों का एक समूह बनाना (broad-banding);

iii) उद्योगों की सूची बढ़ाकर बड़े घरानों की भूमिका बढ़ाना;

iv) एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम (MRTP) के अंतर्गत आने वाले घरानों की परिसम्पत्तियों की सीमा 100 करोड़ रुपये करना ताकि बड़ी संख्या में कंपनियाँ इसके दायरे से बाहर रहकर अपना काम कर सकें।

v) लघु क्षेत्र की निवेश सीमाएँ बढ़ाना और उन्हें वित्तीय प्रोत्साहन देना।

vi) आधुनिकीकरण/नवीकरण/प्रतिस्थापन के उद्देश्य से लायसेंस क्षमता की 49 प्रतिशत तक लायसेंसीकरण से मुक्ति;

vii) विशिष्ट उद्योगों के लिए राष्ट्रीय नीतियों की घोषणा करना, जैसे कपड़ा, चीनी, इलैक्ट्रोनिक्स, तथा कम्प्यूटर;

viii) आधुनिकीकरण और गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए विदेशी प्रौद्योगिकी के आयात को आसान बनाना;

ix) कुछ उद्योगों में वर्तमान उपक्रमों को परिचालन के न्यूनतम आर्थिक स्तर प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देना।

जून 3, 1988 को औद्योगिक लायसेंसीकरण में और उदारीकरण की घोषणा की गयी। इसमें वे कंपनियाँ जो MRTP व विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम के अधीन नहीं आती, उनके लायसेंस प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। सरकार ने पिछड़े क्षेत्रों के विकास के लिए देश भर में 100 विकास केंद्र खोले। पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों को आयकर में छूट जैसे प्रोत्साहन दिए गए।

बोध प्रश्न 2

1) खाली स्थान भरिए :

i) 1948 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में मुख्य बल .....अर्थव्यवस्था की आधारशिला रखने पर दिया गया। (समाजवादी, मिश्रित)

ii) 1977 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव ने ..... की भूमिका को प्रबल बनाया।

(लघु क्षेत्र, बड़े घराने)

iii) .....के औद्योगिक नीति प्रस्ताव ने लघु उद्योगों को कुछ महत्व प्रदान किया। (1948, 1956)

2) विनिर्माण में सरकार द्वारा अपनाए गए विभिन्न नियंत्रणों के नाम बताइए।

.....

.....

.....

3) 1985 में उदारीकरण के प्रति क्या नीतिगत उपाय लिए गये थे ? कोई से तीन बताइए।

.....

.....

.....

17.7 नई औद्योगिक नीति, 1991

यह नीति मुख्यतः उद्योगों के विनियमन में ढील देने के लिए बनाई गई थी। इसके मुख्य उद्देश्य थे : (i) अब तक की प्राप्तियों को आगे बढ़ाना, (ii) कमियों को दूर करना, (iii) उत्पादिता और रोजगार में दीर्घकालीन वृद्धि लाना, और (iv) अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता स्तर प्राप्त करना। इन सब के लिए प्रेरणा वातावरण बनाए रखने और उपलब्ध साधनों का कुशल प्रयोग सुनिश्चित करने की आवश्यकता से मिली थी।

उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने के लिए सरकार ने निम्नलिखित क्षेत्रों के बारे में नई नीतियाँ बनाई : (i) औद्योगिक लायसेंसीकरण, (ii) विदेशी निवेश, (iii) विदेशी प्रौद्योगिकी समझौते, (iv) सार्वजनिक क्षेत्र नीति, (v) MRTP अधिनियम।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

17.7.1 औद्योगिक लायसेंसीकरण

कुछ निर्दिष्ट उद्योगों को छोड़ शेष सभी उद्योगों में लायसेंसीकरण समाप्त कर दिया गया चाहे निवेश की मात्रा कितनी भी हो। ये निर्दिष्ट उद्योग सुरक्षा, वातावरण, खतरनाक प्रकृति के उत्पाद, विशिष्ट वर्ग के उपभोग की वस्तुओं से संबंधित है। लायसेंसीकरण समाप्त करना छोटे और मध्यम उद्यमियों के लिए बड़ा सहायक रहा। 14 अगस्त 1993 को अनिवार्य लाइसेंसीकरण की 18 मदों में से 3 पर लाइसेंसीकरण समाप्त कर दिया गया। ये थे : मोटर कार, सफेद वस्तुएँ (जैसे फ्रिज, वाशिंग मशीन, एयर कंडीशनर) तथा कच्ची खाले व चमड़ा और तैयार चमड़ा। 1997-98 में यह संख्या 14 से घटाकर 9 कर दी गई। चीनी में लाइसेंसीकरण उदार करने से यह संख्या 8 तक पहुँच गई। ये उत्पाद हैं : कोयला, खनिज तेल, मदिरा, तम्बाकू, रक्षा, विस्फोटक, हानिकारक रसायनिक पदार्थ तथा दवाइयाँ।

10 लाख आबादी वाले शहरों को छोड़कर किसी भी अन्य स्थान पर अनिवार्य लाइसेंसीकरण उद्योगों को छोड़ किसी भी अन्य स्थान पर उद्योग खोलने के लिए केंद्रीय सरकार की अनुमति की आवश्यकता नहीं होगी। 10 लाख से अधिक आबादी वाले शहरों के संदर्भ में, वातावरण दूषित न करने वाले उद्योगों (जैसे इलैक्ट्रोनिक्स, कंप्यूटर साफ्टवेयर, छपाई) को छोड़ बाकी सभी उद्योग, शहर की परिधि से 25 किलोमीटर बाहर स्थापित किए जाएँगे।

चरणबद्ध विनिर्माण कार्यक्रमों की प्रणाली नयी परियोजनाओं में लागू नहीं होगी। वर्तमान परियोजनाओं में यह लागू रहेगी। वर्तमान इकाइयों को विस्तृत समूह सुविधा भी मिलेगी ताकि वे कोई भी वस्तु का बिना किसी निवेश के उत्पादन कर सकें। सभी वर्तमान इकाइयों के विस्तार को लाइसेंसीकरण से छूट मिलेगी।

वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त मियादी ऋणों अनिवार्य परिवर्तनीयता खंड (mandatory convertibility clause) अब लागू नहीं होगी।

17.7.2 विदेशी निवेश

विदेशी निवेश के बारे में मुख्य बातें ये थीं : (i) ऊँची प्राथमिकता वाले उद्योगों में विदेशी निवेश के रूप 51 प्रतिशत शेयर पूँजी तक की आज्ञा दे दी जाएगी; (ii) अंतरराष्ट्रीय बाजारों तक पहुँचने के लिए निर्यात में लगी कंपनियों 51 प्रतिशत तक विदेशी शेयर पूँजी की आज्ञा दे दी जाएगी; (iii) एक विशेष अधिकार प्राप्त बोर्ड की स्थापना होगी जो अंतरराष्ट्रीय फर्मों से बातचीत करेगा और चुने हुए क्षेत्रों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का अनुमोदन करेगा।

17.7.3 विदेशी प्रौद्योगिकी समझौते

यह तय किया गया कि ऊँची प्राथमिकता वाले उद्योगों के साथ ऐसे विदेशी समझौतों को जिनमें एक करोड़ रुपये तक एकमुश्त भुगतान होना है, तुरंत मंजूरी मिल जाएगी। इनमें रॉयल्टी भुगतान बिक्री का 5 प्रतिशत और निर्यात में 8 प्रतिशत बशर्ते कि समझौते से दस वर्ष की अवधि में या उत्पादन प्रारंभ करने के सात वर्ष की अवधि में बिक्री का 8 प्रतिशत से अधिक न हो। विदेशी तकनीशियनों के सेवाएँ प्राप्त करने, देश में विकसित प्रौद्योगिकी का विदेशी परीक्षण करवाने हेतु किसी आज्ञा की आवश्यकता नहीं होगी।

17.7.4 सार्वजनिक क्षेत्र

1956 के प्रस्ताव में सार्वजनिक क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण भूमिका दी गई है। इस क्षेत्र में पिछले चार दशकों में भारी निवेश किया गया। सार्वजनिक उपक्रमों में अब बहुत सी समस्याएँ पैदा हो गई हैं; जैसे कि उत्पादिता में कम वृद्धि, खराब परियोजना प्रबंधन, प्रौद्योगिकी सुधार में निरंतरता का अभाव, आवश्यकता से अधिक कर्मचारी, अनुसंधान और विकास, और मानव संसाधन विकास पर कम ध्यान। परिणामस्वरूप, बहुत से सार्वजनिक उपक्रम सरकार के लिए भार बन गए हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की मूल अवधारणा भी काफी बदल गई है। अतः, सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमों की ओर एक नया दृष्टिकोण अपनाया है। भविष्य में सार्वजनिक उपक्रमों के प्राथमिकता वाले क्षेत्र ये होंगे :

- आवश्यक बुनियादी सुविधाएँ और सेवाएँ।
- तेल व खनिज संसाधनों की खोज व शोषण।
- उन क्षेत्रों में जहाँ दीर्घकालीन विकास महत्वपूर्ण है और जिनमें निजी निवेश नहीं आता है, प्रौद्योगिकी विकास तथा विनिर्माण क्षमताओं का निर्माण।
- सामरिक महत्त्व के उत्पाद, जैसे रक्षा-सामग्री।

साथ-साथ यह भी है जो क्षेत्र इसके लिए आरक्षित नहीं है उनमें सार्वजनिक क्षेत्र को प्रवेश करने की मनाही नहीं है। सरकार सार्वजनिक निवेश की सूची का अधिक वास्तविकता से समीक्षा करेगी। यह समीक्षा इनके बारे में होगी : नीची प्रौद्योगिकी पर आधारित उद्योग, लघु पैमाने के और ग़ैर-सामरिक महत्त्व के क्षेत्र, अकुशल और अनुत्पादक क्षेत्र, वे क्षेत्र जिनमें सामाजिक या सार्वजनिक उद्देश्य न हों और वे क्षेत्र जिनमें निजी क्षेत्र ने काफी निपुणता और संसाधन प्राप्त कर लिए हैं। बीमार इकाइयों के पुनर्वास के लिए इन्हें औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निर्माण बोर्ड (BIFR) को या फिर ऐसी किसी और संस्था को सौंपा जाएगा।

इकाइयों के पुनर्वास से प्रभावित मजदूरों के हितों की सुरक्षा के लिए सामाजिक सुरक्षा

प्रक्रिया बनायी जाएगी। साधन जुटाने और जनता की भागीदारी को प्रोत्साहन देने हेतू सार्वजनिक क्षेत्र में सरकार के पास शेयरों का एक भाग म्युचुअल फंड, वित्तीय संस्थाओं, सामान्य सार्वजनिक कर्मचारियों को बेचा जाएगा। प्रदर्शन में सुधार समझौते के ज्ञापन (Memorandum of Understanding) द्वारा होगी जिसके प्रबंध को अधिक स्वायतत्ता दी जाएगी और वह जबावदेह होगा। यह समझौता ज्ञापन संसद में पेश होगी और इस पर बहस होगी। इससे सार्वजनिक उद्यमों की कार्य प्रणाली सुधरेगी। सार्वजनिक क्षेत्र में अब 8 उद्योगों का आरक्षण है, जैसे कि हथियार और गोला बारूद, एटमी ऊर्जा, कोयला व लिगनाइट, खनिज तेल, रेलवे परिवहन आदि।

17.7.5 MRTP अधिनियम

जहाँ तक MRTP का संबंध हैं, MRTP कंपनियों की अब आवश्यकता नहीं होगी। जोर इस बात पर होगा कि एकाधिकारी, प्रतिबंधी व अनुचित व्यापार कार्यों को कैसे रोका जाए, न कि इस बात पर कि एकाधिकारी घराने विस्तार करने, नए उपक्रम खोलने, विलय करने, समामेलन करने, अधिकार में लेने, या निदेशकों की नियुक्ति करने में केंद्रीय सरकार की आज्ञा लें। शेयर प्राप्त करने, हस्तांतरण करने के प्रतिबंधों के बारे में कंपनी एक्ट में प्रावधान किए जाएँगे। MRTP अधिनियम में व्यवस्थाओं को मजबूत बनाया जाएगा ताकि MRTP आयोग एकाधिकारी, प्रतिबंधी व अनुचित व्यापार कार्यों के विरुद्ध उचित कार्यवाही कर सकें। नया MRTP आयोग अब व्यक्तिगत उपभोक्ता या उपभोक्ता वर्गों की शिकायत पर भी कार्यवाही करेगा।

17.8 नई औद्योगिक नीति की समीक्षा

नई औद्योगिक नीति ने उद्योग की लंबे समय से चली आ रही माँग को पूरा किया है। 8 उद्योगों को छोड़ कर शेष सभी उद्योगों में लाइसेंसीकरण समाप्त कर दिया गया। MRTP कंपनियों और बड़े उपक्रमों की परिसंपत्तियों की सीमा समाप्त कर दी गई। अब ये कंपनियाँ नए उपक्रम लगा सकती हैं; विस्तार कर सकती हैं, विलय, समामेलन कर सकती है, अधिकार में ले सकती है। इसके लिए अब इन्हें सरकार से आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं। MRTP आयोग से भी आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं। इससे अफसरशाही के कारण आने वाली रुकावटें समाप्त हो गई हैं। इस नीति का स्वागत होना चाहिए क्योंकि इसने 'लाइसेंस-परमिटराज' को समाप्त किया है, और उद्यमियों को अफसरशाही से बचाया है। अब कंपनियों को निदेशकों की नियुक्ति करने का भी अधिकार है। अन्य शब्दों में, नई नीति ने बहुत से ऐसे प्रावधानों को समाप्त कर दिया है जो निजी निगमित क्षेत्र के विकास में रुकावट थे। इससे अर्थव्यवस्था में निजीकरण को भी बढ़ावा मिला है। व्यावसायिक हल्कों में इन सभी प्रावधानों का स्वागत हुआ है। लाइसेंसीकरण और नियंत्रणों से एक राहत की साँस है।

लेकिन, कुछ क्षेत्रों में नई नीति की आलोचना भी हुई है। यह नीति इस विश्वास पर अपनाई गई है कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश भारत के आर्थिक विकास के लिए महत्त्वपूर्ण है। लेकिन विदेशी पूँजी का स्वागत करने के उत्साह में डर इस बात का है कि हम अपनी प्रभुसत्ता बहु-राष्ट्रीय कंपनियों को न बेच दे।

आलोचकों का डर पिछले अनुभवों पर आधारित है। विदेशी पूँजी को खुला छोड़ देने पर ऊँची प्राथमिकता वाले और नीची प्राथमिकता वाले उद्योगों में भेद समाप्त हो जाएगा। इसमें एक छिपी बात यह भी है कि आगे आने वाले वर्षों में विदेशी कोश भारत से बाहर जाना प्रारंभ हो जाएगा। हमारे ऊपर विदेशी ऋण भार पहले ही बहुत है। अतः इस बात का ध्यान

रखना आवश्यक है कि विदेशी पूँजी केवल ऊँची प्राथमिकता वाले उद्योगों में ही आए।

नई नीति मे विवेशित पूँजी के प्रतिफल की नीची दर पर भी ध्यान दिलाया गया है। फलस्वरूप, बहुत से सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम सरकार पर भार हो गए हैं। इसका प्रभावशाली उदाहरण है निजी क्षेत्र की बीमार इकाइयों को सरकार द्वारा अपने अधिकार में लेना। उद्योगों का यह वर्ग केंद्रीय सार्वजनिक उद्यमों की कुल हानि का एक-तिहाई भाग के लिए जिम्मेदार है। सरकार को प्रतिदेय और लाभ कमाने वाले सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों पर ध्यान देना चाहिए। सरकार ऐसा समझौते के ज्ञापन के माध्यम से करना चाहती है। इनमें निजी क्षेत्र को भागीदार बनाकर इनको प्रतियोगी भी बनाना चाहती है। यह इनमें विनिवेश (disinvestment) भी करना चाहती है। ऐसा वह इनके शेयर वित्तीय कंपनियों और यहाँ तक कि कर्मचारियों को बेचकर करना चाहती है।

बोध प्रश्न 3

1) वे कौन से प्रमुख क्षेत्र हैं जिसमें 1991 की औद्योगिक नीति वक्तव्य में नीतिगत पहल की गई है। (एक वाक्य में उत्तर दीजिए।)

.....

.....

2) सही पर (✓) और गलत पर (×) का निशान लगाइए।

i) नई औद्योगिक नीति में विदेशी तकनीशियनों की सेवाएँ नहीं प्राप्त की जा सकती। ( )

ii) नई औद्योगिक नीति का उद्देश्य भारतीय उद्योग की स्पर्धा व कुशलता बढ़ाना है। ( )

iii) पारम्परिक तौर पर विदेशी निवेश नीति ने होटलों को छोड़कर सेवा क्षेत्र में विदेशी शेयर निवेश को प्रोत्साहित किया है। ( )

iv) 1993 के बाद से अनिवार्य लाइसेंसीकरण उद्योगों की संख्या 18 है। ( )

3) नई औद्योगिक नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

.....

.....

.....

17.9 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् हमने जाना कि भारत में उदारीकरण की प्रक्रिया निरंतर चल रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत का औद्योगिक क्षेत्र मुख्यतः उपभोक्ता वस्तुओं पर आधारित था। बुनियादी सुविधाओं की कमी थी। बचत व निवेश काफी नहीं था। आजादी के बाद भारत को इन कमियों को दूर करने का और औद्योगीकरण और आर्थिक विकास के लिए वातावरण बनाने का मौका मिला। लेकिन, आर्थिक विकास की ऋणनीति क्या हो? इस पर देश में एक बहस छिड़ी। गाँधी ने लघु उद्योगों और आत्मनिर्भरता का समर्थन किया। नेहरू और उसके जैसे सामाजिक लोकतंत्रवादियों ने पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों के माध्यम से तेजी से औद्योगीकरण का पक्ष लिया। सरकार ने औद्योगिक विकास के लिए आयोजन

का रास्ता चुना। ऋणनीति को विभिन्न औद्योगिक नीति प्रस्तावों के माध्यम से लागू किया गया।

प्रथम प्रस्ताव 1948 में पारित हुआ। इसके बाद 1956, 1973, 1975, 1980 व 1991 में प्रस्ताव पारित हुए। इन सभी में मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा को अपनाया गया। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों के बीच भेद लाइसेंसीकरण के माध्यम से किया गया। महत्त्वपूर्ण उद्योगों पर सरकार का नियंत्रण था।

1970 के दशक में पारित प्रस्तावों में लाइसेंसीकरण और नियंत्रणों में ढील दी गई। 1977 में सरकार बदलने पर औद्योगिक नीतियों की समीक्षा की गई और लघु तथा कुटीर उद्योगों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया। बाद में भौतिक नियंत्रण से वित्तीय नियंत्रण की ओर बदलाव आया और अधिक उदारीकरण लाया गया।

1991 की नई नीति में अर्थव्यवस्था में अविनियमन (deregulation) तेजी से लाया गया। न केवल घरेलू क्षेत्र में सुधार लाए गए बल्कि विदेशी निवेशकों व प्रौद्योगिकी की आपूर्ति करने वालों के साथ गतिशील संबंध बनाए गए। इसके इलावा, औद्योगिक लाइसेंसीकरण समाप्त हुआ, चरणबद्ध विनिर्माण कार्यक्रम समाप्त हुए, MRTP अधिनियम में परिवर्तन लाए गए। इस तरह 1991 की नीति ने सरकार की भूमिका में परिवर्तन ला दिया। अब सरकार प्रमुख निवेशक न होकर साहस को बढ़ावा दे रही है जिससे निजीकरण और उदारीकरण का रास्ता खुल रहा है।

17.10 शब्दावली

मुख्य (Core) क्षेत्र : राष्ट्रीय आर्थिक विकास के आधारभूत उद्योग जिसमें कोयला व लिगनाइट, कच्चा तेल, पैट्रोलियम व प्राकृतिक गैस, बिजली, उर्वरक, पैट्रो-रसायन आदि।

भौतिक नियंत्रण : भौतिक नियंत्रण औद्योगिक लाइसेंसीकरण के रूप में होते है, जैसे क्षमता, ऋण, आयात, कोटा, स्थानीकरण, आदि के लिए परमिट। वितरण और कीमत पर नियंत्रण भी इसमें शामिल हैं।

आयात प्रतिस्थापन : इसका अर्थ है आयातित वस्तुओं के प्रतिस्थापनों का देश के भीतर उत्पादन करना, ताकि आयात पर निर्भरता कम हो सकें।

17.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Ahluwalia, I.J. (1985) *Industrial Growth in India*, Oxford University Press (Ch.6 & 8)

Bhagwati, J.N. and Desai, P. (1970) *India : Planning for Industrialisation*, Oxford University Press (Chs. 12-16)

Bhagwati, J.N. and Srinivasan, T.N. (1975) *Foreign Trade Regime and Economic Development in India*, Columbia University Press.

Chaudhary, P. (1979) *The Indian Economy : Poverty and Development*, Vikas Pubishing House, New Delhi (Ch.6)

Chellaswami, T., "Policy Relating to Small Scale Sector" in Mongia, J.N. (ed.) (1980), *India's Economic Policies*, 1947-77, Allied Publishers, New Delhi.

Dutt R. and Sundhram, K. P.M. (2002) *Indian Economy*, S. Chand and Company, New Delhi.

Rangnekar, D.K. "Industrial Policy" in Mongia J.N. (ed.) (1980) *India's Economic Policies*, 1947-77, Allied Publishers, New Delhi.

Tandon B.B. and Tondon (1997), *Indian Economy*, Tata McGraw Hill, New Delhi. (Ch.18).

Govt. of India, *Economic Survey*, 1997.

Government of India, *Statement of Industrial Policy*, July, 24, 1991, Ministry of Industry, New Delhi.

17.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) (i) गलत, (ii) सही, (iii) गलत, (iv) सही
2) पढ़िए भाग 17.2
3) पढ़िए उपभाग 17.2.2

बोध प्रश्न 2

1) (i) समाजवादी, (ii) बड़े घराने, (iii) 1956
2) पढ़िए उपभाग 17.5.2
3) पढ़िए उपभाग 17.6.4

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) पढ़िए उपभाग 17.7
2) (i) गलत, (ii) सही, (iii) गलत, (iv) गलत
3) पढ़िए उपभाग 17.8

इकाई 18 लघु उद्योग क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 लघु उद्योग की परिभाषा
18.3 लघु उद्योग के पीछे औचित्य
18.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग का विकास
18.5 लघु क्षेत्र की असमर्थताओं को हटाने के प्रति सरकारी नीति
18.6 लघु क्षेत्र औद्योगिक नीति (1991)
18.7 आठवीं योजना में ग्रामीण लघु उद्यम
18.8 सरकारी घोषणाओं तथा वास्तविक नीति अमल के बीच अंतर
18.9 सारांश
18.10 शब्दावली
18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

18.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के पश्चात् आप निम्नलिखित कर सकेंगे :

- लघु उद्योग की परिभाषाएँ जान सकेंगे;
- लघु उद्योग को प्रोत्साहन देने के पीछे कारण समझा सकेंगे;
- उत्पादन, रोज़गार व निर्यात के दृष्टिकोण से लघु उद्योग का योगदान बता सकेंगे·
- लघु उद्योग क्षेत्र की असमर्थताओं को जान सकेंगे;
- आठवीं योजना में लघु क्षेत्र के लक्ष्य और उपलब्धियाँ बता सकेंगे, तथा
- लघु क्षेत्र नीति के बारे में सरकारी घोषणाओं और वास्तविक अमल करने के बीच अंतर समझा सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

भारत में लघु उद्योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह उद्योग पर्याप्त मात्रा में उत्पादन, रोज़गार और निर्यात में योगदान देते हैं। इसके अतिरिक्त यह संतुलित क्षेत्रीय विकास के लक्ष्य की पूर्ति में भी सहायता करते हैं। अतः सरकार ने लघु उद्योगों को एक अलग श्रेणी में रखा और इसकी वृद्धि के लिए विभिन्न कदम उठाए। इन इकाइयों को निर्यात पर छूट, कम ब्याज की दरों पर ऋण और कर में छूट जैसे कई रियायतें दी। कुछ विशेष श्रेणी के उद्योग भी इन इकाइयों के लिए सुरक्षित रखे गए।

18.2 लघु उद्योग की परिभाषा

लघु उद्योग की परिभाषा समय के साथ-साथ बदलती रही है। आज़ादी के बाद की शुरू की अवधि में जिस उद्यम में 5 लाख रुपये से कम का पूँजी निवेश होता था, उसे लघु उद्यम

के वर्ग में रखा जाता था। साथ-साथ सरकार ने इन उद्योगों को दो और वर्गों में बाँटा था : (1) वे जो बिजली का प्रयोग करते हैं लेकिन जिसमें श्रमिकों की संख्या 50 से कम है, तथा (2) वे जो बिजली का प्रयोग नहीं कर रहे हैं लेकिन श्रमिकों की संख्या 100 से कम है। बाद में 1966 में यह रोज़गार मापदंड समाप्त कर दिया गया। अब 7.5 लाख से कम पूँजी निवेश वाले उद्यम को लघु उद्यम कहा गया। साथ-साथ एक नया वर्ग बनाया गया जिसे सहायक उद्योग (ancillary industry) कहा गया। इसकी पूँजी निवेश सीमा 10 लाख रुपये थी। 1975 में लघु उद्यम की पूँजी निवेश सीमा बढ़कर 10 लाख रुपये और सहायक उद्योग की 15 लाख रुपये हो गई। एक और नया वर्ग 'अत्यंत लघु क्षेत्र' (Tiny setor) बना जिसकी पूँजी निवेश सीमा एक लाख रुपये रखी गई। 1980 में ये सीमाएँ फिर बढ़ीं। लघु उद्यम, सहायक उद्योग व अत्यंत लघु उद्योग की ये पूँजी निवेश सीमाएँ अब क्रमशः 20 लाख, 25 लाख व 2 लाख रुपये थी। 1985 में लघु उद्योग की सीमा बढ़कर 35 लाख रुपये तथा सहायक उद्योग की सीमा 45 लाख रुपये हो गई। अत्यंत लघु उद्योग की पूँजी सीमा वही 2 लाख रुपये रही।

1990 में ये सीमाएँ फिर बढ़ीं। लघु उद्योग की सीमा अब 60 लाख रुपये और सहायक उद्योग की सीमा 75 लाख रुपये हो गई। सहायक उद्योग की परिभाषा में थोड़ा परिवर्तन आया। अब उस इकाई को सहायक उद्योग माना गया जोकि अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत से अधिक भाग एक या अधिक इकाइयों को बेचती है। अत्यंत लघु उद्योग की पूँजी निवेश सीमा भी अब बढ़कर 5 लाख रुपये हो गई।

1997 में आबिद हुसैन कमेटी की सिफारिश के आधार पर लघु उद्योग की सीमा 60 लाख से बढ़ाकर 3 करोड़ रुपये (300 लाख रुपये) कर दी गई। सहायक उद्योग की सीमा भी 75 लाख रुपये से बढ़ाकर 3 करोड़ कर दी गई। अत्यंत लघु उद्योग की सीमा 5 लाख रुपये से बढ़कर 25 लाख रुपये हो गई।

तालिका 18.1 : संयंत्र व मशीनरी में स्थिर पूँजी निवेश के आधार पर लघु उद्योग, सहायक उद्योगों व अत्यंत लघु उद्योगों की सीमा

(लाख रुपये में)

	अत्यंत लघु उद्योग (से कम)	लघु उद्योग (से कम)	सहायक उद्योग (से कम)
1950 तक	—	5	—
1966	—	7.5	10
1975	1	10	15
1980	2	20	35
1985	2	35	40
1990	5	60	75
1997	25	300	300

स्रोत : विभिन्न औद्योगिक नीति प्रस्ताव तथा सरकारी अधिसूचनाएँ

सरकार लघु उद्योग, सहायक उद्योग व अत्यंत लघु उद्योग की पूँजी निवेश सीमा समय के साथ-साथ बढ़ती हुई कीमतों को ध्यान में रखकर बढ़ाती रही है। साथ-साथ रोज़गार व निर्यात बढ़ाने का उद्देश्य भी ध्यान में था। लेकिन 1990 की तुलना में 1997 में निवेश सीमा में आबिद हुसैन कमेटी द्वारा पाँच गुना वृद्धि एक असमान्य वृद्धि है। कमेटी के अनुसार नए उद्यमियों को अत्यंत लघु क्षेत्र में आसानी से प्रवेश मिल सके और सफल उद्यमी जब तक

3 करोड़ रुपये की सीमा तक नहीं पहुँच पाते उनको सब प्रकार की सहायता मिलती है। इस सीमा के बाद उन्हें प्रोत्साहन सहायता की आवश्यकता नहीं रहेगी।

पारम्परिक और आधुनिक लघु उद्योगों का वर्गीकरण

लघु उद्योग को पारम्परिक और आधुनिक उद्योग में बाँटा जाता है। पारम्परिक उद्योग में खादी व हथकरघा, ग्रामीण उद्योग, हस्तकला, रेशम उत्पादन आदि आते हैं। इन्हें कुटीर उद्योग भी कहा जाता है। इन इकाइयों की विशेषता है कि इनमें पूर्णकालिक (Full time) रोज़गार नहीं मिलता है। उनसे अंशकालिक (Part time) रोज़गार ही मिलता है। इस प्रकार कृषि मजदूरों और कारीगरों के लिए यह अतिरिक्त आय का स्रोत है।

दूसरी और आधुनिक लघु उद्यम साधारण वस्तुओं से लेकर जटिल वस्तुओं तक सभी कुछ उत्पादन करते हैं, जैसे बिजली के स्विच, बिजली के हीटर, बिजली की प्रेस, आधुनिक खिलौने, कम्प्यूटर के पुर्जे आदि। ये अधिक कीमत वाले उत्पाद बनाते हैं। 1996-97 में आधुनिक लघु उद्योगों का उत्पादन ढाई हजार अरब रुपये से भी अधिक (2,53,343 करोड़ रुपये) था जबकि पारंपरिक क्षेत्र का उत्पादन लगभग 4.14 अरब रुपये से अधिक (41,432 करोड़ रुपये) था जबकि पारंपरिक क्षेत्र का उत्पादन लगभग 414 अरब रुपये से अधिक (41, 432 करोड़ रुपये) था। इस प्रकार लघु उद्यम क्षेत्र के लगभग 3000 अरब रुपये (2,94,755 करोड़ रुपये) के उत्पादन में आधुनिक उद्योगों का योगदान 86 प्रतिशत और पारंपरिक क्षेत्र का केवल 14 प्रतिशत था। लेकिन इसके विपरीत पारंपरिक उद्योगों ने 264 लाख लोगों को रोज़गार दिया जबकि आधुनिक उद्योग ने केवल 179 लाख लोगों को। इस प्रकार प्रतिशत के रूप में यह योगदान क्रमशः 60 और 40 प्रतिशत था। इससे यह पता चलता है कि आधुनिक क्षेत्र में प्रति व्यक्ति उत्पादन 1,41,532 रुपये था जबकि पारंपरिक क्षेत्र में यह 5,694 रुपये था। इस प्रकार आधुनिक क्षेत्र में प्रति व्यक्ति उत्पादन पारंपरिक क्षेत्र की तुलना में लगभग 9 गुना है। इसका कारण उन्नत प्रौद्योगिकी व ऊँची कीमत वाले उत्पादों का उत्पादन हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) आप लघु उद्योग की कैसे व्याख्या करेंगे?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सहायक उद्योग की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

18.3 लघु उद्योग के पीछे औचित्य

कुछ अर्थशास्त्री लघु उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के विरुद्ध हैं लेकिन अन्य इसके पूरे पक्ष में हैं। 1956 के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में इसके पक्ष में चार तर्क दिए थे :

प्रस्ताव के अनुसार, लघु उद्यम तुरंत बड़े पैमाने पर रोज़गार देते हैं, राष्ट्रीय आय का समान वितरण सुनिश्चित करते हैं तथा पूँजी और कौशल के रूप में ऐसे साधन जुटाते हैं जोकि लघु उद्यम न होने की दशा में शायद प्रयोग में ही नहीं आ पाते। योजना रहित शहरीकरण से जो समस्याएँ पैदा होती हैं, इससे सारे देश में लघु उद्योग केन्द्र खोलने से बचा जा सकता है। औद्योगिक नीति प्रस्ताव में दिए गए चार तर्क इस प्रकार हैं :

1) **रोज़गार तर्क :** लघु उद्योग के पक्ष में सबसे महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि ये उद्योग थोड़ी-सी पूँजी से अधिक रोज़गार पैदा कर सकते हैं। ये श्रम प्रधान होते हैं। इनकी तुलना में बड़े उद्योगों, विशेषतः भारी उद्योग व बुनियादी सुविधाएँ, को प्रति श्रमिक भारी निवेश की आवश्यकता पड़ती है। अतः लघु उद्योग के पक्षधर रोज़गार के आधार पर इनका पक्ष लेते हैं। 'उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण' (Annual Survey of Industries) (1985-86) के अनुसार बड़ी इकाइयों में प्रति श्रमिक पूँजी 1,67,680 रुपये थी, जबकि लघु इकाइयों में यह 29800 रुपये थी। यानि उसी पूँजी से लघु इकाइयाँ 5-6 गुना रोज़गार पैदा कर सकती थी। अतः भारत जैसे कम पूँजी और अधिक श्रम वाले देश में रोज़गार दिलाने हेतु लघु उद्योग की बहुत आवश्यकता है।

2) **समानता तर्क** : बड़े उद्योग से आय कुछ पूँजीपतियों के हाथ में चली जाती है। लघु व कुटीर उद्योग क्षेत्र में श्रमिकों और मालिकों की संख्या अधिक होने के कारण आय अधिक समान रूप से बँटती है। अतः औद्योगिक असमानताएँ घटाते हैं और आर्थिक न्याय दिलाते हैं। इस उद्योग द्वारा ग्रामीण व कस्बाई क्षेत्रों में बसे मालिकों के बीच आय का वितरण होता है एवं इससे उद्योग से होने वाले लाभ अधिक समान रूप से बँटते हैं। अतः ये आर्थिक समानता लाते हैं।

3) **विकेन्द्रीकरण तर्क** : लघु उद्योग को थोड़ी पूँजी तथा साधारण मशीनी औजारों व उपकरणों की आवश्यकता होती है। ये दूर-दूर तक कहीं भी लगायी जा सकती है। बड़े उद्योग प्रायः बड़े शहरों और कस्बों में ही होते हैं। इससे शहरों में भीड़-भाड़ होती है, प्रदूषण फैलता है, गंदी बस्तियाँ बनती हैं— ये सब स्वास्थ्य के लिए खतरा हैं। लघु उद्योग की सहायता से उत्पादन का विकेन्द्रीकरण कर इन समस्याओं से काफी हद तक बचा जा सकता है। ग्रामीण तथा कस्बाई लोग शहरों में जाएँ, इससे अच्छा है उद्योग गाँवों और कस्बों में जाएँ। अतः विकेन्द्रीकरण लाभकारी होता है क्योंकि यह अधिक फैलाव लाता है।

4) **अप्रकट (Latent) साधन तर्क** : लघु उद्यम गाँवों और कस्बों की प्रतिभा और बेकार पड़े साधनों को जुटाने में सहायक हो सकते हैं। छोटे उद्योगपति अपनी प्रतिभा और सीमित साधन जुटाकर लघु इकाई स्थापित कर सकते हैं। दूसरे, औद्योगिक इकाइयाँ उन स्थानों पर स्थापित की जा सकती हैं जहाँ कच्चा माल उपलब्ध हो। छोटी इकाइयाँ स्थानीय कच्चा माल व स्थानीय प्रतिभा का प्रयोग कर सकती हैं। तीसरे, लघु उद्योग

की सहायता से उद्योग का फैलाव कर सारे देश में बेकार पड़ी छोटी-छोटी बचतों को जुटाकर इन उद्योगों में लगाया जा सकता है।

कुछ अर्थशास्त्री रोज़गार तर्क का विरोध करते हैं कि केवल रोज़गार के लिए रोज़गार पैदा करना ज़रूरी नहीं है। ज्यादा ज़रूरी है दुर्लभ साधनों का सर्वोत्तम उपयोग। अन्य शब्दों में रोज़गार तर्क वास्तव में 'उत्पादन तर्क' है। बड़े कारखानों का दो या तीन पारियों (Shift) में काम करना आम बात है जबकि लघु उद्योग में ऐसा नहीं है। अतः ऐसा लगता है कि लघु उद्योग कम पूँजी का प्रयोग करते हैं, लेकिन वास्तविकता में, आधुनिक मशीनों को प्रयोग करने वाले छोटे कारखाने सबसे ज्यादा पूँजी का इस्तेमाल करते हैं।

तालिका 18.2 : उद्योगों में उत्पादक पूँजी, रोज़गार व मूल्य संवृद्धि (1993-94)

संयंत्र और मशीनों का सकल मूल्य	प्रति कर्मचारी उत्पादक पूँजी (रुपये)	प्रति कर्मचारी संवृद्धि मूल्य	प्रति पूँजी इकाई संवृद्धि मूल्य
अत्यंत लघु इकाइयाँ (50 लाख रुपये तक)	33945	32677	0.96
लघु इकाइयाँ (50 लाख रुपये तक)	65409	44861	0.68
बड़ी इकाइयाँ (50 लाख रुपये तथा इससे अधिक)	527296	136038	0.26

स्रोत : Annual Survey of Industries (1993-94)

MAADHYAM IAS

इसमें कोई शक नहीं है कि आधुनिकीकरण बढ़ने के साथ लघु उद्योग का पूँजी श्रम अनुपात ऊँची दर से बढ़ रहा है। परिणामस्वरूप बड़े उद्योगों की पूँजी गहनता बढ़ रही है।

उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (1993-94) के आँकड़ों से पता चलता है कि बड़ी इकाइयों की प्रति कर्मचारी पूँजी लघु इकाइयों की अपेक्षा 8.1 गुना है। लेकिन लघु इकाइयों की प्रति श्रमिक संवृद्धि मूल्य (Value added) बड़ी इकाइयों की तुलना में 3.03 गुना है। ये परिणाम इस बात का समर्थन हैं एक पूँजी दुलर्भ अर्थव्यवस्था, जोकि रोज़गार व उत्पादन के उद्देश्यों के अनुरूपता लाने का प्रयत्न करा रही है, में रोज़गार व उत्पादन के दृष्टिकोण से लघु उद्योग का कितना महत्त्व है।

18.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु उद्योग का विकास

भारत सरकार लघु उद्योग को प्रोत्साहन दे रही है। इस हेतु बहुत से उपाय किए गए हैं। लघु क्षेत्र के लिए बहुत-सी वस्तुएँ आरक्षित की गई हैं। 1972 में आरक्षित वस्तुओं की संख्या 177 से बढ़कर 1983 में 837 हो गई थी। इस समय लघु क्षेत्र 7500 वस्तुएँ बना रहा है।

सरकार लघु इकाइयों को सस्ता ऋण भी देती है। सरकार ने खादी तथा ग्रामोद्योग बोर्ड के अधीन विपणन केन्द्रों की एक शृंखला शुरू की है। लघु उद्योग में लगे श्रमिकों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले गए हैं। इनके परिणामस्वरूप लघु उद्योग क्षेत्र बहुत अधिक उन्नति की है।

लघु इकाइयों की संख्या जोकि 1973-74 में 4.2 लाख थी, 1995-96 में बढ़कर 27.24 लाख हो गई। 1973-74 में लघु क्षेत्र में 40 लाख लोग रोज़गार में लगे थे। 1990-91 में ये बढ़कर

125 लाख और 1995-96 में 153 लाख हुए। लघु क्षेत्र का उत्पादन जो 1973-74 में 7,200 करोड़ रुपये था 1990-91 में 1,53,340 करोड़ रुपये हुआ और 1995-96 में 3,56,213 करोड़ रुपये हुआ।

तालिका 18.3 : लघु क्षेत्र में उत्पादन, रोज़गार व निर्यात

वर्ष	उत्पादन (करोड़ रुपये)	रोज़गार (करोड़ रुपये)	निर्यात (करोड़ रुपये)
1973-74	7200	39.7	393
1980-81	28060	71.0	1643
1990-91	155340	125.3	9100
1995-96	356213	152.6	36470
चक्रवती वृद्धि–दर (प्रतिशत प्रतिवर्ष)			
1973-74 से 1980-81	21.4	8.7	22.6
1980-81 से 1990-91	18.6	5.8	18.6
1990-91 से 1995-96	18.0	4.0	14.9

स्रोत : 1) Handbook of Industrial Statistics (1987)
2) Report on Currency and Finance (1995-96)

1980-81 और 1990-91 के उत्पादन वृद्धि की दर 18.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। अगले पाँच वर्षों में (1990-91 से 1995-96) यह दर लगभग 18 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। यही बड़ी प्रशंसनीय वृद्धि है। इसीलिए लघु उद्योग क्षेत्र एक गतिशील क्षेत्र है।

1980-81 और 1990-91 के बीच रोजगार वृद्धि-दर 5.8 प्रतिशत थी और अगले पाँच वर्षों में (1990-91 से 1995-96) यह बढ़कर 4 प्रतिशत हो गयी। यह वृद्धि दर बड़े उद्योगों और सारी अर्थव्यवस्था में वृद्धि दर से अधिक है।

लघु उद्योग क्षेत्र निर्यात में बहुत तेज प्रगति की है। 1980-81 में निर्यात का मूल्य 1643 करोड़ रुपये था जोकि 1990-91 में 9100 करोड़ और 1995-96 में 36470 करोड़ रुपये हो गया। देश के कुल निर्यात में लघु उद्योग का योगदान 1995-96 में 34 प्रतिशत था, जबकि 1990-91 में यह केवल 28 प्रतिशत और 1973-74 में केवल 15.6 प्रतिशत था। सिले सिलाए वस्त्रों, डिब्बाबंद व संसाधित मछलियों, चमड़े के उत्पादों, हॉजरी का सामान, समुद्री उत्पाद आदि के निर्यातों में काफी अधिक वृद्धि हुई। निर्यात में इसके प्रमुख योगदान और विदेशी मुद्रा कमाने में इसके योगदान के नाते लघु उद्योग क्षेत्र को और अधिक प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है।

18.5 लघु क्षेत्र की असमर्थताओं को हटाने के प्रति सरकारी नीति

लघु क्षेत्र की प्रमुख समस्या बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता तथा उनकी तुलना में अधिक लागत है। सरकार उनको कच्चा माल और आयातित उपकरण व साज़-सामान दिलाने में इनकी सहायता कर रही हैं। दूसरे, सस्ता ऋण न मिलना या ऋण ही न मिलना एक और समस्या

है। तीसरे, तकनीकी कुशलता तथा प्रबंधन योग्यताओं का नीचा स्तर, इनकी एक और कमजोरी है। चौथे, विपणन, गुणवत्ता का मानकीकरण, डिज़ाइन में सुधार तथा विज्ञापन इनकी अन्य कमज़ोरियाँ रही हैं।

आइए देखें कि इन कमियों को दूर करने के लिए सरकार ने क्या उपाय किए हैं :

असमर्थताओं को दूर करने के उपाय

1) **कच्चेमाल व आयातित पुर्जे और साज़-सामान का निर्धारण :** द्वितीय अंतरराष्ट्रीय टीम (Second International Team) की सिफारिशों को मानते हुए सरकार ने लघु क्षेत्र को कच्चे माल व आयातित पुर्जे और साज़-सामान के निर्धारण में प्राथमिकता देने की घोषणा की है। इस उद्देश्य से सरकार ने लघु उद्योग विकास निगम (Small Industries Development Corporation) की स्थापना की। लेकिन सरकार की नीति से सब संतुष्ट नहीं हैं। सातवीं योजना के अनुसार हालाँकि सैद्धांतिक तौर पर लघु क्षेत्र को प्राथमिकता का दर्ज़ा दिया जबकि वास्तव में इसके साथ अवशिष्ट क्षेत्र (residuary sector) का सा व्यवहार किया गया। 1991 के नए आर्थिक नीति में सरकार ने निगम क्षेत्र पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है जबकि लघु क्षेत्र की अनदेखी की है। उत्पादन व रोज़गार के हित में इस नीति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है।

2) **ऋण सहायता :** लघु क्षेत्र को ऋण मिलना एक प्रमुख समस्या है। यदि मिलता है तो ऊँची ब्याज दर पर। परिणामस्वरूप लघु क्षेत्र अपने उत्पादन लक्ष्य पूरे नहीं कर पाता। इस उद्देश्य से सरकार ने, विशेषतः 1969 में बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात्, लघु क्षेत्र को प्राथमिकता का क्षेत्र बना दिया। 1967 में लघु क्षेत्र को कुल ऋण का 6.6 प्रतिशत भाग उपलब्ध था जोकि 1994 में 28 प्रतिशत हो गया। यानि 1994 में उद्योग को उपलब्ध 80,492 करोड़ रुपये के ऋण में से 20,620 करोड़ रुपये लघु क्षेत्र को उपलब्ध था। स्थिति में यह काफी बड़ा सुधार है लेकिन अभी भी लघु क्षेत्र की ऋण आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रही है। लघु क्षेत्र की उधार पात्रता (credit worthyness) निर्धारित करने के लिए आधार बदलने की आवश्यकता है। सम्पत्ति या परिसम्पत्ति को आधार न मानकर लाभ कमाने की क्षमता को आधार मानना चाहिए। ब्याज की दर उचित होनी चाहिए ताकि लागत कम रहे और लाभ अधिक हों।

3) **तकनीकी सहायता :** लघु क्षेत्र की कई इकाइयों में प्रौद्योगिकी का स्तर काफी नीचा है और इनमें प्रशिक्षित तकनीकी व्यक्तियों की कमी है। बाज़ार में प्रभावी ढंग से प्रतियोगिता करने और नए-नए उत्पाद लाने हेतु प्रौद्योगिकी में बहुत सुधार की आवश्यकता है।

   लघु इकाइयों को तकनीकी सहायता प्रदान करने के लिए सरकार ने दो संस्थाएँ स्थापित की है। प्रथम, केन्द्रीय लघु उद्यम संगठन (Central Small Scale Industries Organisation) जोकि सेवा संस्थानों (Service Institutes) व विस्तार केन्द्रों (Extension Centres) के माध्यम से लघु उद्योग को तकनीकी सलाह देती है। दूसरे, समान सुविधा वर्कशॉप (Common Facility) के माध्यम से भी तकनीकी सहायता प्रदान की जाती है। ये बहुत कम प्रभाव (Charges) लेती है, लेकिन फिर भी इन सुविधाओं का पूरा लाभ नहीं उठाया जा रहा है।

4) **विपणन सहायता :** लघु क्षेत्र की इकाइयों की एक बहुत बड़ी कमी है इनके उत्पादों का मानकीकरण न होना। इससे इन उत्पादों की गुणवत्ता में अंतर आ जाता है। बड़ी

MADHYAM IAS

फर्में अपने ब्रांड-नाम और भारी विज्ञापन के कारण बाज़ार पर छाई रहती हैं। इससे लघु उद्यम उत्पाद बेचने में पीछे रह जाते हैं। उपभोक्ताओं के पसंद के अनुसार ये डिज़ाइन भी नहीं दे पाते हैं। ऐसा विशेषतः कपड़ों के बारे में सही बैठता है। अधिकतर उत्पादों में मानकीकरण आवश्यक होता है, जैसे बिजली का सामान, घड़ियों, जूते आदि। सरकार और खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग इसमें सहायता कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त विपणन एक विशिष्ट कार्य है जिसे सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं द्वारा किया जाना चाहिए। खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग ने इस उद्देश्य से सारे देश में 22,000 दुकानें खोली हैं।

सरकार अपनी खरीद में भी लघु इकाइयों को प्राथमिकता दे सकती है। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम इन इकाइयों का मान सरकार व रक्षा संस्थानों को बेचने में सहायता करती है। इन सभी प्रयत्नों से लघु उद्योग की बिक्री में सुधार आया है।

पिछले चार दशकों से सरकार उपरोक्त उपायों द्वारा लघु उद्योग की सहायता करने का प्रयत्न कर रही है। इनमें लघु उद्योग को प्रोत्साहन तो मिला है लेकिन ऋण सुविधा की दशा में अभी बहुत कुछ करना बाकी है ताकि निजी साहुकारों पर उनकी निर्भरता कम हो सके।

बोध प्रश्न 2

1) लघु उद्योग को सरकार से किस तरह की सहायता मिलती है?

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

2) तीन ऐसे प्रमुख संगठनों के नाम बताइए जो लघु उद्योग की सहायता करते हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

18.6 लघु क्षेत्र औद्योगिक नीति (1991)

1991 की औद्योगिक नीति की घोषणा के कुछ महीने पश्चात् सरकार ने लघु क्षेत्र के बारे में औद्योगिक नीति की भी घोषणा की। इसमें बताया गया है सातवीं योजना के अंत में लघु क्षेत्र का हिस्सा विनिर्माण क्षेत्र सकल उत्पादन मूल्य का 35 प्रतिशत और देश के निर्यात का 40 प्रतिशत था। इसने 120 लाख लोगों का रोज़गार दिया। इस नीति का प्रमुख उद्देश्य लघु क्षेत्र को अधिक जीवन प्रदान करना और इसके विकास को प्रोत्साहन देना है ताकि उत्पादन, रोज़गार और निर्यात में लघु उद्योग का और अधिक योगदान हो।

लघु उद्योग की सीमा बढ़ाना

औद्योगिक नीति में यह बात बताई गई कि सरकार ने लघु उद्यम तथा सहायक व निर्यातमूलक उद्योग की संयंत्र तथा मशीनरी की निवेश सीमा क्रमशः 35 लाख रुपये और 45 लाख रुपये से बढ़ाकर 60 लाख रुपये और 75 लाख रुपये कर दी। अत्यंत लघु क्षेत्र की सीमा 2 लाख रुपये से बढ़ाकर 5 लाख रुपये कर दी।

इस नीति की एक मुख्य विशेषता यह है कि उद्योग से संबंधित सेवा और व्यावसायिक उद्योग को लघु उद्यम वर्ग में शामिल माना जाएगा और उनकी निवेश सीमा वही होगी जो अत्यंत लघु उद्योग की है।

जैसाकि हम भाग 18.1 में बता चुके हैं, उपरोक्त सभी निवेश सीमाएँ काफी बढ़ा दी गई हैं।

वित्तीय समर्थन उपाय

ऋण उपलब्धता के बारे में सरकार ने कहा कि अब कुछ लक्ष्य समूह को छोड़ सस्ते ऋण पर बल नहीं दिया जाएगा। सरकार ने यह निर्णय लिया है कि लघु उद्योग की पूँजी बाज़ार तक पहुँच बनाने, आधुनिकीकरण को प्रोत्साहन देने तथा प्रौद्योगिकी उन्नत करने हेतु अन्य औद्योगिक इकाइयों को लघु उद्योग की पूँजी में भागीदारी की आज्ञा होगी, जोकि कुल शेयरपूँजी का 24 प्रतिशत से अधिक नहीं होगी। इससे रोज़गार के अवसर बढ़ाने की दिशा में सहायकीकरण (ancillarisation) तथा उप-संविदा (Sub-Contracting) को ज़ोरदार प्रोत्साहन मिलेगा। विलम्बित भुगतान को सुलझाने की दिशा में एक शुरुआत हो चुकी है। भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (Small Industries Development Bank of India) द्वारा लेनदारी लेखा क्रय सेवाएँ (Factoring Services) प्रारंभ हो गई हैं। इन सेवाओं से अभिप्राय यह है कि विकास बैंक या कोई अन्य वाणिज्य बैंक लघु क्षेत्र के विनिर्माताओं से उनके बीजक (invoices) खरीद लेगा और कमीशन या दलाली वसूल कर उनसे भुगतान वसूल करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेगा। नीति में आगे बताया गया है कि सेवाएँ वाणिज्य बैंकों की सहायता से सारे देश में उपलब्ध करवाई जाएगी।

बुनियादी सुविधाएँ (Infrastructural Facilities)

लघु उद्योग विकास संगठन में एक प्रौद्योगिकी विकास कक्ष (Technology Development) की स्थापना की जाएगी। इसका उद्देश्य है लघु इकाइयों की प्रौद्योगिकी में सुधार लाना, जिससे उनकी उत्पादिता में वृद्धि हो और प्रतिस्पर्धा शक्ति बढ़े। सरकार लघु क्षेत्र को, विशेषतः अत्यंत लघु क्षेत्र को, देशी विदेशी कच्चे माल का उपयुक्त एवं समान वितरण सुनिश्चित करेगी।

विपणन व निर्यात

राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम एक ब्रांड के अधीन जन उपभोक्ता वस्तुओं का विपणन करेगी। लघु उद्योग विकास संगठन का काम एक प्रमुख एजेंसी के रूप में लघु उद्योग के निर्यात को बढ़ावा देगा।

ग्रामीण उद्योग : हथकरघा क्षेत्र

बुनकरों को एक न्यूनतम जीविका स्तर उपलब्ध करवाने वाली 'जनता कपड़ा योजना' को विभिन्न चरणों में समाप्त कर दिया जाएगा। इसका स्थान एक सार्वजनिक परियोजना

पैकेज़ योजना (Project Package Scheme) लेगी। इसके अधीन करघों के आधुनिकीकरण, प्रशिक्षण, बढ़िया डिज़ाइन, बढ़िया रंग व रसायन, विपणन सहायता आदि के लिए करवाया जाएगा। इन सबके पीछे उद्देश्य यह है कि गाँवों में रोज़गार के साधन बने रहें और हथकरघा बुनकरों की जीवन की गुणवत्ता में सुधार हो।

हथकरघा क्षेत्र तथा अन्य ग्रामीण उद्योग

गैर कृषि रोज़गार को बढ़ावा देने के लिए खादी ग्रामोद्योग कमीशन की गतिविधियों में वृद्धि की जाएगी। देश के कमज़ोर वर्गों जैसे अनुसूचित जाति व जनजाति तथा स्त्रियाँ आदि को लाभ पहुँचाने के लिए यह अब क्षेत्रीय विकास (Area Development) दृष्टिकोण अपनाएगा।

लघु क्षेत्र नीति (1991) का मूल्यांकन

आलोचकों के अनुसार इस नीति में बहुत सी कमियाँ हैं, जोकि इस प्रकार हैं :

प्रथम, लघु उद्योग को ऋण उपलब्ध कराने पर बल तो है लेकिन कोई ठोस योजना नहीं है। इससे पहले भी सस्ता ऋण एक कल्पना ही थी। लघु उद्योग से वसूल की जाने वाली ब्याज दर केवल 0.5 से लेकर 1.00 प्रतिशत ही कम थी। यह काफी नहीं था।

दूसरे, नई नीति से इस बात की व्यवस्था है कि बड़े उद्यम, देशी हो या विदेशी, छोटे उद्योग में 24 प्रतिशत तक शेयर पूँजी लगा सकते हैं। ऐसा इसलिए किया गया ताकि बड़ी इकाइयाँ लघु इकाइयों को आधुनिक तकनीकि का हस्तांतरण कर सकें। लेकिन इस नीति से लघु इकाइयाँ बड़ी इकाइयों का एक अंग मात्र बनकर रह जाएगी। 24 प्रतिशत शेयरपूँजी के साथ बड़ी इकाइयाँ लघु इकाइयों को अपने पूरे कब्जे में रख सकती है। अभी भी यह कहा जाता है कि रियायतों से लाभ उठाने के लिए बड़ी इकाइयाँ फर्ज़ी लघु इकाइयाँ खड़ी कर लेती है। नई औद्योगिक नीति तो इसे केवल कानूनी रूप दे रही हैं।

तीसरे, लघु इकाइयों के बीमार होने का एक बहुत बड़ा कारण है बड़ी इकाइयों द्वारा लघु इकाइयों को देरी से भुगतान। परिणामस्वरूप छोटी इकाइयों के पास नकदी प्रवाह कम हो जाता है और उत्पादन प्रक्रिया में कठिनाई आती है। नीति में इस बारे में कुछ नहीं कहा गया है। इस दिशा में कड़े कानून बनाने की आवश्यकता है ताकि बड़ी इकाइयाँ समय पर भुगतान करें।

चौथे, नई नीति में बीमार इकाइयों के बारे में कोई विशेष कार्यक्रम नहीं है। आर्थिक सर्वेक्षण (1993-94) के अनुसार लघु क्षेत्र में 2 लाख 46 हजार बीमार इकाइयाँ हैं जिन पर 3100 करोड़ रुपये का बैंक ऋण बकाया है। अध्ययनों से पता चला है कि बीमार होने के मुख्य कारण कमज़ोर प्रबंध तथा पेशेवर प्रशिक्षण की कमी है। नई नीति में लघु उद्यमियों को प्रशिक्षण देने पर ध्यान देना चाहिए था।

एक बेहतर रास्ता यह होता है कि उद्यमियों की सहकारी टाइप की कोई संस्था बने जो इन्हें परियोजनाओं के चुनाव, आगतों की आपूर्ति के बारे में सूचना, उत्पादन तकनीक आदि के बारे में मार्गदर्शन दें और विपणन में सहायता करें। ऐसी सहकारी संस्था ऋण भी उपलब्ध करवाए। नई नीति ने ऐसी सहकारी संस्था बनाने की बजाय लघु उद्योग को निगमों का रूप देने की कोशिश की है। अन्य शब्दों में बड़े व्यवसायों को इन इकाइयों पर नियंत्रण रखने की इजाज़त दे दी। संवृद्धि व समानता की दृष्टि से यह नीति ठीक नहीं है।

1) लघु उद्योग क्षेत्र का विनिर्माण क्षेत्र के उत्पादन, रोज़गार व निर्यात में कितना भाग है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) लघु क्षेत्र औद्योगिक नीति (1991) की तीन मुख्य सिफारिशें बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

18.7 आठवीं योजना में ग्रामीण व लघु उद्यम

आठवीं योजना में यह माना गया है कि लघु क्षेत्र रोज़गार पैदा करने का एक बहुत बड़ा साधन है और साथ-साथ गरीबी हटाने का भी। इस उद्देश्य से इस योजना में लघु क्षेत्र के लिए सार्वजनिक क्षेत्र में 6334 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया। उत्पादन, रोज़गार व निर्यात के निर्धारित लक्ष्य तालिका 18.4 में दिखाए गए हैं। लघु क्षेत्र के दो भाग हैं : आधुनिक तथा पारम्परिक। आधुनिक क्षेत्र का 1991-92 में 174378 करोड़ रुपये की तुलना में 1996-97 में 253343 करोड़ रुपये हो जाने की संभावना है। इस प्रकार योजना के अंत तक लघु क्षेत्र के कुल उत्पादन में आधुनिक क्षेत्र का योगदान 86 प्रतिशत और पारंपरिक क्षेत्र का 14 प्रतिशत होने की आशा है।

रोज़गार के क्षेत्र में, आठवीं योजना के दौरान आधुनिक लघु क्षेत्र में यह 179 लाख से बढ़कर 225 लाख हो जाने की संभावना है। पारंपरिक क्षेत्र में यह 264 लाख से बढ़कर 328 लाख हो जाएगा। योजना के अंत तक दोनों का तुलनात्मक योगदान क्रमशः 41 व 59 प्रतिशत ही रहेगा।

आधुनिक क्षेत्र का निर्यात 12658 करोड़ रुपये से बढ़कर 20200 करोड़ रुपये तथा पारंपरिक क्षेत्र का 19331 करोड़ रुपये से बढ़कर 30015 करोड़ रुपये होने की संभावना है। प्रतिशत रूप में, आधुनिक क्षेत्र का योगदान 55 प्रतिशत से घटकर 40 प्रतिशत और पारंपरिक क्षेत्र का 45 प्रतिशत से बढ़कर 60 प्रतिशत होगा। पारंपरिक क्षेत्र में मुख्य योगदान हस्तशिल्प का होगा। इसके निर्यात तीन गुना बढ़ने का लक्ष्य है। इनके अधिकतर खरीददार धनी वर्ग के होते हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि लघु क्षेत्र का कुल रोज़गार में योगदान 553 लाख है, जबकि इसकी तुलना में संगठित क्षेत्र का योगदान केवल 85 लाख है। अतः रोज़गार बढ़ाने और गरीबी हटाने में लघु क्षेत्र का योगदान संगठित यानि निगमित क्षेत्र (corporate sector)

की तुलना में कहीं अधिक है, जबकि नई औद्योगिक नीति में निगमित क्षेत्र पर अधिक बल दिया गया है। निर्यात में भी लघु क्षेत्र का योगदान निरंतर बढ़ रहा है। अतः सरकार को लघु क्षेत्र को विकसित करने में ध्यान देना चाहिए।

तालिका 18.4 : ग्रामीण व लघु उद्योग : आठवीं योजना के लक्ष्य

उद्योग	उत्पादन (करोड़ रुपये)		रोज़गार (लाख व्यक्ति)		निर्यात (करोड़ रुपये)	
	1991-92	1996-97	1991-92	1996-97	1991-92	1996-97
1) आधुनिक लघु उद्योग	17434738 (89.3)	253343 (85.9)	179.0 (40.4)	225.5 (40.7)	12658 (55.1)	20200 (40.2)
i) लघु उद्योग	160000	233436	126.0	150.5	12658	20200
ii) विद्युत करघे	14378	19907	53.0	75.0	—	—
2) पारंपरिक उद्योग	20916 (14.1)	41432 (59.6)	264.3 (59.3)	328.2 (44.9)	10331 (59.8)	30015 (10.7)
iii) खादी वस्त्र	278	560	146.6	16.5	—	—
iv) ग्रामीण उद्योग	2150	3760	35.4	46.3	—	—
v) हथकरघा कपड़ा	4064	5690	106.0	117.0	450	1000
vi) रेशम उत्पादन	996	1590	54.6	65.0	600	1000
vii) हस्तशिल्प	13260	29620	48.3	77.7	9215	27915
viii) जूट रेशा	168	212	5.5	5.5	5.8	100
कुल (1+2)	**195294 (100.0)**	**294775 (100.0)**	**443.5 (100.0)**	**553.5 (100.0)**	**22989 (100.0)**	**50215 (100.0)**

नोट : कोष्ठक में दिए गए अंक प्रतिशत हैं।

स्रोत : आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97), योजना आयोग।

18.8 सरकारी घोषणाओं तथा वास्तविक नीति अमल के बीच अंतर

सरकार की कथनी और करनी में बहुत बड़ा अंतर है। लघु उद्योग पर एक विशेषज्ञ समिति, आबिद हुसैन समिति, ने अपनी रिपोर्ट जनवरी 1997 में प्रस्तुत की। इसमें दो प्रमुख सिफारिशें की गईं। प्रथम, लघु उद्यमों में उत्पाद आरक्षण समाप्त किया जाए। यह सिफारिश इसलिए की गई क्योंकि इनमें से बहुत सारे उत्पाद लघु क्षेत्र बनाता ही नहीं है या फिर बहुत कम मात्रा में बनाता है। दूसरे, अत्यंत लघु इकाइयों की निवेश सीमा 5 लाख रुपये से बढ़ाकर 25 लाख रुपये कर दी जाए और लघु व सहायक इकाइयों की निवेश सीमा क्रमशः 60 लाख रुपये और 75 लाख रुपये से बढ़ाकर 300 लाख रुपये कर दी जाए। सरकार ने ये सीमाएँ बढ़ाने का निर्णय ले लिया है। लघु क्षेत्र की आरक्षण सूची से 14 उत्पाद भी हटा दिए गए हैं जिसमें चावल दलना, दाल दलना, मुर्गी चारा, सिरका, कृत्रिम चाश्नी, बिस्कुट, आइसक्रीम, स्वचालित वाहनों के कुछ पुर्जे, नालीदार चादरें व पेपर बोर्ड।

लघु उद्योगों के प्रतिनिधियों ने सरकार के दोनों फैसलों की आलोचना की है। प्रथम, निवेश सीमा 60 लाख रुपये से बढ़ाकर 300 लाख रुपये यानि पाँच गुना क्यों की गई। कीमतों में

वृद्धि के कारण तो यह वृद्धि कुछ समझ में आ सकती है, लेकिन मई 1990 और मई 1997 के बीच तो ये कीमतें केवल 88 प्रतिशत ही बढ़ी है, फिर निवेश सीमा में वृद्धि 500 प्रतिशत क्यों? स्पष्ट है कि इससे बड़े उद्योगों द्वारा लघु उद्योगों वाली रियायतें प्राप्त करने का रास्ता खुल जाएगा। इससे लघु क्षेत्र में रोज़गार कम हो जाएगा और सामाजिक न्याय पर बुरा असर पड़ेगा।

लघु क्षेत्र के लिए सुरक्षित 822 मदों में से 60 मदों का उत्पादन लघु क्षेत्र के कुल उत्पादन का 80 प्रतिशत है। सरकार को उन मदों का आरक्षण समाप्त करना चाहिए था जिनका कुल उत्पादन में योगदान बहुत कम है, लेकिन वास्तविकता में उन मदों का आरक्षण समाप्त किया गया जो 60 सफल मदों की सूची में आती हैं।

सरकार लघु उद्योग को आगे बढ़ाने की हिमायत तो करती हैं, लेकिन इसकी वास्तविक नीतियाँ इस पर बुरा प्रभाव डालती हैं। यह द्वंद्व समाप्त होना चाहिए, यदि गतिशील लघु क्षेत्र को मज़बूत करना है। योजना आयोग के कार्यकारी दल ने तो आरक्षण नीति का पक्ष लिया है। इसके अनुसार आरक्षण समाप्त कर देने से न केवल लघु क्षेत्र का विकास रुकेगा बल्कि क्षेत्र से अनुचित प्रतिस्पर्धा भी होगी।

18.9 सारांश

लघु उद्योग की परिभाषा

यह परिभाषा संयंत्र व मशीनरी में निवेश सीमा के आधार पर की जाती है। 1990 में लघु उद्योग और सहायक उद्योग की यह सीमा क्रमशः 60 लाख रुपये और 75 लाख रुपये थी। एक सहायक इकाई उसे कहते हैं जो अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत एक या अधिक औद्योगिक इकाइयों को बेचती है। अत्यंत लघु इकाई की सीमा 5 लाख रुपये थी। 1997 में लघु उद्योग, सहायक उद्योग व अत्यंत लघु उद्योग की निवेश सीमाएँ बढ़ाकर क्रमशः 300 लाख रुपये, 300 लाख रुपये और 25 लाख रुपये कर दी गई।

लघु उद्योग दो प्रकार के होते हैं : आधुनिक और पारंपरिक। आधुनिक उद्योगों में ऊँची कीमत वाले उत्पाद बनते हैं, जैसे बिजली के उपकरण, मशीनी औज़ार उपकरण, कम्प्यूटर के पुर्जे आदि। पारंपरिक लघु उद्योग में खादी व हथकरघा, ग्रामीण उद्योग, हस्तशिल्प, रेशम उत्पादन आदि शामिल हैं। आधुनिक क्षेत्र का उत्पादन व रोज़गार में योगदान क्रमशः 86 प्रतिशत व 40 प्रतिशत है। आधुनिक क्षेत्र में पारंपरिक क्षेत्र की तुलना में उत्पादिकता का स्तर 9 गुना है।

लघु उद्योगों का औचित्य

लघु उद्योगों के पक्ष में चार तर्क दिए जाते हैं :

i) ये बड़ी मात्रा में रोज़गार पैदा करते हैं क्योंकि ये श्रम प्रधान होते हैं।

ii) लघु उद्योग बड़ी संख्या में छोटे स्वामियों और श्रमिकों के बीच आय का बँटवारा अधिक विस्तृत होता है। इससे असमानताएँ कम होती हैं और सामाजिक न्याय को बढ़ावा मिलता है।

iii) लघु उद्यमों से उत्पादन के विकेन्द्रीकरण में सहायता मिलती है। इससे शहरों में भीड़-भाड़, प्रदूषण और गंदी बस्तियों में कमी आती है।

iv) लघु उद्यम गाँवों और शहरों में पड़े बेकार साधनों को जुटाने में सहायता मिलती है।

उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण 1993-94 से पता चलता है कि बड़े उद्योगों में लघु उद्योगों की अपेक्षा प्रति कर्मचारी उत्पादक पूँजी 8 गुना लगती है लेकिन पूँजी का प्रति इकाई मूल्य वृद्धि-दर केवल 2.6 गुना है। इससे इस विचार को समर्थन मिलता है कि रोज़गार और उत्पादन दोनों ही दृष्टिकोण से एक पूँजी की कमी वाले देश में छोटी इकाइयाँ बड़ी इकाइयों से बेहतर हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था में लघु क्षेत्र का विकास

1980-81 और 1995-96 के बीच लघु इकाइयों की उत्पादन दर 18-19 प्रतिशत प्रति वर्ष रही। रोज़गार वृद्धि-दर 1980-81 से 1990-91 के बीच 5.8 प्रतिशत प्रति वर्ष और 1990-91 से 1995-96 के बीच 4 प्रतिशत प्रति वर्ष थी। 1995-96 में लघु उद्योगों का निर्यात कुल निर्यात का 34 प्रतिशत था।

लघु उद्योगों की असमर्थताएँ दूर करने हेतु सरकारी नीति

i) दुर्लभ कच्चा माल और आयातित पुर्जे व साज़-सामान उपलब्ध कराने में सहायता,

ii) सस्ते ऋण की व्यवस्था,

iii) लघु उद्यमों में लगे कारीगरों और उद्यमियों को प्रशिक्षण,

iv) विपणन में सहायता।

लघु क्षेत्र औद्योगिक नीति (1991)

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इसने निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन किए :

i) लघु उद्योग, सहायक उद्योग व अत्यंत लघु उद्योग की पूँजी निवेश सीमाएँ बढ़ाकर क्रमशः 60 लाख रुपये, 75 लाख रुपये और 5 लाख रुपये कर दी गईं।

ii) सभी छोटे उद्योग संबंधित सेवाओं को व व्यावसायिक उद्योगों को लघु उद्योग माना गया।

iii) सस्ते ऋण पर बल न देकर उपयुक्त मात्रा में ऋण पर बल।

iv) लघु उद्योगों की शेयर पूँजी में औद्योगिक इकाइयों की 24 प्रतिशत तक की भागीदारी की छूट।

v) विलम्ब भुगतान की समस्या सुलझाने हेतु भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक द्वारा लेनदारी लेखा क्रय सेवाएँ।

vi) लघु उद्योगों की प्रौद्योगिकी में सुधार लाने हेतु प्रौद्योगिकी विकास कक्ष की स्थापना।

vii) आठवीं योजना के अंत तक जनता कपड़ा योजना समाप्त।

viii) हथकरघा क्षेत्र का आधुनिकीकरण।

आलोचकों का विश्वास है कि बड़ी इकाइयों द्वारा लघु इकाइयों की शेयर पूँजी में 24

प्रतिशत तक भागीदारी की आज्ञा देने से बड़ी इकाइयाँ छोटी इकाइयों पर अधिक नियंत्रण करने लगेंगी। नई नीति में बड़ी इकाइयों द्वारा विलम्बित भुगतान की समस्या के लिए कुछ नहीं कहा गया है। 2 लाख 40 हजार बीमार इकाइयों के बारे में भी कुछ नहीं कहा गया है। नई नीति लघु उद्योगों में सहकारिता को बढ़ावा देने की बजाय निगमीकरण को बढ़ावा दिया गया है।

आठवीं योजना में ग्रामीण व लघु उद्योग

आठवीं योजना के मुख्य लक्ष्य हैं : लघु क्षेत्र के कुल उत्पादन में आधुनिक क्षेत्र का योगदान 86 प्रतिशत और पारंपरिक क्षेत्र का 14 प्रतिशत हो जाएगा। रोज़गार और निर्यात में पारंपरिक क्षेत्र का योगदान क्रमशः 59 प्रतिशत और 60 प्रतिशत होने की संभावना है। संगठित क्षेत्र की 85 लाख की तुलना में लघु क्षेत्र में वर्ष 1996-97 तक रोज़गार 553 लाख होगा।

सरकारी घोषणाओं तथा वास्तविक नीति अमल के बीच अंतर

सरकार ने आबिद हुसैन कमेटी की सिफारिशों के आधार पर लघु उद्योग, सहायक उद्योग व अत्यंत लघु उद्योग की पूँजी निवेश सीमा बढ़ाकर क्रमशः 3 करोड़ रुपये, 3 करोड़ रुपये और 25 लाख रुपये कर दी। दूसरे, सरकार ने 14 मदों को लघु क्षेत्र के लिए आरक्षित उत्पादों की सूची से निकाल दिया। आलोचकों का कहना है कि पूँजी सीमा बढ़ाकर बड़े उद्योगों को छोटे उद्योगों में प्रवेश करने का रास्ता खोल दिया है। आरक्षित सूची से 14 उत्पाद निकाल देने से लघु क्षेत्र को हानि होगी। अतः लघु उद्योग के बारे में सरकार की कथनी और करनी में बहुत अंतर है।

18.10 शब्दावली

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

आनुषंगिक इकाई : वह इकाई जो एक या एक से अधिक औद्योगिक इकाइयों को कम से कम पचास प्रतिशत उत्पादन बेचती हैं।

सहकारीकरण : इसके अन्तर्गत अधिक से अधिक छोटी इकाइयों को एक जुट करने की प्रक्रिया सम्मिलित है। ताकि वे एकजुट होकर काम कर सकें। एक सहकारी समिति के रूप में यह इकाइयाँ ज्यादा प्रभावी होती हैं। और अपने लिए बेहतर लाभ कमा सकते है।

निगमीकरण : निगमीकरण में किसी एक क्षेत्रक की पूँजी के हिस्सेदारी में निगम क्षेत्रक की भागेदारी में बढ़ोतरी की प्रक्रिया आती है।

कारखाना सेवा (Factoring Service) : इसका तात्पर्य है कि कोई भी विकास या व्यापारिक बैंक लघु उद्योगों से उत्पादन बीजक खरीदकर उन्हें मिलने वाले भुगतानों को एकत्र करने का उत्तरदायित्व ले लेता है। इसके बदले उनसे कमीश्न या दलाली लेता है।

लघु उद्यम : भारतीय सरकार के अनुसार जिस उद्यम के स्थापन और मशीनरी में तीन करोड़ रुपये तक का निवेश हो वह लघु उद्यम है।

भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक (SIDBI) : छोटे उद्योगों के विकास के लिए विशेष रूप से ऋण व्यवस्था के लिए खोले गए बैंक।

लघु उद्योग विकास निगम : ऐसी संस्था जो प्राथमिक रूप से लघु उद्योगों को कच्चे माल और अवयव आबंटन करने के लिए बनाई गई संस्था।

अति लघु इकाई : वह है जिसके स्थापन और मशीनरी में 25 लाख रुपये तक का निवेश हो।

18.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Ruddar Datt and K.P.M. Sundharam (1999) : *Indian Economy*, S. Chand & Co., New Delhi.

योजना आयोग (1956) : दूसरी पंचवर्षीय योजना

योजना आयोग (1992) : आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97)

भारत सरकार (1997) : Report of Expert Committee on Small Enterprieses.

18.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) एक लघु उद्यम का निर्धारण उसमें निवेशित आरम्भिक पूँजी के आधार पर होता है। मँहगाई के अनुसार मूल्यों में वृद्धि को ध्यान में रखते हुए यह सीमा समय-समय पर बढ़ाई जाती है। 1997 से यह सीमा तीन करोड़ रुपये है।

2) एक आनुषंगिक इकाई वह है जिसका निर्गत बड़े और मध्यम उद्योगों में आगत के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। वर्तमान में इसकी परिभाषा एक ऐसी इकाई के रूप में दी जाती है जो एक या एक से अधिक औद्योगिक इकाइयों को पचास प्रतिशत से कम का अपना उत्पादन नहीं बेचती। आनुषांगिक इकाइयों में निवेश की सीमा तीन करोड़ रुपये है।

बोध प्रश्न 2

1) सरकार लघु उद्योगों को कच्चे माल के आबंटन, कम दर पर ऋण तकनीकी सहायता और बाजारी सुविधाओं के संबंध में मदद देती है। अन्य विवरणों के लिए भाग 18.4 पढ़ें।

2) लघु उद्योगों को सहायता देने वाले तीन मुख्य संस्थाएँ हैं : SIDBI, CSIO and NSIC.

बोध प्रश्न 3

1) उत्पादन निर्गत में 35% रोजगार में 85% और निर्यात में 40%

2) लघु उद्योग नीति 1991 में कई कदम उठाए गए। उनमें तीन मुख्य इस प्रकार हैं :
   i) पर्याप्त ऋण व्यवस्था
   ii) बड़े उद्योगों द्वारा साम्या भागेदारी (Equity Participation)
   iii) एक ब्राण्ड के माध्यम से NSIC द्वारा विपणन

इकाई 19 रोजगार ढाँचा

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 अर्थव्यवस्था का ढाँचा
19.3 रोज़गार का क्षेत्रीय वितरण
19.4 श्रमशक्ति का पुनर्गठन
19.5 रोज़गार की वृद्धि-दर
19.6 रोज़गार नीति
19.7 भविष्य के लिए नीति संबंधी योजना
19.8 सारांश
19.9 शब्दावली
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

19.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप समझ सकेंगे :

- आर्थिक और रोज़गार ढाँचे की अवधारणा;
- भारत में श्रमशक्ति का पुनर्गठन;
- रोज़गार की वृद्धि-दर; तथा
- भविष्य के लिए कार्यसूची।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.1 प्रस्तावना

किसी देश की राष्ट्रीय आय वहाँ उपलब्ध भौतिक, मानविक और प्रौद्योगिकी संसाधनों की मात्रा और गुणवत्ता पर निर्भर होती है। मानव श्रम इनमें से एक महत्त्वपूर्ण उत्पादक संसाधन है। मनुष्य आर्थिक विकास में हिस्सा भी लेता है और इसका लाभ भी उसे ही मिलता है। श्रमशक्ति में सभी सक्रिय, कार्यरत (रोज़गार प्राप्त) और "कार्य के लिए उपलब्ध या जरूरतमंद" लोग शामिल होते हैं। श्रमशक्ति का आकार और संघटन जनसंख्या के परिवर्तनशील कारकों (जैसे जन्मदर, मृत्युदर, लिंग संघटन, आयु-ढाँचे और प्रवास) और श्रमशक्ति भागीदारी दरों से निर्धारित होता है। श्रमशक्ति की गुणवत्ता निम्नलिखित कारकों से निर्धारित होती है।

- स्वास्थ्य
- पोषण
- शिक्षा
- प्रशिक्षण और कौशल निर्माण
- प्रौद्योगिकी

शिक्षा जैसे कुछ कारक जनसंख्या संबंधी परिवर्तनशील कारकों को भी प्रभावित करते हैं। अन्य चीजों के समान रहने पर, श्रमशक्ति में जनसंख्या का अनुपात जितना ज्यादा होगा, यह जितना कौशलयुक्त और स्वस्थ होगा, देश उतना ही समृद्ध होगा। हालाँकि इसका मतलब यह नहीं है कि श्रमशक्ति की भागीदारी बढ़ने से हमेशा देश समृद्ध होता है। विकास के एक खास चरण के बाद यह स्थिर हो सकता है या यहाँ तक कि इसमें गिरावट भी आ सकती है।

आमतौर पर श्रम की माँग (रोज़गार स्तर) अर्थव्यवस्था की वृद्धिदर, उत्पत्ति के साधनों की सापेक्षिक कीमतों के ढाँचे, सामानों और सेवाओं की माँग का स्वरूप और अपनाई गई प्रौद्योगिकी की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। विभिन्न उद्यमों में अपनाई गई प्रौद्योगिकी (पूंजीगत या श्रमगत) से रोज़गार की लोच प्रभावित होती है। उत्पादन की वृद्धिदर में परिवर्तन के फलस्वरूप रोज़गार की वृद्धिदर में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन को रोज़गार की लोच के रूप में जाना जाता है। उदाहरण के लिए यदि रोज़गार लोच 0.35 है तो इसका मतलब यह हुआ कि सकल घरेलू उत्पाद में 1 प्रतिशत बढ़ोतरी से रोज़गार में 0.35 प्रतिशत की वृद्धि होगी। रोज़गार लोच में गिरावट आने से कम रोज़गार पैदा होता है। हालाँकि 1.00 या इससे अधिक अंकवाली रोज़गार लोच हमेशा लाभदायक नहीं होती क्योंकि इससे कम उत्पादक वाला रोज़गार प्रतिबिंबित होता है।

आदर्शतः भारतीय माहौल में 'सभी क्षेत्रों' में लोच की दर 0.5 से 0.6 तक रहना चाहिए।

19.2 अर्थव्यवस्था का ढाँचा

खंड 1 में हमने देखा कि राष्ट्रीय आय में विभिन्न क्षेत्रों की हिस्सेदारी की दृष्टि से अर्थव्यवस्था को तीन प्रमुख क्षेत्रों में बाँटा गया है :

- प्राथमिक क्षेत्र
- द्वितीयक क्षेत्र
- तृतीयक या सेवा क्षेत्र

प्राथमिक क्षेत्र का संबंध कृषि, वानिकी और मछली-पालन जैसे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से है। द्वितीयक क्षेत्र का संबंध विनिर्मित उत्पादन तथा खनन से है। इसमें संगठित और असंगठित क्षेत्रों में होने वाले उत्पादन को शामिल किया जाता है। सेवा क्षेत्र में व्यापार, परिवहन और संचार जैसी विभिन्न प्रकार की सेवाओं, वित्तीय और बैंकिंग सेवाओं के प्रावधान, स्वास्थ्य और शिक्षा जैसी सामुदायिक सेवाएँ, सार्वजनिक और व्यक्तिगत सेवाओं से है।

भारत में 1950-51 में प्राथमिक क्षेत्र की सकल घरेलु उत्पाद (GDP) में हिस्सेदारी 55.3 प्रतिशत थी जो 1970-71 में घटकर 44.5 प्रतिशत और 1999-00 में 25.2 प्रतिशत रह गई। प्राथमिक क्षेत्र में कृषि का योगदान (लगभग 90 प्रतिशत) सबसे ज्यादा है। 1950-51 में इसकी हिस्सेदारी 48.6 प्रतिशत थी जो 1970-71 में घटकर 39.7 प्रतिशत और 1999-00 में 23.2 प्रतिशत रह गई। द्वितीयक क्षेत्र की हिस्सेदारी में बढ़ोतरी हुई। 1950-51 में सकल घरेलू उत्पाद में इसकी हिस्सेदारी 16.1 प्रतिशत थी जो 1999-00 में बढ़कर 27 प्रतिशत हो गई। इसी प्रकार तृतीयक क्षेत्र की हिस्सेदारी 1950-51 में 28.5 प्रतिशत से बढ़कर 1999-00 में 47.8 प्रतिशत हो गई। राष्ट्रीय आय के संगठन में यह ढाँचागत परिवर्तन योजनाओं के दौरान शुरू की गई आर्थिक वृद्धि की प्रक्रियाओं का परिणाम था। फिशर क्लॉर्क सिद्धांत भी यह बताता है कि जैसे-जैसे आर्थिक विकास होता जाता है वैसे-वैसे

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

रोज़गार और आय में प्राथमिक क्षेत्र की हिस्सेदारी अपेक्षाकृत कम होती है जबकि द्वितीयक और सेवा क्षेत्र की हिस्सेदारी बढ़ती है।

परंतु सकल घरेलू उत्पाद के बदलते ढाँचे के अनुरूप श्रमशक्ति के ढाँचे में परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि की हिस्सेदारी घटकर रह गई, इसके बावजूद श्रम शक्ति का लगभग दो तिहाई हिस्सा (64.7 प्रतिशत) अभी भी खेती के काम में लगा हुआ है। रोज़गार में कृषि के लगातार वर्चस्व के कुछ महत्त्वपूर्ण कारण इस प्रकार हैं :

1) उत्पादक क्षेत्र द्वारा पूंजीसघन और श्रम बचत करने वाली प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल और परिणामस्वरूप उत्पादक क्षेत्र द्वारा श्रम को खपाने की असमर्थता।

2) भारत में कुल जनसंख्या की तुलना में ग्रामीण जनसंख्या का अनुपात 1991 में 74.6 प्रतिशत था जबकि रूस में 26 प्रतिशत, अमेरिका में 24 प्रतिशत, जापान में 23 प्रतिशत और इंग्लैण्ड में 11 प्रतिशत था। ग्रामीण क्षेत्रों में गैर कृषि गतिविधियों की कमी के कारण अकुशल ग्रामीण जनता ने मजबूरी में कृषि को रोज़गार के रूप में अपना लिया है।

3) श्रम-आधिक्य-अर्थव्यवस्था के लिए उपयुक्त प्रौद्योगिकी के विकास की असफलता के कारण गैर कृषि क्षेत्रों में अधिक श्रम को खपाया नहीं जा सका।

50 वर्षों में सकल घरेलू उत्पाद में विनिर्मित उद्योगों और सेवा क्षेत्र की हिस्सेदारी में हुए परिवर्तन की तुलना में सेवाओं और उद्योग में लगी श्रम शक्ति का अनुपात काफी कम है। उत्पादन के क्षेत्र में भारी निवेश के बावजूद द्वितीयक क्षेत्र में श्रमिकों का प्रतिशत 1951 में 10.7 प्रतिशत से थोड़ा बढ़कर 1991 में 12.7 प्रतिशत हो सका। इसी प्रकार सेवा क्षेत्र में भी 1951 में 17.2 प्रतिशत से 1991 में 20.5 प्रतिशत की मामूली वृद्धि हुई।

अतः मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि 1951 से लेकर आजतक अर्थव्यवस्था में प्राथमिक से द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्र में श्रमशक्ति का स्पष्ट प्रवेश नहीं हो सका। अगर हम सिद्धांत को स्वीकार कर लें कि श्रमशक्ति के प्राथमिक से द्वितीयक और अन्ततः तृतीयक क्षेत्रों में प्रवेश विकास का सूचक है तो यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत आर्थिक प्रगति की राह पर नहीं है।

तालिका 19.1

सकल घरेलू उत्पाद में हिस्सेदारी

प्रतिशत

	1951	1970-71	1980-81	1995
I प्राथमिक क्षेत्र	55.3	44.5	38.1	27.8
कृषि	48.6	39.7	34.7	
II द्वितीयक क्षेत्र	16.1	23.6	25.9	31.1
III तृतीयक क्षेत्र	28.5	31.9	36.0	41.2

स्रोत : 1) भारतीय अर्थशास्त्र, रुद्रदत्त, 1996

2) एशियाई विकास दृष्टिकोण 1996, 1997, एशियाई विकास बैंक

तालिका 19.2

क्षेत्रवार श्रमिकों का वितरण (प्रतिशत में)

	1951	1961	1971	1981	1991	1983-94
प्राथमिक क्षेत्र	72.1	71.8	72.1	68.8	66.8	64.7
द्वितीयक क्षेत्र	10.7	12.2	11.2	13.5	12.7	14.8
तृतीयक क्षेत्र	17.2	16.0	16.7	17.7	20.5	20.5

स्रोत: i) भारतीय अर्थव्यवस्था, रुद्र दत्त, 1996 से उद्धृत

ii) 1993-94 का आंकड़ा इंडियन जरनल ऑफ लेबर इकोनोमिक्स, वर्ष 39 अंक 4, 1996 में संकलित प्रविन बिसारिया के लेख, स्ट्रक्चर ऑफ वर्कफोर्स से उद्धृत।

बोध प्रश्न 1

बताइए कि निम्नलिखित कथन सही हैं या गलत :

1) आय की माँग उत्पादन से स्वतंत्र होती है। (सही/गलत)

2) सकल घरेलू उत्पाद के ढाँचे में परिवर्तन होने से रोज़गार के ढाँचे में परिवर्तन हुआ है। (सही/गलत)

3) जनसंख्या के परिवर्तन कारकों और श्रमशक्ति भागीदारी दर से श्रम शक्ति का आकार निर्धारित होता है। (सही/गलत)

19.3 रोज़गार का क्षेत्रीय वितरण

श्रम की माँग व्युत्पादित होती है। विभिन्न क्षेत्रों में रोज़गार की वृद्धि और वितरण उत्पादन की वृद्धि और उसके वितरण पर निर्भर होता है। किसी अवधि में श्रम शक्ति पुनर्गठन की प्रक्रिया निम्नलिखित कारकों में परिवर्तन पर निर्भर करती है :

- माँग के स्वरूप अर्थात् उपभोग की जाने वाली वस्तुएँ और सेवाएँ
- प्रौद्योगिकी
- उत्पादकता

जैसे-जैसे विकास होता जाता है वैसे-वैसे प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ती जाती है। एंजेल के नियम के अनुसार जैसे ही प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है वैसे ही लोग दूध जैसे उत्कृष्ट भोजन की माँग करने लगते हैं; उसके बाद कपड़े जैसी बनी बनाई उपभोक्ता वस्तुओं की माँग करने लगते हैं। उपभोक्ता पद्धति के इस परिवर्तन से उत्पादन के ढाँचे में भी साथ-साथ परिवर्तन होने लगता है। जैसे ही जनसंख्या में मध्यम आय वर्ग की प्रति व्यक्ति आय का स्तर ऊपर उठता है तैयार उपभोक्ता वस्तुओं की माँग की वृद्धिदर अपनी चरम सीमा पर होती है। इसके बाद उच्च आय दर समूह के परिवार के लोग अपनी आय में से सेवाओं पर अपेक्षाकृत ज्यादा खर्च करने लगते हैं।

प्रौद्योगिकी परिवर्तनों से आमतौर पर और खासकर उद्योगों में रोज़गार की वृद्धि प्रभावित होती है। कई बार प्रौद्योगिकी का चयन शुद्ध रूप से उत्पादन के प्रौद्योगिकी कारकों से नियंत्रित होता है। परंतु अधिकांश मामलों में न्यूनतम मजदूरी के रूप में श्रम बाजार में कई

प्रकार की असंगतियाँ पैदा हो जाती हैं और पूँजी में उपयोग के लिए विभिन्न रियायतों से श्रम की तुलना में पूँजी की कीमत मूल्य कम हो जाती है। जिसके फलस्वरूप नियोक्ता या सेवायोजक मजदूरी और श्रम बचाने की प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल करने लगता है। इसके परिणामस्वरूप विकासशील देशों में स्थानीय रूप से काफी मजदूर बेरोज़गार हो जाते हैं।

जन्म-दर और मृत्यु-दर, आयु ढाँचा, श्रमशक्ति, भागीदारी दर आदि आपूर्ति कारक भी बेरोज़गारी, प्रछन्न बेरोज़गारी और कम रोज़गारी को प्रभावित करते हैं। यदि रोज़गार की वृद्धि-दर से श्रमशक्ति की वृद्धि-दर ज्यादा होती है तो और भी लोग बेरोज़गार हो जाते हैं। चूँकि गरीब लोग बेरोज़गारी का बोझ सहन नहीं कर सकते इसलिए उनके पास कृषि क्षेत्र में जाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं रह जाता।

इस प्रकार श्रमशक्ति में तेजी से वृद्धि होने से कृषि क्षेत्र में पुनर्गठन की प्रक्रिया धीमी हो जाती है।

19.4 श्रमशक्ति का पुनर्गठन

हमारे पास निम्नलिखित दो स्रोतों से रोज़गार के बारे में व्यापक आँकड़े मिलते हैं :

i) जनसंख्या गणना

ii) राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन से प्राप्त आँकड़े अधिक विश्वसनीय और व्यवस्थित हैं क्योंकि सर्वेक्षण के विभिन्न दौर में विभिन्न अवधारणाओं की परिभाषाएँ एक रही हैं। अतः तुलना भी की जा सकती है और व्यापक रूप में इनका उपयोग भी किया जा सकता है। जनगणना में ग्रामीण और शहरी आधार पर कामगारों का वर्गीकरण किया गया है। 1991 की जनगणना से पता चलता है कि 31.4 करोड़ मज़दूरों में ग्रामीण मज़दूरों की संख्या 24.9 करोड़ है (79 प्रतिशत) और मज़दूरों की संख्या 6.5 करोड़ (21 प्रतिशत) है।

निम्नलिखित क्षेत्रों में कार्यरत मज़दूरों के आधार पर श्रम शक्ति के पुनर्गठन का अध्ययन किया जा सकता है।

क) कृषीय और गैर-कृषीय क्षेत्र

ख) संगठित और असंगठित क्षेत्र

ग) मजदूरी और स्वरोज़गार

क) कृषीय और गैर-कृषीय क्षेत्र

कृषि से गैर-कृषि क्षेत्र में श्रमशक्ति के आनुपातिक परिवर्तन के आधार पर 1951-52 से 1993-94 की सम्पूर्ण अवधि को दो उप-अवधियों में विभाजित किया जा सकता है :

i) 1951-52 से 1971-72 ii) 1972-73 से 1993-94

i) 1951-52 से 1971-72 : 1970 तक श्रम शक्ति ढाँचे में कोई स्पष्ट प्रवृत्ति उभरती हुई दिखाई नहीं देती। कृषि क्षेत्र में काम करने वाले लोगों का प्रतिशत 1961 में 71.8 से बढ़कर 1971 में 72.1 प्रतिशत हो गया था। कृषि मज़दूरों का प्रतिशत 1961 में 16.7 था जो बढ़कर 1971 में 26.3 प्रतिशत हो गया। कृषि श्रमिकों की संख्या में यह वृद्धि स्वरोज़गार कृषकों की

संख्या में कमी का परिणाम था। इस प्रकार प्राथमिक क्षेत्र में 1951 से लेकर 1971 के बीच श्रमशक्ति 72 प्रतिशत पर स्थिर थी। कृषि क्षेत्र के बाहर रोज़गार अवसरों में कोई खास वृद्धि न होने से मजदूर कृषि क्षेत्र में कार्य करने लगे। कृषि योग्य जोतें कुछ लोगों के हाथ में सिमटने लगीं और, छोटे तथा सीमांत किसान कृषि मजदूर के रूप में काम करने लगे।

ii) 1972-73 से 1993-94 : 1961 के स्तर की तुलना में 1981 तक श्रम शक्ति के पुनर्गठन में सुधार आया। कृषि में काम करने वाले लोगों का प्रतिशत 1971 में 72.1 प्रतिशत था जो 1981 में घटकर 68.8 प्रतिशत हो गया। निर्माण क्षेत्र में 1971 में इसका प्रतिशत 11.2 था जो 1981 में बढ़कर 13.5 प्रतिशत हो गया। सेवा क्षेत्र में काम करने वाले लोगों के प्रतिशत में थोड़ी बहुत वृद्धि हुई और 1981 में यह 17.7 प्रतिशत हो गया।

1980 के दशक में श्रमशक्ति में विविधता की प्रक्रिया को एक धक्का लगा। ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में श्रम शक्ति में निर्माण क्षेत्र की हिस्सेदारी में कमी आई। शहरी क्षेत्रों में परिवहन, भंडारण और संचार जैसे क्षेत्रों में भी श्रमशक्ति की हिस्सेदारी कम हुई। इसके परिणामस्वरूप शहरी क्षेत्रों में गैर कृषि क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों का प्रतिशत कम हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों में भी कृषि मज़दूरों के अनुपात में पर्याप्त कमी हुई। जिन मज़दूरों को अन्य क्षेत्रों में कोई उत्पादक रोज़गार नहीं मिला उन्हें ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों के तृतीयक क्षेत्र में जगह मिली।

1993-94 में किए गए राष्ट्रीय सर्वेक्षण से प्राप्त आँकड़ों से यह पता चलता है कि उदारीकरण के बाद स्थिति और भी बिगड़ गई है। अगर पूरी अर्थव्यवस्था को देखें तो कृषि में श्रमशक्ति की हिस्सेदारी बढ़ी और गैर कृषि क्षेत्रों में घटी है। ग्रामीण क्षेत्रों पर फिर से दबाव बढ़ने लगा है। 1987-88 से लेकर 1993-94 के बीच गैर-कृषि क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों से कृषि क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों की संख्या 3 गुनी ज्यादा थी। 1980 और 90 के दशकों में उद्योगों में प्रयुक्त तकनीक पूँजी सघन थी इसलिए रोज़गार सृजन की क्षमता दर में आनुपातिक वृद्धि न हो सकी।

MANORIYAM IAS
'way to achieve your dream'

ख) संगठित और असंगठित क्षेत्र

आइए पहले संगठित और असंगठित क्षेत्र की अवधारणा समझ लें। केंद्रीय सांख्यिकी संगठन के अनुसार असंगठित क्षेत्र में वे सभी संगठन और घरेलू उद्योग (संगठित उद्योगों को छोड़कर) शामिल होते हैं जो किसी कानून से नियंत्रित नहीं होते और जो वार्षिक लेखा-जोखा या संतुलन पत्र नहीं बनाते। संगठित क्षेत्र के अंतर्गत ऐसे नैगमिक और अर्द्ध नैगमिक उपक्रम आते हैं जो संतुलन पत्र बनाते हैं तथा प्रशासनिक नियमों के अनुसार काम करते हैं। चैम्बर ऑफ कॉमर्स, व्यापार संगठन आदि जैसे मुनाफा रहित निजी संस्थान भी इस श्रेणी में आते हैं।

भारत के रोज़गार ढाँचे की प्रमुख विशेषता इसकी आधुनिक (संगठित) और अनौपचारिक (असंगठित) दोनों क्षेत्रों में एक साथ उपस्थिति है। व्यापक पैमाने पर उत्पादन, आधुनिक प्रौद्योगिकियों का उपयोग, गैर प्रतियोगी उत्पाद और मज़दूरों को अधिक मजदूरी आधुनिक क्षेत्र की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इसी प्रकार छोटे पैमाने पर उत्पादन, कम पूँजी, सघन और अल्प प्रतियोगिता, ठेके की मजदूरी, महिलाओं की ज्यादा भरती आदि असंगठित क्षेत्र की खास विशेषताएँ हैं। इस प्रकार असंगठित क्षेत्र में वृद्धि रोज़गार की खराब स्थिति का सूचक है।

1991 की जनगणना के अनुसार संगठित क्षेत्र में मात्र 9.4 प्रतिशत मजदूर काम करते थे जबकि असंगठित क्षेत्र में 90.6 प्रतिशत श्रमिक लगे हुए थे। असंगठित मज़दूरों की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं : कार्य स्थलों का बिखरापन, संगठन का अभाव, नियोक्ता-कर्मचारी

के बीच ठोस संबंध का अभाव, अल्प रोज़गार की अधिकता, घरेलू काम की अधिकता आदि। कृषि मजदूर, कुटीर और रेशम उद्योग जैसे गैर कृषि कामों में लगे गाँव के श्रमिक, बीड़ी बनाने वाले, निर्माण कार्यों में लगे लोग, घरेलू नौकर, आदि असंगठित क्षेत्र में ही शामिल होते हैं।

हालाँकि रोज़गार में संगठित और असंगठित क्षेत्रों की हिस्सेदारी काफी समय तक लगभग स्थिर रही है, परंतु कुछ क्षेत्रों में असंगठित क्षेत्रों की हिस्सेदारी काफी तेजी से बढ़ी है। कृषि, वानिकी, मछली पालन और बागवानी में कुल मिलाकर 99.2 प्रतिशत, उद्योगों में 75 प्रतिशत, निर्माण कार्यों में 78 प्रतिशत, वाणिज्य और व्यापार में 98 प्रतिशत; तथा परिवहन, भंडारण और संचार में 61 प्रतिशत मज़दूर असंगठित क्षेत्र में कार्य करते हैं।

ग) मजदूरी रोज़गार और स्वरोज़गार

स्वरोज़गार का हिस्सा 1972-73 में 61.44 प्रतिशत था जो 1993-94 में घटकर 54.8 प्रतिशत हो गया। इसी प्रकार स्थाई रोज़गार में भी कमी आई। 1972-73 में यह 15.4 प्रतिशत था जो 1993-94 में 13.2 प्रतिशत रह गया। परंतु इस बीच आकस्मिक रोज़गार में वृद्धि हुई। 1972-73 में यह 23.2 प्रतिशत था जो 1993-94 में बढ़कर 32 प्रतिशत हो गया। ग्रामीण क्षेत्रों में स्वरोज़गार में आई कमी और शहरी क्षेत्रों में नियमित मजदूरी की कमी के कारण आकस्मिक मज़दूरों के अनुपात में वृद्धि हुई। महिला मज़दूरों की अपेक्षा पुरुष मज़दूरों की संख्या आकस्मिक मज़दूरों के रूप में ज्यादा बढ़ी। आकस्मिक रोज़गार की बढ़ती हिस्सेदारी रोज़गार की गुणवत्ता में आई गिरावट को अभिव्यक्त करता है।

तालिका-19.3

स्वरोज़गार और मजदूरी रोज़गार के रूप में श्रमशक्ति के ढाँचे में परिवर्तन (प्रतिशत)

श्रेणी	1972-73	1993-94
i) स्वरोज़गार मजदूर	61.4	54.8
ii) मजदूरी पर लगे श्रमिक	38.6	45.2
क) नियमित श्रमिक	15.4	13.2
ख) आकस्मिक श्रमिक	23.2	32.0

MADHYAM IAS

बोध प्रश्न 2

1) आर्थिक विकास होने पर वस्तु निर्माण के क्षेत्र में और सेवा क्षेत्र में रोज़गार क्यों बढ़ता है?

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप मानते हैं कि नियमित रोज़गार की कीमत पर आकस्मिक मज़दूरों में हुई वृद्धि से रोज़गार की गुणवत्ता में कमी आती है?

.....

.....

.....

.....

3) 1980 और 90 के दशक में ग्रामीण श्रमशक्ति के अनौद्योगीकरण के क्या कारण हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

19.5 रोज़गार की वृद्धि-दर

1951 और 1990 के बीच भारत की श्रमशक्ति में 2.44 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई जबकि इसी दौरान रोज़गार वृद्धि की दर मात्र 2.20 प्रतिशत थी। 1985-92 (7 वर्ष) के दौरान श्रमशक्ति में 1.89 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई और रोज़गार 1.76 प्रतिशत की दर से बढ़ा। रोज़गार और श्रमशक्ति की वृद्धि-दर में इस अन्तराल से बेरोज़गारों की संख्या बढ़ती चली गई। इसके परिणामस्वरूप बेरोज़गारी की वृद्धि-दर 1951 में 0.21 प्रतिशत से बढ़कर 1961 में 3.6 प्रतिशत, 1980 में 4.25 प्रतिशत, 1992 में 5.33 प्रतिशत और 1995 में 5.1 प्रतिशत हो गई।

कुल मिलाकर 1951 में बेरोज़गारी 3.4 लाख थी जो 1969 में बढ़कर 52 लाख, 1985 में बढ़कर 115 लाख हो गई और 1995 में लगभग 187 लाख थी। इस प्रकार सापेक्ष एवं निरपेक्ष दोनों ही दृष्टि से बेरोज़गारी में वृद्धि हुई।

MAADHYAM IAS

तालिका-19.4
श्रमशक्ति, रोज़गार और बेरोज़गारी

वर्ष	श्रमशक्ति (करोड़ व्यक्ति)	रोज़गार (करोड़ व्यक्ति)	बेरोज़गार (करोड़ व्यक्ति)	बेरोज़गार दर (प्रतिशत)
1951	16.201	16.167	0.034	0.21
1961	17.844	17.196	0.648	3.63
1969	20.820	20.301	0.519	2.50
1974	23.415	22.404	1.011	4.32
1980	25.634	24.475	1.150	4.32
1985	27.938	26.669	1.269	4.54
1992	31.873	30.173	17.000	5.53
1995	339.210	320.510	18.700	5.51

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना में रोज़गार नीति (प्रो. रुद्र दत्त)

1987-88 और 1993-94 के बीच महिला रोज़गार की दर में गिरावट आई और वह गिरावट ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा देखने को मिली। इस दौरान महिलाओं और पुरुषों दोनों के लिए शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार के अवसर कम हुए।

विशेष रूप से संगठित क्षेत्रों में रोज़गार की वृद्धि-दर में काफी तेजी से कमी आई और यह

2.48 प्रतिशत से घटकर 1.38 प्रतिशत हो गई। हालाँकि यह गिरावट लगभग सभी क्षेत्रों में देखी गई। परंतु वस्तु निर्माण क्षेत्र में यह सबसे अधिक तीव्रता के साथ कम हुई। संगठित वस्तु निर्माण क्षेत्र में रोज़गार लगभग अवरुद्ध-सा हो गया और हाल के वर्षों में असंगठित क्षेत्र ने सबसे ज्यादा रोज़गार दिया है।

1980 के दशक के दौरान रोज़गार वृद्धि में आई गिरावट का तात्कालिक कारण कृषि, वस्तु-निर्माण क्षेत्र और सेवाओं जैसे सभी प्रमुख क्षेत्रों में रोज़गार की लोच में गिरावट था। 1970 के दशक में सकल घरेलू उत्पाद में 1 प्रतिशत की वृद्धि होने से रोज़गार में 0.61 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1980 के दशक में सकल घरेलू उत्पाद में इतने ही प्रतिशत की वृद्धि होने से रोज़गार में मात्र 0.32 प्रतिशत की वृद्धि हुई। 1990 के दशक में कृषि और सेवा क्षेत्रों में रोज़गार की लोच में सुधार हुआ परंतु निर्माण क्षेत्र में 1980 के दशक की स्थिति बनी रही। 80 के दशक में औद्योगिक क्षेत्र में हुए पुनर्गठन के कारण वहाँ रोज़गार की लोच में कमी आई। पूँजीगत वस्तुओं और उपभोक्ता वस्तुओं के वे भाग जिनकी निर्माण-प्रक्रिया में श्रमिकों की कम आवश्यकता होती है, वहाँ उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। इसके अलावा उत्कृष्ट और उच्च गुणवत्ता वाली वस्तुओं के माँग के कारण भी रोज़गार में कमी आई क्योंकि इस प्रकार के उद्योगों में भी कम श्रमिकों की आवश्यकता होती है। 1990 के दशक की रोज़गार की धीमी वृद्धि का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि 1991-92 में सार्वजनिक और निजी निवेश की वृद्धि-दर काफी हद तक ऋणात्मक रही। इसके परिणामस्वरूप 1992-93 में सार्वजनिक सकल पूँजी निर्माण में गिरावट आई। सामाजिक क्षेत्र में सार्वजनिक खर्च में आई कमी के कारण भी रोज़गार में धीमी वृद्धि रही।

संगठित वस्तु-निर्माण क्षेत्रों में हुए तीव्र विकास और 80 और 90 के दशकों में रोज़गार वृद्धि की धीमी गति से यह पता चलता है कि सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि और रोज़गार वृद्धि की दर में कोई स्वचालित संबंध नहीं है। 1980 और 90 के दशकों में वस्तु निर्माण क्षेत्र में रोज़गार लोच में आई गिरावट का भावी रोज़गार रणनीति के लिए कई अर्थ निकलते हैं। नई औद्योगिक नीति के तहत चलाई जा रही उदारीकरण की नीतियों में बाजार की ताकतों पर बल दिया गया है। किंतु इस पर भरोसा करने से या तो ऐसा विकास होगा जिसमें रोज़गार के अवसर नहीं होंगे या ज्यादा उत्पादन तो होगा परंतु रोज़गार वृद्धि की दर धीमी होगी।

तालिका-19.5

सकल घरेलू उत्पाद एवं रोज़गार की वृद्धि-दर

	सकल घरेलू उत्पाद की सालाना वृद्धि दर (%)	रोज़गार की सालाना वृद्धि दर (%)	रोज़गार की लोच
प्रथम पंचवर्षीय योजना(1951-56)	3.6	0.39	0.11
द्वितीय योजना (1956-61)	4.2	0.85	0.20
तीसरी योजना (1961-66)	2.8	2.03	0.73
वार्षिक योजना (1967-69)	3.9	2.21	0.57
चौथी योजना (1969-74)	3.3	1.99	0.60
पाँचवीं योजना (1974-75 से 1978-79)	4.8	1.84	0.38
छठी योजना (1980-85)	5.7	1.73	0.30
सातवीं योजना (1985-90)	5.8	1.89	0.33
1990-92	3.4	1.55	0.44
1992-95	5.8	2.03	0.35

स्रोत : नवीं योजना में रोज़गार नीति, आई.ए.एम.आर दिल्ली में आयोजित गोष्ठी में प्रो. रुद्रदत्त द्वारा प्रस्तुत आलेख

19.6 रोज़गार नीति

दृष्टिकोण की प्रकृति और नीति संबंधी प्रयत्नों के आधार पर रोज़गार नीति को तीन चरणों में विभक्त किया जा सकता है :

i) चरण I (1950 से 1970) : योजना के आरंभिक वर्षों में यह मान लिया गया कि अर्थव्यवस्था के विकास से रोज़गार में वृद्धि होगी। इस प्रकार के विकास से रोज़गार अपने आप पैदा हो जाएँगे। यह अनुमान लगाया गया कि 5 प्रतिशत के हिसाब से विकास होगा और श्रम शक्ति की वृद्धि 2 प्रतिशत से ज्यादा नहीं होगी। 60 के दशक में ये दोनों ही आशाएँ ध्वस्त हो गईं। उत्पादन और रोज़गार के सीधे संबंध पर प्रश्न चिह्न लग गया।

ii) चरण II (1970 से 1980) : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के आँकड़ों के प्रकाशन के बाद यह महसूस किया गया कि विकास योजना में रोज़गार पैदा करने पर विशेष दृष्टि चाहिए। पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) में रोज़गार के अवसर पैदा करना एक प्रमुख उद्देश्य था। कमजोर वर्गों को अस्थाई रूप से रोज़गार देने के लिए विशेष रोज़गार कार्यक्रम चलाए गए जिनमें से कुछ कार्यक्रम इस प्रकार थे— सीमांत किसान और कृषि मजदूर, छोटे किसान विकास एजेंसियाँ, समन्वित शुष्क भूमि विकास कार्यक्रम, कृषि सेवा केंद्र, ग्रामीण श्रम कार्यक्रम आदि।

iii) चरण III (1980 और उसके बाद) : छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) के बाद से रोज़गार उत्पादन और गरीबी उन्मूलन के उद्देश्य को सबसे ऊपर रखा गया। रोज़गार के अवसर पैदा करने के लिए विशेष प्रयत्न किए गए। समूह आधारित और क्षेत्र आधारित रोज़गार उत्पादन और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम चलाए गए। व्यक्ति को केंद्र में रखने का दृष्टिकोण अपनाया गया। गरीबी-उन्मूलन कार्यक्रम की विस्तृत चर्चा आगामी इकाई में की जाएगी।

MAADHYAM IAS
"way to achieve your dream"

19.7 भविष्य के लिए नीति संबंधी योजना

निरपेक्ष और सापेक्ष दोनों ही दृष्टियों से बढ़ती बेरोजगारी को देखते हुए आर्थिक विकास के लिए ऐसी नीतियाँ तैयार करनी होगी जिनमें श्रमशक्ति का पूरा-पूरा उपयोग किया जाए। लघु/कुटीर उद्योगों के विकास, प्रौद्योगिकी का चुनाव, मानव संसाधन विकास, मानवशक्ति नियोजन, मजदूरी-नीति आदि सभी की रोज़गार के अवसर उपलब्ध कराने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। नीचे इन्हीं बिन्दुओं पर विचार किया गया है।

उत्पादन का बदलता ढाँचा

कृषि में तेजी से वृद्धि होने से आमतौर पर कृषि और कृषि से जुड़ी अन्य गतिविधियों तथा ग्रामीण गैर-कृषि रोज़गार में तेजी से वृद्धि होती है और इससे अल्पकाल में वास्तविक मजदूरी की दर बढ़ जाती है। कृषि विकास से पूरे ग्रामीण क्षेत्र में रोज़गार के अवसर पैदा होते हैं और यह कुछ शहरी क्षेत्रों तक सीमित नहीं होता है। अधिशेष, रोज़गार और निर्यात बढ़ाने में कृषि की अहम् भूमिका होती है। इसलिए फसलों के विविधीकरण, वाणिज्यिकरण, गैर-कृषीय गतिविधियों और उद्यमों से विकास मूलक संबंध स्थापित करने पर बल देना चाहिए।

छोटे और लघु उद्योगों में श्रम को खपाने की ज्यादा क्षमता होती है। इसलिए उनके उत्पादन में वृद्धि होने से बड़े और आधुनिक उद्योगों की तुलना में अधिक रोज़गार के अवसर पैदा

होते हैं। रोज़गार के अवसर पैदा करने के लिए इन उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए। जिस उद्योग में रोज़गार पैदा करने की अच्छी संभावना हो जैसे कृषि आधारित या निर्माण उद्योग, उनका संबंध दूसरे क्षेत्र के उद्योगों से जोड़ने में सहायता की जानी चाहिए। ऋण-प्रबंधन, विकास और गुणवत्ता नियंत्रण के माध्यम से सहायता दी जा सकती है।

प्रौद्योगिकी का चुनाव

आधुनिकीकरण और प्रौद्योगिकी परिवर्तन करते समय रोज़गार के अवसर पैदा करने की ऐसी दूरगामी योजना बनानी चाहिए जिससे कार्य क्षमता और उत्पादकता में वृद्धि हो सके। उसी तकनीक को बढ़ावा देना चाहिए जिसमें उत्पादन के साथ-साथ रोज़गार में भी वृद्धि हो। हालाँकि आमतौर पर अनुसंधान और विकास पूँजी-प्रधान तकनीकों तक सीमित होते हैं परंतु श्रम-प्रधान तकनीकों में भी सुधार की गुंजाइश हो सकती है। श्रम-प्रधान तकनीक अपनी डिजाइन में साधारण किस्म का होता है और इसके बड़े पैमाने पर उपयोग करने से यह सस्ता भी हो सकता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि किसी दी हुई वस्तु के उत्पादन में एक-सी तकनीक का चयन करना चाहिए जिससे सामाजिक लाभ ज़्यादा हो।

मानव संसाधन विकास

रोज़गार के लिए अपेक्षित कौशल और रोज़गार खोजने वालों के कौशल में अन्तर होने से भी बेरोज़गारी की समस्या पैदा होती है। अर्थव्यवस्था में तीव्र ढाँचागत बदलाव आने से यह अनमेल और भी बिगड़ जाता है। इसलिए मध्यम और दीर्घकाल दोनों दृष्टियों से लोगों की कुशलता बढ़ाने के लिए शैक्षिक और प्रशिक्षण व्यवस्थाओं के विकास की ओर भी ध्यान देना चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रमों में एक खुलापन रखना चाहिए ताकि श्रम बाजार में होने वाले परिवर्तन के अनुसार इसमें तुरंत परिवर्तन किया जा सके। इसके अलावा गैर संगठित क्षेत्र में काम कर रहे स्वरोज़गार व्यक्तियों और मजदूरी करने वाले श्रमिकों को बड़ी संख्या में शिक्षा और प्रशिक्षण देने की व्यवस्था की जानी चाहिए। उनकी उत्पादकता और आय के स्तर को बढ़ाने के लिए उनकी कुशलता को बढ़ाना जरूरी है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

मानव-शक्ति नियोजन

मानव-शक्ति की कमी या अधिकता से बचने के लिए अर्थव्यवस्था में विभिन्न क्षेत्रों, व्यवसायों और शैक्षिक/कौशलयुक्त श्रेणियों द्वारा पैदा किए जानेवाले रोज़गार के अवसरों का एक अंदाजा होना चाहिए। रोज़गार आकलन और मानव-शक्ति पूर्वानूमान मानव-शक्ति नियोजन के अंग हैं। श्रम बाजार प्रक्रियाओं पर निगरानी रखने और इसमें उभरने वाले अनमेल संबंधों का पता लगाने में मानव-शक्ति नियोजन की भूमिका अहम् है। आपूर्ति के मानदंडों के अलावा मानव संसाधन नियोजन का पूरी मानव-शक्ति नियोजन से तालमेल होना चाहिए ताकि मानव-शक्ति की माँग और आपूर्ति के बीच परस्पर सामंजस्य बना रहे।

मजदूरी नीति

पहले ही बताया जा चुका है श्रम की माँग व्युत्पन्न (derived) प्रकार की होती है। मजदूरी की दर मज़दूरों की क्रय-शक्ति की सूचक होती है जिससे वस्तुओं और सेवाओं की समग्र माँग तय होती है और फिर इसी से श्रम बाजार में श्रम की माँग का स्तर तय होता है। भारतीय परिवेश में लगभग 91 प्रतिशत श्रमशक्ति असंगठित क्षेत्र में लगी हुई है जहाँ मजदूरी कम है और काम करने की दशाएँ खराब हैं। इसलिए कानून और समुचित मजदूरी नीति मजदूरी सुरक्षा प्रदान करने में सहायक हो सकती है। इससे रोज़गार सृजन करने में मदद मिलती है।

अनुसूचित रोज़गारों में मज़दूरों के लिए तय की गई न्यूनतम मजदूरी का मौजूदा कानूनी प्रावधान अपर्याप्त है और इसे ठीक से लागू भी नहीं किया जाता। श्रमशक्ति का एक बड़ा हिस्सा अभी भी न्यूनतम मजदूरी अधिनियम द्वारा निर्धारित मजदूरी की सीमा से बाहर है। वास्तविक मजदूरी और अधिनियम द्वारा तय की गई संगठित एवं असंगठित क्षेत्रों के बीच एक ही प्रकार के छोटे-छोटे कामों के बदले दी जाने वाली मजदूरी दरों में काफी विषमता देखने को मिलती है। मजदूरी और वेतन के स्तर में परिवर्तन का उत्पादकता और मजदूरी से कोई संबंध नहीं है। इसलिए यह जरूरी है कि एक राष्ट्रीय मजदूरी नीति बनाई जाए जो मजदूरी, वेतन स्तर और मजदूरी ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों को तय कर सके।

जनसंख्या नीतियाँ

जनसंख्या और श्रमशक्ति में रोज़गार की तुलना में तेजी से वृद्धि हो रही है। भविष्य में बेरोज़गारी की समस्या को दूर करने के लिए जनसंख्या वृद्धि-दर में कमी लानी होगी। महिलाओं को शिक्षित करने, उनकी भागीदारी बढ़ाने के साथ-साथ जन्म-दर को नियंत्रित करने से जनसंख्या वृद्धि की दर रोकी जा सकती है।

विशेष रोज़गार कार्यक्रम

रोज़गार उन्मुख रणनीति अपनाने से पूर्ण रोज़गार का लक्ष्य दीर्घकाल में हासिल करने की उम्मीद है। गरीब और बेसहारा बेरोज़गारों और अल्प रोज़गार प्राप्त लोगों के लिए अल्प अवधि रोज़गार की योजना आवश्यक हैं। इसलिए विशेष रोज़गार कार्यक्रमों को जारी रखना चाहिए। अगली इकाई में इसपर और विस्तार से चर्चा की जाएगी।

बोध प्रश्न 3

1) प्रशिक्षण और कौशल विकास से बेरोज़गारी कम करने में कैसे मदद मिलती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) क्या आप ऐसा सोचते हैं कि समुचित मजदूरी नीति श्रम खपत में एक सकारात्मक भूमिका अदा करती है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) 1980 से अपनाई गई रोज़गार नीति की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ क्या हैं?

.....

.....

.....

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

19.8 सारांश

किसी देश की राष्ट्रीय आय वहाँ लगे संसाधनों की मात्रा और गुणवत्ता पर निर्भर करती है। श्रमशक्ति का आकार और संगठन जनसंख्या संबंधी परिवर्तनशील कारकों और श्रमशक्ति भागीदारी दर से तय होता है। इसकी गुणवत्ता कई कारकों से निर्धारित होती है जैसे, स्वास्थ्य, पोषण, शिक्षा, प्रशिक्षण और प्रौद्योगिकी।

भारत में सकल घरेलू उत्पाद के बदलते ढाँचे के अनुसार श्रमशक्ति के ढाँचे में परिवर्तन नहीं हुआ। 1951 से अर्थव्यवस्था के प्राथमिक से द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों में श्रमशक्ति का स्पष्ट प्रवेश नहीं हो सका है। जहाँ तक माँग का सवाल है यह रोज़गार ढाँचा, वस्तुओं की माँग, प्रौद्योगिकी और उत्पादकता में हुए परिवर्तन से प्रभावित होता है। 1970 तक श्रमशक्ति ढाँचे की कोई स्पष्ट प्रवृत्ति देखने को नहीं मिलती। 1981 तक श्रमशक्ति की विविधता में सुधार हुआ। हालाँकि 1990 के दशक के दौरान उदारीकरण के प्रवेश से इस विविधता में गिरावट आई है। ग्रामीण क्षेत्रों में अनौद्योगिकीकरण हो रहा है। रोज़गार में असंगठित क्षेत्रों का बोलबाला है। सभी क्षेत्रों में इसकी हिस्सेदारी तेजी से बढ़ती जा रही है। शहरी क्षेत्रों में नियमित रोज़गार की कीमत पर दिहाड़ी मज़दूरों की बढ़ती संख्या रोज़गार में गुणवत्ता की गिरावट का द्योतक है।

रोज़गार और श्रमशक्ति की वृद्धि-दर में लगातार अन्तर रहने से बेरोज़गारों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों दृष्टियों से बेरोज़गारी बढ़ी है। संगठित उद्योग क्षेत्र उच्च उत्पादन दर होने के बावजूद रोज़गार की वृद्धि दर कम है। इससे पता चलता है कि सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि होने से रोज़गार अपने आप नहीं बढ़ जाएगा। 1980 और 90 के दशकों में रोज़गार की लोच में आई गिरावट से यह पता चलता है कि नई आर्थिक नीति में बाजार पर पूरी तरह निर्भर रहने से या तो रोज़गार-विहीन वृद्धि होगी या उत्पादन की उच्च वृद्धि दर के साथ-साथ रोज़गार की वृद्धि-दर कम होगी।

19.9 शब्दावली

श्रमशक्ति : वे सभी सक्रिय लोग, जिन्हें काम मिल चुका है (रोज़गार प्राप्त) या जो काम की तलाश में हैं (बेरोज़गार)।

कार्य भागीदारी दर : श्रमशक्ति और कुल जनसंख्या के बीच के अनुपात को कार्य भागीदारी दर कहते हैं।

कामगार (या रोज़गार प्राप्त) : किसी भी लाभपूर्ण गतिविधियों में शामिल व्यक्तियों को कामगार या रोज़गार प्राप्त व्यक्ति माना जाता है।

स्वरोज़गार प्राप्त : जो लोग अपने ही खेत में काम करते हैं या दूसरा व्यवसाय करते हैं उन्हें स्वरोज़गार प्राप्त कहा जाता है।

नियमित वेतनभागी/मजदूरी : दूसरे के खेतों या व्यवसायों (घरेलू और बाहरी) में काम करने वाले और बदले में नियमित रूप से वेतन या मजदूरी पाने वाले (दिहाड़ी पर काम करने वाले लोग इसमें शामिल नहीं होते) लोगों को नियमित भोगी/मज़दूरी प्राप्त कर्मचारी माना जाता है।

आकस्मिक श्रमिक : दूसरे के खेतों या व्यवसायों में काम करने वाले और इसके बदले में दिहाड़ी या ठेके के अनुसार मजदूरी प्राप्त करने वाले आकस्मिक श्रमिक कहलाते हैं।

सामान्य दर्जा : राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण रोज़गार/बेरोज़गार के तीन प्रकार के आकलन प्रस्तुत करता है— सामान्य स्थिति, साप्ताहिक स्थिति और रोजमर्रा की स्थिति। सामान्य स्थिति में सर्वेक्षण की तिथि के पहले के 365 दिनों को संदर्भ के रूप में लिया जाता है।

19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Employment Policy in India by Dr. D.S. Awasthi (ed.), Indian Economic Association.

Wage Employment Programmes in Rural Development by Indira Hirway, Oxford & IBH Publishing Co. (P) Ltd., New Delhi, 1986.

Trends in Poverty, Wages and employment in India by Sheila Bhalla Published in Indian Journal of Labour Economics, April-June 1997, Vol. 40, Number 2.

Asian Employment Programmes, ILO Working Papers by Mustafa Alam.

Employment Challenges for the 90s, World Employment Programme, ILO, 1990 Chapter 2, PP. 13-54.

Eighth Five Year Plan (1992-97) Vol. 1, Chapter 6, Page 116-135.

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) गलत
2) गलत
3) सही

बोध प्रश्न 2

1) कृपया भाग 19.3 देखें
2) हाँ
3) कृपया भाग 19.5 देखें

बोध प्रश्न 3

1) देखें भाग 19.7 – मानव संसाधन विकास
2) हाँ
3) भाग 19.6 देखें।

इकाई 20 बेरोज़गारी

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 बेरोज़गारी का अर्थ
20.3 भारत में बेरोज़गारी का स्वरूप
  20.3.1 ग्रामीण बेरोज़गारी
  20.3.2 शहरी बेरोज़गारी
20.4 बेरोज़गारी के कारण
  20.4.1 धीमी संवृद्धि प्रक्रिया
  20.4.2 श्रमशक्ति में वृद्धि
  20.4.3 अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी
  20.4.4 अनुपयुक्त शिक्षा पद्धति
20.5 बेरोज़गारी की माप
  20.5.1 सामान्य स्थिति बेरोज़गारी
  20.5.2 चालू साप्ताहिक स्थिति
  20.5.3 चालू दैनिक स्थिति
  20.5.4 बेरोज़गारी की समस्या का आकार
  20.5.5 शिक्षा और बेरोज़गारी
  20.5.6 महिलाओं में बेरोज़गारी का आर्थिक आपात
  20.5.7 बेरोजगारी का क्षेत्रीय आयाम–नवीं पंचवर्षीय योजना
20.6 बेरोज़गारी उन्मूलन के लिए सरकारी नीति
  20.6.1 नवीं पंचवर्षीय योजना से पूर्व रोजगार नीति
  20.6.2 नवीं पंचवर्षीय योजना में रोजगार परिदृश्य
20.7 रोज़गार कार्यक्रमों का विवरण
  20.7.1 राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम
  20.7.2 समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम
  20.7.3 भूमिहीन ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम
  20.7.4 जवाहर रोज़गार योजना
  20.7.5 स्वरोज़गार के लिए ग्रामीण युवकों का प्रशिक्षण
20.8 सारांश
20.9 शब्दावली
20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

20.0 उद्देश्य

यह इकाई भारत में बेरोज़गारी की समस्या तथा इस संबंध में अपनाई गई नीति की चर्चा करती है। इसको पढ़ने के बाद आप बता पाएँगे :

- बेरोज़गारी का अर्थ;
- भारत में पाई जाने वाली बेरोज़गारी के प्रकार;
- भारत में बेरोज़गारी की माप;
- बेरोज़गारी के कारण;

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

- बेरोज़गारी उन्मूलन के लिए सरकारी नीति; तथा
- विभिन्न बेरोज़गारी उन्मूलन कार्यक्रम।

20.1 प्रस्तावना

रोज़गार अवसरों में वृद्धि भारत में अर्थनैतिक विकास का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य रहा है। हालाँकि पिछले वर्षों में रोज़गार अवसरों में भारी वृद्धि हुई है लेकिन तेजी से बढ़ती जनसंख्या के कारण, बेरोज़गारी में लगातार वृद्धि हुई। सभी बाजार आधारित अर्थव्यवस्थाओं में बेरोज़गारी एक साधारण बात है चाहे उनके विकास का स्तर कैसा भी हो। लेकिन एक अल्पविकसित अर्थव्यवस्था में भारी गरीबी के कारण, बेरोज़गारी दुःखदाई तो है ही, साथ ही साथ यह संसाधनों की बरबादी की ओर भी इंगित करती है, जिनको देश के विकास के लिए प्रयोग किया जा सकता था। भारत जैसी विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए बेरोज़गारी उन्मूलन एक मूल उद्देश्य है।

20.2 बेरोज़गारी का अर्थ

साधारण शब्दों में, एक व्यक्ति जो किसी उत्पादक गतिविधि में लाभकारी कार्य कर रहा हो उसे बेरोज़गार कहेंगे। बेरोज़गारी में अंतर करने की कोई वैज्ञानिक विधि नहीं है। साधारणतया किसी अर्थव्यवस्था में बेरोज़गारी 15-59 वर्ष के आयु वर्ग तक सीमित होती है। यानि बच्चे और बुजुर्गों को हम बेरोज़गारी की परिभाषाओं में सम्मिलित नहीं करते। लेकिन कुछ विद्वानों के अनुसार सभी लोग (पुरुष, महिलाएँ और बच्चे) जो काम करते हैं तथा जो काम नहीं करते लेकिन काम की तलाश में हैं, उन सभी को बेरोज़गार मानना चाहिए। अर्थव्यवस्था में एक ऐसा वर्ग होता है जो किसी लाभकारी रोज़गार में इच्छुक नहीं होता। ऐसे लोग भी होंगे जो प्रचलित मजदूरी दर से अधिक मिलने पर काम के लिए इच्छुक होंगे। उपरोक्त दो प्रकार की श्रेणियों में आने वाले लोगों को ऐच्छिक रूप से बेरोज़गार कहेंगे।

अनैच्छिक बेरोज़गारी वह स्थिति है जब लोग चल रही मजदूरी पर कार्य करने के इच्छुक हैं लेकिन उन्हें रोज़गार प्राप्त नहीं होते।

अर्थशास्त्र में हम अनैच्छिक बेरोज़गारी को ही बेरोज़गारी मानते हैं, ऐच्छिक बेरोज़गारी को नहीं।

अल्पविकसित देशों में बेरोज़गारी की स्थिति, विकसित देशों में बेरोज़गारी से भिन्न होती है। विकसित देशों में चक्रीय बेरोज़गारी अथवा घर्षणात्मक बेरोज़गारी पाई जाती है। चक्रीय बेरोज़गारी प्रभावपूर्ण माँग में कमी के कारण तथा घर्षणात्मक बेरोज़गारी तकनीक में परिवर्तन के कारण उत्पन्न होती है।

दूसरी ओर अल्पविकसित देशों में बेरोज़गारी संरचनात्मक प्रकार की होती है। अल्पविकसित देशों में कृषि के पिछड़ेपन, अल्पविकसित उद्योगों तथा सेवा क्षेत्र के लघु आकार के कारण श्रम की माँग कम होती है। हालाँकि अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी अनैच्छिक बेरोज़गारी की श्रेणी में मानी जाएगी लेकिन यह विकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी से भिन्न है।

बोध प्रश्न 1

1) ऐच्छिक बेरोज़गारी से आपका क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) अनैच्छिक बेरोज़गारी से आपका क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी, विकसित देशों में पाई जानी वाली बेराजगारी से किस प्रकार से भिन्न है?

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.3 भारत में बेरोज़गारी का स्वरूप

भारत में पाई जाने वाली बेरोज़गारी विकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी से भिन्न है। भारत एक अल्पविकसित परंतु विकासशील अर्थव्यवस्था है। यहाँ यह बताना महत्त्वपूर्ण है कि भारत में पाई जाने वाली बेरोज़गारी प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) की कमी के कारण नहीं बल्कि पूँजीगत वस्तुओं और उसके पूरक संसाधानों की कमी के कारण होती है। भारत में कई प्रकार की बेरोज़गारी पाई जाती है। साधारण तौर पर इसके दो प्रकार हैं– ग्रामीण बेरोज़गारी तथा शहरी बेरोज़गारी।

20.3.1 ग्रामीण बेरोज़गारी

भारत में पाई जाने वाली बेरोज़गारी का एक प्रमुख हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों में पाया जाता है। ग्रामीण बेरोज़गारी के प्रमुख आयाम हैं– मौसमी तथा चिरकालिक प्रच्छन्न बेरोज़गारी। ग्रामीण भारत में कृषि एक प्रमुख रोज़गार है। कृषि एक मौसमी रोज़गार है। इसलिए अधिकतर ग्रामीण जनसंख्या वैकल्पिक रोज़गार के न होने के कारण, बेरोज़गार रहती है। अनुमान है कि कृषि में लगी जनसंख्या का एक बड़ा भाग वर्ष में 5–7 माह तक बेकार रहता है।

ग्रामीण क्षेत्र का दूसरा आयाम चिरकालिक प्रच्छन्न बेरोज़गार का है। 1991 की जनगणना के अनुसार दो तिहाई जनसंख्या प्राथमिक क्षेत्र (कृषि तथा सहायक गतिविधियों) में लगी है। कृषि में लगी कार्यशील जनसंख्या निर्बाध रूप से लगातार बढ़ रही है। जबकि 1951 में

केवल 10 करोड़ लोग कृषि क्षेत्र में कार्यरत थे, 1991 में यह संख्या बढ़कर 23.73 करोड़ हो चुकी थी। कृषि भूमि में पर्याप्त वृद्धि के बिना, इस क्षेत्र में कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि के कारण कृषि में भीड़-भाड़ का कारण बनता है। यह एक ऐसी स्थिति है कि यदि अतिरिक्त श्रम को कृषि से हटा भी ली जाए, तो भी उत्पादन पर कोई प्रभाव नहीं होगा। (शर्त यह है कि बड़ी हुई श्रमशक्ति अपनी पूरी क्षमता के अनुसार कार्य करें) इस प्रकार की स्थिति को प्रच्छन्न बेरोज़गारी (disguised unemployment) कहते हैं। नर्कसे (Nurkse) के शब्दों में अतिरिक्त श्रमशक्ति की सीमांत उत्पादकता शून्य होती है। इस प्रकार की बेरोज़गारी की प्रमुख समस्या यह है कि इस प्रकार की बेरोज़गारी में हालाँकि सभी रोज़गार युक्त तो प्रतीत होते हैं लेकिन सभी को पर्याप्त कार्य उपलब्ध नहीं होता। प्रच्छन्न बेरोज़गारी की अवधारणा को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। माना कि 10 लोग खेत में काम कर रहे हैं, जबकि उनके लिए पर्याप्त कार्य उपलब्ध नहीं हैं। यह काम खेत में कार्यरत सभी लोगों में विभाजित किया जाता है। ऐसी स्थिति में यदि कुछ लोगों को खेत में से निकाल लिया जाए, और खेत में बचे बाकी लोग उस कार्य को अपनी पूरी क्षमता के अनुसार करें ताकि उत्पादन न घटे, तो अतिरिक्त श्रम जो कि खेत से निकाला जाता है, वह प्रच्छन्न बेरोज़गारी कहलाएगी।

शिक्षित बेरोज़गारी ग्रामीण बेरोज़गारी का एक उभरता हुआ आयाम है। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के विस्तार के साथ, कृषि क्षेत्र में एक ऐसा वर्ग उभरा है जो शिक्षित है। इनमें से कुछ लोग तो अत्यंत ऊँचे दर्जे की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं। साधारण कृषि कार्यों में वे अपने आपको उपयुक्त नहीं पाते। परंपरागत ग्रामीण प्रौद्योगिकी और उनकी शिक्षा एवं प्रतिभा के बीच सामंजस्य नहीं होता। शहरी क्षेत्र में रोज़गार के अवसरों की कमी के कारण ग्रामीण क्षेत्र में लोग बेरोज़गार रहते हैं। ग्रामीण बेरोज़गारी की अवधारणा को समझना ग्रामीण निर्धनता को समझने के लिए आवश्यक है। ग्रामीण क्षेत्र में निर्धन वास्तव में बेरोज़गार या अल्प-रोज़गार से लगे होते हैं। वे आमतौर पर भूमिहीन खेतीहर मजदूर तथा सीमांत किसान होते हैं। इसलिए, ग्रामीण निर्धनता को समाप्त करने के लिए बेरोज़गारी को दूर करना आवश्यक है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.3.2 शहरी बेरोज़गारी

जबकि ग्रामीण क्षेत्र में पाई जाने वाली बेरोज़गारी प्रमुख रूप से प्रच्छन्न बेरोज़गारी है, शहरी क्षेत्र में बेरोज़गारी खुली बेरोज़गारी होती है। शहरी बेरोज़गारी, भारी सामाजिक तनाव का कारण बनता है।

पहली प्रकार की शहरी बेरोज़गारी अशिक्षित औद्योगिक श्रमिकों के रूप में है। इस बेरोज़गारी को 'ब्लू कॅलार' (blue collar) बेरोज़गार के नाम से भी जाना जाता है। हालाँकि औद्योगिक क्षेत्र में भारी विकास हुआ है, औद्योगिक बेरोज़गारी में भी साथ ही साथ भारी वृद्धि हुई है। इसके कई कारण हैं :

- देश में आर्थिक रूप से कार्यशील जनसंख्या में वृद्धि
- ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी क्षेत्रों से जनसंख्या का स्थानांतरण जिसके कारण शहरी जनसंख्या में वृद्धि ग्रामीण जनसंख्या में वृद्धि से अधिक तेजी से हुई है। इसके अतिरिक्त कम काम वाले मौसम में ग्रामीण क्षेत्र से श्रमिक शहरी क्षेत्रों में स्थानांतरित हो जाते हैं।
- शहरी क्षेत्रों में उद्योगों का जमाव।
- ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण तथा कुटीर उद्योगों का पतन।

दूसरी प्रकार की शहरी बेरोज़गारी 'शिक्षित मध्यम वर्गीय बेरोज़गारी' है। ऐसे बेरोज़गारों को 'व्हाइट कॅलार' बेरोज़गार कहते हैं। शिक्षित बेरोज़गारी के कई कारण है। पहला, शिक्षित

जनसंख्या में भारी वृद्धि हुई है। इसका प्रमुख कारण है शिक्षा सुविधाओं में भारी विस्तार लेकिन तकनीकी शिक्षा एवं प्रशिक्षण की सुविधाएँ उस दर से नहीं बढ़ीं। दूसरा, आर्थिक समृद्धि की दर काफी धीमी रही, जिसके कारण रोज़गार के अवसरों में वृद्धि कम हुई। रोज़गार के अवसर सभी प्रकार के शिक्षित लोगों के लिए कम बढ़े, चाहे वे इंजीनियर हों, तकनीक कार्मिक हों अथवा कला एवं वाणिज्य स्नातक या स्नातकोत्तर। 1951 में शिक्षित बेरोज़गारों की संख्या मात्र 2.44 लाख थी, जो 1980 में बढ़कर 34.72 लाख हो गई। 1985 में यह संख्या 47 लाख थी और 1992 तक यह बढ़कर 68 लाख हो चुकी थी। नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) के अनुसार 1983 और 1993 के बीच, शिक्षित बेरोज़गारों मे सैकेण्डरी या उससे अधिक शिक्षा प्राप्त बेरोज़गारों की संख्या 47 प्रतिशत से बढ़कर 64 प्रतिशत हो गई। साक्षरों में बढ़ती बेरोज़गारी हमें यह ध्यान दिलाती है कि किस प्रकार से शिक्षा में लगे संसाधनों का भरपूर लाभ देश के लिए नहीं हो पाता। इस प्रवृत्ति से यह भी इंगित होता है कि उपलब्ध रोज़गार के अवसरों और रोज़गार की आवश्यकता के बीच सामंजस्य नहीं है। बेरोज़गारों में साक्षरों की बढ़ती संख्या और उनमें से भी अधिक पढ़े लिखे लोगों की संख्या इंगित करती है कि हमें कम उत्पादकता वाले शारीरिक रोज़गार की अपेक्षा कुशल रोज़गार के अवसरों की अधिक आवश्यकता है।

बेरोज़गारी की एक अन्य उभरती प्रवृत्ति उन लोगों की है जो अध्ययन के दौरान पार्ट टाइम काम की तलाश में रहते हैं। इस प्रकार के लोग यदि अपनी संतुष्टि के अनुसार रोज़गार पाने में असमर्थ रहते हैं तो उन्हें बेरोज़गार कहना गलत नहीं होगा। इसके अतिरिक्त कई ऐसे लोग भी होते हैं जो अपनी शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, और अपनी क्षमताओं और योग्यता के अनुसार रोज़गार प्राप्त नहीं कर पाते।

बोध प्रश्न 2

1) भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में कौन-सी दो प्रकार की बेरोज़गारी पाई जाती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में प्रच्छन्न बेरोज़गारी की प्रवृत्ति की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत के शहरी क्षेत्रों में कौन-से प्रकार की बेरोज़गारी पाई जाती है?

.....

.....

MAADHYAM IAS

.....

.....

.....

20.4 बेरोज़गारी के कारण

पिछले भाग में हमने भारत में बेरोज़गारी की प्रवृत्तियों तथा संरचना के बारे में पढ़ा और इस समस्या की गंभीरता के बारे में जाना। आइए अब हम बेरोज़गारी के प्रमुख कारणों के बारे में चर्चा करें।

i) संवृद्धि की धीमी प्रक्रिया।

ii) श्रमशक्ति में वृद्धि।

iii) अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी

iv) अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली तथा मानव शक्ति आयोजन की कमी।

20.4.1 संवृद्धि की धीमी प्रक्रिया

इस बात में कोई संदेह नहीं कि विकसित तथा अल्पविकसित दोनों प्रकार के देशों में बेरोज़गारी पाई जाती है। विकसित देशों में आय के ऊँचे स्तर के बावजूद, वहाँ भी बेरोज़गारी विद्यमान रहती है। लेकिन अल्पविकसित देशों में बेरोज़गारी विकास के निम्न स्तर तथा धीमी संवृद्धि प्रक्रिया के कारण होती है।

यह अपेक्षित ही है कि जैसे-जैसे अर्थव्यवस्था संवृद्धि पथ पर अग्रसर होती है, उत्पादन बढ़ता है और साथ ही रोज़गार भी। हम पाते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उत्पादन में संवृद्धि हुई है। इसके फलस्वरूप रोज़गार के अवसरों में भी वृद्धि हुई है। लेकिन संवृद्धि दर अपेक्षित दर से कम रही है जिसके फलस्वरूप रोज़गार के पर्याप्त अवसरों का सृजन नहीं हो पाया। लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि केवल आर्थिक संवृद्धि बेरोज़गारी समस्या का समाधान नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों ने रोज़गार तथा आर्थिक संवृद्धि के प्रारंभिक काल में परस्पर द्वंद्व की ओर इंगित किया है। भारत में भी यह द्वंद्व काफी स्पष्ट है। भारत में छठी पंचवर्षीय योजना तक इस द्वंद्व को मान्यता नहीं दी गई। जिसके फलस्वरूप आर्थिक संवृद्धि के कारण रोज़गार के स्थूल अवसर तो बढ़े लेकिन बेरोज़गारी की समस्या के समाधान में वे काफी नहीं थे।

20.4.2 श्रम शक्ति में वृद्धि

तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण पिछले पचास वर्षों में श्रमशक्ति में भारी वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मृत्युदर में तेजी से कमी हुई है, जबकि जन्मदर में उतनी तेजी से कमी नहीं हुई। इस कारण से जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। वर्तमान जनसंख्या प्रतिवर्ष 2 प्रतिशत की दर से बढ़ रही है। इस प्रकार से श्रमशक्ति में तेजी से वृद्धि स्वाभाविक है।

शहरीकरण और रोज़गार के प्रति बदले दृष्टिकोण के कारण भी श्रमशक्ति में वृद्धि हुई है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महिलाओं में शिक्षा के प्रसार के कारण उनके रोज़गार के प्रति दृष्टिकोण में काफी अंतर आया है। वे पुरुषों के साथ रोज़गार के लिए प्रतिस्पर्द्धा कर रही हैं। यह प्रवृत्ति शहरी क्षेत्र में अधिक विद्यमान है।

श्रमपूर्ति में वृद्धि निम्नलिखित कारणों से हो सकती है : (i) तेजी से बढ़ती जनसंख्या, (ii) महिलाओं में रोज़गार के प्रति बदले दृष्टिकोण, तथा (iii) संवृद्धि प्रक्रिया के अतिरिक्त रोज़गार सृजन में असमर्थता। इन सब कारणों ने बेरोज़गारी की समस्या को कई गुणा बढ़ा दिया है।

20.4.3 अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी

हम समझते हैं कि भारत में श्रम की प्रचूरता है जबकि पूँजी की कमी है। इसलिए बेरोज़गारी को दूर करने के लिए ऐसी प्रौद्योगिकी को अपनाने की आवश्यकता है जिसमें एक निश्चित उत्पादन के लिए पूँजी का कम तथा श्रम का अधिक उपयोग हो। वास्तव में हम श्रम का कम और पूँजी का अधिक उपयोग करते हैं। यह बात केवल उद्योगों में ही नहीं बल्कि कृषि में भी लागू होती है।

प्रौद्योगिकी का चयन करते हुए, साधारणतः पश्चिमी मॉडल की नकल करते हैं। हम जानते हैं कि पश्चिम में श्रम की कमी है जबकि पूँजी की प्रचूरता है। इसलिए उनके लिए उचित प्रौद्योगिकी वही है जो पूँजी प्रधान हो। लेकिन भारत में हम अधिक जटिल पूँजी प्रधान प्रौद्योगिकी के प्रयोग को उचित नहीं ठहरा सकते हैं जो श्रम को प्रतिस्थापित करे। इस प्रकार की प्रौद्योगिकी के प्रयोग से बेरोज़गारी में भारी वृद्धि हुई है।

ऐसे में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि पूँजी की भारी कमी और श्रम की प्रचूरता के बावजूद भारत में पूँजी प्रधान तकनीकों का उपयोग क्यों किया जाता है। ऐसा इसलिए है कि पूँजी और श्रम के प्रतिफल बाजार में निर्धारित नहीं होते। एक ओर जहाँ श्रम को न्यूनतम मजदूरी सुनिश्चित की जाती है दूसरी ओर ब्याज दर को जानबूझ कर नीचा रखा जाता है। इस कारण से लोग पूँजी प्रधान तकनीक को उपयोग करने की ओर आकर्षित होते हैं क्योंकि यह आर्थिक रूप से अधिक लाभदाई होती है। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि ऐसी स्थिति में पूँजी प्रधान तकनीक का उपयोग पूँजीपति के लिए तो लाभदायक हो सकता है लेकिन यह समाज के लिए लाभदायक नहीं है क्योंकि इससे बेरोज़गारी बढ़ती है।

20.4.4 अनुपयुक्त शिक्षा प्रणाली

हमने अपने औपनिवेशिक शासकों से अपनी शिक्षा प्रणाली विरासत में पाई है। मैकॉले (Macaulay) ने औपनिवेशिक काल में शिक्षा प्रणाली की रचना करते हुए ब्रिटिश हितों का ध्यान रखा। मैकॉले ने ऐसी शिक्षा प्रणाली बनाई जो ब्रिटिश सरकार के लिए निम्न श्रेणी के अफसर तथा क्लर्क बना सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी कला तथा वाणिज्य विषयों की शिक्षा प्रदान करने वाली शिक्षा संस्थाओं का विस्तार हुआ। तकनीकी, इंजीनियरिंग तथा चिकित्साशास्त्र की शिक्षा प्रदान करने वाली शिक्षण तथा प्रशिक्षण संस्थानों का बहुत कम विस्तार हुआ। इस कारण से शिक्षित पुरुष और महिलाओं की बेरोज़गारी में भारी वृद्धि हुई, जबकि तकनीकी तथा विशेषज्ञ कर्मियों की कमी बनी रही। इसलिए हमें अपनी शिक्षा प्रणाली को एक उपयुक्त शिक्षा प्रणाली में परिवर्तित करने की आवश्यकता है जो समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप मानव संसाधनों का विकास कर सके।

दूसरी ओर हमारे यहाँ श्रमशक्ति आयोजन (man pawer planning) का नितांत अभाव है। किसी भी अर्थव्यवस्था के निरंतर विकास में मानव संसाधनों की एक प्रमुख भूमिका होती है। विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप उपयुक्त योग्यताओं को उपलब्ध कराने के लिए दीर्घकालीन आयोजन की आवश्यकता होती है। इस बात में कोई संदेह नहीं कि उच्च शिक्षा,

तकनीकी शिक्षा तथा विभिन्न क्षेत्रों में प्रशिक्षण सुविधाओं में वृद्धि हुई है, लेकिन वे विकास की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि कुछ क्षेत्रों में अतिरिक्त मानव संसाधन हैं जबकि अन्य क्षेत्रों में मानव संसाधनों की कमी है। हम पाते हैं कि स्नातक, स्नातकोत्तर तथा कला विषयों पर शोधकर्ताओं के बीच भी बेरोज़गारी विद्यमान है जबकि चिकित्सकों, इंजीनियरों तथा तकनीकी कार्मिकों की कमी बरकरार है।

बोध प्रश्न 3

1) आपकी राय में भारत में बेरोज़गारी के प्रमुख कारण कौन से हैं? विस्तार से बताएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

20.5 बेरोज़गारी का मापन

प्रचलित एवं परंपरागत अवधारणा के अनुसार बेरोज़गारी से अभिप्राय है बेकारी। यानि वह समय जिसमें लोग काम करने के इच्छुक है और काम के लिए उपलब्ध हैं लेकिन उन्हें काम नहीं मिल पाता। इसमें प्रच्छन्न बेरोज़गारी अथवा अल्प रोज़गार सम्मिलित नहीं माना जाता। यानि काम की वह स्थिति जिसमें अत्यंत निम्न उत्पादकता तथा आय होती है। भारत में बेरोज़गारी की समस्या परंपरागत रूप से मापी जाने वाली बेरोज़गारी से कहीं अधिक व्यापक है। कम आय वाले लोग बेरोज़गार नहीं रह सकते, इसलिए किसी भी उपलब्ध कार्य को करने लगते हैं चाहे उससे उन्हें कम आय प्राप्त हो। इस प्रकार परंपरागत तरीके से मापने पर बेरोज़गारी की दर कम आना स्वाभाविक है। हम यह भी जानते हैं कि श्रमिकों की संख्या की दृष्टि से ये प्रमुख क्षेत्र है। इसलिए बेरोज़गारी की समस्या के मापन तथा विश्लेषण के लिए बेरोज़गारी की परंपरागत अवधारणा पूर्ण नहीं है। इस तथ्य को समझते हुए राष्ट्रीय सैम्पल सर्वेक्षण (National Sample Survey) तीन अवधारणाओं के आधार पर बेरोज़गारी की दर प्रस्तुत करता है। बेरोज़गारी की ये तीन अवधारणाएँ इस प्रकार से हैं।

1) सामान्य स्थिति (usual status) बेरोज़गारी
2) चालू साप्ताहिक स्थिति (current weekly status) बेरोज़गारी
3) चालू दैनिक स्थिति (current daily status) बेरोज़गारी

20.5.1 सामान्य स्थिति बेरोज़गारी

एक व्यक्ति सामान्य आधार पर बेरोज़गार माना जाएगा जब वह लंबे समय से कार्यरत न हो लेकिन काम की इच्छा रखता है या काम के लिए उपलब्ध है। संदर्भ वर्ष (reference year) में सामान्य स्थिति बेरोज़गारी दर चिरकालिक बेरोज़गारी की माप समझी जाएगी। यह माप चिरकालिक अथवा एक लम्बे समय तक बेरोज़गार व्यक्तियों की संख्या प्रदान करती है। यह बेरोज़गारी की संकीर्णतम अवधारणा है क्योंकि यह बेरोज़गारी का न्यूनतम अनुमान देती है। क्योंकि भारत जैसे गरीब देश में बहुत कम लोग लम्बे समय तक बेरोज़गार रह सकते हैं और इसलिए वे कम अवधि के लिए भी काम ले लेते हैं।

20.5.2 चालू साप्ताहिक बेरोज़गारी

इस माप में संदर्भ काल एक सप्ताह होता है। एक व्यक्ति चालू साप्ताहिक स्थिति बेरोज़गारी के संदर्भ में बेरोज़गार माना जाएगा जब उस संदर्भ सप्ताह में उसे एक घंटे के लिए भी काम न मिला हो। चालू साप्ताहिक स्थिति भी चिरकालिक बेरोज़गारी का माप है लेकिन इसमें संदर्भ काल केवल एक सप्ताह रह जाता है। यह बेरोज़गारी की एक संकीर्ण अवधारणा है लेकिन यह सामान्य स्थिति बेरोज़गारी से अधिक व्यापक है। इस अवधारणा के अनुसार एक व्यक्ति रोज़गार युक्त माना जाएगा, चाहे वह उस सप्ताह के आखिरी दिन मात्र एक घंटे के लिए ही रोज़गार-युक्त रहा हो। ध्यान देने योग्य है कि यह अवधारणा बेरोज़गार व्यक्तियं की संख्या प्रदान नहीं करती। वह व्यक्ति सप्ताह (Person Week) के रूप में अप्रयुक्त समय का अनुमान प्रस्तुत करता है।

20.5.3 चालू दैनिक बेरोज़गारी

चालू दैनिक बेरोज़गारी की अवधारणा बेरोज़गारी के कुल व्यक्ति दिवस (man days) के रूप में दी जाती है। इस अवधारणा के अनुसार बेरोज़गारी का यह माप, श्रमशक्ति में एक संदर्भ सप्ताह में सभी बेरोज़गार लोगों के बेरोज़गारी दिवसों का मापन होता है। चूँकि बेरोज़गारी का यह माप चिरकालिक बेरोज़गारी के साथ साप्ताहिक आधार पर अल्प रोज़गार के माप उपलब्ध करता है, इसलिए यह बेरोज़गारी की सर्वाधिक व्यापक माप है। पुनः यह ध्यान में रखना होगा कि यह बेरोज़गार व्यक्तियों की संख्या प्रदर्शित नहीं करता। यह व्यक्ति दिवसों के रूप में अप्रयुक्त समय का माप है।

20.5.4 बेरोज़गारी की समस्या का आकार

पिछले भागों में हमने बेरोज़गारी की विभिन्न अवधारणाओं के बारे में चर्चा की। आइए हम अब समस्या के आकार एवं अन्य आयामों के बारे में चर्चा करें।

तालिका 20.1

जनसंख्या, श्रम शक्ति तथा रोज़गार

(10 लाख)

	1978[a]	1983[b]	1994[a]	1997[c]	2002[c]	2007 [c]
जनसंख्या	637.6	725.80 (2.92)	893.67 (2.00)	649.89 (1.89)	1027.61 (1.59)	1107.51[c] (1.51)
श्रमशक्ति	262.57	289.08 (2.16)	367.39 (2.31)	397.22 (2.43)	450.23 (2.54)	509.35 (2.50)
रोज़गार	255.46	283.22 (2.32)	259.98 (2.31)	389.72 (2.47)	443.60 (2.62)	509.35[d] (2.80)
बेरोज़गार	7.11	5.86	7.41	7.5	6.63	नगण्य[1]

नोट :

1) श्रमशक्ति एवं रोज़गार पर अनुमान सामान्य स्थिति अवधारणा पर आधारित हैं और 1: वर्ष तथा अधिक के आयु वर्ग के लिए हैं।

2) कोष्ठक में दिए आँकड़े पूर्व काल के चक्रवृद्धि वृद्धि-दर के हैं–

a) पहली जनवरी को

b) 1 जुलाई को

c) 1 अप्रैल को

d) पूर्ण रोज़गार प्राप्त करने हेतु

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना अयोग, भारत सरकार।

उपरोक्त तालिका से यह पता चलता है कि सामान्य बेरोज़गारी के आधार पर बेरोज़गारों की संख्या में सतत वृद्धि हुई है जबकि रोज़गार की वृद्धि दर में 1994 के पूर्व के दशक में कोई सुधार नहीं हुआ है। नवीं पंचवर्षीय योजना में रोज़गार सृजन की वृद्धि की अपेक्षित दर को 2.62% प्रतिवर्ष निर्धारित किया और बेरोजगारों की संख्या को 1997 में 75 लाख से घटाकर 2002 तक 66.2 लाख करने का लक्ष्य निर्धारित किया। 2007 तक बेरोज़गारी को नगण्य (न के बराबर) करने का लक्ष्य रखा गया।

चालू साप्ताहिक अवधारणा के अनुसार, बेरोज़गार लोगों का अनुपात 1983 में 20 प्रति हजार से घटकर 1993-94 में 14 प्रति हजार रह गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि पिछले दशक में बेरोज़गारी का आपात कम हुआ है, खास तौर पर हाल ही के वर्षों में बेरोज़गारी में उल्लेखनीय कमी हुई है। साप्ताहिक अवधारणा के आधार पर 1993-94 में 8.6 प्रतिशत लोग बेरोज़गार थे जबकि 1983 में 15.6 प्रतिशत तथा 1987-88 में 14.6 प्रतिशत लोग बेरोज़गार थे।

तालिका 20.2

चालू साप्ताहिक अवधारणा के आधार पर सामान्यतः रोज़गार युक्त व्यक्तियों का विवरण।

संपूर्ण भारत (व्यक्ति)

चालू साप्ताहिक अवधारणा के आधार पर गतिविधि	सामान्यतः रोजगार युक्त (प्रति हजार)		
	1993-94	1987-88	1983
1) रोज़गार युक्त	914	854	844
2) कार्य से बाहर, क्योंकि	86	146	156
a) बेरोज़गार	14	17	22
b) श्रमशक्ति से बाहर	72	128	133
3) सभी सामान्यतः रोज़गार युक्त (1+2)	1000	1000	1000

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

तालिका 20.3 में श्रमशक्ति में बेरोज़गारी तथा अल्परोज़गार के आपात को सम्मिलित रूप में बताया गया है। इस तालिका से हमें पता चलता है कि 1993-94 में खुली बेरोज़गारी कुल श्रमशक्ति का मात्र 2 प्रतिशत ही था, जबकि बेरोज़गारी तथा अल्परोज़गार का कुल आपात 10.45 प्रतिशत था।

तालिका 20.3

बेरोज़गारी तथा अल्प रोज़गार का संयुक्त आपात

अवधारणा	श्रम शक्ति का अनुपात	टिप्पणी
1. श्रमशक्ति	100.00	सामान्य स्थिति आधार पर कार्यरत अथवा काम के इच्छुक
2. रोज़गार युक्त	89.55	सामान्य स्थिति रोज़गार युक्त श्रम शक्ति, साप्ताहिक स्थिति के आधार पर वर्गीकृत
3. बेरोज़गार	2.02	सामान्य स्थिति आधार पर खुली बेरोज़गारी का आपात
4. अल्प रोज़गार युक्त	8.43	अपने साप्ताहिक स्थिति के आधार पर वर्गीकृत सामान्य स्थिति रोज़गार युक्त
5. बेरोज़गार तथा अल्परोज़गार युक्त (3+4)	10.45	सामान्य स्थिति के आधार पर खुली बेरोज़गारी तथा सामान्यतः रोज़गार युक्त का कार्यहीनता का आपात, साप्ताहिक स्थिति के आधार पर वर्गीकृत

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

उपरोक्त विश्लेषण में हमने सामान्य स्थिति तथा चालू साप्ताहिक स्थिति के आधार पर बेरोज़गारी के बारे में जाना। इसके अतिरिक्त यह जानना भी महत्त्वपूर्ण होगा कि चालू साप्ताहिक अवधारणा के आधार पर रोज़गार-युक्त व्यक्तियों को कुल कितने दिन का रोज़गार प्राप्त हुआ। यदि एक व्यक्ति 183 या अधिक दिनों तक रोज़गार युक्त होता है तो उसे मुख्य श्रमिक (main worker) कहेंगे।

तालिका 20.4

साप्ताहिक स्थिति के आधार पर रोज़गार युक्त व्यक्तियों का एक सप्ताह में कार्य दिवसों का वितरण

(प्रति हजार रोज़गार युक्त)

एक सप्ताह में	ग्रामीण		शहरी		सभी क्षेत्र		
कार्य दिवस	पुरुष	महिलाएँ	पुरुष	महिलाएँ	पुरुष	महिलाएँ	व्यक्ति
0.5–1.5	5	11	33	14	5	12	7
1.5–3.5	28	87	14	59	26	84	44
3.5–5.5	67	246	37	183	62	239	118
5.5–6.5	27	36	35	38	29	36	31
6.0–6.5	873	620	911	706	878	629	800
	1000	1000	1000	1000	1000	1000	1000

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

तालिका 20.4 से पता चलता है कि चालू साप्ताहिक स्थिति के आधार पर रोज़गार युक्त पाए गए 5 प्रतिशत वास्तव में केवल तीन अथवा उससे कम दिन रोज़गार प्राप्त कर सके। ग्रामीण महिलाओं के संदर्भ में यह पता चलता है कि ग्रामीण महिलाएँ जो चालू साप्ताहिक अवधारणा के अनुसार हालाँकि रोज़गार युक्त मानी गई लेकिन उनमें से 10 प्रतिशत को

तीन अथवा कम दिनों के लिए रोज़गार प्राप्त हो सका।

20.5.5 शिक्षा एवं बेरोज़गारी

बेरोज़गारों की विशेषताओं का ज्ञान, बेरोज़गारी की समस्या का निदान के लिए आवश्यक है। बेरोज़गारों की विशेषताओं से यह पता चलता है कि श्रमशक्ति, जो काम की तलाश में है, उनके लिए किस प्रकार के रोज़गारों के अवसरों की आवश्यकता होगी। 1980 के बाद बेरोज़गारों की शिक्षा संबंधी विशेषताओं में भारी परिवर्तन हुआ है। जनगणना का विस्तृत विश्लेषण तथा बेरोज़गारी पर राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (NSS) की नमूना विधि दोनों से यह पता चलता है कि बेरोज़गार लोगों में साक्षरों का अनुपात लगातार बढ़ रहा है।

तालिका 20.5

भारत में बेरोज़गारों के शिक्षण का संदर्भ

वर्ष	निरक्षर	शिक्षा का स्तर			शिक्षित	सभी रोज़गार
		प्राथमिक	माध्यमिक	उच्चतर तथा अपर		
जनगणना (सभी आयु वर्गों के लिए)[1,2,3]						
1981	29.62	14.57	16.84	38.97	70.38	100.00
1991	19.56	12.17	20.89	47.38	80.44	100.00
रोज़गार एवं बेरोज़गारी के सैम्पल सर्वे (आयु 15 वर्ष तथा अधिक)						
1983	6.10	19.32	27.58	47.00	93.90	100.00
1993-94	5.24	11.01	20.20	63.55	94.76	100.00

नोट :

1) जनगणना में बेरोज़गारी की पहचान के लिए अपनाई गई अवधारणा, राष्ट्रीय सैम्पल सर्वे के रोज़गार एवं बेरोज़गारी में प्रयुक्त अवधारणा के समान नहीं है।

2) 'काम नहीं कर रहे' वर्ग के लोगों के आर्थिक सहायक स्थिति का ध्यान रखते हुए, सैम्पल सर्वे अनुमान साधारण गतिविधि के आधार पर है।

3) 1991 की जनगणना में सूचना करोड़ से कम जनसंख्या वाले राज्यों में 100 प्रतिशत आँकड़ों को तालिकाबद्ध करके एवं 1 करोड़ से अधिक जनसंख्या वाले राज्यों में 10 प्रतिशत सैम्पल आँकड़ों को तालिकाबद्ध करके प्राप्त की गई है।

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

20.5.6 महिलाओं में बढ़ती बेरोज़गारी का आपात

जैसा कि अपेक्षित ही है ग्रामीण और शहरी दोनों क्षेत्रों में (खास तौर पर शहरी क्षेत्रों) महिलाओं का बहुत कम प्रतिशत श्रमशक्ति में सम्मिलित होता है। 1973 में ग्रामीण क्षेत्रों में 38 प्रतिशत महिलाएँ तथा 65 प्रतिशत पुरुष श्रमशक्ति में सम्मिलित थे। शहरी क्षेत्रों में यह प्रतिशत क्रमशः 17 एवं 60 था। लेकिन ध्यान देने योग्य बात यह है कि बेरोज़गारी का आपात यानि, रोज़गार रहित सप्ताह (अथवा दिवस) का श्रमशक्ति के कूल सप्ताह (अथवा दिवस) प्रतिशत, महिलाओं में अधिक एवं पुरुषों में कम पाया गया। 1972-73 में ग्रामीण क्षेत्र

में, रोज़गार विहीन व्यक्ति दिवस का प्रतिशत महिलाओं में 11 तथा पुरुषों में 7 था। शहरी क्षेत्रों में महिलाओं तथा पुरुषों की तदनरूप गणना 14 तथा 8 थी। 1993-94 में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

20.5.7 बेरोज़गारी का क्षेत्रीय आयाम—नवीं पंचवर्षीय योजना

साधारणतः समष्टिगत आर्थिक विश्लेषण में बेरोज़गारी, समष्टि परिप्रेक्ष्य में दिया जाता है। लेकिन बेरोज़गारी के संदर्भ में क्षेत्रगत वास्तविकताओं को जानना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक हो जाता है। नवीं पंचवर्षीय योजना में रोज़गार के संदर्भ में क्षेत्रगत अंतरों को बताया गया है। यह रोज़गार के आयोजन में महत्त्वपूर्ण हो सकता है। यदि हम क्षेत्रगत परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण नहीं करेंगे तो यह खतरा हो सकता है कि समष्टिगत आर्थिक आयोजन में महत्त्वपूर्ण आयामों पर ध्यान न दिया जाए। इस उद्देश्य से नवीं पंचवर्षीय योजना में प्रमुख राज्यों को चार महत्त्वपूर्ण श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

तालिका 20.6

बेरोज़गारी बढ़त का क्षेत्रगत प्रारूप

क्रम संख्या	विशेषताएँ	राज्य
1)	बढ़ती बेरोज़गारी और श्रमशक्ति की तीव्र वृद्धि	बिहार, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश।
2)	बढ़ती बेरोज़गारी किंतु श्रमशक्ति की धीमी वृद्धि	केरल और पंजाब।
3)	घटती बेरोज़गारी किंतु श्रमशक्ति की तीव्र वृद्धि	असम और हरियाणा।
4)	घटती बेरोज़गारी और श्रमशक्ति की धीमी वृद्धि	आंध्र-प्रदेश, कर्नाटक, मध्य-प्रदेश, ओड़िशा, महाराष्ट्र, तमिलनाडू, तमिलनाडू और पश्चिम बंगाल।

MAADHYAMIKA

प्रथम श्रेणी में आते हैं, बिहार, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश जहाँ श्रमशक्ति का संभावित वृद्धि दर अधिक है जबकि रोज़गार सृजन की दर श्रमशक्ति वृद्धि दर से कम है। इससे अभिप्राय यह है कि नवीं पंचवर्षीय योजना में इस श्रेणी में आने वाले राज्यों में बेरोज़गारी बढ़ेगी।

दूसरी श्रेणी में आते हैं केरल और पंजाब जहाँ श्रमशक्ति की संभावित वृद्धि-दर अपेक्षाकृत कम है, लेकिन इन राज्यों में रोज़गार का सृजन कम होने के कारण, बेरोज़गारी बढ़ेगी।

तीसरी श्रेणी में आते हैं असम और हरियाणा। इस श्रेणी में आने वाले राज्यों में श्रमशक्ति की वृद्धि दर अधिक होने की संभावना है लेकिन रोज़गार सृजन की संभावना अपेक्षाकृत और भी अधिक है। इस कारण से बेरोज़गारी कम होने की संभावना है।

चौथी श्रेणी में आंध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, ओड़िशा, महाराष्ट्र, तमिलनाडू तथा पश्चिम बंगाल आते हैं। इन राज्यों में श्रमशक्ति की वृद्धि-दर कम होने की संभावना है किंतु रोज़गार में वृद्धि-दर, श्रमशक्ति की वृद्धि-दर की अपेक्षा अधिक होने की संभावना है। इससे बेरोज़गारी में कमी होने की संभावना है।

तालिका 20.7

श्रम शक्ति एवं रोज़गार प्रवृत्तियों के आधार पर वर्गीकृत राज्यों में नवीं पंचवर्षीय योजना में बेरोज़गारी में लक्षित परिवर्तन

श्रम शक्ति एवं रोज़गार विशेषताएँ	राज्य	रोज़गार वृद्धि-दर (1997-2002) (प्रतिशत प्रतिवर्ष)	श्रमशक्ति वृद्धि-दर (1997-2002)	बेरोज़गारी 1997	2002	परिवर्तन (000 व्यक्ति)
1. बढ़ती	बिहार	2.30	2.58	2153	2980	827
बेरोज़गारी एवं	राजस्थान	2.84	2.88	1023	1228	205
श्रमशक्ति की	उत्तर प्रदेश	2.20	2.57	933	2337	1405
तीव्र वृद्धि	**क्षेत्र**					**2437**
2. बढ़ती	केरल	1.43	2.30	1373	2151	778
बेरोज़गारी लेकिन	पंजाब	0.73	2.27	380	1162	781
श्रमशक्ति की						
धीमी वृद्धि	**क्षेत्र**					**1559**
3. घटती	असम	3.69	2.73	522	182	−340
बेरोज़गारी लेकिन	हरियाणा	3.67	2.99	96	−151	−248
श्रमशक्ति की	आंध्र प्रदेश	3.28	2.39	617	−979	−1596
तीव्र वृद्धि	गुजरात	2.55	2.37	–	−233	−233
	कर्नाटक	3.01	2.40	–	−659	−659
	क्षेत्र					**-659**
4. घटती	मध्य प्रदेश	2.71	2.39	1722	1428	−294
बेरोज़गारी और	ओड़िशा	2.54	2.10	633	386	−24
श्रमशक्ति धीमी	महाराष्ट्र	2.70	2.26	–	−996	−996
वृद्धि	तमिलनाडु	2.2	1.98	28	−370	−398
	प. बंगाल	3.15	2.52	256	−655	−911
	क्षेत्र					**-5333**
संपूर्ण भारत	**2.62**	**2.54**	**7500**	**6630**	**-870**	

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

बोध प्रश्न 4

1) भारत में बेरोज़गारी के मापन के लिए प्रयुक्त तीन अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में शिक्षित बेरोज़गारी की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में बेरोज़गारी की समस्याओं के क्षेत्रीय आयाम की चर्चा करें।

.....

.....

.....

.....

.....

20.6 बेरोज़गारी के निवारण के लिए सरकारी नीति

भारत की आर्थिक आयोजन में बेरोज़गारी की समाप्ति हमेशा से ही मूल उद्देश्य माना गया है। लेकिन हम छठी पंचवर्षीय योजना तक बेरोज़गारी के उन्मूलन के लिए कोई दीर्घकालीन नीति नहीं बना पाए।

20.6.1 नवीं पंचवर्षीय योजना से पूर्व रोज़गार नीति

आर्थिक आयोजन के प्रारंभ में आर्थिक संवृद्धि को एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना गया। ऐसा सोचा गया कि बेरोज़गारी उन्मूलन हेतु प्रत्यक्ष उपायों से संवृद्धि प्रक्रिया धीमी हो सकती है। 1970 के दशक के अंत में ही बेरोज़गारी की समस्या के निवारण हेतु प्रत्यक्ष उपाय अपनाने प्रारंभ किए गए। छठी पंचवर्षीय योजना में दो प्रमुख उद्देश्य तय किए गए। (i) श्रमशक्ति के अल्प रोज़गार में कमी, तथा (ii) दीर्घकाल में बेरोज़गारी में कमी।'

चौथी पंचवर्षीय योजना में भी यह अपेक्षा की गई थी कि बेरोज़गारी के लिए जागरूक नीति अपनाने की आवश्यकता है। इसमें ग्रामीण विकास, श्रम-प्रधान सार्वजनिक निर्माण कार्यक्रम, उद्योगों में श्रम प्रधान प्रौद्योगिकी तथा घरेलू तथा विदेशी बाज़ारों के लिए श्रम प्रधान औद्योगिक उत्पादों के वृद्धि पर बल दिया गया। लेकिन यह नीति मात्र कागज़ पर ही रह गई क्योंकि सरकार ने निवेश के प्रति अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया।

पाँचवीं पंचवर्षीय योजना में भी बेरोज़गारी उन्मूलन को एक प्रमुख उद्देश्य रखा गया। कहा गया कि वितरण में न्याय के लिए भी बेरोज़गारी उन्मूलन महत्त्वपूर्ण है। फिर से श्रम प्रधान परियोजनाओं के चयन पर जोर दिया गया और स्वरोज़गार द्वारा भी रोज़गार सृजन पर बल दिया गया।

छठी पंचवर्षीय योजना में यह जिक्र किया गया कि पिछले वर्षों में रोज़गार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि नहीं हुई। यह स्वीकार किया गया कि सार्वजनिक क्षेत्र में रोज़गार सृजन की अधिक संभावना नहीं है, इसलिए निजी क्षेत्र में श्रम की माँग तथा उसके उपयोग को प्रभावित करने की आवश्यकता है। कृषि, लघु एवं कुटीर उद्योगों तथा गैर कृषि कार्यों में स्वरोज़गार सृजन पर भी बल दिया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-97) में सभी के लिए रोज़गार का लक्ष्य रखा गया। श्रम-नीति का खुलासा करते हुए, आठवीं पंचवर्षीय योजना में कहा गया कि रोज़गार वृद्धि-दर ऊँची करने के लिए उत्पादन में ऊँची वृद्धि-दर आवश्यक तो है लेकिन पर्याप्त नहीं है। जब संवृद्धि में उन क्षेत्रों का अधिक योगदान हो जिनके उत्पादन में रोज़गार का हिस्सा तथा श्रम प्रधान तकनीकों का उपयोग अधिक हो तब संवृद्धि के रोज़गार सृजन क्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार आर्थिक संवृद्धि तथा उत्पादन संरचना के पुनर्गठन से ही रोज़गार संवृद्धि संभव है। इसमें कोई संदेह नहीं कि श्रम के अधिक तथा कुशल उपयोग से ही आर्थिक संवृद्धि दर में वृद्धि संभव है लेकिन यह अन्य संसाधनों जैसे पूँजी, आंतरिक तथा अतिरिक्त माँग की उपलब्धता पर ही निर्भर करेगा।

यह कहा गया है कि संवृद्धि के रोज़गार सृजन क्षमता को उत्पादन के पुनर्गठन द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। उन क्षेत्रों को बढ़ावा मिले जिसमें प्रति इकाई उत्पादन में अधिक रोज़गार प्राप्त होता हो।

यह कहा गया कि यदि 1997 तक पूर्ण रोज़गार के लक्ष्य को प्राप्त करना है तो आठवीं पंचवर्षीय योजना में रोज़गार वृद्धि-दर को 4 प्रतिशत प्रति वर्ष तक बढ़ाना होगा, और यदि इस लक्ष्य को सन् 2000 तक पूरा करना है तो रोज़गार वृद्धि-दर को 3 प्रतिशत तक रखना होगा। क्षेत्रगत रोज़गार सृजन के संदर्भ में पिछड़े क्षेत्रों में कृषि विकास, पशुपालन, मत्स्य–पालन, वन विकास तथा प्राकृतिक साधनों जैसे भूमि और वन, ग्रामीण तथा लघु उद्योग, आधुनिक लघु उद्योग के विकास पर बल दिया गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि छठी पंचवर्षीय योजना के बाद भी रोज़गार नीति में दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य का अभाव रहा। हर पंचवर्षीय योजना में नई योजनाएँ आती रहीं और कई पुरानी योजनाओं को रद्द कर दिया गया और पुरानी गलतियों से कुछ शिक्षा नहीं ली गई।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.6.2 नवीं पंचवर्षीय योजना में रोज़गार परिदृश्य

नवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान रोज़गार की संवेदनशील होने की अपेक्षा है। यानि उत्पादन में 1 प्रतिशत की वृद्धि द्वारा रोज़गार में 0.38 प्रतिशत की वृद्धि की अपेक्षा है। नवीं पंचवर्षीय योजना में 7 प्रतिशत की संवृद्धि दर होने की अपेक्षा है, जिसका अर्थ यह है कि 540 लाख अतिरिक्त रोज़गार सृजन की अपेक्षा है। इसी काल में श्रमशक्ति में वृद्धि 530 लाख होगी, जिसका अभिप्राय यह है कि इस दौरान बेरोज़गारी 10 लाख कम हो जाएगी। लेकिन यदि हम इस अपेक्षित संवृद्धि दर को प्राप्त नहीं कर पाते हैं तो हमारी बेरोज़गारी पहले से कहीं अधिक हो जाएगी। उदाहरण के लिए यदि संवृद्धि दर 6.2 प्रतिशत रह जाए तो बेरोज़गारों की संख्या पहले के अपेक्षा 60 लाख अधिक हो जाएगी।

तालिका 20.8 अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में रोज़गार के अवसरों में अपेक्षित वृद्धि दर्शाती है। इससे पता चलता है कि रोज़गार के अवसरों में सर्वाधिक वृद्धि कृषि क्षेत्र से प्राप्त होगी, यानि 280 लाख। यह तभी संभव है कि इस क्षेत्र में 4.5 प्रतिशत की संवृद्धि दर रहे। यह अपेक्षित संवृद्धि दर अधिक प्रतीत होती है। योजना आयोग ने भी इसे स्वीकार किया है कि कृषि में 4.5 की संवृद्धि दर प्राप्त करना एक मुश्किल कार्य होगा।

तालिका 20.8

कार्य अवसरों के अनुमान (1997-2002)

क्षेत्र	सकल घरेलू उत्पाद संवृद्धि (प्रतिशत प्रतिवर्ष)	कार्य अवसर (10 लाख) 1997	2002
1. कृषि	4.50	237.31	265.24
2. खनन एवं उत्खनन	7.70	2.89	3.62
3. विनिर्माण	9.70	43.60	49.15
4. विद्युत	10.60	1.52	1.15
5. निर्माण	5.70	14.35	16.98
6. व्यापार एवं परिवहन	7.10	46.80	56.68
7. वित्तीयण, संपदा, बीमा एवं व्यापारिक सेवाएँ	10.10	4.25	5.52
8. सामुदायिक, सामाजिक एवं निजी सेवाएँ	5.30	39.01	44.46
सभी क्षेत्र	**7.00**	**389.73**	**443.62**

स्रोत : नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002), योजना आयोग, भारत सरकार।

बोध प्रश्न 5

1) छठी पंचवर्षीय योजना के बाद होने वाली रोज़गार नीति में परिवर्तन का विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

20.7 रोज़गार कार्यक्रमों का विवरण

पिछले भाग में हमने देखा कि छठी पंचवर्षीय योजना तक बेरोज़गारी को दूर करने के लिए कोई दीर्घकालीन नीति नहीं थी। आयोजन के प्रारंभिक वर्षों में जहाँ कोई स्पष्ट रोज़गार नीति नहीं थी, वहीं आर्थिक संवृद्धि को महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना गया। यह समझा गया कि आर्थिक संवृद्धि से बेरोज़गारी की समस्या अपने आप हल हो जाएगी। लेकिन आर्थिक संवृद्धि के बावजूद जनसाधारण की गरीबी दूर नहीं की जा सकी। इसके बाद यह समझा गया कि गरीबी की स्थायी उन्मूलन उत्पादक रोज़गार अवसरों में वृद्धि पर ही निर्भर होगी। यह भी समझा गया कि ग्रामीण गरीबी, ग्रामीण उत्पादकता की निम्नस्तर तथा बेरोज़गारी के कारण है। इसलिए गरीबी उन्मूलन का कार्यक्रम उत्पादकता में वृद्धि तथा ग्रामीण क्षेत्रों में रोज़गार सृजन पर निर्भर होना चाहिए।

कई प्रकार के बेरोज़गारी उन्मूलन कार्यक्रम इस चिंतन पर शुरू किए गए, विशेष तौर पर छठी पंचवर्षीय योजना के बाद। यह तय किया गया कि इन रोज़गार सृजन कार्यक्रमों में :

1) उत्पादकता में वृद्धि हेतु उत्पादक परिसंपत्तियों का निर्माण किया जाएगा, और
2) ग्रामीण जनसंख्या का वह हिस्सा जिसे अतिरिक्त रोज़गार की आवश्यकता है, को रोज़गार उपलब्ध करवाया जाएगा।

इस प्रकार ग्रामीण रोज़गार के कई कार्यक्रम अपनाए गए। इस भाग में इन्हीं कार्यक्रमों का विवरण देने का प्रयास किया जाएगा।

20.7.1 राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम

राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम (NREP) की शुरुआत छठी पंचवर्षीय योजना में हुई और इसे सातवीं पंचवर्षीय योजना में भी जारी रखा गया। इस योजना को केन्द्र सरकार के कार्यक्रम के रूप में कार्यान्वित किया गया। लेकिन इसके आर्थिक भार को केन्द्र तथा राज्य सरकारों में बराबर बाँटने का प्रावधान रखा गया। केन्द्रीय वित्त में प्रत्येक राज्य का हिस्सा निम्नलिखित दो आधारों पर तय किया गया : (i) गरीबी का आपात; और (ii) कृषि श्रमिकों, सीमांत कृषकों तथा सीमांत श्रमिकों की संख्या।

इन दोनों तत्त्वों को बराबर महत्त्व दिया गया यानि 50 प्रतिशत। इस योजना के अंतर्गत जिले के स्तर रोज़गार योजना का निर्माण किया गया (खंड के आधार पर)। इस योजना में कार्य के इच्छुक व्यक्तियों की संख्या तथा उसमें कार्य अवसरों की संभावित उपलब्धता का अनुमान लगाने का प्रावधान था। उसी के आधार पर राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम में परियोजना तैयार की जाती थी। योजना आयोग के अनुसार लागू करने वाली एजेंसियों को कहा गया कि वे इस योजना में सामाजिक वनारोपण तथा चरागाह विकास, मृदा तथा जल संरक्षण, सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण तथा जल निकासी, सिंचाई कमांड क्षेत्रों में चैनलों, ग्रामीण तालाबों तथा टैंकों के निर्माण एवं संरक्षण, स्कूल तथा चिकित्सालय भवनों, ग्रामीण पर्यावरण, सफाई एवं स्वच्छता के कार्यों को प्राथमिकता दें।

इस योजना के अंतर्गत आने वाले श्रमिकों को उस क्षेत्र में निर्धारित न्यूनतम कृषि मजदूरी के बराबर मजदूरी दी गई। मजदूरी आंशिक तौर पर नकद तथा आंशिक तौर पर अन्न के रूप में दी जाती थी। यह योजना 9 वर्ष तक चली तथा इसमें छठी तथा सातवीं पंचवर्षीय योजना में क्रमशः 177.41 तथा 147.75 करोड़ श्रम दिवसों का रोज़गार प्रदान किया गया। शोधकर्ताओं का कहना है कि रोज़गार सृजन के ये दावे बढ़ा-चढ़ाकर दिखाए गए हैं।

20.7.2 समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (IRDP)

यह कार्यक्रम (IRDP) 1978 में प्रयोग के तौर पर प्रारंभ किया गया और इसे 1980-81 में देश भर में विस्तार किया गया। यह कार्यक्रम छठी पंचवर्षीय योजना में गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम का अंग था। कार्यक्रम का प्रारूप इस प्रकार से बनाया गया ताकि (i) ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों की पहचान हो सके, और (ii) इन परिवारों को गरीबी की रेखा से ऊपर उठाने हेतु उत्पादक परिसंपत्तियाँ अथवा आवश्यक क्षमता उपलब्ध करवाते हुए स्वरोज़गार के अवसर उपलब्ध किए जा सकें।

यह कार्यक्रम छठी पंचवर्षीय योजना में प्रारंभ हुआ और आज तक जारी है। छठी पंचवर्षीय योजना में 1500 करोड़ रुपये का प्रावधान रखा गया और बैंकों से अपेक्षा थी कि इस कार्यक्रम हेतु वे 3000 करोड़ रुपये उपलब्ध करवाएँगे और इसके द्वारा 1.5 करोड़ परिवार

लाभान्वित होंगे। सातवीं पंचवर्षीय योजना में 182 करोड़ परिवारों तथा 1990-96 में 1047 परिवारों की सहायता की गई। हालाँकि रोज़गार सृजन का सही अनुमान नहीं लगाया गया।

20.7.3 भूमिहीन ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम (RLEGP)

भूमिहीन ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम 15 अगस्त 1983 को प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य संरचनात्मक ढाँचे के निर्माण के द्वारा ग्रामीण भूमिहीनों के लिए रोज़गार के अवसर उपलब्ध करवाना था। प्रत्येक भूमिहीन परिवार के कम से कम एक सदस्य को एक वर्ष में 100 कार्य दिवसों के लिए रोज़गार की गारंटी देने का उद्देश्य इस कार्यक्रम में रखा गया। इस योजना का पूरा खर्च केन्द्र सरकार ने वहन किया जबकि इस कार्यक्रम के क्रियान्वयन की जिम्मेवारी राज्यों को सौंपी गई। छठी पंचवर्षीय योजना के अंतिम दो वर्षों में 2601.8 लाख कार्य दिवसों का रोज़गार तथा सातवीं पंचवर्षीय योजना के प्रथम 4 वर्षों में 11543.9 लाख कार्य दिवसों का रोज़गार इस योजना के अंतर्गत उपलब्ध करवाया गया। इस योजना में उल्लेखनीय कार्य के बावजूद इसके सीमित दायरे के कारण, ग्रामीण बेरोज़गारी को दूर करने में इसका कम योगदान रहा।

अप्रैल 1989 से भूमिहीन ग्रामीण रोज़गार गारंटी कार्यक्रम को जवाहर रोज़गार योजना के साथ शामिल कर दिया गया।

20.7.4 जवाहर रोज़गार योजना (JRY)

जवाहर रोज़गार योजना को सातवीं पंचवर्षीय योजना के अंतिम वर्ष 1989 में प्रारंभ किया गया। इस कार्यक्रम का मूल उद्देश्य उत्पादक कार्यों में अतिरिक्त रोज़गार उपलब्ध करवाना था जो या तो गरीबों के लिए स्थायी तथा लाभकारी रूप से अथवा ग्रामीण संरचनात्मक ढाँचे में योगदान करे। इस कार्यक्रम हेतु केन्द्र सरकार 80 प्रतिशत तथा राज्य 20 प्रतिशत योगदान देती है। राज्यों/केन्द्र शासित क्षेत्रों में केन्द्रीय सहायता उस राज्य में निर्धनों के कुल निर्धनों के अनुपात में दी जाती है।

जवाहर रोज़गार योजना में सभी ग्रामीण कार्य आते हैं जिनसे सामूहिक उत्पादक परिसंपत्तियों का सृजन होता है। निर्धनों को लाभ पहुँचाने वाले कार्यों को प्राथमिकता दी जाती है, लाभान्वित वर्गों के चयन में अनुसूचित जाति तथा जनजातियों को प्राथमिकता दी जाती है एवं महिलाओं के लिए 30 प्रतिशत आरक्षण रहता है।

जवाहर रोज़गार योजना के प्रथम सात वर्षों में 620.1 करोड़ श्रम दिवसों के रोज़गार का सृजन किया गया। इस कार्यक्रम की मात्रात्मक उपलब्धियाँ राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रम तथा ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम तथा ग्रामीण भूमिहीन रोज़गार गारंटी कार्यक्रम से बेहतर है।

1) इस कार्यक्रम में आर्थिक रूप से उत्पादक निवेश को प्राथमिकता दी जाती है जिससे भूमि की उत्पादकता में वृद्धि होती है।
2) रोज़गार कार्यक्रमों की योजना तथा क्रियान्वयन में पंचायतों का योगदान लिया जाता है।

20.7.5 ग्रामीण युवकों के लिए स्व-रोज़गार हेतु प्रशिक्षण (TRYSEM)

ग्रामीण युवकों को बेरोज़गारी की समस्या से निपटने के लिए तैयार करने हेतु यह योजना 1979 में प्रारंभ की गई। इसमें 3500 रुपये प्रतिवर्ष की आय से कम, गरीबी की रेखा से नीचे

रहने वाले युवकों में परंपरागत कुशलताओं कि सुधार करने का उद्देश्य रखी गई। चयन करते वक्त अनुसूचित जाति या जनजातियों के सदस्यों को प्राथमिकता दी गई। 9.4 लाख युवकों को छठी पंचवर्षीय योजना में प्रशिक्षित किया गया और 4.64 लाख युवकों ने स्वरोज़गार प्राप्त किया। प्रशिक्षितों में 34.8 प्रतिशत महिलाएँ और 31.5 प्रतिशत अनुसूचित जाति एवं जनजातियों से संबद्ध थे। सातवीं पंचवर्षीय योजना में 8.73 लाख गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों को युवकों को प्रशिक्षित किया गया। छठी पंचवर्षीय योजना में 1990-91 से 1995-96 के छः वर्षों में इस योजना ने 17.03 लाख ग्रामीण युवकों को लाभान्वित किया।

बोध प्रश्न 3

1) ऐच्छिक बेरोज़गारी से आपका क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

.....

20.8 सारांश

इस इकाई में दिए गए विवेचन से स्पष्ट है कि बेरोज़गारी उन्मूलन के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में उल्लेखनीय प्रयास किए गए। लेकिन शोधकर्ताओं का मानना है कि इन योजनाओं के वास्तविक क्रियान्वयन में वास्तविक लाभ धनवान लोगों द्वारा उठा लिया गया। ऐसा इसलिए है कि इन योजनाओं के क्रियान्वयन में पंचायती राज संस्थानों पर अनावश्यक निर्भरता रखी गई जिसमें भ्रष्टाचार व्याप्त है। भारत जैसे अल्पविकसित देशों में बेरोज़गारी की समस्या व्याप्त है। यह बात ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में समान रूप से लागू होती है। धीमी संवृद्धि प्रक्रिया, श्रमशक्ति में तीव्र वृद्धि, अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी तथा अनुपयुक्त श्रमशक्ति आयोजन इस समस्या के लिए मूल रूप से जिम्मेदार हैं। बेरोज़गारी की समस्या के मापन के लिए कई प्रकार के मापक अपनाए जाते हैं। इस समस्या को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जाना चाहिए; जैसे शिक्षा एवं बेरोज़गारी, महिलाओं में बेरोज़गारी तथा बेरोज़गारी का क्षेत्रीय वितरण।

20.9 शब्दावली

ब्लू कॅलार बेरोज़गारी : कुशल/अकुशल शारीरिक श्रमिकों में व्याप्त बेरोज़गारी।

प्रच्छन्न बेरोज़गारी : अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी। प्रच्छन्न बेरोज़गारी की स्थिति में कम लोगों के लिए कार्य उपलब्ध होता है जबकि उसी कार्य को अधिक लोग करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कुछ लोगों को निकाल लिया जाए तो कुल उत्पादन प्रभावित नहीं होगा, यदि बचे हुए लोग अपनी पूरी क्षमता से कार्य

रोज़गार की लोच : यह आय/उत्पाद में परिवर्तन के फलस्वरूप रोज़गार में होने वाले परिवर्तन की संवेदनशीलता का मापक है। रोज़गार की लोच निम्न प्रकार से मापी जा सकती है :

$$= \frac{\text{रोज़गार में प्रतिशत परिर्वतन}}{\text{आय अथवा उत्पादन में प्रतिशत परिर्वतन}}$$

श्रमशक्ति आयोजन : समाज की आवश्यकताओं का आकलन और तदनुसार श्रम संसाधनों का विकास।

मुख्यतः श्रमिक : एक श्रमिक जो किसी एक वर्ष में कम से कम 183 दिनों तक रोज़गार युक्त हो वह मुख्यतः श्रमिक कहलाएगा।

व्यक्ति सप्ताह : एक व्यक्ति कार्यरत (यानि रोज़गार युक्त) माना जाएगा, यदि उसने सर्वे से पूर्व के सप्ताह में किसी एक भी दिन में कार्य किया हो।

व्हाइट कॅलार बेरोज़गारी : शिक्षित वर्ग के बीच बेरोज़गारी।

20.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

नवीं पंचवर्षीय योजना 1997-2002, भाग-1, भारत सरकार, योजना आयोग, नई दिल्ली, अध्याय-IV।

Indian Economy, S.K. Misra and V.K. Rai 1997, Himalya Publishing House, Chapter-9.

M.L. Dantwala, *Understanding Poverty and Unemployment in Indian Economy Since Endependence* (ed.) Uma Kapila, 1993, Academic Foundation, Delhi.

Indian Economy, Ruddar Dutt and KPM Sundaram (1997) Chapter 24.

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

20.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) ऐच्छिक बेरोज़गारी वह परिस्थिति है जब लोग या तो किसी लाभकारी रोज़गार में इच्छुक नहीं होते अथवा श्रम बाजार में चालू मजदूरी से अधिक पर कार्य के लिए इच्छुक होते हैं।

2) अनैच्छिक बेरोज़गारी ऐसी परिस्थिति है जब लोग चालू मजदूरी दरों पर कार्य करने के लिए तैयार होते हैं लेकिन इन्हें रोज़गार प्राप्त नहीं होते।

3) विकसित देशों में चक्रीय बेरोज़गारी तथा घर्षण बेरोज़गारी पाई जाती है जो क्रमशः प्रभावी माँग के अभाव तथा नई प्रौद्योगिकी अपनाने के कारण उत्पन्न होती है। कृषि, उद्योग तथा सेवा क्षेत्रों के पिछड़ेपन के कारण अल्पविकसित देशों में श्रम की माँग कम होती है। दोनों ही प्रकार के देशों में पाई जाने वाली बेरोज़गारी अनैच्छिक बेरोज़गारी ही मानी जाएगी।

बोध प्रश्न 2

1) i) मौसमी बेरोज़गारी
   ii) प्रच्छन्न बेरोज़गारी

2) उपभाग 20.3.1 का संबंधित भाग देखें।

3) i) अप्रशिक्षित औद्योगिक (ब्लू कॅलार) श्रमिकों की बेरोज़गारी
   ii) शिक्षित वर्ग (व्हाइट कॅलार) की बेरोज़गारी
   iii) पार्ट टाइम के लिए काम के इच्छुक विद्यार्थी इत्यादि
   विस्तृत विश्लेषण के लिए उपभाग 20.3.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) i) धीमी प्रगति प्रक्रिया
   ii) श्रमशक्ति में वृद्धि
   iii) अनुपयुक्त प्रौद्योगिकी
   विस्तृत विश्लेषण के लिए भाग 20.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) i) सामान्य स्थिति बेरोज़गारी
   ii) चालू साप्ताहिक स्थिति बेरोज़गारी
   iii) चालू दैनिक स्थिति बेरोगारी

   विस्तृत विश्लेषण के लिए भाग 20.5 देखें।

2) उपभाग 20.5.5 देखें।

3) उपभाग 20.5.7 देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 5

1) भाग 20.6 देखें।

बोध प्रश्न 6

1) भाग 20.7 देखें।

इकाई 21 औद्योगिक सम्बन्ध

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 औद्योगिक संबंध : आवश्यकता और महत्त्व
21.3 भारत में औद्योगिक संबंधों में प्रमुख पक्ष
  21.3.1 श्रमिक संघ (यूनियन)
  21.3.2 मालिकों के संघ
  21.3.3 सरकार
21.4 भारत में औद्योगिक विवाद
  21.4.1 औद्योगिक विवाद की प्रवृत्तियाँ
  21.4.2 सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में औद्योगिक संबंध
21.5 औद्योगिक विवादों का निपटारा
  21.5.1 विवादों का निवारण
  21.5.2 विवादों का निपटारा प्रणाली
21.6 सामूहिक समझौता
  21.6.1 भारत में सामूहिक समझौते की स्थिति
21.7 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी
  21.7.1 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी के उद्देश्य
  21.7.2 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी की सफलता की पूर्वापेक्षाएं
  21.7.3 भारत में प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी
  21.7.4 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी की व्यवस्था
21.8 आर्थिक सुधार और औद्योगिक संबंधों में कठिनाइयाँ
21.9 सारांश
21.10 शब्दावली
21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ सकेंगे :

- औद्योगिक संबंधों का अर्थ और महत्त्व;
- औद्योगिक संबंधों में प्रमुख पक्ष;
- औद्योगिक विवादों की प्रवृत्ति;
- औद्योगिक विवादों को निपटाने की व्यवस्था;
- सामूहिक समझौता और प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी;
- आर्थिक सुधार और औद्योगिक संबंधों में कठिनाइयाँ।

21.1 प्रस्तावना

औद्योगिक संबंधों से तात्पर्य है– एक ओर श्रमिक और दूसरी ओर उसके मालिक के बीच

संबंध। श्रमिक मजदूरी के बदले अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करते हैं। परन्तु उनका निष्पादन कार्य के दौरान उपलब्ध परिस्थितियाँ, अर्थात् मज़दूरी को छोड़, काम-काज से जुड़ी अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। औद्योगिक संबंधों का सार है– प्रबंधन अपने श्रमिकों के साथ कैसा बर्ताव करना है और श्रमिक किस प्रकार अपने मालिकों के हित में काम करते हैं। आधुनिक संगठित उद्योगों में से अधिकांश उद्योगों में श्रमिक अपने आपको संघों में संगठित कर लेते हैं और उसे अपने सामान्य हितों के लिए इस्तेमाल करते हैं। संघों का उपयोग वे अच्छे और सुधरते काम के माहौल को सुनिश्चित करने के लिए कर सकते हैं। दूसरी ओर, मालिक भी उस सीमा तक काम की परिस्थितियों में सुधार लाना चाह सकते हैं जहाँ तक नई लागत से श्रमिकों की उत्पादिता और उत्पादन में वृद्धि हो ताकि उन्हें लागत के बदले मुआवज़ा मिले।

किसी औद्योगिक इकाई का विकास, उसमें प्रौद्योगिक परिवर्तन, इत्यादि, श्रमिकों की काम की परिस्थितियों को प्रभावित करते हैं। इनमें से कुछ, जैसे विकास से श्रम के सृजन में वृद्धि हो सकती है। वे इनका स्वागत कर सकते हैं और इन्हें बढ़ावा भी देना चाहेंगे। परंतु प्रौद्योगिक परिवर्तन जो श्रमिकों को मशीनों द्वारा विस्थापित करते हैं, श्रमिकों की उत्पादिता तो बढ़ा सकते हैं परन्तु इनके फलस्वरूप छँटनी भी हो सकती है। यदि प्रौद्योगिक परिवर्तन के साथ विस्तार न जुड़ा हो तो यह श्रमिकों के हितों के प्रतिकूल हो सकता है। इस प्रकार औद्योगिक संबंधों के विषय के अनेक पहलू हैं : (i) श्रमिकों और प्रबंधन के बीच संबंध, (ii) श्रमिकों के बीच संबंध, और (iii) श्रमिक संघों के बीच संबंध।

21.2 औद्योगिक संबंध : आवश्यकता और महत्त्व

किसी भी उत्पादन इकाई में उत्पादन प्रबंधन और श्रमिकों के संयुक्त प्रयासों का परिणाम होता है। अतः उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त करने और उत्पादन बढ़ाने के लिए सद्भावपूर्ण औद्योगिक संबंध अनिवार्य हैं। अच्छे संबंध न होने की स्थिति में औद्योगिक संघर्ष उत्पन्न होते हैं और समाज के सभी वर्गों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। खराब औद्योगिक संबंधों के अन्य परिणाम हैं : काम में रुकावट, श्रमिकों का दरिद्र होना और छँटनी। उत्पादन में रुकावट से प्रबंधन को हानि का सामना करना पड़ता है, लागत में वृद्धि होती है और मशीनों तथा उपकरणों को क्षति पहुँचती हैं। उत्पादन क्रियाओं के भंग होने से राष्ट्रीय आय में गिरावट आती है। इसके कारण सरकारी राजस्व में भी कमी होती है। कानून और व्यवस्था बनाए रखने तथा औद्योगिक संघर्ष के दौरान आपराधिक गतिविधियों पर नियंत्रण करने के प्रशासनिक व्यय में वृद्धि होती है। प्रोफेसर पीगू के शब्दों में, एक ओर काम बंदी में वास्तविक तौर पर शामिल लोगों को निर्धन बनाकर यह अन्य उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग घटाता है; दूसरी ओर, यदि उद्योग अन्य उद्योगों के संचालन में मोटे तौर पर ज़रूरी वस्तु या सेवा प्रदान करते हैं तो इससे उन्हें कच्चा माल या उपकरणों की आपूर्ति में कमी आती है।

स्वतंत्रता के समय भारत को तीव्र औद्योगिक विकास की आवश्यकता थी। यह आवश्यकता अब भी बनी हुई है। उद्योगों का तेज़ी से विकास, औद्योगिक ढाँचे में विविधता लाने के साथ–साथ प्रौद्योगिकी व औद्योगिक उत्पादन के वैज्ञानिक आधार में परिवर्तन श्रमिकों को प्रदत्त काम की परिस्थितियों पर प्रभावी तौर पर निर्भर करते हैं। उद्योगों के निरंतर और तीव्र विकास के लिए साधनों का कुशल उपयोग आवश्यक है। उत्पादकता में निरंतर वृद्धि ज़रूरी है।

औद्योगिक संवृद्धि को अधिकाल में स्थिरता के साथ बनाए रखना होता है। यह सब औद्योगिक और सद्भावपूर्ण श्रम प्रबंधन संबंधों पर बहुत अधिक निर्भर है।

पिछले पाँच दशकों में भारत के औद्योगिक परिदृश्य में परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। प्रबंधन अब एक बिल्कुल अलग पेशे के रूप में उभरा है। प्रौद्योगिकी परिवर्तन हुए हैं। इन प्रौद्योगिकी परिवर्तनों ने कुछ समस्याएँ पैदा की हैं :

क) वर्तमान रोज़गार का फालतूपन, और

ख) वर्तमान श्रम शक्ति का आवश्यक दक्षता के साथ सामंजस्य।

भारत में विदेशी पूँजी प्रमुख घरेलू औद्योगिक घरानों के साथ सहयोग और स्वयं उनकी सहायक कम्पनियों, दोनों ही रूपों में आ रही है। इसका श्रमिकों पर कम से कम उस सीमा तक प्रभाव पड़ा है जहाँ तक वह विदेशी हित अपने साथ प्रबंध प्रणाली की नई लहरें लाए हैं और श्रम को पुरस्कृत करने व संभालने के नए मानकों से परिचय कराया है। इसके अतिरिक्त जुलाई 1991 से चल रहे नए आर्थिक सुधारों ने भी काम के माहौल और औद्योगिक संबंधों को विभिन्न रूप से प्रभावित किया है। इस इकाई में आगे जाकर हम इस पहलू पर विचार करेंगे।

उपरोक्त संदर्भ में हमारे लिए यह वांछनीय होगा कि हम भारत में हुए औद्योगिक विवाद के स्वरूप, औद्योगिक विवादों को सुलझाने की व्यवस्था, सामूहिक समझौता, प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी और आर्थिक सुधारों के बाद की अवधि में औद्योगिक संबंधों से जुड़ी समस्याओं की जानकारी हासिल करें।

बोध प्रश्न 1

1) किस प्रकार के औद्योगिक संबंध संवृद्धि और उत्पादिता को बढ़ावा देने में सहायक होते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) औद्योगिक संघर्ष का श्रमिकों पर किस प्रकार असर पड़ता है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) औद्योगिक संबंधों से हमारा क्या तात्पर्य है?

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS

21.3 भारत में औद्योगिक संबंधों में प्रमुख पक्ष

औद्योगिक संबंधों में दो प्रमुख पक्ष हैं :

क) श्रमिक संघ, और

ख) मालिकों के संघ।

औद्योगिक संबंधों में इन दो प्रमुख पक्षों के अलावा एक तीसरा पक्ष सरकार है जो (क) श्रमिकों के हितों की रक्षा करती है, और (ख) संघर्ष उत्पन्न होने पर उनके निपटाने में सहायक बनकर एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है :

21.3.1 श्रमिक संघ (यूनियन)

भारत में श्रमिक संघ आंदोलन एक शताब्दी से अधिक पुराना है। श्रमिक संघों को भारत के संविधान के अपनाए जाने के बाद प्रोत्साहन मिला। इसके अंतर्गत सभी नागरिकों को सार्वजनिक व्यवस्था के हितों के अधीन संघ बनाने का अधिकार दिया गया। यह श्रमिक संघ अपने अनेक कार्यों द्वारा सदस्यों के हितों की रक्षा करते हैं।

1990 के दशक के आरंभ में कुल कार्यशील जनसंख्या का लगभग 9 प्रतिशत संगठित था। 1990 में संघों की कुल संख्या 52,016 थी जिसके 61,81,000 सदस्य थे। यह संख्या 1951 की अपेक्षा 10 गुना से भी अधिक हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में संघ निर्माण में अत्यधिक तीव्रता है और इसका अनुपात 90 प्रतिशत है जबकि निजी क्षेत्र, विशेषकर लघु और मध्यम स्तर की इकाइयों में यह कम है। पंजीकृत संघों का केवल पंचमांश (1/5) एक-दूसरे के साथ अथवा राष्ट्रीय स्तर पर दस प्रमुख महासंघों के साथ संबद्ध है।

MADHYAM IAS

भारत में श्रमिक संघों के कामकाज में अनेक कमज़ोरियाँ रही हैं। भारत में श्रमिक आंदोलन वैचारिक आधार पर विभाजित है। श्रमिक संघों के विभिन्न महासंघ दलगत आधार पर बनाए गए हैं। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) स्वाधीनता के बाद से ही पूरी तरह कम्युनिस्टों के नियंत्रण में रहा है। भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC) कांग्रेस पार्टी से संबंधित है। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) में विभाजन के फलस्वरूप समाजवादियों ने हिन्द मज़दूर सभा (HMS) की स्थापना की। हिन्द मज़दूर सभा में एक और विभाजन से गैर-कम्युनिस्ट मार्क्सवादी गुट ने यूनाइटेड ट्रेड यूनियन (UTC) का निर्माण किया। 1955 में जनसंघ पार्टी ने भारतीय मज़दूर संघ (BMS) का गठन किया। कम्युनिस्टों में विभाजन से अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) में विभाजन हुआ जिससे 1970 में सेंटर ऑफ इण्डियन ट्रेड यूनियन्स (CITU) का जन्म हुआ। तमिलनाडू में डी.एम.के. और ए.आइ.ए.डी.एम.के. तथा महाराष्ट्र में शिव सेना जैसे क्षेत्रीय राजनीतिक दलों से संबंधित क्षेत्रीय महासंघों का भी प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार, श्रमिक आंदोलन के राजनीतिक आधार पर विभाजन से फूट पैदा हुई है और श्रमिक संघ आंदोलन कमजोर हुआ है। मालिक द्वारा श्रमिक संघ को मान्यता देने का कानूनी प्रावधान न होने के कारण काम के एक ही स्थान पर अनेक संघों का गठन किया जाता है जिनमें श्रमिकों के एक ही वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिए आपसी होड़ मचती है और ऐसी स्पर्द्धा आमतौर पर तीखी कभी-कभी तो हिंसक भी हो जाती है। यह कहना कठिन है कि राष्ट्रीय स्तर पर कितने श्रमिक संघ कार्यशील हैं क्योंकि बहुत से संघों का किसी भी अखिल भारतीय संघ से संबंध नहीं हैं। बहरहाल, हाल में हुए अधिकांश विभाजन व्यक्तियों से और कभी-कभी जाति और क्षेत्रीय हितों से संबंधित रहे हैं।

सदस्यता के निम्न विस्तार और श्रमिक संघों के विभाजन के अलावा सदस्यता में गिरावट, श्रमिक संघों और श्रमिकों के बीच असंगति श्रमिक संघों की अन्य कमज़ोरियाँ हैं। कार्य प्रक्रिया के बदलते स्वरूप के कारण क्षेत्रीय स्तर पर संघों से उद्यम स्तर पर संघों के स्थानांतरण की नई प्रवृत्ति उभरने लगी है।

श्रमिक संघ आजकल असमंजस में हैं। वह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रवेश को पसंद नहीं करते परंतु उनके द्वारा दिए जाने वाले ऊँचे वेतनमान और अन्य सुविधाओं से आकर्षित होते हैं। वह लघु उद्योग के विकास के पक्षधर हैं परन्तु बड़ी इकाइयों के काम को सहायक लघु उद्योगों को ठेके पर देने के विरोधी हैं। इसी प्रकार, श्रमिक संघ रुग्ण इकाइयों को बंद करने का विरोध करते हैं परंतु घाटे वाले उद्यमों के रूप में उन्हें अनिश्चित काल तक चलाने को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। वह ढाँचागत सामंजस्य (structural adjustment) के रोज़गार और काम की परिस्थितियों पर प्रतिकूल प्रभावों का विशेष उल्लेख करते हैं परंतु, सुधारों का विरोध नहीं करते।

21.3.2 मालिकों के संघ

अखिल भारतीय आधार पर मालिकों के तीन संघ हैं :

फिक्की (FICCI)] नई दिल्ली द्वारा स्थापित मालिकों का अखिल भारतीय संगठन (AIOE)।

एसोचेम (ASSOCHAM), मुम्बई द्वारा स्थापित भारतीय संगठन नियोक्ता संघ (EFI)।

केंद्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों द्वारा स्थापित नई दिल्ली का स्कोप (SCOPE)।

सरकार द्वारा अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO) के साथ संबंधों के लिए इन तीनों ने मिलकर एक संघबद्ध संगठन का गठन किया है जिसका नाम है भारतीय नियोक्ता परिषद् (Council of Indian Employers - CIE)। इन तीनों संगठनों के अलावा अखिल भारतीय निर्माता संगठन (All India Manufacturers' Organisation -IMO) नामक एक चौथा संगठन है जो निजी क्षेत्र के लघु और मध्यम स्तर के उद्यमों के हितों का प्रतिनिधित्व करता है। पाँचवाँ है भारतीय उद्योग परिसंघ (Confederation of Indian Industry - CII)। श्रम मंत्रालय ने इन दोनों संगठनों को भारतीय श्रम सम्मेलन (Indian Labour Conference) और अंतरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference) समेत विभिन्न त्रिपक्षीय मंचों में अलग से प्रतिनिधित्व प्रदान किया है।

अखिल भारतीय नियोक्ता संगठन (AIOE) के सदस्यों की संख्या 160 से कम और भारतीय नियोक्ता संघ (EFI) की 240 से कम है। स्कोप (SCOPE) में केंद्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों की लगभग 95 प्रतिशत सदस्यता है।

21.3.3 सरकार

सरकार तीसरा प्रमुख तत्त्व है जो औद्योगिक संबंधों के क्षेत्र में श्रमिकों के हितों की रक्षा और औद्योगिक शांति सुनिश्चित करने में अत्यंत आवश्यक भूमिका निभाती है। उसने एक विस्तृत विधायी व्यवस्था का निर्माण किया है। भारतीय औद्योगिक संबंधों के स्वरूप निर्धारण में तीन महत्त्वपूर्ण विधेयकों की अहम् भूमिका है। वह अधिनियम है : भारतीय श्रमिक संघ अधिनियम, 1926, औद्योगिक रोज़गार (स्थायी निर्देश) विधेयक, 1946 और औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947।

1926 का श्रमिक संघ अधिनियम संघों को वह बुनियादी न्यूनतम मान्यता प्रदान करता है, जिसके बिना उन्हें गैर-कानूनी करार दिया जा सकता है। इस कानून के अंतर्गत कोई सात

श्रमिक मिलकर श्रमिक संघ का निर्माण कर सकते हैं और श्रमिक संघों के रजिस्ट्रार से पंजीकरण की माँग कर सकते हैं। इस अधिनियम श्रमिक संघों द्वारा छेड़े विवादों से उठे दीवानी और फौजदारी मुकद्दमों में पंजीकृत संघों की रक्षा करता है।

औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 विधि निर्माण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसका उद्देश्य समझौते, मध्यस्थता और अधिनिर्णय के ज़रिए श्रमिक और प्रबंधन के बीच किसी भी संघर्ष का तेज़ी से निपटारा करना है। इस अधिनियम के तहत किसी भी उद्योग में हड़ताल अथवा तालाबंदी की घोषणा से पहले 14 दिनों का नोटिस दिया जाना आवश्यक होता है। इस पर हम भाग 21.5 में विस्तार से विचार करेंगे।

औद्योगिक रोज़गार (स्थायी निर्देश) अधिनियम, 1946 के अंतर्गत एक सौ या अधिक श्रमिकों को काम में लगाने वाली प्रत्येक संस्था के लिए रोज़गार की शर्तों को परिभाषित करने वाले स्थायी निर्देशों की सूची रखना आवश्यक है। यह स्थायी निर्देश श्रमिकों के वर्गीकरण, पालियों, उपस्थिति, अनुशासन, रोज़गार से बर्खास्तगी और शिकायत प्रक्रिया से संबंधित होते हैं। इन सबका यथोचित सीमा तक सरकार द्वारा बनाए गए आदर्श स्थायी निर्देशों के अनुरूप होनी ज़रूरी है। अधिनियम यह सुनिश्चित करता है कि श्रमिकों को दिया गया रोज़गार कुछ न्यूनतम सुविधा के साथ हों।

सरकार ने अनेक कानूनी उपायों से, जिनमें विशेष रूप से विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत औद्योगिक श्रमिकों के काम की परिस्थितियाँ शामिल हैं, श्रमिकों के काम की शर्तों का नियमन भी किया है। उदाहरण के लिए, फैक्टरी अधिनियम, 1948 उन सभी औद्योगिक संस्थाओं में, सेवा और काम की शर्तों को नियमित करता है, जहाँ दस या उससे अधिक श्रमिक काम करते हैं और पावर का उपयोग किया जाता है (अन्य सभी किस्म की औद्योगिक संस्थाएँ जहाँ बीस या अधिक श्रमिक काम करते हैं)। अधिनियम श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा और कल्याण से जुड़ी न्यूनतम सुविधाओं से संबंधित है। इसी प्रकार कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, 1948; बोनस अदायगी अधिनियम, 1965 आदि औद्योगिक संस्थाओं में परिस्थितियों को नियमित करने के कानूनी उपायों के उदाहरण हैं। औद्योगिक विवाद (बैंक और बीमा) अधिनियम, 1949; विभिन्न राज्यों के दुकान और संस्थापन अधिनियम इत्यादि उद्योग विशेष से संबंधित उपायों के उदाहरण हैं।

उपरोक्त के अलावा, असंगठित, श्रमिकों (जो कुल श्रमिकों का 91.5 प्रतिशत हैं) के हितों की रक्षा के लिए बहुत से उपाय किए गए हैं। इनमें शामिल हैं : न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948; बंधुआ मज़दूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम, 1976; बाल मज़दूर निषेध और नियमन अधिनियम, 1986 इत्यादि। न्यूनतम मज़दूरी अधिनियम, 1948 के अंतर्गत राज्य और केंद्र सरकार विभिन्न वर्गों के श्रमिकों के लिए न्यूनतम मज़दूरी की अधिसूचना जारी करते हैं। बागान श्रम अधिनियम, 1951 बागान श्रमिकों को कुछ बुनियादी सुविधाएँ उपलब्ध करवाता है। बंधुआ मज़दूर प्रथा (उन्मूलन) अधिनियम, 1976; बंधुआ मज़दूर प्रथा का उन्मूलन करने और उन मज़दूरों को मुक्त कराने का प्रयास करता है जो बंधक ऋण लेने के कारण बिना मज़दूरी के या नाममात्र की मज़दूरी पर बंधुआ श्रम प्रदान करते हैं। असंगठित श्रमिकों की प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले अन्य उपाय हैं : केरल कृषि श्रमिक अधिनियम, 1974; विभिन्न राज्यों की पेंशन व्यवस्थाएँ। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि 1991 से अपनाई गई नई आर्थिक नीति निगम क्षेत्र के विकास में सहायक हो सके निकट भविष्य में असंगठित श्रमिकों की काम की परिस्थितियों को सुधारने में सरकार की निर्णायक भूमिका आवश्यक हैं।

21.4 भारत में औद्योगिक विवाद

काफी हद तक श्रम और प्रबंधन के हित एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। दैनिक कार्य-कलाप से उभरे कई मामलों पर उनमें आपसी संघर्ष होता है। मजदूरी और काम की परिस्थितियों

के अलावा काम के बँटवारे, काम के तरीके, सुरक्षा, छँटनी निर्णय लेने में भागीदारी और ऐसे ही विषयों को लेकर मतभेद पैदा होते हैं। श्रमिकों की ओर से विरोध और असंतोष कई माध्यमों से व्यक्त किए जाते हैं जैसे कि हड़ताल, बायकॉट, तोड़फोड़, काम में धीमापन, जानबूझकर समय और माल ज़ाया करना, इत्यादि। इसी प्रकार मालिक अपना असंतोष तालाबंदी, अस्थायी छँटनी, निलंबन और बर्खास्तगी के ज़रिए व्यक्त करते हैं।

हालाँकि भारत में दोनों पक्ष (श्रम और प्रबंधन) विवाद निपटाने के लिए उपरोक्त उपायों का सहारा लेते हैं, सामान्य तौर पर संघर्ष को हड़तालों और तालाबंदियों से ही जोड़ा जाता है और संघर्ष के इन्हीं दो रूपों के विषय में आँकड़े उपलब्ध हैं।

21.4.1 औद्योगिक विवाद की प्रवृत्तियाँ

औद्योगिक विवादों में श्रमिकों के शामिल होने और श्रम-दिवसों के नुकसान होने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति देखने में आती है। हड़तालों और तालाबंदियों के कारण श्रम-दिवसों के नुकसान के तौर पर पिछले साढ़े चार दशकों के औद्योगिक विवादों का अध्ययन तीन उप-अवधियों में बाँटकर किया जा सकता है:

अवधि I 1975 तक,

अवधि II 1976–80 तक,

अवधि III 1980–97 तक।

अवधि I (1975 तक) : औद्योगिक विवादों में श्रमिकों के शामिल होने और श्रम-दिवसों के नुकसान की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। श्रम-दिवसों का नुकसान 1951 में 38 लाख से बढ़कर 1961 में 49 लाख, तथा 1971 में 149 लाख हो गया। इस अवधि में औद्योगिक विवादों में हड़तालों की प्रधानता रही। 1961-75 की अवधि में हड़तालों के कारण श्रम-दिवसों का हुआ नुकसान कुल नष्ट श्रम-दिवसों के 60 से 84 प्रतिशत के परिसर में रहा। इसके विपरीत तालाबंदियों का अंश 16 से 40 प्रतिशत के बीच रहा।

यदि हड़तालों या तालाबंदियों की तीव्रता की माप

क) शामिल श्रमिकों की संख्या–

ख) हड़तालों या तालाबंदियों की अवधि–

ग) हड़तालों या तालाबंदियों में नष्ट श्रम-दिवस–

के आधार पर की जाए तो इस अवधि में तालाबंदी की तुलना में हड़तालों की तीव्रता अधिक रही।

आँकड़ों से ज्ञात होता है कि 1961-75 की अवधि में औसतन एक श्रमिक 8.8 दिन हड़ताल में हासिल रहा जबकि इसके विपरीत 28 दिन तालाबंदी में। इस प्रकार 1961-75 के दौरान तालाबंदियों की तीव्रता हड़तालों की उपेक्षा तीन गुना अधिक रही।

अवधि II (1976-80) : 1975 में आपातकाल के साथ ही आंतरिक सुरक्षा रख-रखाव अधिनियम (MISA) और भारत प्रतिरक्षा नियमों (DIR) के लागू हो जाने के कारण औद्योगिक विवाद कम हुए। श्रमिकों के प्रति मालिकों की उग्रता बढ़ गई और तालाबंदियों के कारण नष्ट श्रम-दिनों का प्रतिशत 1974 में 16.4 से बढ़कर 1975 में 23.7 प्रतिशत और 1976 में 78 प्रतिशत हो गया जबकि हड़तालों के कारण श्रम-दिवसों के नुकसान का

अनुपात 1974 में 83.6 प्रतिशत, 1975 में 76.3 प्रतिशत और 1976 में 22 प्रतिशत रहा।

1977 और 1979 के बीच जनता दल शासन के दौरान स्थिति बदल गई। तुलनात्मक तौर पर कुल नष्ट श्रम-दिवसों के 82 प्रतिशत का हड़तालों के कारण नुकसान हुआ जबकि तालाबंदियों के कारण मात्र 18 प्रतिशत रहा।

अवधि III (1980-97) : 1980 से, विशेष रूप से 1984-85 के बाद, औद्योगिक विवादों के स्वरूप में परिवर्तन स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। अब हड़ताल की बजाय तालाबंदी अपना प्रमुख स्थान बना रही है।

1991 के आर्थिक सुधार के बाद भारतीय औद्योगिक विकास में निजी क्षेत्रकों को प्राथमिकता दी गई। निजी क्षेत्रक में अधिक संवृद्धि तथा उत्पादिता के लिए कई तरह की प्रोत्साहन दिया गया है। इस दौरान श्रम दिवसों के नुकसान में तालाबंदी का हिस्सा बढ़ने लगा और 1993 में यह 72.3 प्रतिशत तक जा पहुँचा। दूसरी ओर, हड़ताल का प्रतिशत घटने लगा और 1992 की 48.4 प्रतिशत से 1993 में 27.7 प्रतिशत रह गया। 1997 में यह थोड़ा-सा बढ़कर 33.7 प्रतिशत पहुँच गया।

आर्थिक सुधार के 7 वर्षों के दौरान श्रम-दिवसों के नुकसान में हड़ताल का हिस्सा 39 प्रतिशत था जबकि तालाबंदी का हिस्सा 61 प्रतिशत। इससे पता चलता है कि आर्थिक सुधारों के दौरान श्रमिकों को अपनी माँग मनवाने की पहले मिल रही सुविधा में कमी आ गई।

तालिका 21.1 : हड़तालों और तालाबंदियों में शामिल श्रमिकों और नष्ट श्रम-दिवसों की तुलना

वर्ष	विवादों की संख्या			शामिल श्रमिकों की संख्या (000) में		
	हड़ताल	तालाबंदी	कुल	हड़ताल	तालाबंदी	कुल
1961–75	32304 (100.0)	3910 (89.2)	36214 (10.8)	19620 (100.0)	2274 (89.6)	21984 (10.4)
1976–90	25324 (100.0)	5188 (83.0)	30512 (17.0)	18626 (100.0)	3144 (85.6)	21770 (14.4)
1991–97	5769 (100.0)	3184 (64.44)	8953 (35.56)	27856 (100.0)	14773 (65.34)	42629 (34.66)

स्रोत : i) 1976-90 तक– तालाबंदी, बंदी और सरकार की भूमिका, प्रोफेसर रुद्र दत्त।

ii) 1991-97 के आँकड़े श्रम मंत्रालय की वार्षिक रिपोर्ट, 1997-98 से संकलित किए गए हैं।

21.4.2 सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में औद्योगिक संबंध

i) औद्योगिक विवादों में शामिल श्रमिकों का अनुपात

1973 के बाद दोनों सार्वजनिक और निजी क्षेत्रों में औद्योगिक विवादों में शामिल की कुल संख्या में गिरावट की प्रवृत्ति देखने में आई है। 1978 से 1986 के बीच औद्योगिक विवादों में शामिल श्रमिकों का अनुपात निजी क्षेत्र की उपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में काफी कम था (1983 को छोड़कर, जब श्रमिकों का अनुपात सार्वजनिक क्षेत्र में थोड़ा अधिक था)। 1986 के बाद यह प्रवृत्ति उलट गई और सार्वजनिक क्षेत्र में औद्योगिक विवादों में शामिल श्रमिकों

का अनुपात निजी क्षेत्र से बहुत ऊँचा रहा।

ii) **नष्ट श्रम-दिवसों और विवाद में शामिल श्रमिकों की संख्या**

1973 से नष्ट श्रम-दिवसों की संख्या के मामले में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा निजी क्षेत्र की अपेक्षा लगातार कम रहा है। 1995 में यह सार्वजनिक क्षेत्र के लिए करीब 25% था जबकि निजी क्षेत्र में यह अनुपात 75% था।

यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र में नष्ट श्रम-दिवसों की संख्या निजी क्षेत्र की उपेक्षा बहुत कम थी, फिर भी सार्वजनिक क्षेत्र में विवाद में शामिल औसतन श्रमिकों की संख्या निजी क्षेत्र से ज़्यादा रही। सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में बड़े कार्यकलापों जैसे– बीमा, रेल, डाक और तार विभाग की व्यवस्था होने के कारण इन प्रतिष्ठानों में लगी श्रम शक्ति का आकार भी बहुत बड़ा है। अतः हड़तालों से बड़ी संख्या में श्रमिक प्रभावित होते हैं।

iii) **नष्ट श्रम-दिवसों की संख्या**

सार्वजनिक क्षेत्र में प्रति श्रमिक औसतन नष्ट श्रम-दिवसों की संख्या निजी क्षेत्र की अपेक्षा बहुत कम रही है। विवाद को सुलझाने में सार्वजनिक क्षेत्र में निजी क्षेत्र के मुकाबले कम समय की आवश्यकता होती है। इसका कारण निजी क्षेत्र के रवैये और सोच में भिन्नता है। निजी क्षेत्र के उद्योगपतियों को लगता है मज़दूरी, बोनस अथवा परिलब्धियों में किसी भी वृद्धि का उनके लाभ पर सीधा प्रभाव पड़ेगा। इसमें समझौते की बातचीत लम्बी हो जाती हैं। इसके विपरीत सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के श्रमिकों की माँगें स्वीकार कर लेती हैं क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र में ढाँचागत क्षेत्र के उद्योग शामिल होने के कारण हड़ताल के ज़ारी रहने से अर्थव्यवस्था के बड़े खंडों पर प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि निजी क्षेत्र में विवादों की संख्या अधिक होती है। निजी क्षेत्र में उत्पन्न विवादों में नष्ट श्रम-दिवसों और विवाद में शामिल श्रमिकों की औसत संख्या से हमें पता चलता है कि निजी क्षेत्र में उत्पन्न विवादों की तीव्रता अधिक है। समझौते की व्यवस्था निजी क्षेत्र की अपेक्षा सार्वजनिक क्षेत्र में कहीं ज्यादा काम करने लगती है।

बोध प्रश्न 2

1) श्रमिक महासंघ (यूनियन) और मालिकों के संघ के तीन-तीन उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) भारत में श्रमिक संघों की तीन कमज़ोरियाँ बताइए।

.....

.....

.....

.....

3) 1975 तक की अवधि और 1980-97 के बीच औद्योगिक विवादों के स्वरूप में क्या भिन्नता आई है?

.....

.....

.....

.....

.....

4) सही कथन पर निशान लगाइए।

तालाबंदी के कारण औद्योगिक विवादों का बढ़ता हिस्सा दिखाता है :

1) मालिकों की उग्रता

2) श्रमिकों की उग्रता

3) सरकार की उग्रता

21.5 औद्योगिक विवादों का निपटारा

औद्योगिक विवादों को निपटाने के दो अंग हैं :

i) निवारण, और

ii) समझौता।

MADHYAM IAS

विवादों के निवारण के अंतर्गत ऐसी व्यवस्था की जाती है कि मतभेद हड़ताल या तालाबंदी का रूप धारण न करें। समझौते के अंतर्गत प्रबंधन और श्रमिकों के बीच विवादों को निपटाने की व्यवस्था की जाती है।

21.5.1 विवादों का निवारण

विवादों के निपटाने और सद्भावनापूर्ण औद्योगिक संबंधों के लिए तीन स्तरों पर परामर्श व्यवस्था प्रदान की गई है : राष्ट्रीय स्तर और उद्यम स्तर।

क) **त्रिपक्षीय परामर्श :** सर्वोच्च श्रेणी पर भारतीय श्रम सम्मेलन (ILC) और स्थायी श्रम सम्मेलन (SLC) के ज़रिए त्रिपक्षीय परामर्श की व्यवस्था की गई है। राष्ट्रीय स्तर पर 44 त्रिपक्षीय समितियाँ हैं। इन त्रिपक्षीय समितियों के उद्देश्य हैं :

- श्रम कानूनों में एकरूपता को बढ़ावा देना
- औद्योगिक विवादों को निपटाने की प्रक्रिया निर्धारित करना
- मालिकों और कर्मियों के बीच अखिल भारतीय महत्त्व के सभी मामलों पर विचार-विमर्श करना।

त्रिपक्षीय निकायों की सिफारिशों के कार्यान्वयन के क्षेत्र में कमज़ोरी पाई गई है। 1970 के दशक के आते ही त्रिपक्षीय बैठकें दुर्लभ हो गईं। 1980 के दशक में अनेक अवसरों पर श्रमिक यूनियनों के अनेक महासंघ त्रिपक्षीय बैठकों का बहिष्कार करने लगे।

ख) **कम्पनी और प्लांट स्तर पर परामर्श :** स्वतंत्रता के बाद से कम्पनी और प्लांट स्तर पर श्रमिकों की भागीदारी परामर्श प्रदान करने के लिए कई स्कीमों का सूत्रपात किया गया। इनमें शामिल हैं :

i) **कार्य समितियाँ,** 1947 : औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 के अंतर्गत द्विपक्षीय कार्य समितियों में श्रमिकों के निर्वाचित प्रतिनिधियों के भागीदारी की सीमित व्यवस्था है। कार्य समितियों के गठन का उद्देश्य मालिकों और श्रमिकों के बीच मैत्री और अच्छे संबंधों को सुनिश्चित करने और बनाए रखने के उपायों को बढ़ावा देना है। परंतु इन समितियों का कामकाज़ संतोषजनक नहीं रहा है।

ii) **संयुक्त प्रबंधन परिषद् (JMC) 1958 :** संयुक्त परिषदों की स्थापना 1958 में की गई। इनसे कल्याण, सुरक्षा, व्यावसायिक प्रशिक्षण और छुट्टियों की सूचियाँ बनाना जैसे विभिन्न विषयों पर प्रशासनिक उत्तरदायित्व निभाने की आशा की गई थी। कार्य प्रणालियों में परिवर्तन, विभिन्न स्थायी निर्देशों का सूत्रपात संशोधन, पुनर्गठन, उत्पादिता आदि विभिन्न विषयों पर इनसे परामर्श भी किया जाता था। बहुपक्षीय परामर्श निकायों की बहुलता के कारण संयुक्त प्रबंधन परिषदों को न तो श्रमिक संघों का अधिक समर्थन मिला और न ही प्रबंधन का।

21.5.2 विवादों का निपटारा प्रणाली

श्रम प्रबंधन विवाद को सुलझाने के कई प्रावधान हैं :

1) समझौता अधिकारी

सरकार विशिष्ट क्षेत्रों और उद्योगों के लिए समझौता अधिकारियों को नियुक्त करती हैं। यह अधिकारी दोनों पक्षों को मिलाकर मतभेदों को निपटाने में उनकी सहायता करते हैं। यदि उनके प्रयासों से विवाद निपट जाता है और समझौता हो जाता है तो इस आशय की रिपोर्ट सरकार को भेज दी जाती है। विवाद को निपटाने में असफल होने की स्थिति में अधिकारी सरकार को उसके द्वारा किए गए उपायों और असफलता के कारणों की जानकारी देता है।

2) समझौता बोर्ड

सरकार अपने ही द्वारा प्रेषित किसी भी औद्योगिक विवाद की जाँच के लिए समझौता बोर्ड नियुक्त कर सकती है। बोर्ड में एक अध्यक्ष और मालिकों तथा श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने वाले दो अथवा चार व्यक्ति शामिल होते हैं। अध्यक्ष एक स्वतंत्र व्यक्ति होता है। बोर्ड सरकार को समाधान के लिए किए गए उपायों और समझौता कराने में अपनी असफलता समेत अपने प्रयासों की सफलता या असफलता की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है।

3) जाँच अदालत

यदि समझौता अधिकारी और समझौता बोर्ड औद्योगिक विवाद को नहीं निपटा पाते हैं तो मामले को जाँच अदालत भेज दिया जाता है। अदालत पूरे प्रकरण की जाँच करता है और सरकार के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। बाद में मामले को अधिनिर्णय के लिए औद्योगिक ट्रिब्यूनल भेज दिया जाता है।

4) श्रम अदालतें

मालिकों के विवादास्पद निर्देशों, प्रबंधन द्वारा श्रमिकों की बर्खास्तगी और निलंबन, हड़तालों

और तालाबंदियों की कानूनी वैधता आदि विषयों पर विचार करने के लिए राज्य सरकारों ने श्रम अदालतों का गठन किया है। श्रम अदालतों से मामले पर शीघ्रता से निर्णय देने की अपेक्षा की जाती है।

5) औद्योगिक ट्रिब्यूनल

औद्योगिक ट्रिब्यूनल दो प्रकार के होते हैं : राज्य ट्रिब्यूनल और राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल। राज्य ट्रिब्यूनलों की नियुक्ति राज्य सरकारों द्वारा मज़दूरी, बोनस आदि से जुड़े विवादों पर अधिनिर्णय के लिए की जाती है। राष्ट्रीय ट्रिब्यूनलों की नियुक्ति केंद्र सरकार द्वारा राष्ट्रीय महत्त्व के ऐसे औद्योगिक विवादों में अधिनिर्णय के लिए की जाती है जिनका प्रभाव एक से अधिक राज्यों में स्थित औद्योगिक संस्थाओं पर पड़ता है। राज्य और राष्ट्रीय ट्रिब्यूनलों का अधिनिर्णय संबंधित पक्षों के लिए अनिवार्य होता है।

विवादों को निपटाने की उपरोक्त प्रणालियों के अलावा हाल के वर्षों में निम्नलिखित प्रक्रियाएँ आम हो गई हैं:

1) **अनुशासन संहिता :** 1958 में भारतीय श्रम सम्मेलन ने उद्योगों के लिए एक अनुशासन संहिता विकसित की। इस संहिता के अंतर्गत मालिक और श्रमिक स्वैच्छिक रूप से कारखाने में आपसी विश्वास और सहकारिता का माहौल बनाए रखने और सभी विवाद और शिकायतें आपसी बातचीत, समझौते और स्वैच्छिक अधिनिर्णय से तय करने और अप्रत्यक्ष कार्यवाही न करने पर राज़ी हुए।

2) **औद्योगिक संधि :** मालिकों और श्रमिकों के संगठन की संयुक्त बैठक ने नवंबर 1962 में एक औद्योगिक संधि प्रस्ताव को पारित किया। मालिकों और श्रमिकों के बीच इस बात पर सहमति हुई कि देश में आपातकाल के दौरान उत्पादन के अधिकतम स्तर को प्राप्त करने के प्रयास किए जाएँगे। 1988-92 की अवधि के दौरान 19,744 औद्योगिक विवादों में से 8,478 (42.5%) का आपसी समझौते से समाधान किया गया और 3501 (31%) का अधिनिर्णय और मध्यस्थता के ज़रिए सरकारी हस्तक्षेप के द्वारा निपटारा किया गया। लगभग 22% विवादों को अधिनिर्णय के अयोग्य पाया गया।

3) **राष्ट्रीय मध्यस्थता संवर्द्धन मंडल :** सरकार ने इस मंडल का औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए व स्वैच्छिक मध्यस्थता को बढ़ावा देने के लिए जुलाई, 1967 में गठन किया। मंडल इस बात का सुनिश्चित करने का प्रयास करता है कि मालिक और श्रमिक औद्योगिक विवादों के निपटाने में स्वैच्छिक प्रस्तावों का अधिक सहारा लें।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित विकल्पों में सही उत्तर का चयन कीजिए :

   क) भारत में औद्योगिक संबंधों में सरकार की भूमिका का स्वरूप रहा है :
   1) नियमनकारी
   2) समर्थनकारी
   3) उदासीन

2) त्रिपक्षीय परामर्श का मुख्य उद्देश्य क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में श्रम-प्रबंधन विवादों को निपटाने की प्रणाली के प्रमुख अंग क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

21.6 सामूहिक समझौता

सामूहिक समझौता वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मालिक (या मालिकों) और श्रमिकों का एक दल काम की शर्तों पर राज़ी होते हैं। यह संयुक्त रूप से निर्णय लेने की प्रक्रिया है और मोटे तौर पर उद्योग के कामकाज़ में लोकतांत्रिक पहलू का चित्रण करती हैं। यह उत्पादन के कार्यकलापों में रुकावट के बिना औद्योगिक शांति की स्थापना में सहायता करती हैं।

सामूहिक समझौते की सफलता के लिए निम्नलिखित शर्तें ज़रूरी हैं :

- शक्तिशाली लोकतांत्रिक संघ
- श्रमिक संघों को मालिकों की मान्यता
- समझौते में ईमानदारी
- मालिकों और श्रमिकों के बीच समझौते को आपसी मान्यता

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

स्तर

उद्योग स्तर : उद्योग स्तर पर समझौता सामान्य रूप से मूल उद्योगों में देखा जाता है जो सार्वजनिक क्षेत्र में केंद्रित है। इनमें कोयला, इस्पात, बैंक, बीमा, बंदरगाह आदि क्षेत्र शामिल हैं।

उद्योग तथा क्षेत्र स्तर : इस स्तर पर समझौता उन उद्योगों में पाए जाते हैं जहाँ निजी क्षेत्र की प्रधानता है। इनमें कपड़ा, बागान और इंजीनियरिंग क्षेत्र शामिल हैं।

प्लांट स्तर : बहुप्लांटों में समझौता दो चरणों में होता है। मूल मज़दूरी दरों और कुछ सुविधाओं पर कम्पनी स्तर पर निर्णय लिया जाता है। कुछ भत्तों और प्रलोभनों के बारे में प्लांट स्तर पर बातचीत की जाती है। साधारणतः देशव्यापी समझौतों का प्लांट स्तर के समझौतों से अनपूरण किया जाता है।

विषय : मज़दूरी और काम की शर्तें सामूहिक समझौतों के कार्यक्षेत्र में आती रही हैं। परंतु पिछले कुछ वर्षों में भर्ती से लेकर सेवानिवृत्ति तक और उसके उपरांत के भत्ते भी समझौतों का अंग बन गए हैं।

अवधि : 1920 के दशक के मध्य तक मज़दूरी समझौते तीन वर्ष के लिए होते थे। 1990 के दशक में सरकार ने इनकी अवधि पाँच वर्ष निर्धारित की है।

21.6.1 भारत में सामूहिक समझौते की स्थिति

भारत में सामूहिक समझौते के क्षेत्र में श्रमिक संघों और नियोक्ता संघों के राष्ट्रीय महासंघों की भूमिका अहमदाबाद मिल मालिक संघ, बम्बई मिल मालिक संघ, भारतीय चीनी मिल संघ जैसी छोटी संस्थाओं तक ही सीमित रही हैं। कुछ औद्योगिक केंद्रों में श्रमिक संघों और मालिकों दोनों ने ही सामूहिक समझौते से जुड़े मामलों में सामूहिक रणनीति अपनाने के लिए समन्वय समितियों का गठन किया है।

बहुप्लांट कम्पनियों में यूनियनों की संख्या अधिक होने के कारण समझौते का स्वरूप सामूहिक होने के बजाय जबरन हो गया है। सार्वजनिक क्षेत्र में स्वरूपता के नाम पर समझौते प्रतियोगी हो गए हैं।

हाल के वर्षों में आर्थिक संकट और उत्पादकता के स्तर में सुधार की आवश्यकता के कारण सामूहिक समझौते में अनेक नवीन प्रस्ताव देखने में आए हैं। उदाहरण के तौर पर, रुग्ण फर्मों (sick firms) को बचाने और रोज़गार की सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए यूनियन और प्रबंधन मज़दूरी और रोज़गार में कटौती, मज़दूरी की अपरिवर्तनशीलता, हड़ताल और श्रमिक संघों की अन्य कार्यवाहियों का एक अवधि तक स्थगन, कार्य प्रणाली में परिवर्तन, कार्य शक्ति की तैनात करने में लोचशीलता जैसी विभिन्न रियायतों पर राज़ी होने लगे हैं। इस दौर में कुछ संघ अपने मालिकों से अनेक वर्षों तक अनियमित रहे मज़दूरों की सेवाएँ नियमित करने का आश्वासन प्राप्त करने में भी सफल रहे हैं। फर्म एक या अनेक रणनीतियाँ अपनाकर संघों को शामिल किए बिना पुनर्गठन (restructuring) करने लगे हैं। कई फर्म पुनर्गठन की नीचे दी गई किस्मों के समझौते करने लगे हैं :

1) किसी काम को समझौते की श्रेणी से स्थानान्तरित कर सामान्य श्रेणी में डालना,
2) भर्ती पर पाबंदी,
3) उत्पादन का शिकमी (sub-contract) ठेके की इकाइयों को अंतरण,
4) समानांतर उत्पादन शुरू करना,
5) स्थायी पदों को ठेके, अनियत और अस्थायी किस्म के श्रमिकों में बदलना,
6) स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति स्कीमों को शुरू करना,
7) लोचशीलता और उत्पादिता,
8) स्वचालित यंत्रों का प्रयोग,
9) आय संशोधन के विचार-विमर्शों में प्रबंधन के प्रस्ताव,
10) व्यवसाय की बिक्री,
11) प्लांट स्तर पर पुनर्गठन।

सामूहिक समझौते में असाधारण और अपरंपरागत शर्तों को शामिल किया जाता है। इन शर्तों में शामिल है : आयु भेद, आश्रितों की परिभाषा में लिंग भेद, मँहगाई भत्तों को उत्पादिता से जोड़ना, ठेके के श्रमिकों के लिए स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति की स्कीमें, शिकमी ठेके, दो श्रेणियों की मज़दूरी प्रणालियाँ, आदि।

21.7 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी

व्यापक तौर पर प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का अभिप्राय उस प्रक्रिया से हैं जिसके द्वारा श्रमिक ऐसे निर्णयों को लेने या प्रभावित करने का अधिकार रखते हैं जिनका उनपर या

उनके काम करने के संगठन पर असर पड़ता हो।

21.7.1 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी के उद्देश्य

मोटे तौर पर मूल उद्देश्य हैं :

1) संगठन के प्रत्येक श्रमिक को उसके सफल संचालन में अधिकतम योगदान करने के लिए प्रेरित करना और उसे महसूस कराना कि वह संगठन का ही अंग है।
2) दोनों पक्षों की मनोवृत्ति में सघर्ष के बजाय सहयोग के प्रति परिवर्तन लाना।
3) एक-दूसरे की कमज़ोरियों के बजाय ताकत के साथ काम करने की प्रणाली का विकास करना।

21.7.2 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी की सफलता की पूर्वापेक्षाएँ

- प्रबंधन और श्रमिकों के बीच आपसी विश्वास और सहकारिता
- उचित औद्योगिक वातावरण
- शोषण/स्वार्थ की अनुपस्थिति
- लगावट की भावना
- दोनों ओर मुक्त संचार तथा सूचना आदान-प्रदान
- मनोवृत्ति में परिवर्तन
- चुनौतियों/बदलते वातावरण के साथ बदलने की इच्छा शक्ति

MAADHYAM IAS

21.7.3 भारत में प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी

श्रमिकों की प्रबंधन के बारे में सबसे पहले गाँधी जी ने कल्पना की जब उन्होंने कहा कि उद्योग श्रम और पूँजी का संयुक्त प्रयास है जिससे मालिक और श्रमिक दोनों ही समाज के सहन्यासी (co-trustees) हैं। औपचारिक तौर पर श्रमिकों की प्रबंधन में भागीदारी के विचार को पहली बार उस समय स्वीकार किया गया जब दूसरी पंचवर्षीय योजना में इसकी जरूरत को पहचाना गया। तीसरी योजना में प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी के उत्तरोत्तर विस्तार को सर्मथन दिया गया। चौथी योजना ने सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों में इनके फैलाव की हिमायत की और औद्योगिक संबंधों के ढाँचे के अनिवार्य क्रियात्मक कड़ी के रूप में इसके महत्त्व पर बल दिया।

भारतीय श्रम सम्मेलन की 1957 और 1990 की क्रमशः 15वीं और 20वीं बैठक ऐतिहासिक हैं जिनमें ऐसी नई व्यवस्था को खोजने की आवश्यकता पर बल दिया जो सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत स्वत्रंता की माँग और आधुनिक औद्योगिक विकास व प्रौद्योगिकी के बीच सामंजस्य पर आधारित हो। प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी इसी दिशा में एक कदम था।

21.7.4 प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी की व्यवस्था

प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी को आपसी समझौतों, वैधानिक और गैर-वैधानिक समितियों, परिषदों और शेयरों में भागीदारी के ज़रिए कार्यान्वित किया जाता है।

i) **आपसी समझौते** : मालिकों और श्रमिक संघों के बीच मज़दूरी, वेतनमान, भर्ती नीति, तरक्की नीति, रिटायरमेंट नीति, रिटायरमेंट लाभ जैसी सेवा शर्तों पर आपसी समझौते किए जाते हैं।

ii) **वैधानिक समितियाँ** : विभिन्न अधिनियमों के अंतर्गत अलग-अलग कार्यों के लिए समितियों के गठन का प्रावधान किया गया है। इन समितियों के नाम और इनके गठन से संबंधित अधिनियम निम्नलिखित हैं :

क) **कार्य समिति** : औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के तहत

ख) **कैंटीन समिति** : कारखाना अधिनियम 1948 के तहत

ग) **सुरक्षा समिति** : कारखाना अधिनियम 1948 के तहत

घ) **ई.पी.एफ. स्कीम में न्यासी** : कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम 1948 के तहत

ङ) **अनुशासन सुधार समिति** : औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के तहत

iii) **गैर-वैधानिक समितियाँ** : कुछ संगठन अपनी नीतिगत निर्णय निर्धारण समितियों में श्रमिकों के कुछ प्रतिनिधियों को भी शामिल कर लेते हैं। श्रमिकों को निम्नलिखित स्तरों पर नामांकित किया जाता है :

क) बोर्ड स्तर

ख) संयुक्त प्रबंधन परिषद्

ग) प्लांट परिषद्

घ) दुकान परिषद्

iv) **ऐच्छिक :**

क) अंशधारी (शेयरों में भागेदारी)

ख) मनोरंजनात्मक कार्यकलाप

MADHYAM IAS

इन सब प्रयासों के बावजूद प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का देश में औद्योगिक संबंधों पर विशेष असर नहीं पड़ा है। प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी के कमज़ोर कार्यान्वयन के मूल कारण हैं :

- यूनियन के भीतर तथा विभिन्न यूनियनों के बीच प्रतिस्पर्द्धा और श्रमिक यूनियन के अधिकारों और उत्तरदायित्वों का उल्लंघन
- सूचना के मुक्त प्रवाह का अभाव
- उचित कार्य संस्कृति के विकास के लिए पहल का अभाव
- भारत में प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी स्कीम की गंभीर कमज़ोरी यह है कि इसे सरकारी तौर पर उत्प्रेरित और प्रायोजित किया गया। ऐसी स्कीमों के लिए न तो श्रमिक यूनियनों की ओर से दबाव था न ही प्रबंधन ने कभी कोई पहल की।

21.8 आर्थिक सुधार और औद्योगिक संबंधों में कठिनाइयाँ

श्रम बाज़ार में सुधार सम्पूर्ण आर्थिक सुधारों के पैकेज़ का एक अंग है। अतः बाज़ार को लोचशील बनाने की माँग की जा रही है ताकि वह बाज़ार के संकेतों पर अधिक कुशलता से प्रतिक्रिया व्यक्त करे। न्यूज़ीलैंड और आस्ट्रेलिया जैसे कुछ देशों ने श्रम बाज़ार में इसी

तरह के सुधारों की शुरुआत की है। इन देशों को बेरोज़गारी के भारी बोझ, वास्तविक मज़दूरी में गिरावट और प्रतिकूल भुगतान-शेष (Balance of Payment) का सामना करना पड़ रहा है। इसके अलावा अभी भी स्पष्ट नहीं है कि इन परिवर्तनों के फलस्वरूप इन अर्थव्यवस्थाओं के निष्पादन में सुधार हुआ है कि नहीं।

1) श्रम बाज़ार में लोचशीलता से रोज़गार कम होता है, रोज़गार के किस्म में गिरावट आती है और ऊँचे पैमाने के उद्योगों को श्रम लागत को कम करने के लिए अपने उत्पादन का एक हिस्सा छोटे उद्योगों को शिकमी ठेके पर देने का प्रोत्साहन मिलता है। इन सभी के कारण श्रमिक संघ कमज़ोर होते हैं, श्रमिकों के शोषण की गुंजाइश बढ़ती है और इस प्रकार औद्योगिक संबंधों को भारी चोट पहुँचती है। अतः श्रम बाज़ार में ऐसी लोचशीलता लाना जिससे उत्पादक रोज़गार बढ़े, रोज़गार की किस्म में सुधार हो और शोषण से बचा जा सके अपने आप में एक कठिन काम है।

2) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को आकर्षित करने के लिए औद्योगिक संबंधों की पद्धति में परिवर्तनों की माँग की जा रही है। इस संदर्भ में, कुछ देशों में निर्यात संसाधन क्षेत्रों का गठन किया गया है जो व्यापार नियंत्रणों से मुक्त होते हैं। इन देशों में मज़दूर संघों को प्रतिबंधित कर दिया जाता है और मज़दूरी का स्तर निम्न है। सुरक्षा संबंधी बचाव और छुट्टियाँ या तो लागू ही नहीं होती या फिर इन पर ध्यान नहीं दिया जाता है। चीन में स्थापित विदेशी उद्यमों में श्रमिकों की दशा के अध्ययन से पता लगता है कि श्रमिकों को मज़दूरी की अदायगी में स्थगन, काम के घंटों में विस्तार, व्यावसायिक सुरक्षा और स्वरूप का निम्न स्तर और सामाजिक सुरक्षा के लाभों के गैर-अदायगी जैसी गम्भीर समस्याओं का सामना करना पड़ा है। फलस्वरूप, यूनियनों के श्रम विवाद और हड़ताल अकसर देखने में आए हैं। श्रमिकों के काम और निर्वाह की परिस्थितियों को कमज़ोर बनाए बिना श्रम कानूनों में विदेशी मुद्रा के प्रवाह को आकर्षित करने के लिए सुधार करना वास्तव में कठिन है।

MAADHYAM IAS

3) नियोक्ताओं की ओर से औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अध्याय V-B को हटाने या संशोधन करने की निरंतर माँग रही है। इस अध्याय के अंतर्गत ऐसे प्रतिष्ठानों को, जिनमें पिछले बारह महीनों में प्रतिदिन 100 से अधिक श्रमिक काम पर लगे हों सरकार की पूर्व अनुमति के बिना अस्थायी छँटनी, स्थायी छँटनी और काम बंद करने की इजाज़त नहीं है। यहाँ यह याद रहे हड़ताल (श्रमिक संघों द्वारा) और तालाबंदी (मालिकों द्वारा) औद्योगिक विवाद के दो अंग हैं। आकार और तीव्रता दोनों में ही तालाबंदी श्रमिक वर्ग पर अधिक कठोर दंड आरोपित करती है क्योंकि 1961-75 के दौरान तालाबंदी की वज़ह से प्रति विवाद 16,273 श्रम-दिवसों की हानि हुई। 1976-90 में यह हानि तेज़ी से बढ़कर प्रति विवाद 30,136 श्रम-दिवस हो गई। यह 80 के दशक और बाद के वर्षों में श्रमिकों के विरुद्ध प्रबंधन की बढ़ती उग्रता का सूचक है। छँटनी, स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति, साधारण श्रमिकों का दर्जा घटाकर बदली करना, मज़दूरी में कटौती आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रबंधन ने आंशिक बंदी, छँटनी/स्वैच्छिक सेवा-निवृत्ति स्कीमों, तालाबंदी, शिकमी ठेके, मालिकाना हक का हस्तांतरण जैसे तरह-तरह के हथकंडे अपनाते हैं।

उपरोक्त तथ्यों के मद्देनज़र सन् 2001-02 के बजट प्रस्ताव में औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अध्याय V-B में शामिल प्रावधानों का संशोधन करने का सुझाव रखा गया है ताकि श्रम के विनयोग में लचीलापन लाया जा सके। वर्तमान अधिनियम के अनुसार 100 श्रमिकों से ज़्यादा काम करने वाली औद्योगिक इकाइयों में श्रमिकों की छँटाई करने के लिए सरकार से अनुमति लेना ज़रूरी है। बजट 2001-02 में यह प्रस्ताव

रखा गया है कि उपरोक्त नियम को 1000 श्रमिकों से ज्यादा नियुक्ति वाली इकाइयों में लागू किया जाए।

4) हाल में पश्चिमी देश विश्व व्यापार संगठन (WTO) के माध्यम से विकासशील देशों पर सामाजिक धारा (social clause) लागू करने के प्रयास कर रहे हैं। सामाजिक धारा के तहत वह ऐसे अंतरराष्ट्रीय व्यापार समझौतों पर ज़ोर दे रहें हैं जिनमें आयात को श्रम मानकों से अनुरूपता के साथ जोड़ा गया है। श्रम मानकों में शामिल बाते हैं– बाल श्रमिकों को काम पर न लगाना, न्यूनतम मज़दूरी का अनुपालन, समान अवसर, पर्यावरण, सुरक्षा आदि। श्रमिक संघ इन सामाजिक धाराओं का विरोध कर रहे हैं क्योंकि उन्हें भय है कि इन्हें व्यापारिक कार्य-कलापों में संरक्षण के लिए और विश्व राजनीति में राजनैतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाएगा। यदि सामाजिक धारा को स्वीकार कर लिया गया तो इससे औद्योगिक संबंधों का भविष्य अत्यंत अनिश्चित हो जाएगा।

   संक्षिप्त में, नीति निर्धारकों के सामने वास्तविक चुनौती और कठिन कार्य है निम्नलिखित युग्म उद्देश्यों के बीच कैसी सामंजस्य स्थापित किया जाए। (i) उद्यम के प्रतियोगी दबावों के तहत उत्पादिता और सम्पूर्ण कुशलता का बढ़ाना, (ii) श्रमिकों के मूल अधिकारों को सुनिश्चित करना।

5) श्रमिक संघों का कमज़ोर पड़ना : स्थायी श्रम के स्थान पर अस्थायी, आकस्मिक, ठेका श्रमिकों और महिलाओं की नियुक्ति बढ़ाने से श्रमिकों में सुरक्षा पैदा होती है। इन परिस्थितियों में श्रमिक बँट जाते हैं और श्रमिक संघ कमज़ोर होते हैं।

6) सार्वजनिक क्षेत्र निजीकरण को भी संगठित श्रमिक आंदोलन को तोड़ने के हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है। निजीकरण के फलस्वरूप यदि रोज़गार में असुरक्षा उत्पन्न हो तो यूनियन की गतिविधियों में सक्रिय भाग लेने से कतरायेंगे। इसी प्रकार निजीकरण से स्थायी कर्मियों और ठेके पर काम कर रहे लोगों के बीच विभाजन हो जाएगा। अतः श्रमिक आंदोलनों का कमज़ोर पड़ना निजीकरण कार्यक्रम की कोई आश्चर्यजनक विशेषता नहीं होगी।

7) शुल्क देने में अवकाश, ब्याज में रियायत, सब्सिडी और पंजीकरण से मुक्ति जैसे सुविधाओं का लाभ उठाने के लिए निजी क्षेत्र की कंपनियाँ अपनी उत्पादन इकाइयों का पिछड़े हुए क्षेत्रों में पुनर्स्थापन कर रही हैं। इन इकाइयों में रोज़गार शुदा श्रमिक अनियमित, अस्थायी, गैर-श्रम संघबद्ध और ठेके पर लगे हैं। इनका औद्योगिक संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा हैं।

8) श्रम-किफायती (labour-saving) प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप एक ही इकाई में एक ही काम के लिए मुआवज़ा ढाँचे से विकृति पैदा हो गई है। श्रमिकों के राष्ट्रीय महासंघ ठेके पर लगे और अनियमित श्रमिकों के मामले उठाने में रुचि नहीं लेते हैं। इससे श्रमिक आंदोलन में बिखराव हुआ है और संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है।

बोध प्रश्न 4

1) सामूहिक समझौते की सफलता की क्या पूर्वापेक्षाएँ हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) श्रमिकों की प्रबंधन में भागीदारी की स्कीम में क्या प्रमुख रुकावटें रही हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) आर्थिक सुधार और विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ने के संदर्भ में औद्योगिक संबंधों के परस्पर विरोधी क्षेत्र कौन से हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

21.9 सारांश

सामान्यतः औद्योगिक संबंधों से अभिप्राय उन संबंधों से है जो रोज़मर्रा के काम तथा श्रम और प्रबंधन के बीच संपर्क के दौरान उत्पन होते हैं। पेशेवर प्रबंधन के विकास तथा उत्पादन व सूचना प्रौद्योगिकी में तरक्की के साथ औद्योगिक संबंधों के क्षेत्र में विस्तार हुआ है। औद्योगिक संबंधों में तीन प्रधान अंग हैं— श्रमिक संघ, मालिकों के संघ और सरकार। भारत में 1975 तक (आपात् स्थिति लागू होने से पूर्व) हड़ताल औद्योगिक विवादों की प्रमुखता रही। आपात् स्थिति की अवधि (1976-79) के दौरान मालिकों की उग्रता में तेज़ी आई और तालाबंदी के कारण श्रम-दिवसों की हानि में तीव्र वृद्धि हुई। 1980 से, विशेषकर 1985-86 के बाद आकार और तीव्रता दोनों ही में तालाबंदी ने श्रमिक वर्ग को अधिक सख्ती से दंडित किया। औद्योगिक विवादों में श्रम-दिवसों की हानि और श्रमिक के शामिल होने के औसत दिवसों के तौर पर निजी क्षेत्र में सार्वजनिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक तेज़ी देखने में आई।

विवादों को निपटाने के **दो** अंग हैं— निवारण और समझौता। विवादों के निवारण के लिए राष्ट्रीय स्तर पर त्रिपक्षीय परामर्श का और कंपनी तथा दुकान तले स्तर पर कार्य समितियों और संयुक्त प्रबंधन परिषद् का प्रावधान है।

औद्योगिक विवादों को निपटाने के लिए औद्योगिक विवाद अधिनियम 1947 के अंतर्गत निपटारा व्यवस्था का प्रावधान है। जिसमें समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड, जाँच अदालत, श्रम अदालत और औद्योगिक ट्रिब्यूनल शामिल हैं। विवादों के सुलझाने के लिए अन्य स्वैच्छिक उपाय हैं — राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था संवर्द्धन मंडल, अनुशासन संहिता, औद्योगिक

संघ। भारत में सामूहिक समझौता औद्योगिक केंद्रों के कुछ ही स्थलों तक सीमित हैं और इसके प्रचालन में कई बाधाएँ हैं। प्रबंधन में श्रमिकों की भागीदारी का भी देश के औद्योगिक संबंधों पर अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। इस स्कीम की कई कमज़ोरियाँ हैं, जैसे विभिन्न यूनियनों के बीच और अन्य एक ही यूनियन के अंदर प्रतिद्वंद्विता, यूनियन को मान्यता देने के मामले का गैर-निपटारा, इत्यादि।

आर्थिक सुधारों के पेशेनज़र औद्योगिक संबंधों के मोर्चे पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इनमें से महत्त्वपूर्ण है :

i) श्रम बाज़ार में ऐसी लोचशीलता किस प्रकार लाई जाय जिससे एक ओर उत्पादक रोज़गार में वृद्धि और रोज़गार की किस्म में सुधार हो और दूसरी ओर श्रमिकों के शोषण से बचा जा सके।

ii) श्रमिकों के कार्य और निर्वाह की परिस्थितियों को कमज़ोर किए बिना श्रम कानूनों में परिवर्तन किस प्रकार शुरू किए जाएँ। आर्थिक सुधार और निजीकरण अनेक तरह से श्रमिक संघों को कमज़ोर करती है और औद्योगिक संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

21.10 शब्दावली

श्रमिक संघ (यूनियन) : श्रमिक संघ श्रमिकों के स्वैच्छिक संगठन हैं जिनमें कार्यवाही से उनके हितों को बढ़ावा दिया जाता है और रक्षा की जाती है।

श्रमिक आंदोलन : इससे तात्पर्य अपने अधिकारों और हितों की रक्षा और संवर्द्धन के लिए श्रमिकों का सामूहिक संघर्ष हैं।

औद्योगिक विवाद : औद्योगिक विवाद काम बंदी के साथ-साथ श्रम और प्रबंधन के बीच ऐसे मतभेदों की ओर संकेत देते हैं जिनको औद्योगिक संबंध व्यवस्था द्वारा निपटाया जाता है।

त्रिपक्षीय समझौते : इससे अभिप्राय श्रमिकों, मालिकों और सरकार के प्रतिनिधियों—इन तीनों के बीच पारस्परिक क्रिया है।

MAADHYAM IAS

21.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Ramaswamy E.A. and U. Ramaswamy (1981) : *Industry and Labour*, Oxford University Press, Bombay, Chapter 6, 8.

Sharma A.M. (1984) : *Industrial Relations - Conceptual and Legal Framework*, Himalaya Publishing House, Delhi.

ILO (1986) : Collective Bargaining A workers' Educational Manual.

21.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) सद्भावपूर्ण औद्योगिक संबंध

2) औद्योगिक संघर्ष श्रमिकों पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। कामबंदी से श्रमिकों को मज़दूरी से वंचित होना पड़ता है और कभी-कभी छँटनी भी होती है।

3) औद्योगिक संबंधों से अभिप्राय उन संबंधों से है जो श्रम और प्रबंधन के बीच सम्पर्क और रोज़मर्रा के काम के दौरान उत्पन्न होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) श्रमिक यूनियन महासंघ

   i) भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (INTUC)

   ii) अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC)

   iii) भारतीय हिन्द मज़दूर सभा (BMS)

   नियोक्ता महासंघ

   i) भारतीय वाणिज्य और उद्योग मंडल महासंघ (FICCI)

   ii) भारतीय नियोक्ता परिषद् (CIE)

   iii) भारतीय उद्योग परिषद् (CII)

2) i) सदस्यता का निम्न विस्तार

   ii) श्रम यूनियनों का विखंडन

   iii) सदस्यता में गिरावट

बोध प्रश्न 3

1) (i) नियामक स्वरूप

2) उपभाग 21.5.1 देखिए।

3) उपभाग 21.5.2 देखिए।

बोध प्रश्न 4

1) उचित औद्योगिक वातावरण, स्वार्थ की गैर-मौजूदगी, अपनत्व की भावना, मुक्त अभिव्यक्ति और दोनों ओर से सूचना का मुक्त आदान-प्रदान।

2) यूनियन की मान्यता के मामले का गैर-निपटारा, उचित कार्य संस्कृति के विकास के पहल का अभाव, श्रमिक यूनियनों और प्रबंधन की ओर से पहल का अभाव।

3) भाग 21.8 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 22 भारत का विदेशी व्यापार

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार की भूमिका
  22.2.1 विकास में योगदान
  22.2.2 व्यापार पर रुकावटें
  22.2.3 व्यापार नीति
22.3 भारत में विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों का विश्लेषण
  22.3.1 विदेशी व्यापार की मात्रा
  22.3.2 विदेशी व्यापार की संरचना
  22.3.3 विदेशी व्यापार की दिशा
22.4 भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा
  22.4.1 निर्यातों का मूल्य
  22.4.2 निर्यातों के धीमी गति से बढ़ने के कारण
  22.4.3 आयातों का मूल्य
  22.4.4 आयात एवं राष्ट्रीय आय
22.5 व्यापार-घाटे एवं व्यापार शर्तें
22.6 भारत के विदेशी व्यापार की संरचना
  22.6.1 निर्यातों की संरचना
  22.6.2 आयातों की संरचना
22.7 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा
  22.7.1 निर्यातों की दिशा
  22.7.2 विविधीकरण अथवा केंद्रीकरण
  22.7.3 आयातों की दिशा
22.8 सारांश
22.9 शब्दावली
22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार की भूमिका की चर्चा कर सकें;
- आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप किसी देशी के विदेशी व्यापार के ढाँचे में किस प्रकार के परिवर्तन आ पाते हैं इसकी जाँच कर पाएँ;
- राष्ट्रीय आय तथा निर्यात एवं आयात की मात्रा के परस्पर संबंध की समीक्षा कर सकें;
- आयातों और निर्यातों की बदलती संरचना की समीक्षा कर सकें;
- उन नए देशों की पहचान कर सकें जिनसे भारत व्यापारिक संबंध स्थापित कर रहा है; तथा
- भारत के विदेशी व्यापार के बदलते ढाँचे की रूपरेखा प्रस्तुत कर सकें।

22.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग खुली अर्थव्यवस्थाओं का युग है। शेष-विश्व से आर्थिक कटाव की पुरानी नीति न तो कोई देश जब अपनाना ही चाहता है और न ही ऐसा करना संभव है। प्रत्येक देश शेष विश्व के साथ विभिन्न तरह के लेन-देन करता है। इन संव्यवहारों से सभी देश लाभांवित होते हैं और फिर अब जो 'सूचना क्रांति' (Information Technology Revolution) चल रही है उसके परिणामस्वरूप तो सारे ही विश्व को ही विश्वीय ग्राम (Global Village) की संज्ञा देना गलत नहीं होगा। ऐसे परिवेश में किसी भी एक देश की घरेलू परिस्थितियाँ बाहरी दबावों से प्रभावित होती हैं। इन बाहरी दबावों में प्रमुख हैं वस्तुओं के आदान-प्रदान। वस्तुओं के इसी आदान-प्रदान को हम विदेशी व्यापार का नाम देते हैं। प्रस्तुत इकाई में हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि आर्थिक विकास प्रक्रिया में विदेशी व्यापार की क्या भूमिका रहती है। हम भारत के विदेशी व्यापार के बदले ढाँचे की भी विस्तृत समीक्षा करेंगे और इस बात का अध्ययन करेंगे कि आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप इस ढाँचे में किस प्रकार के परिवर्तनों का आभास हो रहा है।

22.2 आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार की भूमिका

अतीत में आर्थिक विकास की भूमिका 'विकास के इंजन' (Engine of Growth) के रूप में रही है (19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड, 20वीं शताब्दी में जापान इस बात का का ज्वलंत उदाहरण है।) हाल ही के वर्षों में पूर्वी एशिया के देशों ने बाह्य-क्षेत्र की ओर झुकाव वाली विकास युक्ति (Outward Oriented Growth Strategy) अपनाकर पुनः यह सिद्ध कर दिया है कि विदेशी व्यापार के माध्यम से सीमित साधन वाले निर्धन अल्पविकसित देश विकास की सीढ़ी पर तेजी से ऊपर चढ़ सकते हैं। इन देशों में प्रमुख रहे हैं – कोरिया, ताइवान, सिंगापुर एवं हाँगकाँग।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.2.1 विकास में योगदान

विदेशी व्यापार विभिन्न तरीकों से किसी देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करता है जैसा कि निम्न वर्णन से स्पष्ट होगा।

पहला, विदेशी व्यापार के माध्यम से एक देश उन पूँजीगत वस्तुओं के आयात को संभव बना सकता है जिनकी अनुपस्थिति में विकास की क्रिया को आरंभ करना कठिन है।

दूसरा, विदेशी व्यापार के माध्यम से अल्पविकसित देशों को विकसित देशों में प्रचलित तकनीक का प्रवाह संभव हो पाता है। विकसित तकनीक के प्रयोग से संसाधनों की उत्पादकता में सुधार हो पाता है और साथ गुणक प्रभाव के परिणामस्वरूप उपलब्ध संसाधनों को रोज़गार भी मिल पाता है।

तीसरा, विदेशी व्यापार अल्पविकसित देशों में गव्यात्मक परिवर्तनों के लिए निम्न कारणों से दबाव भी डालते हैं: (i) आयातित वस्तुओं से बढ़ती प्रतिस्पर्धा, (ii) विदेशी बाज़ारों में सामान बेचने की निर्यातकों में होड़, (iii) संसाधनों का बेहतर एवं समुचित वितरण।

चौथा, निर्यातों के परिणामस्वरूप उपलब्ध उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग, पैमाने की मितव्ययिताओं की प्राप्ति, उत्पादन योजनाओं की घरेलू बाज़ारों के उच्चावचनों से मुक्ति एवं घरेलू उत्पादन इकाइयों द्वारा विकसित तकनीकों के अपनाने की योग्यता का विस्तार होता जाता है।

पाँचवाँ, विदेशी व्यापार के परिणामस्वरूप घरेलू श्रमिकों के कल्याण में भी निम्न कारणों से वृद्धि संभव हो पाती है : (i) निर्यातों में वृद्धि के कारण घरेलू मजदूरी-दरों में सुधार की अपेक्षा बनी रहती है। (ii) श्रमिकों को भी अनेक तरह की ऐसी उपभोक्ता वस्तुएँ भी आसानी से तथा कम कीमतों पर उपलब्ध हो पाती हैं जिनका कि आयात किया गया हो। (iii) चूँकि श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्य निरंतर बढ़ते रहते हैं इसका अभिप्राय यह भी है कि उनकी उत्पादकता में बराबर सुधार होता रहता है।

अंततः अनेक विकासशील देशों में जैसे-जैसे विदेशी व्यापार का विस्तार हुआ निर्धनता का प्रकोप भी क्रमशः कम होता गया और ये विकसित देशों की पंक्ति में जाकर गिने जाने के योग्य बन गए।

22.2.2 व्यापार पर रुकावटें

निःसंदेह आर्थिक विकास में विदेशी व्यापार की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होती है। किंतु, उपलब्ध अंतरराष्ट्रीय परिवेश में गैर-तेल उत्पादक विकासशील देशों को अनेक ऐसी रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है जिसके परिणामस्वरूप वे विदेशी व्यापार से पूरी तरह से लाभांवित नहीं हो पा रहे हैं। इन रुकावटों में से कुछ प्रमुख निम्नलिखित हैं :

पहला, विकासशील देश प्रमुखतः प्राथमिक वस्तुओं का ही निर्यात कर सकते हैं। किंतु विश्व बाज़ारों में प्राथमिक वस्तुओं की माँग की वृद्धि दर कुल व्यापार की वृद्धि दर एवं विभिन्न देशों के राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर की तुलना में कम रही है। परिणामस्वरूप, जहाँ एक ओर विश्व के कुल विदेशी व्यापार की मात्रा और मूल्य में निरंतर भारी वृद्धि जारी है विदेशी व्यापार में प्राथमिक वस्तुओं का हिस्सा निरंतर कम होता जा रहा है। वर्ष 1955 में विश्व के कुल निर्यातों में प्राथमिक वस्तुओं का हिस्सा 50 प्रतिशत से भी कुछ अधिक था, जबकि वर्ष 1998 में यह कम होकर मात्र 25 प्रतिशत रह गया है। प्राथमिक वस्तुओं में गिरते व्यापार की प्रकृति के लिए निम्न कारक ज़िम्मेदार हैं : (i) विकसित देशों द्वारा कृषि-जन्य पदार्थों के आयात पर तटकर (tariff) एवं गैर-तटकर (non-tariff) प्रतिबंध लगाए गए हैं जिनके द्वारा वे अपने कृषि क्षेत्र को संरक्षण प्रदान करते हैं। (ii) औद्योगिकीकरण के कारण विकसित देशों में कृषि-जन्य पदार्थों की जिस मात्रा में माँग अपेक्षित थी वैसा नहीं हुआ। (iii) कृत्रिम स्थानापन्नों (synthetic substitutes) का विकास, एवं (iv) विकसित देशों में जनसंख्या के आकार में कोई वृद्धि नहीं हो रही। इन सब कारकों के संयुक्त परिणामस्वरूप कृषि-जन्य पदार्थों की माँग में अपेक्षित वृद्धि नहीं हो पाई।

दूसरा, चूँकि विकासशील देशों द्वारा किए जाने वाले निर्यात अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ते रहे हैं इसलिए इनके निर्यातों का समस्त विश्व द्वारा किए गए कुल निर्यातों में हिस्सा निरंतर कम होता जा रहा है। जहाँ वर्ष 1950 में यह हिस्सा 31 प्रतिशत था वर्ष 1960 में यह कम होकर 14 प्रतिशत तथा वर्ष 1997 में मात्र 3.9 प्रतिशत रह गया। इस उत्तरोत्तर कमी के लिए अनेक कारक जिम्मेदार रहे, जैसे व्यापार गुटों (trade block) की स्थापना, प्रतिबंधात्मक व्यापारिक क्रियाएँ, एकाधिकार की प्रवृत्ति आदि। ये सब प्रवृत्तियाँ इस बात का संकेत देती हैं कि विकासशील देशों को अथक प्रयास करने होंगे यदि वे इच्छुक हैं कि विदेशी व्यापार के रास्ते वे तेज गति से आर्थिक विकास को प्राप्त कर सकें।

तीसरा, चूँकि प्राथमिक वस्तुओं में अंतरराष्ट्रीय व्यापार का हिस्सा निरंतर कम होता जा रहा है परिणामस्वरूप व्यापार-शर्तें (terms of trade) भी विकासशील देशों के प्रतिकूल होती जा रही है। जबकि एक ओर विकसित देशों द्वारा निर्यात किए जाने वाले पदार्थों, विशेष रूप से पूँजीगत साज-सामान की कीमतें निरंतर बढ़ती रही है प्राथमिक वस्तुओं की कीमतें

गिरती ही रही हैं। उदाहरणस्वरूप, UN द्वारा हाल ही में प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार अतीत में जहाँ 2 टन चीनी के बदले में एक ट्रेक्टर उपलब्ध हो जाता है वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय बाज़ारों में एक ट्रेक्टर खरीदने के लिए 7 टन चीनी के निर्यात की आवश्यकता होती है। एक अन्य अनुमान के अनुसार आठवें दशक के दौरान गैर-तेल कच्चे मालों की कीमतों में गिरावट के परिणामस्वरूप विकासशील देशों को उनके GDP के एक से तीन प्रतिशत के बराबर मूल्य की हानि झेलनी पड़ी। व्यापार-शर्तों की प्रतिकूलता आर्थिक विकास में बाधक सिद्ध होती है। अंततः, विकसित देशों द्वारा अपनाई गई प्रतिबंधात्मक व्यापार नीतियों से विकासशील देशों द्वारा विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। सच यह है कि बढ़ते हुए वैश्वीकरण (globalisation) के परिणामस्वरूप विकसित देशों को भी अनेक प्रकार की समायोजन की समस्याओं का सामना करना पड़ा है। इसी प्रक्रिया में वे विकासशील देशों के प्रति इस तरह का रुख अपना रहे हैं।

संक्षेप में, वर्तमान में विकासशील राष्ट्रों को अनेक तरह के प्रतिबंधों एवं रुकावटों का सामना करना पड़ रहा है। इस परिवेश में विकासशील देश अंतरराष्ट्रीय व्यापार पर पूरी तरह से निर्भर नहीं रह सकते। यदि वे अपनी विकास की दर को बढ़ाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि ये अपने घरेलू आर्थिक ढाँचे को मजबूत बनाए और ऐसी व्यापारिक नीतियों को अपनाएँ जिनसे वे विद्यमान अंतरराष्ट्रीय वातावरण से लाभांवित हो सकें।

22.2.3 व्यापारिक नीति

व्यापारिक नीति में उन सभी नीतियों को शामिल किया जाता है जोकि किसी देश के विदेशी व्यापार को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप किसी भी तरह से प्रभावित करती हैं। इन नीतियों का स्वरूप देश द्वारा अपनाई गई व्यापार युक्ति (trade strategy) का स्वरूप आयोजनकर्ताओं द्वारा आर्थिक विकास के लिए अपनाई गई विकास-युक्ति पर निर्भर करता है। उदाहरणस्वरूप, यदि आर्थिक विकास-युक्ति में उद्योगों की अपेक्षा कृषि के योगदान को प्राथमिकता दी जा रही है तो इस बात की झलक व्यापार-युक्ति और संबद्ध विकास नीति में स्पष्ट दिखलाई देनी चाहिए। हम प्रमुखतः दो तरह की विकास युक्तियों में भेद कर सकते हैं : अंदर की ओर उन्मुख युक्ति (inward-oriented strategy) एवं बाहर की ओर उन्मुख युक्ति (outward-oriented strategy)।

अंदर की ओर उन्मुख युक्ति का संबंध प्राय संरक्षणवाद (protectionism) एवं आयात प्रतिस्थापन (import substitution) से होता है जबकि बाहर की ओर उन्मुख युक्ति का संबंध मुक्त व्यापार (free trade) व निर्यात संवर्धन (export promotion) से होता है। अंदर की ओर उन्मुख युक्ति में प्रायः विदेशी पूँजी के अंतर्वाह पर रोक लगा दी जाती है। इसी प्रकार अन्य अंतरराष्ट्रीय व्यवहारों को बढ़ने से रोका जाता है। इसके विपरीत, बाहर की ओर उन्मुख विकास नीति में बाहरी संव्यवहारों को बढ़ावा दिया जाता है तथा घरेलू अर्थव्यवस्था और शेष-विश्व के बीच घनिष्ठता बढ़ाने के प्रयास किए जाते हैं।

बाहर की ओर उन्मुख युक्ति के समर्थकों का यह मत है कि शेष-विश्व के साथ घनिष्ठ संबंधों के परिणामस्वरूप प्रत्येक अर्थव्यवस्था को नई-नई बातें, नए बाज़ारों, साधनों एवं नई तकनीकों की जानकारी मिल पाती है जोकि अंतरराष्ट्रीय व्यापार की मात्रा और घरेलू उत्पादों के स्तर को बढ़ाने में सहायक होती हैं।

इसके विपरीत यदि किसी देश द्वारा अंतरराष्ट्रीय रुकावटें लगाई जाती हैं तो इनके परिणामस्वरूप घरेलू बाज़ारों में उत्पत्ति के संसाधनों का उचित आबंटन नहीं हो पाता, उनका प्रतिस्पर्धात्मक प्रयोग संभव नहीं हो पाता और फलतः उत्पादन ढाँचे में अनेक तरह

की विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

अंदर की ओर उन्मुख युक्ति के समर्थकों का यह विश्वास है कि विद्यमान परिवेश में विकासशील देशों द्वारा दरवाजे पूरी तरह से खुले नहीं छोड़ दिए जा सकते। यदि वे ऐसा करेंगे तो विकसित देश उन्हें लूटमार कर ले जाएँगे। उन्हें अपने घर की सुरक्षा का प्रबंध स्वयं करना होगा और यह सुरक्षा तब तक आवश्यक रहेगी जब तक कि एक देश विदेशी आर्थिक संव्यवहारों की थपेड़ों को सहन करने के योग्य नहीं हो जाते। यह सुरक्षा आर्थिक संव्यवहारों पर विभिन्न प्रकार के प्रतिबंध और रोक लगाकर ही संभव है।

इस संदर्भ में विभिन्न देशों के अनुभव अलग-अलग रहे हैं। अतः यह कहना संभव नहीं हो पाया है कि उपरोक्त दोनों विकल्पों में से कौन-सा निश्चय ही बेहतर है। घरेलू परिस्थितियों के अनुरूप दोनों युक्तियों का एक समायोजित रूप प्रत्येक देश द्वारा अपनाया जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

1) विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए विदेशी व्यापार के चार लाभ बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) व्यापार के मार्ग में चार बाधाएँ बतलाएँ।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्न को परिभाषित करें :

i) व्यापार का मूल्य;
ii) व्यापार की मात्रा;
iii) व्यापार की संरचना;
iv) व्यापार की दिशा।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

4) निम्न में से एक विकासशील देश किन वस्तुओं का निर्यात करता है :

क) विनिर्मित उपभोक्ता वस्तुएँ
ख) विनिर्मित पूँजीगत वस्तुएँ
ग) कृषि-जन्य वस्तुएँ
घ) टूल एवं उपकरण

22.3 भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों का विश्लेषण

किसी देश के विदेशी व्यापार का विश्लेषण करने के लिए प्रमुख रूप से निम्नलिखित तत्त्वों पर विचार करना होता है : (क) व्यापार की मात्रा, (ख) व्यापार की संरचना, तथा (ग) व्यापार की दिशा।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

22.3.1 विदेशी व्यापार की मात्रा

व्यापार की मात्रा अंतरराष्ट्रीय सौदों के परिणामों को प्रकट करती है। चूँकि अंतरराष्ट्रीय सौदों में अनेक वस्तुएँ शामिल होती हैं तथा परिणाम को ज्ञात करने के लिए उनका मौद्रिक मूल्य को ज्ञात करना पड़ता है, इसलिए व्यापार की मात्रा की जानकारी के लिए इस मूल्य को ज्ञात करना आवश्यक है। व्यापार की मात्रा की प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर हम एक अर्थव्यवस्था में विभिन्न अवधियों में कार्यशील प्रमुख शक्तियों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन व्यापार के निरपेक्ष मात्रा में परिवर्तनों की जानकारी एक संतोषजनक सूचक नहीं है। इसलिए, व्यापार के मूल्य में परिवर्तनों के साथ दो अन्य चरों में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है। ये दो चर निम्नलिखित हैं :

i) राष्ट्रीय आय में योगदान, तथा

ii) विश्व के व्यापार में योगदान।

इसके अलावा निर्यात के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों की तुलना आयात में होने वाले परिवर्तनों के साथ करनी पड़ती है। इन दोनों चरों के बीच संबंध को 'व्यापारिक शर्तें' (terms of trade) कहते हैं। व्यापार की शर्तों का आशय इन शर्तों से है जिनके अनुसार निर्यात का विनिमय आयात के लिए किया जाता है। यदि आयातों की तुलना में निर्यातों का मूल्य अधिक है तो व्यापार की शर्तों को अनुकूल कहा जाता है। अनुकूल व्यापार की शर्तों का आशय है कि एक देश अपने निर्यातों के निर्दिष्ट मूल्य के बदले में अधिक मूल्य की

वस्तुओं का आयात कर सकता है। इसके विपरीत व्यापार की शर्तें उस स्थिति में प्रतिकूल होती जाती हैं जबकि एक देश के नियातों का मूल्य उसके आयातों के मूल्य की तुलना में कम होता है। दूसरे शब्दों में, व्यापार की शर्तों के प्रतिकूल होने पर एक देश को कम मूल्य के आयातों के लिए अधिक मूल्य की वस्तुओं का निर्यात करना पड़ता है।

22.3.2 विदेशी व्यापार की संरचना

विदेशी व्यापार की संरचना एक देश के विकास के स्तर की परिचायक है। उदाहरण के लिए अधिकांश विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ अपनी निर्यात आय के लिए कुछ चुनी हुई प्राथमिक वस्तुओं पर आश्रित रहती हैं। ये अर्थव्यवस्थाएँ कृषि पर आधारित कच्चे माल का निर्यात करती हैं, तथा निर्मित औद्योगिक वस्तुओं का आयात करती हैं और इस प्रकार इनको मूल्य संवृद्धि के लाभ उपलब्ध नहीं हो पाते। जैसे-जैसे एक देश का विकास होता है, इसके विदेशी व्यापार में विविधता आती जाती है तो वह कुछ चुनी हुई वस्तुओं के निर्यात पर ही आश्रित नहीं रह जाता। विकास के साथ यह देश औद्योगिक निर्मित वस्तुओं का निर्यात आरंभ कर देता है और औद्योगिक कच्चे माल, पूँजीगत उपस्करों तथा तकनीकी ज्ञान का आयात करता है।

22.3.3 विदेशी व्यापार की दिशा

विदेशी व्यापार की दिशा देश के विकास के ढाँचे एवं स्तर को प्रकट करती है। जैसे-जैसे एक देश का विकास होता है और उसके विकास में विविधता आती है, इसके साथ ही निर्यात के लिए नए बाज़ारों की व्यवस्था करनी पड़ती है। इसी के साथ देश के आयात के क्षेत्रों का भी विस्तार होता है। विकास के साथ यह देश विश्व के अधिकाधिक देशों के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने लगता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

अब हम भारत में आर्थिक आयोजन की अवधि में विदेशी व्यापार की प्रवृत्तियों का अध्ययन उपरोक्त तीन संघटकों के आधार पर करेंगे।

22.4 भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा

योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुरूप भारत के विदेशी व्यापार की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि जारी है। GDP में विदेशी व्यापार की अनुपात जोकि वर्ष 1950 में केवल 8 प्रतिशत था वर्तमान में बढ़कर 20 प्रतिशत से अधिक हो गया है। विदेशी व्यापार की मात्रा में वृद्धि लाने में निर्यातों एवं आयातों दोनों का ही योगदान रहा है जैसा कि तालिका-1 से स्पष्ट है।

तालिका 1 : योजनाओं के दौरान भारत के विदेशी व्यापार की वृद्धि दर

(वार्षिक प्रतिशत दर)

योजना/अवधि	निर्यात	आयात
I	–	5.0
II	0.7	7.7
III	4.9	4.7
IV	13.6	11.7
V	18.3	19.5
VI	13.0	13.9

VII	19.8	16.0
1990-91	9.1	13.2
1991-92	−1.5	−19.4
VIII		
1992-93	3.8	12.7
1993-94	20.0	6.5
1994-95	18.4	22.9
1995-96	20.7	28.0
1996-97	5.3	6.7
IX		
1997-98	4.5	5.9
1998-99	−3.9	0.9

उपरोक्त पृष्ठभूमि में हम निर्यात और आयात की प्रवृत्तियों का अलग-अलग अध्ययन करना चाहेंगे।

22.4.1 निर्यातों का मूल्य

वर्ष 1950-51 से 1997-98 की अवधि में भारत के निर्यातों का मूल्य 606 करोड़ रुपये से बढ़कर 1,41,604 करोड़ रुपये हो चुका है। निर्यातों की इस बढ़ती प्रवृत्ति का स्पष्ट अध्ययन योजनावार निर्यातों में हुए परिवर्तन की सहायता से किया जा सकता है। इससे संबद्ध आँकड़े तालिका 2 में दिए गए हैं।

तालिका-2 भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में निर्यातों का औसत वार्षिक मूल्य

(करोड़ रुपये)

योजना	मूल्य
पहली	605.4
दूसरी	605.8
तीसरी	752.8
चौथी	1810.0
पाँचवीं	5346.0
छठी	8967.0
सातवीं	15582.0
आठवीं	86270.0

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि पहली तीन योजनाओं के दौरान भारत के निर्यातों में कोई विशेष वृद्धि नहीं हो पाई थी। चौथी योजना के दौरान भारत के निर्यातों में उत्साहवर्धक वृद्धि हुई और उसके बाद क्रमशः ये बढ़ते रहे हैं।

किंतु जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि निर्यातों के निरपेक्ष मूल्यों से कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। एक तो यह आँकड़े चालू कीमतों पर आँके जाते हैं। जिसके कारण निर्यातों की वास्तविक मात्रा का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता। दूसरा, निरपेक्ष मूल्यों से अर्थव्यवस्था में निर्यातों की बदलती भूमिका की झलक नहीं स्पष्ट हो पाती। इन कारणों से यह आवश्यक है कि हम निर्यातों की सापेक्ष भूमिका का अध्ययन करें।

इस तरह के सापेक्षिक अध्ययन के लिए हम निर्यात-मूल्यों की निम्न दो के संदर्भ में हुई प्रवृत्ति का अध्ययन कर सकते हैं। (क) शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में निर्यातों का हिस्सा, तथा (ख) विश्व के कुल निर्यातों में भारत के निर्यातों का हिस्सा। इनसे संबद्ध आवश्यक आँकड़े तालिका-3 में प्रस्तुत किए गए हैं।

तालिका-3 : भारत के चुने हुए निर्यात अनुपात

(भारत में निर्यात के रूप में)

वर्ष	विश्व के कुल निर्यात	भारत की राष्ट्रीय आय
1950-51	2.20	6.8
1960-61	1.05	4.2
1970-71	0.64	3.8
1980-81	0.42	5.4
1990-91	0.52	6.9
1994-95	0.58	8.9
1995-96	0.64	9.2
1997-98	0.60	9.0

MAADHYAM IAS

क) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि के साथ तुलना :** तालिका-3 से स्पष्ट है कि विकास के आरंभिक चरणों में भारतीय निर्यातों की वृद्धि दर भारत के राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर से धीमी थी। परिणामस्वरूप भारत की राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में निर्यात मूल्य जोकि वर्ष 1950-51 में 6.8 प्रतिशत थे 1970-71 में कम होकर 3.8 प्रतिशत रह गए।

किंतु इसके बाद से इस अनुपात में क्रमशः वृद्धि जारी है। यह इसका प्रतीक है कि भारत के आर्थिक विकास में निर्यात क्षेत्र की भूमिका उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

ख) **विश्व के कुल निर्यातों में वृद्धि के साथ तुलना :** तालिका-3 से पुनः यह स्पष्ट है कि विश्व के कुल नियातों के अनुपात के रूप में आयोजन के आरंभिक चरणों के दौरान भारत के निर्यातों में भारी कमी आई। किंतु आठवें व नवें दशक के दौरान भारत के निर्यातों में तेज गति के परिणामस्वरूप विश्व के कुल निर्यातों में इनके अनुपात में सुधार हुआ है। इस अवधि में यह अनुपात 0.50 से 0.65 प्रतिशत के बीच रहा है। यह तुच्छ अनुपात इस बात का संकेत देता है कि अपने निर्यातों को बढ़ाने के लिए भारत के समक्ष अपार अवसर हैं। अनेक विकासशील देशों के निर्यात की वृद्धि दर भारत के निर्यातों की वृद्धि दर से कहीं अधिक रही है। जहाँ 1980-92 की अवधि में भारत के निर्यातों में औसतन 5.9 प्रतिशत वार्षिक दर से वास्तविक वृद्धि हुई, चीन, दक्षिण कोरिया, मलेशिया, पाकिस्तान आदि अनेक विकासशील देशों के निर्यात 11

प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़े। जहाँ चीन के कुल निर्यात जोकि वर्ष 1980 में $22 बिलियन थे और वर्ष 1992 में बढ़कर #125 बिलियन हो गए थे, भारत के निर्यात इसी अवधि में $10 बिलियन से बढ़कर $25 मिलियन ही हो गए। भारतीय निर्यातों की धीमी गति से वृद्धि के कारण विश्व के निर्यातक देशों में भारत का स्थान जोकि वर्ष 1953 में 16वाँ था वर्ष 1983 में गिरकर 25वाँ रह गया था और वर्तमान में यह 30वाँ है।

22.4.2 निर्यातों के धीमी गति से बढ़ने के कारण

भारतीय निर्यातों के अपेक्षाकृत धीमी गति से बढ़ने के लिए ज़िम्मेदार प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

पहला, निर्यातों के धीमी गति से बढ़ने का प्रमुख कारण रहा है : आपूर्ति का अभाव तथा निर्यात-योग्य उत्पादों की अपर्याप्तता। यदि भारत अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों से लाभांवित होना चाहता है तो यह अनिवार्य है कि निर्यात-योग्य उत्पादों के घरेलू उत्पादन की समुचित व्यवस्था की जाए, बल्कि आवश्यकता से अधिक उत्पादन-क्षमता का भी हमें निर्माण करना होगा जिससे कि हम यदा-कदा बाज़ार स्थितियों में होने वाले परिवर्तनों का भी लाभ उठा सकें। यह विशेष रूप से उन उत्पादन इकाइयों के लिए अनिवार्य समझा जाना चाहिए जोकि अपने कुल उत्पादन के एक बड़े भाग का निर्यात कर पाती हैं।

दूसरा, विश्व के बाज़ारों में सबसे अधिक बिक्री नई तकनीकी से निर्मित पदार्थों की होती है। जबकि वर्ष 1980 में ऐसे उत्पादों को कुल निर्यातों में 50.70 के लगभग हिस्सा था वर्तमान में यह अनुपात बढ़कर 60 प्रतिशत से भी अधिक हो चुका है। अतीत में तो भारत इस तरह के उत्पादन में असमर्थ रहा है। केवल पिछले कुछ एक वर्षों से ही हम क्षमता का परिचय दे पाए हैं।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तीसरा, निर्यात-योग्य उत्पादों की मात्रा के साथ ही जुड़ा हुआ है। ऐसे उत्पादों की गुणात्मक विशेषता का प्रश्न। प्रतिस्पर्धात्मक बाज़ारों में अच्छी किस्म की वस्तु जोकि उपभोक्ता की पसंद की कसौटी पर खरी उतरती है अपेक्षाकृत कुछ ऊँची कीमत पर भी आसानी से बेची जा सकती है। किंतु विदेशी बाज़ारों में भारतीय उत्पादों की साख इस दृष्टि से कोई अच्छी नहीं है। निर्यातकों द्वारा इस पहलू की अपेक्षा की गई है और यदा-कदा निम्न कोटि की वस्तुओं का भी निर्यात किया गया है। परिणामस्वरूप भारत की पहचान निम्न कोटि उत्पादों के उत्पादक के रूप में बनकर रह गई है।

चौथा, हमारे प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रों द्वारा आधुनिकतम तकनीक बड़े पैमाने पर अपनाई गई है। परिणामतः यहाँ तो उत्पादों की प्रतिस्पर्धा शक्ति में सुधार हुआ है। इसके विपरीत भारतीय उत्पादकों में तकनीकी सुधार के वास्ते कोई विशेष प्रयास नहीं किए गए। परिणामतः जब उत्पादन लागत अधिक होती है तब भारतीय उत्पादक विदेशी बाज़ारों में अपेक्षाकृत ऊँची कीमतों पर ही अपना सामान बेच सकते हैं। अतः वे प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं।

पाँचवाँ, पर्याप्त परिवहन एवं जहाजरानी सुविधाओं का अभाव भी भारतीय निर्यातकों के लिए बहुत बड़ी परेशानी का कारण है। जहाजरानी से संबद्ध अनेक कमियों के परिणामस्वरूप भारतीय निर्यात नहीं बढ़ पाते हैं।

अंततः, अन्य विकासशील देशों की तरह भारत के निर्यातों को भी विकसित देशों द्वारा लगाए

तटकर एवं गैर-तटकर प्रतिबंधों का सामना करना पड़ता है। भारतीय निर्यातों को क्षेत्रीय गुटों से भी निपटना होगा। हालाँकि क्षेत्रीय गुटों के बन जाने के बाद भारतीय उत्पादकों के समक्ष निर्यात के लिए अवसर भी उभरकर आएँगे लेकिन उनका लाभ उठाने के लिए हमें विशेष प्रयास करने होंगे।

22.4.3 आयातों के मूल्य

योजनावधि के दौरान भारत के कुल आयात जो वर्ष 1950-51 में 608 करोड़ रुपये मूल्य के थे 1998-99 में बढ़कर 1,76,099 करोड़ रुपये मूल्य के हो चुके हैं। अर्थात् इस अवधि में भारत के आयातों में 250 गुणा से अधिक वृद्धि हो चुकी है। तालिका-4 में भारत के आयातों में रोजगार वृद्धि का ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है।

तालिका-4 : भारत के आयातों में योजनावार वृद्धि

(वार्षिक औसत करोड़ रुपये)

योजना/अवधि	मूल्य
पहली	735
दूसरी	973
तीसरी	1240
चौथी	1973
पाँचवीं	6463
छठी	14683
सातवीं	25114
आठवीं	96235

MAADHYAM IAS

वस्तुतः वर्ष 1954-55 के बाद से भारत के आयातों में क्रमशः वृद्धि जारी है। जबकि निर्यातों की मात्रा विदेशी बाज़ारों में भारतीय माल की माँग एवं घरेलू बाज़ार में निर्यात-योग्य अतिरेकों की उपलब्धि पर निर्भर रही है आयातों की मात्रा प्रमुखतः इस बारे में अपनाई गई सरकारी नीति से प्रभावित होती रही है।

इस संदर्भ में अपनाई गई सरकारी नीति की दृष्टि से हम समस्त योजनावधि को दो भागों में बाँट सकते हैं।

पहली अवधि लगभग वर्ष 1957 तक ही सीमित रही। इस दौरान पहली पंचवर्षीय योजना को पूरा किया गया। इस अवधि के दौरान विदेशी मुद्रा की सुलभ उपलब्धि के परिणामस्वरूप आयातों के प्रति उदार रवैया नीति ही अपनाई गई। किंतु, उदारता के बावजूद भी आयातों में बहुत अधिक वृद्धि संभव नहीं हो पाई। इस अवधि में सबसे अधिक आयात वर्ष 1951-52 में किए गए जबकि इनका मूल्य 970 करोड़ रुपए आँका गया।

दूसरी अवधि वर्ष 1957-58 से आरंभ हुई। इस समय तक भारत के विदेशी विनिमय की स्थिति काफी जटिल हो गई थी, इसलिए आयात नीति में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की गई। भारत के विकास की युक्ति में नियंत्रित आयात को एक अनिवार्य नीति के रूप में अपनाया गया। 1957-58 से लेकर अब तक नियंत्रित आयात की नीति को अमल में

लाया जा रहा है। यद्यपि नियंत्रणों की मात्रा व प्रकृति देश की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित होती रही है। जब कभी विदेशी विनिमय की स्थिति में सुधार हुआ है, सुलभ आयात नीति को अपनाया गया था। इसके विपरीत, विदेशी विनिमय का संकट उत्पन्न होने पर आयातों पर कड़े नियंत्रण भी लगाए गए हैं। आरंभ में आयात नियंत्रणों का उद्देश्य विदेशी विनिमय की मात्रा में बचत करना था, लेकिन अब इनका उद्देश्य देश के औद्योगिक विकास एवं आर्थिक विकास की विविध आवश्यकताओं के अनुरूप आयातों को समायोजित करना है। अब आयात नीति द्वारा केवल आवश्यक वस्तुओं के आयात अथवा ऐसी वस्तुओं के आयात को ही प्रतिबंधित नहीं किया जाता जिनका देश के भीतर ही उत्पादन हो सकता है, बल्कि इसका उद्देश्य ऐसे पदार्थों के आयातों को प्रोत्साहित करना भी है जिनसे देश के औद्योगिक विकास के आधार को मजबूत बनाने में मदद मिलती है।

22.4.4 आयात एवं राष्ट्रीय आय

आयात के स्तर की विवेचना के लिए आयातों तथा राष्ट्रीय आय के बीच संबंध की जानकारी आवश्यक है। आयोजित अर्थव्यवस्था में विकास की आवश्यकताओं के कारण सामान्यतया आयातों में राष्ट्रीय आय की तुलना में तेजी से वृद्धि होती है। इसका कारण यह है कि आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय आय के अधिकारिक भाग को निवेश कार्यों पर व्यय करना पड़ता है तथा विकास के आरंभिक चरण में निवेश आयातित वस्तुओं का अनुपात काफी अधिक होता है। इसके अलावा औद्योगिक विकास के लिए भी अधिक मात्रा में औद्योगिक कच्चे माल, मशीनरी आदि का अयात करना पड़ता है।

भारत में आयातों एवं राष्ट्रीय आय के बीच संबंध में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए हैं। सामान्यतया, योजनावधि के पहले 30 वर्षों आय में आयातों का अनुपात 6.5 से 8.5 प्रतिशत के बीच रहा। वर्ष 1979-80 से बाद की अवधि में यह अनुपात बढ़कर 10 से 12 प्रतिशत के बीच हो गया है। आयात के अनुपात में स्थायित्व का अभिप्राय यह है कि प्रति इकाई घरेलू उत्पादन के लिए अपेक्षित आयातों में बहुत कम परिवर्तन हुआ है। यह बात स्मरणीय है कि कुछ वस्तुओं के प्रति इकाई उत्पादन के आयात की आवश्यकताओं में वृद्धि हुई है जबकि कुछ अन्य वस्तुओं के उत्पादन के लिए इनमें कमी हुई है और इसका कुल प्रभाव आयात अनुपात में स्थिरता के रूप में प्रतीत हो रहा है।

22.5 व्यापार घाटे और व्यापार शर्तें

वर्ष 1972-73 तथा 1976-77 के अलावा सम्पूर्ण योजनावधि में भारत के आयात उसके निर्यातों से अधिक रहे हैं एवं व्यापार घाटों का आकार निरंतर बढ़ता रहा है। आठवें दशक के आरंभ में इन घाटों ने गंभीर रूप धारण कर लिया था। 1980-85 की अवधि में औसत वार्षिक घाटे 5716 करोड़ रुपये मूल्य के रहे जबकि 1985-90 में यह बढ़कर 7,671 करोड़ रुपये तथा 1990-94 में 6,000 करोड़ रुपये एवं 1994-99 में 21,028 करोड़ मूल्य के हो गए। सातवें दशक तक के व्यापार घाटों के लिए कुछ सीमा तक व्यापार-शर्तों की प्रतिकूलता का भी योगदान रहा। आठवें दशक के बाद से व्यापार घाटों का प्रमुख कारण निर्यातों की तुलना में आयातों में तेज गति से वृद्धि रहा। इस अवधि में व्यापार शर्तों में हमारे अनुकूल परिवर्तन हुए। परिणामतः व्यापार घाटों पर थोड़ा-बहुत काबू पाना संभव हो पाया। इस अवधि में निबल वस्तु विनिमय व्यापार शर्तों (Net Barter Terms of Trade) में 30 प्रतिशत का सुधार हुआ। इसके आगे वाली अवधि में व्यापार-शर्तों में सुधार का सिलसिला जारी रहा। जैसाकि तालिका-5 से स्पष्ट है।

(आधार 1978-79 = 100)

वर्ष	1990-91	91-92	92-93	93-94	94-95	95-96	96-97
व्यापार शर्तें	109.3	119.5	121.3	144.9	152.4	137.9	126.2

हालाँकि इस अवधि में व्यापार घाटे निरंतर बढ़ते हैं किंतु विदेशी पूँजी के भारी अंतर्वाह के कारण व्यापार-घाटे अब हमारे लिए चिंता का विषय नहीं रहे हैं बल्कि इनका प्रयोग देश में उत्पादन क्षमता के निर्माण एवं इसमें गुणात्मक सुधार के लिए किया जा रहा है जिससे यह अपेक्षा की जा रही है कि आने वाले वर्षों में भारत की विदेशी बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा शक्ति में सुधार होगा और भारतीय माल विदेशों में आसानी से बिक पाएगा।

बोध प्रश्न 2

1) निम्न में से सही कथन छाँटिए :

   क) हाल के वर्षों में भारतीय निर्यातों में भारी वृद्धि हुई है।
   ख) विश्व के कुल निर्यातों में भारत के निर्यातों का अनुपात निरंतर बढ़ता रहा है।
   ग) भारत की राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में भारतीय निर्यातों में निरंतर वृद्धि होती रही है।
   घ) भारत की राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में भारतीय आयातों में निरंतर वृद्धि होती रही है।

2) भारत के निर्यातों की धीमी गति से बढ़ने के चार कारण बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

3) व्यापार घाटों से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

22.6 भारत के विदेशी व्यापार की संरचना

विदेशी व्यापार का जो चित्रण इसके आकार, मूल्य एवं व्यापार शर्तों से स्पष्ट होता है प्रायः वैसा ही चित्रण भारत के विदेशी व्यापार की सरंचना से भी स्पष्ट होता है।

MAADHYAM IAS

22.6.1 निर्यातों की संरचना

भारत में आर्थिक आयोजन की अवधि में निर्यातों की संरचना में जो विशेषताएँ दिखलाई देती हैं उनकी समीक्षा तालिका-6 में प्रस्तुत आँकड़ों की सहायता से की जा सकती है।

तालिका-6 : भारत के निर्यातों की संरचना

(मूल्य करोड़ रुपये में)

वस्तु-वर्ग	1960-61	1970-71	1980-81	1990-91	1995-96	1998-99
1. कृषि एवं सम्बद्ध उत्पाद	284 (44.23)	487 (31.37)	204 (36.65)	6317 (19.57)	21138 (19.20)	25225 (17.8)
2. चूर्ण एवं खनन	52 (0.81)	164 (10.68)	414 (6.17)	1497 (4.60)	3061 (3.70)	3748 (2.6)
3. विनिर्मित वस्तुएँ	219 (45.53)	772 (50.30)	3737 (58.33)	23736 (72.91)	80219 (75.20)	10853 (76.6)
4. खनिज तेल	7 (0.01)	13 (0.01)	28 (0.04)	948 (2.91)	1761 (1.40)	376 (0.6)
5. अन्य	8 (0.01)	100 (0.06)	446 (6.94)	55 (0.02)	174 (0.50)	3701 (2.6)
कुल	642 (100.0)	1535 (100.0)	6711 (100.0)	3253 (100.0)	106353 (100.0)	141604 (100.0)

MAADHYAM IAS

तालिका-6 में भारत द्वारा निर्यात की जाने वाली विभिन्न मदों को 5 भागों में वर्गीकृत किया गया है। तालिका से स्पष्ट है कि (अ) कुल निर्यातों में कृषि व संबद्ध पदार्थों के निर्यातों का अनुपात बराबर कम होता जा रहा है, जबकि (आ) विनिर्मित वस्तुओं का सापेक्ष योगदान बढ़ता जा रहा है। और अधिक गहन विश्लेषण के लिए हम सभी मदों को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं। ये वर्ग हैं : (1) निर्यात-उन्मुख विनिर्मित सामान, अर्थात् उन उद्योगों के निर्यात जोकि प्रमुखतः विदेशी बाज़ारों के लिए ही उत्पादन करते हैं, (2) घरेलू-बाज़ार उन्मुख विनिर्मित सामान का निर्यात, एवं (3) गैर-विनिर्मित सामान अर्थात् वे उत्पाद जोकि प्राकृतिक देन हैं अथवा कृषि क्षेत्र से प्राप्त होते हैं। कुल निर्यातों में तीनों वर्गों का अनुपात क्रमशः 53 प्रतिशत, 12 प्रतिशत एवं 35 प्रतिशत रहा है। स्पष्ट रूप से हमारे कुल निर्यातों में विनिर्मित सामान का पलड़ा भारी हो चुका है। औद्योगिक विकास की इच्छुक एक अर्थव्यवस्था के लिए यह प्रवृत्ति अनुकूल ही समझी जानी चाहिए।

किंतु यहाँ हम एक विकृति की ओर ध्यान दिलवाना चाहेंगे। जहाँ हम यह चाहेंगे कि हमारे विनिर्मित उत्पादों में विविधता का प्रसार हो और हम नई-से-नई अलग-अलग वस्तुओं का निर्यात करें। हम क्या देख रहे हैं कि हमारे निर्यात कुछ एक चुनी हुई विनिर्मित वस्तुओं तक ही सीमित करें, हम क्या देख रहे हैं कि हमारे निर्यात कुछ एक चुनी हुई विनिर्मित वस्तुओं तक ही सीमित होकर रह गए हैं। जहाँ वर्ष 1984-85 में चमड़ा एवं विनिर्मित सामान, कपड़ा और सिले-सिलाए कपड़े तथा कीमती पत्थरों और आभूषणों समेत उत्पाद वर्गों का कुल निर्यात में अनुपात लगभग 50 प्रतिशत था 1998-99 में यह बढ़कर 67 प्रतिशत के लगभग हो गया था। निर्यातों में केन्द्रीयकरण की इस प्रवृत्ति को दो पहलुओं से देखा जा सकता है। सकारात्मक पहलू की यदि हम पहले बात करें तो हमें ज्ञात होता है कि इन वस्तुओं के उत्पादन में भारत की अन्य देशों की तुलना में सापेक्षिक उत्पादन लागत कम है। और चूँकि

इन सभी वस्तुओं की आय माँग लोचपूर्ण होती है अतः स्वाभाविक है कि विकसित देशों में इनकी माँग निरंतर बढ़ती जाएगी।

किंतु यदि हम नकारात्मक पहलू पर ध्यान दें तो हम जानते हैं कि तेज गति से औद्योगिक विकास पर चलने वाले देशों द्वारा इंजीनियरी के सामान के निर्यात पर बल दिया जाना चाहिए। इसके लिए हम तीन कारकों का उल्लेख कर सकते हैं। **पहला,** भारत में अनेक तरह की इंजीनियरी वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी कि शेष विश्व में माँग की जाती है। **दूसरा,** भारत के इंजीनियरी सामान के लिए विदेशी बाज़ार पूरी तरह से खुले हैं यदि भारत विदेशों में स्वीकार्य उत्पाद प्रस्तुत कर पाने में सक्षम हो जाता है। **तीसरा,** भारतीय इंजीनियरी उद्योग का केंद्र बिंदु घरेलू बाज़ार ही रहा है। उद्योग को अपने दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन करने होंगे और ऐसी तकनीक एवं नीतियाँ अपनानी होंगी जिनसे यह खुद अपने आपको विदेशी बाज़ारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के योग्य बना पाए।

22.6.2 आयातों की संरचना

जैसा कि हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत में आयातों की मात्रा सरकार की आयात नियंत्रण नीति द्वारा प्रभावित हो रही है। सरकारी नीति का उद्देश्य अर्थव्यवस्था के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं के आयात की वित्तीय व्यवस्था के लिए दुर्लभ विदेशी विनिमय को बचा रखना है। इसलिए देश की आवश्यकताओं के अनुरूप आयातों में समय-समय पर परिवर्तन किए गए हैं। भारत के आयातों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (क) उपभोक्ता वस्तुएँ, (ख) कच्चा माल एवं मध्यवर्ती वस्तुएँ (ग) पूँजीगत वस्तुएँ।

सरकार की नीति ये रही है कि उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को नियंत्रित किया जाए अथवा घरेलू स्वल्पता की अवस्था में ही इनके आयात की अनुमति दी जाए तथा कच्चा माल, मध्यवर्ती वस्तुएँ एवं पूँजीगत वस्तुओं के आयात में वृद्धि की जाए।

तालिका-7 में उपयोग के अनुसार भारत के प्रमुख आयातों को वर्गीकृत किया गया है।

तालिका-7 : भारत के प्रमुख आयात (उपयोग के अनुसार)

(प्रतिशत भाग)

वर्ग	1950-51	60-61	70-71	80-81	90-91	95-96	98-99
1. उपभोक्ता वस्तुएँ	26.2	23.9	13.0	12.1	3.5	3.8	5.5
2. कच्चा माल एवं मध्यवर्ती वस्तुएँ	53.6	46.6	54.6	62.4	77.8	68.5	72.6
3. पूँजीगत माल	20.2	29.5	24.7	25.0	15.0	20.1	21.9
कुल (अन्य समेत)	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**

आयातों की संरचना में प्रमुख रूप से निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

1) केवल घरेलू कमियों की आपूर्ति के लिए ही उपभोक्ता वस्तुओं के आयात की अनुमति दी गई है। आयातित उपभोक्ता, वस्तुओं में अनाज, विशेष रूप से गेहूँ, प्रमुख हैं। जिन वर्षों में फ़सल अच्छी नहीं होती है तभी अनाजों का आयात बढ़ता है। वर्ष 1976-77 के बाद से अनाजों का आयात लगभग नगण्य रहा है क्योंकि देश में खाद्यान्नों का उत्पादन संतोषजनक रहा है।

2) समयावधि 1955-56 से 1965-66 के दौरान पूँजीगत वस्तुओं जैसे मशीनरी एवं औद्योगिक उपकरणों के आयातों में तेजी से वृद्धि हुई। इसका कारण यह है कि द्वितीय एवं तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं की विकास-युक्ति में बड़े एवं आधारभूत उद्योगों के विकास को काफी महत्त्व प्रदान किया गया था, चूँकि देश में पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन नहीं होता था, इसलिए बड़ी मात्रा में इनका विदेशों से आयात किया गया। अब जैसे–जैसे ऐसे उत्पादों की घरेलू उत्पादन क्षमता बढ़ती जा रही है कुल आयातों में इनके अनुपात में कमी आती जा रही है।

3) पूँजीगत वस्तुओं के स्थान पर अब औद्योगिक कच्चे माल तथा मध्यवर्ती वस्तुओं के आयात में वृद्धि हो रही है। इनको अनुरक्षण आयात (maintenance imports) का नाम दिया जाता है। अनुरक्षण आयातों में चार प्रकार की मदों को शामिल किया जाता है :

   i) कच्चे माल तथा संघटक जिनका उपयोग वर्तमान औद्योगिक क्षमताओं को बनाए रखने और उसमें विस्तार के लिए किया जाता है।
   ii) मध्यवर्ती पदार्थ जैसे कच्चा तेल जिनका उपयोग विभिन्न पेट्रोल पदार्थों के निर्माण में किया जाता है।
   iii) उर्वरक, कीटनाशक दवाइयाँ व मशीनें जिनका उपयोग कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए किया जाता है।
   iv) खाद्यान्नों का आयात जिनका उपयोग पोषक तत्त्वों की माँग व आपूर्ति के संभावित अंतर को पूरा करने के लिए किया जाता है।

आर्थिक विकास की प्रक्रिया में तेज़ी के साथ कच्चे माल एवं मध्यवर्ती वस्तुओं की कमी अनुभव की जाने लगी। यदि इन वस्तुओं को आयात नहीं किया जाता तो पूँजीगत वस्तुओं की सम्पूर्ण क्षमता का प्रयोग नहीं हो सकेगा। इसलिए इन वस्तुओं के आयात के लिए एक उदार नीति को अपनाया गया है। इन वस्तुओं में कच्चा तेल, पेट्रोलियम पदार्थ, रेशा, उर्वरक, रसायन, लोह एवं इस्पात, अलोह पदार्थ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

संक्षेप में, भारत के विदेशी व्यापार की संरचना हमारी अर्थव्यवस्था में योजना अवधि के दौरान हुए संरचनात्मक परिवर्तनों को प्रकट करती है। अब भारत प्राथमिक वस्तुओं का निर्यातक और निर्मित वस्तुओं का आयातकर्ता देश नहीं रहा है। अब यह निर्मित वस्तुओं का निर्यात करता है तथा कच्चा माल, मध्यवर्ती वस्तुओं एवं पूँजीगत वस्तुओं को आयात करता है।

22.7 भारत के विदेशी व्यापार की दिशा

22.7.1 निर्यातों की दिशा

भारत के निर्यातों की दिशा का बोध तालिका-8 से हो सकता है।

तालिका-8 : भारत के निर्यातों की दिशा 1998-99

(प्रतिशत)

देश/वर्ग	अंश
1. यूरोप समुदाय	25.0
2. अमरीका	19.5
3. जापान	5.5

4. रूस	2.6
5. बाकी पूर्वी यूरोप	0.5
6. तेल-निर्यातक देश	10.1
7. कम-विकसित देश	28.0
8. अन्य	8.7
कुल	100.0

भारत के निर्यात की दिशा की कुछ बातों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है :

1) गत वर्षों में भारत से इंग्लैण्ड एवं अमरीका को किए जाने वाले निर्यातों के सापेक्षिक अनुपात में कमी आई है। जहाँ 1950-51 में भारत के कुल नियातों का लगभग 24 प्रतिशत रह गया है, हालाँकि अमरीका अब भी भारतीय माल का सबसे बड़ा आयातकर्ता देश बना हुआ है। यूरोप समुदाय के देशों की भारत के निर्यातों में क्रमशः वृद्धि जारी है।

2) 1965 से 1975 के दशक में सोवियत रूस तथा अन्य पूर्वी यूरोप के देशों के साथ किए गए द्विपक्षीय समझौतों के परिणामस्वरूप इन देशों को दिए 'जाने वाले नियातों में भारी वृद्धि संभव हो सकी। सोवियत रूस के विघटन तथा कई अन्य पूर्ववत् समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में राजनैतिक उथल-पुथल के कारण इन देशों को दिए जाने वाले निर्यातों में भारी वृद्धि संभव हो सकी। सोवियत रूस के विघटन तथा कई अन्य पूर्ववत् समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में राजनैतिक उथल-पुथल के कारण इन देशों में भारत के निर्यातों में योगदान में भारी कमी आई है। भारत के कुल निर्यातों का लगभग केवल 3 प्रतिशत भाग ही इस वर्ग के देशों को अब भेजा जाता है।

3) इधर हाल के वर्षों में विशेष रूप से सोवियत रूस के विघटन के बाद से भारत से एशिया और ओशनिआ ग्रुप (Oceania) के देशों को जाने वाले निर्यातों की मात्रा में भारी वृद्धि संभव हो पाई है। इस ग्रुप में हम आस्ट्रेलिया, जापान, कोरिया, मलेशिया, सिंगापुर, थाइलैण्ड, हाँगकाँग, बंगलादेश एवं नेपाल आदि देशों को शामिल करते हैं। इन देशों को बढ़ते हुए निर्यात इस बात का परिचायक हैं कि भारत अपने पड़ौसी और समीप के देशों के साथ आर्थिक संबंध बढ़ाना चाहता है। यह भारतीय उत्पादकों के भी अधिक अनुकूल है क्योंकि यदि वे पड़ौसी देशों में अधिक मात्रा में अपना माल बेच पाते हैं तो विदेशों को भेजे जाने वाले माल पर होने वाली भारी परिवहन लागत से बचा जा सकता है। यह प्रवृत्ति आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था की बढ़ती बाहर की ओर उन्मुखता का भी संकेत प्रदान करती है।

22.7.2 विविधीकरण अथवा केंद्रीकरण

भारत के निर्यातों एवं आयातों की दिशा का वर्णन करने के बाद एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि भारत के व्यापारिक संबंध कुछ चुने हुए देशों तक ही सीमित है अथवा ये विश्वभर में फैले हुए है

उपलब्ध स्थिति की जब हम समीक्षा करते हैं तो हम पाते हैं कि 1951-52 से 1979-80 की अवधि में इंग्लैण्ड, जर्मनी, पूर्ववत् सोवियत यूनियन, जापान, इराक, ईरान, आस्ट्रेलिया और कनाडा मिलकर नौ देश हमारे कुल निर्यातों के 51 से 62 प्रतिशत भाग प्राप्त करते थे जबकि हमारे 56 से 75 प्रतिशत आयात इन्हीं नौ देशों से आया करते थे। वर्ष 1990-91 में इन देशों का भारत के निर्यातों में अनुपात 56.7 प्रतिशत तथा आयातों में 47.6 प्रतिशत था।

वर्ष 1998-1999 में हमारे निर्यातों में से 36 प्रतिशत यूरोप समुदाय, अमरीका और जापान को गए जबकि यहाँ से हमारे कुल आयातों के 41.5 प्रतिशत भाग प्राप्त हुए।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि भारत के विदेशी व्यापार में विविधता नहीं पाई जाती है बल्कि ये संबंध छः ही देशों तक केंद्रित हैं। इस तरह की प्रवृत्ति देश के दीर्घकालिक हित में सिद्ध नहीं हो सकती। हमें अन्य विकासशील देशों के साथ अपने व्यापारिक संबंधों को विस्तार देना होगा। लेकिन साथ ही यह भी जरूरी है कि अमरीका, जापान आदि विकसित देशों के साथ भी हमारे व्यापारिक संबंधों को और मजबूत किया जाए। ये देश हमारे उत्पादों के निर्यातों के लिए बड़े आकार को प्रस्तुत करने में सक्षम हैं।

संक्षेप में, हमें व्यापार की दिशा को इस प्रकार विकसित करना होगा कि हम विदेशी व्यापार से लाभांवित हो सकें तथा विदेशी व्यापार हमारे तीव्र गति से आर्थिक विकास के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सके।

22.7.3 आयातों की दिशा

भारत के आयातों की दिशा अर्थव्यवस्था की विकास संबंधी आवश्यकताओं पर निर्भर करती रही है। विकास के आरंभिक चरण में भारत की विकास आवश्यकताओं की वित्तीय आपूर्ति विदेशी सहायता के माध्यम से की गई थी और उसमें बँधी हुई सहायता का प्रमुख स्थान था। इसलिए आर्थिक सहायता प्रदान करने वाले देशों से ही भारत ने वस्तुओं एवं सेवाओं का आयात किया था। उदाहरण के लिए, वर्ष 1965-66 में भारत के कुल आयातों का लगभग 36 प्रतिशत भाग केवल अमरीका से किया गया था। यद्यपि अब भी भारत बड़ी मात्रा में अमरीका से आयात करता है लेकिन इस देश के सापेक्ष अनुपात में काफी गिरावट आई है जैसा कि तालिका-8 से स्पष्ट होता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

तालिका-8 : भारत के आयातों की दिशा

1998-99 (प्रतिशत योगदान)

देश/क्षेत्र	अंशदान
1. बाकी यूरोप समुदाय	23.8
2. अमरीका	9.0
3. जापान	5.1
4. रूस	1.5
5. बाकी पूर्वी यूरोप	0.6
6. तेल-निर्यातक देश	23.8
7. कम-विकसित देश	17.9
8. अन्य	18.3
कुल	**100.0**

इसी प्रकार, यद्यपि इंग्लैण्ड से काफी बड़ी मात्रा में आयात किए जाते हैं लेकिन पहले की तुलना में अब इस अनुपात में कमी हुई है। विगत वर्षों में भारत ने बैल्जियम, कनाडा, फ्रांस, जर्मनी तथा जापान आदि देशों के साथ आयात के महत्त्वपूर्ण व्यापार संबंध स्थापित किए गए है।

सोवियत यूनियन एवं पूर्वी यूरोप के देशों से ही हम भारी मात्रा में आयात किया करते थे। किंतु वर्तमान में इस दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। इस वर्ग के देशों से अब हम कुल आयातों का केवल 2 प्रतिशत भाग ही प्राप्त करते हैं।

हाल के वर्षों में भारत खाड़ी के तेल-निर्यातक देशों से भारी मात्रा में आयात कर रहा है। आर्थिक विकास के साथ कच्चे तेल एवं पेट्रोल-उत्पादों की हमारी आवश्यकताएँ निरंतर बढ़ती जा रही हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति खाड़ी देशों से ही आयात द्वारा ही की जा सकती है।

बोध प्रश्न 3

1) भारत के प्रमुख निर्यातों के नाम बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत के प्रमुख आयातों के नाम बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

3) अनुरक्षण आयातों के तीन उदाहरण बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

4) स्वतंत्रता उपरांत भारत के विदेशी व्यापार की दिशा में क्या परिवर्तन पाए जाते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

22.8 सारांश

योजनावधि के दौरान भारत के विदेशी व्यापार के मूल्य, संरचना एवं दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए हैं। यद्यपि ये सभी परिवर्तन विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल ही रहे हैं किंतु फिर भी एक-दो समस्याओं की ओर ध्यान देना होगा। भारत के व्यापार घाटे निरंतर बढ़ते रहे हैं और अतीत में बढ़ते व्यापार घाटे चिंता का विषय भी बने रहे हैं। अतः यह आवश्यक है कि व्यापार घाटों की प्रवृत्ति पर निगरानी रखी जाए तथा इन्हें काबू से बाहर नहीं होने दिया जाए। दूसरा, यह भी ध्यान देने योग्य है कि भारतीय व्यापार का विश्व के कुल व्यापार में प्रतिशत अंशदान कम होता रहा है। हमें इस प्रवृत्ति को बदलना होगा। यदि भारत को अपने आकार एवं क्षमता के अनुरूप अंतरराष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में भूमिका निभानी है।

22.9 शब्दावली

प्राथमिक वस्तुएँ : वे वस्तुएँ जोकि प्रकृति होती हैं जैसे फ़सलें, समुद्री उत्पाद, खनिज आदि।

तटकर प्रतिबंध : सरकार द्वारा लगाए गए उत्पाद-शुल्क।

गैर-तटकर प्रतिबंध : किसी देश द्वारा दूसरे देशों से किए जाने वाले आयातों पर लगाई गई रुकावटें।

व्यापार नीति : वे सब नीतियाँ जो किसी देश के व्यापार को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभावित करती हैं।

व्यापार की मात्रा : देशों में व्यापार की जाने वाली वस्तुओं की भौतिक मात्रा।

व्यापार का मूल्य : देशों में वस्तुओं में आपसी लेन-देन का मौद्रिक मूल्य।

व्यापार की संरचना : विभिन्न देशों में आपसी आदान-प्रदान की वस्तुएँ।

व्यापार की दिशा : वे देश जिनके साथ कोई देश व्यापारिक संबंध रखता है।

व्यापार शर्तें : निर्यात कीमतों एवं आयात कीमतों का अनुपात।

22.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Government of India : Economic Servey

Ishwar C. Dhingra : *The Indian Economy*

Vijay Joshi and I.M.D. Little : Indias Economic Reforms 1991-2001

Reserve Bank of India : Report on Currency and Finance

Bimal Jalan : *India's Economic Policy*

ईश्वर धींगरा : *भारत की आर्थिक समस्याएँ*

MAADHYAM IAS

22.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उप-भाग 22.2.1 देखें।
2) उप-भाग 22.2.2 देखें।
3) उप-भाग 22.2.3 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) (क), (ख) और (घ) सही कथन हैं। भाग 22.4 का अध्ययन करें।
2) उप-भाग 22.4.2 देखें।
3) भाग 22.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) उप-भाग 22.6.1 देखें।
2) उप-भाग 22.6.2 देखें।
3) उप-भाग 22.6.2 देखें।
4) भाग 22.7 का अध्ययन करें तथा भारत के निर्यात एवं आयात की दिशा में पाए जाने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 23 भुगतान-शेष

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 भुगतान-शेष की अवधारणा एवं इसकी उपादेयता
  23.2.1 चालू खाता एवं पूँजी खाता
  23.2.2 भुगतान-शेष
23.3 भुगतान-शेष एवं विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ
23.4 भारत के भुगतान-शेष की प्रवृत्तियां
  23.4.1 प्रथम समयावधि
  23.4.2 द्वितीय समयावधि
  23.4.3 तृतीय समयावधि
  23.4.4 चतुर्थ समयावधि
23.5 भुगतान-शेष के घाटों के कारण
23.6 समस्या के समाधान के लिए अपनाए गए उपाय
23.7 भारत में निर्यात प्रोत्साहन
  23.7.1 निर्यात प्रोत्साहन का औचित्य
  23.7.2 निर्यात प्रोत्साहन के लिए उठाए गए कदम
  23.7.3 निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम में कमियाँ
23.8 निर्यात-युक्ति
23.9 सारांश
23.10 शब्दावली
23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

23.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- व्यापार-शेष और भुगतान-शेष में भेद कर पाएँ;
- चालू खाते एवं पूँजी खाते में विभेद की समीक्षा कर पाएँ;
- भुगतान-शेष की अवधारणा तथा इसकी उपादेयता बतला सकें;
- निर्यात प्रोत्साहन की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकें;
- भारत सरकार के निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम का मूल्यांकन कर सकें;
- निर्यात प्रोत्साहन के वास्ते समुचित उपाय सुलझा पाएँ, तथा
- भारत सरकार द्वार भुगतान-शेष के घाटों से उत्पन्न समस्या से निपटने के लिए उठाए गए कदमों का मूल्यांकन कर सकें।

23.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने स्वतंत्र भारत के विदेशी व्यापार के ढाँचे में होने वाले परिवर्तनों का मूल्यांकन किया था। विदेशी व्यापार समग्र अन्तरराष्ट्रीय संव्यवहारों का मात्र एक हिस्सा है।

वस्तुओं की तरह ही श्रमिक, पूँजी और कच्चे माल का लेन-देन भी बराबर सभी देशों के बीच होता रहता है। इन सभी संव्यवहारों के बदले एक देश दूसरे देशों से विदेशी मुद्रा में आय प्राप्त करता है और साथ ही विदेशों से प्राप्त माल एवं सेवाओं का विदेशी मुद्रा में भुगतान करता है। इन संव्यवहारों का उचित लेखा-जोखा रखे जाना अनिवार्य है। इसी तरह के लेखे की सहायता से ही किसी देश को इस बात की स्पष्ट जानकारी हो पाती है कि वह किस हद तक विदेशी स्रोतों पर निर्भर है और विदेशी साधन आंतरिक विकास में कितना योगदान दे पा रहे हैं। आर्थिक संव्यवहारों के इस लेखे को ही भुगतान-शेष कहते हैं।

23.2 भुगतान-शेष की अवधारणा एवं इसकी उपादेयता

भुगतान-शेष का आशय उन सभी अन्तरराष्ट्रीय संव्यवहारों के लेखे-जोखे से है जिसमें वित्तीय वर्ष में एक अर्थव्यवस्था की दृश्य एवं अदृश्य मदों के आयात-निर्यात का विवरण होता है।

23.2.1 चालू खाता एवं पूँजी खाता

सरल अध्ययन की दृष्टि से भुगतान-शेष को दो भागों में बाँटा जा सकता है। ये भाग हैं: 1) चालू खाते पर भुगतान-शेष, एवं 2) पूँजी खाते पर भुगतान-शेष

1) **चालू खाते पर भुगतान-शेष (Current Account on Balance of Payments)** को पुनः दो उप-भागों में बाँटा जा सकता है : (क) व्यापार-शेष, एवं (ख) अदृश्य मदों अथवा सेवाओं में व्यापार का शेष।

क) **व्यापार-शेष** (Balance of Trade) : इसमें एक देश द्वारा एक वर्ष के दौरान किए गए निर्यात एवं आयात का लेखा तैयार किया जाता है। उल्लेखनीय है कि इस लेखे में केवल वस्तुओं अथवा दृश्य मदों (visible items) के निर्यात और आयात को ही जोड़ा जाता है। एक वर्ष के दौरान किए गए निर्यात के मूल्य (X) उसी अवधि में इस देश द्वारा प्राप्त आयात के मूल्य (M) से कम भी हो सकते हैं अथवा अधिक भी या दोनों ही बराबर भी हो सकते हैं। इस प्रकार, एक वर्ष के दौरान व्यापार-शेष (BOT) निम्न में से कोई एक रूप धारण कर सकता है :

i) व्यापार-शेष में अतिरेक (Surplus in BOT) यदि X<M;

ii) व्यापार-शेष में अतिरेक (Surplus in BOT) यदि X>M;

iii) व्यापार-शेष में संतुलन (Balance in BOT) यदि X=M.

ख) **सेवाओं में व्यापार को शेष** (Balance of Trade in Services) : इस लेखे में वस्तुओं के आयात-निर्यात छोड़कर एक देश द्वारा शेष विश्व के साथ बाकी जो सभी संव्यवहार किए जाते है उन सभी को शामिल करते हैं। इन विभिन्न संव्यवहारों को हम अदृश्य मदों में व्यापार की संज्ञा देते हैं। इन विभिन्न अदृश्य मदों को हम पाँच वर्गों में बाँट सकते हैं: (i) सेवाएँ, जैसे बैंकों की सेवाएँ, बीमा, जहाजरानी, हवाई सेवाएँ, डाक की सेवाएँ, आदि (ii) विनियोग से आय, जैसे विदेशियों द्वारा किए गए प्रत्यक्ष निवेश या पोर्टफोलियो निवेश या किसी अन्य रूप के निवेश पर प्राप्त लाभांश या ब्याज की राशि, द्विपक्षीय अथवा बहुपक्षीय ऋणों से अर्जित ब्याज की राशि, आदि (iii) पर्यटकों का एक देश से दूसरे देशों को आना-जाना, (iv) सरकारी हस्तांतरण, एवं (v) निजी हस्तांतरण। ये सभी संव्यवहार दो तरफा होते हैं। उदाहरण के लिए भारत शेष विश्व से ये सभी

सेवाएँ प्राप्त भी करता है और शेष विश्व को सभी सेवाएँ प्रदान भी करता है। भारत द्वारा जब ये सेवाएँ प्रदान की जाती हैं तो भारत को शेष विश्व से विदेशी मुद्रा में आय प्राप्त होती है जिसे चालू आगम (Current Receipts) या (R) का नाम दिया जाता है। इसी तरह विदेशों द्वारा भारत को प्रदान की गई सेवाओं के बदले में भारत द्वारा कीमत चुकाई जाती है। जिसे चालू भुगतान (Current Payment या P) का नाम दिया जाता है। एक वर्ष के दौरान R के मूल्य P के बराबर, P से अधिक अथवा P से कम हो सकते हैं। अर्थात् व्यापार-शेष की तरह सेवाओं में व्यापार के शेष (BOI) के भी तीन संभव रूप हैं :

i) BOI में घाटे यदि R<P,

ii) BOI में अतिरेक यदि R>P, एवं

iii) BOI में संतुलन यदि R=P।

BOT एवं BOI के योग को चालू खाते पर भुगतान-शेष (BOP on Current Account) का नाम दिया जाता है।

BOP on Current Account में एक तरफ एक देश द्वारा शेष विश्व से प्राप्त होने वाली विदेशी मुद्रा तथा दूसरी तरफ शेष-विश्व को किए जाने वाले भुगतानों का लेखा-जोखा रखा जाता है। स्पष्टतः पुनः निम्न तीनों में से कोई भी स्थिति सम्भव हो सकती है :

1) चालू खाते में अतिरेक यदि प्राप्तियाँ भुगतानों से अधिक हैं,

2) चालू खाते में घाटे यदि प्राप्तियाँ भुगतानों से कम हैं, एवं

3) चालू खाते में संतुलन यदि प्राप्तियाँ भुगतानों के बराबर है।

MAADHYAM IAS

1) चालू खाते में अतिरेक से यह अभिप्राय है कि इस देश द्वारा इस वर्ष कमाई गई विदेशी मुद्रा की राशि इसके द्वारा खर्च विदेशी मुद्रा की राशि से अधिक है। ऐसी परिस्थिति में यह देश चाहे तो अन्य देशों को बची हुई विदेशी मुद्रा ऋण के रूप में दे सकता है। अन्यथा अपने ऋणों के भार को कम करने के लिए अपने ऋणदाताओं को लौटा सकता है।

2) इसके विपरीत, यदि इसके समक्ष भुगतान-शेष के घाटे की स्थिति बन आई है तो इसे निम्न दो विकल्पों में से चुनना होगा। पहला, घाटे के भुगतान के लिए विदेशी मुद्रा के भंडार कम हो जाएँगे। दूसरा, घाटे के भुगतान के लिए विदेशों से ऋण लिए जा सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में इस देश के भावी दायित्वों की राशि बढ़ जाएगी।

3) यदि भुगतान-शेष संतुलन में पाए जाते हैं तो इसके बारे में इस देश को किसी भी तरह के विशेष प्रयास करने की आवश्यकता नहीं होगी।

2) **पूँजी-खाते पर भुगतान-शेष (Balance of Payments on Capital Account)** : पूँजी खाते में चालू खाते के संव्यवहारों के कारण देश की विदेशी निधियों एवं दायित्वों में हुए परिवर्तनों तथा पूँजी के अन्तरण का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाता है।

जैसा कि हम चालू खाते का वर्णन करते हुए उल्लेख कर आए हैं कि यदि देश के चालू खाते में अतिरेक पाए जाते हैं तो यह देश अन्य देशों को ऋण दे सकता है। इसी तरह यदि चालू खाते में घाटे पाए जाएँ तो इन घाटों की पूर्ति विदेशों से ऋण लेकर की जा सकती है। इन सभी संव्यवहारों को पूँजी खाते में जोड़ा जाता है। विदेशों से प्राप्त पूँजी को पूँजी

को दायित्वों (debits) के रूप में।

पूँजी खाते की यदि किसी देश के चालू खाते में अतिरेक है तो पूँजी खाते में इसके दायित्व इसकी प्राप्तियों से अधिक होने चाहिए अर्थात् चालू खाते में अतिरेक की स्थिति में पूँजी खाते में घाटा बनाना होगा। अतिरेक और घाटा मिलकर भुगतान-शेष में संतुलन स्थापित कर देंगे।

इसी तरह, यदि चालू खाते में घाटे पाए जाते हैं तो यह आवश्यक है कि यह देश विदेशों से अतिरेक पूँजी जुटाए जिससे कि पूँजी खाते में अतिरेक बन पाएँ। इन अतिरेकों से चालू घाटों का भुगतान किया जा सकता है।

संक्षेप में

शेष विश्व से निवेश पूँजी का प्रवाह = चालू खाते में घाटा + पुराने ऋणों की निवल अदायगी

23.2.2 भुगतान-शेष (Balance of Payments)

'भुगतान-शेष' चालू खाते पर भुगतान-शेष और पूँजी खाते पर भुगतान-शेष के जोड़ को प्रस्तुत करते हैं। चूँकि चालू खाते और पूँजी खाते के शेष विपरीत दिशा में इस प्रकार परिवर्तित होंगे कि चालू खाते के घाटे पूँजी खाते के अतिरेकों के बराबर होंगे भुगतान शेष सदैव अनिवार्यतः ही संतुलन में होंगे। अन्य शब्दों में, एक देश का समग्र भुगतान-शेष अनिवार्यतः संतुलन में ही होगा।

बोध प्रश्न 1

1) भुगतान-शेष से क्या अभिप्राय है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) व्यापार की दृश्य मदों एवं अदृश्य मदों में भेद कीजिए। प्रत्येक के तीन उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) व्यापार-शेष एवं भुगतान-शेष में भेद कीजिए।

.....

.....

MAADHYAM IAS

.....

.....

.....

4) किन परिस्थितियों में पूँजी खाते में अतिरेकों की आवश्यकता होती है?

.....

.....

.....

.....

.....

23.3 भुगतान-शेष एवं विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ

विकास अर्थशास्त्र के विद्यार्थी यह अच्छी तरह से जानते हैं कि प्रायः सभी अल्पविकसित देश विकास-क्रिया के प्रारम्भिक चरणों में शेष-विश्व से अपनी विकास-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण लेते हैं। विकास-प्रक्रिया में विदेशों से पूँजीगत सामान, कच्चा माल, उपभोक्ता, वस्तुएँ एवं विभिन्न प्रकार के उपकरण आयात करना आवश्यक होता है। इन सभी वस्तुओं को खरीदने के लिए पर्याप्त में विदेशी मुद्रा कमाने में विकासशील देश असमर्थ होते हैं। अतः विदेशों से ऋणों पर निर्भरता बनी रहती है। किन्तु विकास-क्रम में जैसे-जैसे आधुनिकतम उपकरणों और तकनीक की सहायता से घरेलू उत्पादन-ढाँचे का विकास होता है इस देश की आयात आवश्यकता कम होती जाती है जबकि निर्यात सम्भवनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसी क्रम में यही देश निवल निर्यातक बन अतिरेक विदेशी मुद्रा अर्जित करता है। इस अतिरेक का प्रयोग अतीत के ऋणों को चुकाने एवं विदेशों में निवल निवेश करने के लिए किया जाता है। अर्थात्, यह देश ऋणदाता उभरकर आता है।

23.4 भारत के भुगतान-शेष की प्रवृत्तियाँ

समय-समय पर भारत भुगतान-शेष के दबाव को या तो घरेलू कठिनाइयों अथवा विदेशी कारकों के कारण महसूस करता रहा है। योजनाकाल की समस्त अवधि को भुगतान-शेष के विश्लेषण हेतु, तीन आधारों पर विभाजित किया जा सकता है : (i) भुगतान-शेष की समस्या की प्रकृति का आधार, (ii) समस्त समष्टिगत वातावरण का आधार, तथा (iii) बाह्य सहायता की स्थिति का आधार। इन तीनों आधारों पर समस्त समयावधि को चार उप-अवधियों में वर्गीकृत किया जा सकता है : (1) वर्ष 1975-76 (प्रथम समयावधि); (2) वर्ष 1976-77 से 1979-80 तक (दूसरी समयावधि); (3) 1980-81 से 1989-90 (तीसरी समयावधि); (4) वर्तमान प्रास्था 1991-99 (चौथी अवधि)।

23.4.1 प्रथम समयावधि (वर्ष 1975-76 तक) (First Sub-period)

यह सम्पूर्ण अवधि के भुगतान-शेष के लिए बहुत कठिन रही, आंशिक रूप से इसलिए कि आयात की आवश्यकताओं की तुलना में निर्यात धीमी गति से बढ़ रहे थे, तथा विदेशी कारकों की प्रतिकूलता के कारण, कठोर आयात नियंत्रणों (परिणामात्मक नियंत्रणों के माध्यम से) तथा विदेशी विनिमय किसानों के बावजूद चालू खाते का घाटा सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 1.8 प्रतिशत था। विदेशी विनिमय निधियाँ बहुत नीचे स्तर तक बनी रहीं

जो कि तीन माह के आयात को पूरा करने के लिए भी अपर्याप्त थीं। चालू खाते के घाटे का लगभग 90 प्रतिशत रियायती दरों पर विदेशी सहायता का अन्तर्वाह करके पूरा किया गया।

23.4.2 द्वितीय समयावधि (1976-77 से 1979-80 तक) (Second Sub-period)

इसको भुगतान-शेष की स्वर्णिम अवधि कहा जाता है। भारत के चालू खाते में GDP के 0.6 प्रतिशत के बराबर अधिशेष उत्पन्न हुआ तथा लगभग 7 माहों के आयातों के लिए विदेशी विनिमय निधियाँ उपलब्ध थीं। यद्यपि निर्यातों में वृद्धि हुई किन्तु BOP में नाटकीय वृद्धि का प्रमुख कारण शुद्ध अदृश्य मदों में वृद्धि थीं। वर्ष 1974-75 में शुद्ध अदृश्य मदों का मूल्य 193 करोड़ रुपये था जो कि वर्ष 1979-80 में बढ़कर 2.486 करोड़ रुपये हो गया।

23.4.3 तृतीय समयावधि (1980 से 1989-90 तक) (Third Sub-period)

यह अवधि छठी और सातवीं योजना की अवधि थी। छठी योजना को उस समय लागू किया गया जबकि देश के समक्ष गम्भीर (BOP) संकट था। विस्तारक कोष सुविधा (Extended Fund Facility) के अन्तर्गत भारत ने वर्ष 1981 में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के 5 बिलियन SDR के ऋण का समझौता किया। सातवीं योजना के आरम्भ से ही व्यापार-शेष और भुगतान-शेष के घाटे में वृद्धि होने लगी और योजना के अंतिम दो वर्षों में स्थिति बहुत गंभीर हो गई।

23.4.4 चतुर्थ समयावधि (1991 के पश्चात्) (Fourth period)

वर्ष 1990-91 में BOP संकट अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया जबकि चालू खाते का घाटा GDP का 3.26 प्रतिशत हो गया जैसा कि तालिका-1 से स्पष्ट होगा।

तालिका-1 : भारत के भुगतान-शेष के प्रमुख संकेतक

(GDP के प्रतिशत के रूप में)

वर्ष	निर्यात	आयात	व्यापार-शेष	निवल अदृश्य	चालू खाता
1985-90	5.1	8.3	−3.2	0.9	−2.3
1990-91	6.2	9.4	−3.2	−0.1	−3.2
1991-92	7.3	8.3	−1.1	0.7	−0.4
1992-93	7.8	9.8	−2.0	0.2	−9.8
1993-94	8.8	9.7	−0.9	0.5	−0.4
1994-95	8.8	10.5	−1.6	0.8	−0.8
1995-96	8.9	12.0	−3.1	1.5	−1.6
1996-97	8.6	12.3	−3.7	2.6	−1.3
1997-98	8.5	11.4	−3.2	2.2	−1.0
1998-99	8.2	11.4	−3.2	2.2	−1.0

भारत के समक्ष BOP घाटे का गंभीर संकट बन आया था। इससे निपटने के लिए समुचित नीति अपनाई गई। वर्ष 1992-93 तक स्थिति पर काबू पा लिया गया था हालाँकि घाटों का दबाव बना रहा। उसके बाद से BOP में बराबर सुधार जारी है हालाँकि हम संकट से पूरी तरह से बाहर नहीं आ पाए हैं।

MAAPHYAM IAS

23.5 भुगतान-शेष के घाटों के कारण

विकास-प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरण से भारत को भुगतान-शेष के घाटों का सामना करना पड़ा है। यहाँ हम समस्त स्थिति पर एक-साथ विचार करेंगे और उन प्रमुख कारकों पर प्रकाश डालेंगे जोकि इन घाटों के लिए ज़िम्मेदार रहे हैं। हम हाल के घटनाचक्र पर विशेष रुचि रखेंगे।

1) व्यापार-शेष के घाटे

जैसा कि अपेक्षित ही था विकास-क्रम में अर्थव्यवस्था की आयात-वस्तुओं की माँग निरन्तर बढ़ती रही है जबकि निर्यातों में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हो पाई। परिणामतः व्यापार-शेष के घाटे निरन्तर बढ़ते गए।

इधर कुछ वर्षों से जब निर्यात-वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया निर्यातों की वृद्धि दर उत्साहजनक नहीं है। किन्तु निर्यातों के साथ ही आयात भी तेज गति से ही बढ़ते रहे हैं। बल्कि जैसे-जैसे अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा कड़ी होती जा रही है भारतीय उद्योगों की आयात-गहनता भी बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप व्यापार-शेष के घाटे अब भी उत्तरोत्तर बढ़ते ही जा रहे हैं।

2) अदृश्य मदों के अतिरेक में गिरावट

अतीत में भारत अदृश्य मदों के व्यापार में अतिरेक कमाता रहा है। ये अतिरेक प्रमुख रूप से दो कारणों से उत्पन्न होते रहे हैं : पहला, विदेशों में काम करने वाले भारतीयों द्वारा अपनी आय का भारत को प्रेषण तथा दूसरा विदेशी पर्यटकों से प्राप्त शुद्ध आय। किंतु इधर पिछले चंद वर्षों से इस संदर्भ में स्थिति उतनी मजबूत नहीं रही है। विदेशों से प्रेषित की जाने वाली आय अथवा पर्यटकों से प्राप्त आय में एक ओर कोई विशेष सुधार नहीं दिखलाई देता और दूसरी ओर विदेशियों द्वारा भारत में किए गए निवेश पर लाभांश, कमीशन आदि के रूप में प्राप्त आय में वृद्धि होती जा रही है। भारत में विदेशी निवेश की राशि जैसे-जैसे बढ़ेगी अदृश्य मदों के अतिरेक में उत्तरोत्तर गिरावट अपेक्षित है।

3) विदेशी ऋण-सेवाओं का बढ़ता बोझ

विदेशी-ऋण-सेवाओं का बढ़ता बोझ भुगतान-शेष के घाटों के अन्य महत्त्वपूर्ण कारक है। ऋण-सेवा की राशि को जो वर्ष 1989-90 में 7.6 बिलियन थी 1998-99 में बढ़कर 10.73 बिलियन हो गई। ऋण-सेवाओं की राशि में सारी वृद्धि दो कारकों का परिणाम है : एक, विदेशी ऋण का बोझ निरन्तर बढ़ता जा रहा है, और दूसरा कुल विदेशी ऋण में उस ऋण का अनुपात कम होता जा रहा है जो कि हमें रियायती दरों पर प्राप्त हो रहा था। ऋण के लिए हमें खुले बाज़ार की दरें स्वीकार करनी पड़ रही हैं जोकि स्वभावतः ऊँची हैं। निकट भविष्य में भी ऊँचे ब्याज की दर पर ऋण स्वीकार करने की बात से इंकार नहीं किया जा सकता।

4) रियायती सहायता मिलने की धूमिल सम्भावनाएँ

आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरण में भुगतान-शेष के घाटों के भुगतान के लिए आसान

शर्तों पर विदेशी सहायता उपलब्ध हो रही थी। परिणामतः भुगतान-शेष के घाटे चिन्ता का विषय नहीं थे। इधर पिछले कुछ वर्षों से आसान शर्तों पर विदेशी सहायता अतीत की बात बनकर राशि में विदेशी सहायता उपलब्ध करवाते हैं। (i) विकसित देश अपेक्षाकृत कम राशि में विदेशी सहायता उपलब्ध करवाते हैं। (ii) ऋणदाताओं में यह धारणा बन गई है कि विकास की वर्तमान अवस्था में भारत को रियायती सहायता की आवश्यकता नहीं है बल्कि भारत व्यावसायिक बाज़ारों में अपनी आवश्यकता के अनुरूप पर्याप्त राशि जुटा सकता है। (iii) चीन व पूर्वी यूरोप के देश विकसित देशों से रियायती सहायता की अपेक्षा करने लगे हैं। (iv) अनेक नए स्वतंत्र राष्ट्रों की ओर विकसित देश अधिक सहानुभूति प्रदर्शित कर रहे हैं। इनमें उल्लेखनीय है इस्टोनिया, लिथूनिया, लाटविनया, यूकरेन आदि। परिणामतः भुगतान-शेष के घाटों की पूर्ति के लिए भारत को व्यावसायिक ऋणों का सहारा लेना पड़ रहा है। जिसका अभिप्राय यह है घाटों की पूर्ति के वास्ते अब अपेक्षाकृत ऊँची कीमत चुकानी पड़ रही है। और यही है भुगतान-शेष विषयक चिंता की बात।

बोध प्रश्न 2

1) भारत के भुगतान-शेष के संदर्भ में कौन-सी अवधि सबसे कठिन रही है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में भुगतान-शेष की कठिनाइयों के चार प्रमुख कारण बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

23.6 समस्या के समाधान के लिए अपनाए गए उपाय

भुगतान-शेष के घाटों से निपटने के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए कदमों की दृष्टि से समस्त अवधि को दो भागों में बाँटा जा सकता है : (1) 1951-91, तथा (2) 1991 के पश्चात्

1) **1991 तक की अवधि**— इस अवधि में भुगतान-घाटों से निपटने के लिए जो प्रमुख कदम उठाए गए उनमें से कुछ एक ये हैं : (i) आयात-प्रतिस्थापन उद्योगों को बढ़ावा देना, (ii) आयातों पर भौतिक प्रतिबन्ध लगाना, (iii) निर्यात सम्वर्धन के लिए विशेष प्रोत्साहन देना, तथा (iv) अदृश्य मदों से प्राप्त विदेशी मुद्रा को बढ़ावा देने के लिए विशेष प्रोत्साहन प्रदान करना। इन सभी नीतिगत उपायों को सीमित सफलता ही प्राप्त हो पाई थी जैसा कि इस बात से स्पष्ट होता है कि वर्ष 1990 के लगभग भारत को कठिन भुगतान-शेष की समस्या का सामना करना पड़ा था।

2) **1991 के पश्चात्**— इस अवधि में भुगतान-शेष की समस्या से निपटने के लिए एक व्यापक नीति का निर्माण कर उसे क्रियांवित किया गया। भुगतान-शेष की रणीनीति के प्रमुख तत्त्वों को संक्षिप्त रूप में नीचे प्रस्तुत किया गया है।

क) वित्तीय एवं मौद्रिक अनुशासन

सामूहिक माँग को नियंत्रित करने के लिए कठोर वित्तीय एवं मौद्रिक अनुशासन को लागू करने के प्रयास किए गए हैं। केंद्र सरकार के बजट में वित्तीय घाटा जोकि 1990-91 में GDP के 8.4 प्रतिशत के बराबर था क्रमशः कम किया गया है। वर्ष 1998-99 के बजट में इसके GDP के 5.6 प्रतिशत तक रह जाने के प्रावधान किए गए हैं।

इसी तरह मौद्रिक नीति के समक्ष प्रमुख उद्देश्य मुद्रा की आपूर्ति दर को नियंत्रित करना है। मुद्रा की आपूर्ति दर जो कि वर्ष 1991-92 में 18.5 प्रतिशत थी वर्ष 1995-96 में कम होकर 13.2 प्रतिशत तथा वर्ष 1998-99 में 17.8 प्रतिशत रह गई।

ख) विनिमय दर नीति एवं विदेशी व्यापार नीति में सुधार

वर्ष 1993 तक भारतीय मुद्रा की विदेशी विनिमय दर भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा निर्धारित की जाती थी। भारतीय रिज़र्व बैंक द्वारा जुलाई 1991 में रुपए का लगभग 20 प्रतिशत की दर से अवमूल्यन किया गया। रुपए के अवमूल्यन का प्रमुख उद्देश्य भारत के निर्यातों को प्रोत्साहन प्रदान करना था। 1 मार्च 1993 से विनिमय दर प्रणाली को ही बदल दिया गया। अब भारतीय मुद्रा की विनिमय दर बाज़ार में माँग और आपूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। इसी तरह वर्ष 1994-95 के संघीय बजट में चालू खाते पर रुपए की पूर्ण परिवर्तनीयता की घोषणा की गई। जिसके अनुसार अन्तरराष्ट्रीय आर्थिक संव्यवहारों पर लगे अनेक तरह के बन्धनों को हटा लिया गया है।

MAADHYAM IAS

आर्थिक संव्यवहारों को ढील देने के क्रम में विदेशी व्यापार नीति में भी आवश्यक सुधार किए गए हैं। व्यापार-शेष के घाटे को दूर करने के लिए पूँजीगत वस्तुओं, कच्चे माल और संघटकों पर आयात नियंत्रणों को प्रायः समाप्त कर दिया गया है। शीर्ष तटकरों, विशेषकर पूँजीगत तटकरों में बहुत कटौती की गई है। आयात ऋण पर नकद अपेक्षाओं व ब्याज अधिकार को समाप्त कर दिया गया है।

ग) संरचनात्मक सुधार

इनमें प्रमुखतः निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं : (i) उद्योग व व्यापार पर नियंत्रणों में बहुत ढील दी गई है। (ii) कई उद्योगों को विलाइसंसीकृत कर दिया गया है। (iii) कई क्षेत्र जो पहले केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित थे अब प्रतिस्पर्धा बढ़ाने की दृष्टि से निजी व विदेशी निवेश के लिए मुक्त कर दिए गए हैं। (iv) प्रत्यक्ष विदेशी एवं पत्राधान निवेश (portfolio investment) को आकर्षित करने के लिए नीतिगत उपाय अपनाए गए हैं। (v) वित्तीय क्षेत्र में तथा कर प्रणाली में अनेक सुधारों को लागू किया गया है।

बहुपक्षीय एजेंसियों तथा द्विपक्षीय दानकर्ताओं से अपवादिक वित्तीयन का संघटन किया गया। अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष से सहारे के विन्यास (Stand-by arrangements) किए गए। विश्व बैंक से संरचनात्मक समन्वयकारी और सामाजिक सुरक्षा जाल ऋण प्राप्त किए गए। एशियाई विकास बैंक से भी संरचनात्मक क्षेत्र ऋणों के समझौते किए गए।

परिणाम (Results)— भुगतान-शेष की समस्या से निपटने के लिए वर्तमान में अपनाई गई रणनीति पूर्ण रूप से समस्या का हल ढूँढ निकालने में सक्षम हैं। परिणाम भी शीघ्र ही

सामने आते दिखलाई दिए हैं। भुगतान-शेष के घाटों के दबाव क्रमशः शिथिल पड़ते जा रहे हैं। इस बात से पता चलता है कि देश के विदेशी मुद्रा भंडारों में निरन्तर वृद्धि जारी है। भारत में विदेशी मुद्रा भंडार जो कि वर्ष 1991 में केवल 2,236 मिलियन थे वर्तमान में बढ़कर 30,000 मिलियन से अधिक हो चुके हैं जैसा कि तालिका-2 से स्पष्ट है।

तालिका-2 : भारत के विदेशी मुद्रा भंडार

	मार्च के राशि अन्त $ मिलियन	आयात-अवधि के लिए पर्याप्त (मास)	चालू भुगतानों के लिए पर्याप्त (मास)
1951	1914	16.8	14.6
1961	390	2.0	1.7
1971	584	2.9	2.2
1981	5850	4.5	4.0
1991	2236	1.0	0.8
1995	20708	8.2	5.9
1996	16018	5.44	3.8
1997	21261	7.0	4.0
1998	25975	7.5	4.5
1999	29522	7.5	4.5

तालिका-2 से स्पष्ट है कि जहाँ वर्ष 1991 में उपलब्ध विदेशी मुद्रा के भंडार मात्र एक माह के आयात अथवा 0.8 माह के चालू भुगतानों के लिए भी पर्याप्त नहीं थे अब बढ़कर 7.0 माह की आयात आवश्यकताओं अथवा 4 मास के चालू भुगतानों के लिए भी पर्याप्त हो रहे हैं। विदेशी मुद्रा भंडारों के सहारे विदेशी व्यापार नीति में उदारता बरतना और लचीलापन लाना सम्भव हो रहा है। अन्त में, निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारत ने भुगतान-शेष के घाटों के निपटने के लिए एक समुचित नीति का गठन किया है तथा इसके परिणाम भी सुखद रहे हैं। किन्तु उल्लेखनीय है कि समस्या पर पूरी तरह से काबू पा लेना सम्भव नहीं हो पाया है। चालू खाते पर घाटों की स्थिति पूर्ववत् बनी हुई है और इन घाटों का आकार बढ़ता जा रहा है। विकास-क्रम में आयातों की आवश्यकताएँ बढ़ती ही रहेंगी। परिणामस्वरूप यह आवश्यक है कि हम निर्यातों के बढ़ानें में विशेष रुचि रखें और इस वास्ते सुडौल नीति का गठन करें। अन्यथा चालू खाते के बढ़ते घाटे हमारे विकास क्रम में गंभीर बाधा बन कर सामने आ सकते हैं।

23.7 भारत में निर्यात प्रोत्साहन

"Export or Perish'' अर्थात् "निर्यात कीजिए अथवा लुप्त हो जाइए'' का उपदेश अतीत में कभी इतना सार्थक नहीं था जितना यह अब वर्तमान में है।

23.7.1 निर्यात संवर्धन का औचित्य

निर्यातों की मात्रा को बढ़ाना आर्थिक दृष्टि से आज जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। ऐसा क्यों है? इसके लिए अनेक कारक ज़िम्मेदार हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :

पहला, भारत की आयातों की आवश्यकताएँ निरन्तर बढ़ती ही रहेंगी ऐसी अपेक्षा की जानी चाहिए बशर्ते कि हम अपनी विकास क्रिया को धीमा करने के लिए तैयार हों। विकास-क्रम में तेल तथा निवेश से व्युत्पन्न विदेशी तकनीक और पूँजीगत सामान के आयातों में होने वाले खर्च में अप्रत्याशित वृद्धि सम्भावित है। इसी प्रकार गैर-तेल कच्चे माल के आयातों में भी राशि वृद्धि की सम्भावना को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इन सबके वास्ते निर्यात के जरिए भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा का प्रबंध करना होगा।

दूसरा, अतीत के अनुभवों के आधार पर यह हमारे हित में नहीं होगा कि आवश्यक वस्तुओं के आयात के वित्तीयन के लिए हम विदेशी सहायता पर निर्भर रहें। जहाँ तक इस स्रोत से वित्तीयन उपलब्ध हैं हम इनका समुचित प्रयोग कर सकते हैं किन्तु विभिन्न विकल्पों को भी हमें बराबर मज़बूती से अपने साथ बाँधे रखना होगा। यदि स्थिति ऐसी बिगड़ जाएँ कि विदेशी सहायता के प्रवाह में अनदेखी रुकावटें आने लगें तो हमें विकल्पों का सहारा सुलभ होना चाहिए।

तीसरा, विदेशी ऋण-सेवा पर होने वाले व्यय की राशि का भारी बोझ हम पर पहले से ही बना हुआ है। इस बोझ में और वृद्धि को सहन करना शायद हमारी सामर्थ्य से बाहर होगा। अतः नए अतिरिक्त आयातों के वास्ते हमें अतिरिक्त निर्यातों की व्यवस्था करनी होगी।

चौथा, आधुनिकतम तकनीक बड़े पैमाने के उत्पादन के हक में है। बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव बनाने के लिए यह आवश्यक होगा कि बाज़ार के आकार का विस्तार किया जाए। नए अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों की सहायता से इस प्रकार का विस्तार सम्भव हो सकता है।

पाँचवाँ, देश में यदा-कदा खाद्य-तेल, चीनी, खाद्यान्न आदि उपभोक्ता वस्तुओं की कमी भी उत्पन्न हो जाती है जोकि आर्थिक अस्थिरता को जन्म देती है। ऐसी वस्तुओं के आयात को भी भुलाया नहीं जा सकता।

अन्त में, हाल ही में आर्थिक सुधार कार्यक्रम का एक सुखद परिणाम यह रहा है कि भारत से अनेक तरह की नई वस्तुओं के निर्यात करना सम्भव हो पाया है। इनमें कुछ एक वस्तुएँ श्रम-गहन तकनीक का उपयोग करती हैं। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में भारत को तुलनात्मक श्रेष्ठता प्राप्त है। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विस्तार करके पहली बार अब सम्भव प्रतीत हो रहा है कि निर्यातों के रास्ते भारत से निर्धनता को समूल उखाड़ फैंकना सम्भव हो पाएगा, बिल्कुल वैसे जैसे कि कुछ वर्ष पहले पूर्वी एशिया के देशों ने इस तरह का चमत्कार अनुभव किया था।

संक्षेप में, भारत की वर्तमान परिस्थिति में निर्यात संवर्धन का दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

23.7.2 निर्यात सम्वर्धन के लिए उपाय

निर्यात सम्वर्धन में अनेक क्षेत्रों का योगदान अपेक्षित है। यह बात ध्यान में रखते हुए भारत सरकार द्वारा निर्यात सम्वर्धन का जो कार्यक्रम तैयार किया गया है। उसमें सभी सम्बद्ध क्षेत्रों को शामिल करने के प्रयास किए गए हैं। हम इनमें से कुछ प्रमुख पहलूओं पर प्रकाश डालेंगे।

क) निर्यात के लिए उत्पादन

निर्यात क्षेत्र को प्राथमिकता क्षेत्र में शामिल किया गया है। वे सभी औद्योगिक इकाइयाँ जो कि अपने कुल उत्पादन का 10 प्रतिशत या उससे अधिक भाग का निर्यात करती हैं उन्हें निर्यात उत्पादन के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। इसी तरह लघु

उद्योगों एवं विदेशी कम्पनियों को भी निर्यात के लिए करती हैं उनके लिए लाइसेंस व्यवस्था को बहुत सरल बनाया गया है। इन्हें शुल्क-रहित कच्चे माल, मशीनों आदि के आयात की छूट प्रदान की जाती है।

निर्यात के लिए उत्पादन बढ़ाने के साथ सरकार का उद्देश्य वस्तुओं की गुणवत्ता को नियंत्रित करना है। जहाज पर लदान से पहले माल की गुणवत्ता की कड़ी जाँच की जाती है।

ख) **निर्यात साख एवं वित्त**

निर्यात के माल के जहाज पर लदान से पहले तथा लदान के बाद साख और वित्त की व्यवस्था की जाती है। निर्यात करने वाली औद्योगिक इकाइयों को वाणिज्य बैंक रियायती ब्याज की दरों पर ऋण की सुविधाएँ प्रदान करते हैं।

निर्यात-आयात बैंक

1 जनवरी, 1982 को विदेशी व्यापार का विकास करने के उद्देश्य से निर्यात-आयात बैंक की स्थापना की गई। इस बैंक ने अन्तरराष्ट्रीय व्यापार से संबंधित वित्त का समस्त उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया है। यह बैंक आयात ऋणों, व्यापार बैंकिंग, विकास बैंकिंग, तकनीकी आदि कार्यों को भी सम्पन्न करता है।

ग) **निर्यात प्रोत्साहन एवं सहायता**

निर्यात सम्वर्धन के लिए सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के वित्तीय प्रोत्साहन दिए जा रहे हैं जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

i) **वित्तीय प्रोत्साहन**

इनमें आय करों में छूट, सीमा शुल्क में छूट, बिक्री कर में छूट आदि प्रमुख हैं।

ii) **मौद्रिक प्रोत्साहन**

इनमें निर्यात सम्वर्धन के लिए दिए गए ऋणों की सुविधाओं को शामिल किया जाता है।

iii) **विशेष प्रोत्साहन योजनाएँ**

सरकार द्वारा निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिए पंजीकृत निर्यातकर्ताओं को कच्चे माल, अर्द्ध-निर्मित माल, औजार की आसान उपलब्धि के रूप में सहायता की जाती है। इसी प्रकार कुछ परम्परागत वस्तुओं के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए शुल्क-रहित कच्चे माल के आयात की छूट दी जाती है।

घ) **संगठनात्मक व्यवस्था**

सरकार ने निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिए कई विशिष्ट संस्थाओं जैसे The Central Advisory Board on Trade, Trade Development Authority, Federation of Indian Export Organisations, Commodity Boards, Export Promotion Councils आदि का गठन किया है। इसके अलावा State Trading Corporation, Minerals and Metals Trading Corporation आदि संगठन भी विदेशी व्यापार के विकास में काफी सहयोग प्रदान करते हैं।

23.7.3 निर्यात प्रोत्साहन कार्यक्रम की कमियाँ

i) निर्यात सम्वर्धन कार्यक्रम की प्रमुख कमी यह है कि हम अपने निर्यात-उत्पादों की मूल्य प्रतिस्पर्धात्मकता एवं लाभ-प्रदता पर ही अपना समस्त ध्यान केंद्रित किए हुए हैं। इसी ध्येय से विभिन्न राजकोषीय, वित्तीय, मौद्रिक और अन्य प्रोत्साहन निर्यातकों को प्रदान किए जाते हैं कि अपेक्षाकृत ऊँची लागत पर उत्पादन करने के बाद भी वे अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों में कम कीमत पर अपना सामान बेचने को प्रेरित हों। इसमें कोई संदेह नहीं कि विदेशी बाज़ारों में उत्पाद की कीमतों की अहम् भूमिका होती है किंतु हम अन्य कारकों की अनदेखी नहीं कर सकते। इन कारकों में प्रमुख हैं उत्पादों की गुणवत्ता तथा ठीक समय पर उत्पादों की आपूर्ति आदि। हमें निर्यात सम्वर्धन कार्यक्रम में इन बातों पर भी उतना ही ध्यान देना होगा।

ii) अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों से संबंधित सूचना अनेक बोर्डों एवं संगठनों द्वारा अपने तरीकों से एकत्र एवं प्रकाशित की जाती है। किंतु, इन्हें किसी एक समन्वित ढंग से एकत्र और प्रकाशित करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। वर्तमान में जबकि अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा निरन्तर बढ़ती जा रही है सूचना संबंधी इन प्रयासों पर विशेष ध्यान देना होगा।

iii) अनेक बार निर्यात उत्पादों पर विभिन्न परोक्ष कर वसूल कर लिए जाते हैं और बाद में वापिस अदायगी कर दी जाती है। यह सारी प्रक्रिया अर्थहीन प्रतीत होती है जिसमें मूल्यवान साधनों को अनुत्पादक उपयोग ही हो पाता है। इस तरह की कार्यप्रणाली को बदलना होगा।

iv) सरकार से उपलब्ध सहायता का लाभ उठाने के लिए उत्पादकों को विभिन्न प्रशासनिक कठिनाइयाँ झेलनी होती हैं। सरकारी काम काज में सरल प्रणाली अपनाए जाने की भूमिका पर विशेष ध्यान देना होगा।

MADHAVAM IAS
"way to achieve your dream"

बोध प्रश्न 3

1) 1991 के पश्चात् भुगतान-संतुलन में सुधार के लिए अपनाए गए चार उपाय बताइए।

.....

.....

.....

.....

') भारत में भुगतान-संतुलन की समस्या से निपटने के लिए अपनाई गई रणनीति की प्रमुख बातें बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत की आर्थिक नीति में किए गए प्रमुख संरचनात्मक परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

23.8 निर्यात-युक्ति

हम देश के लिए निर्यात संवर्धन की भावी नीति के निर्माण के वास्ते निम्नलिखित सुझाव दे सकते हैं :

1) **निर्यात-योग्य उत्पादन को सुडोल आधार निर्मित करना**

सुदृढ़ एवं व्यवहार्य निर्यात-योग्य उत्पादन का आधार निर्मित करने के लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किए गए हैं। वर्तमान निर्यात की माँग को पूरा करने के लिए आधारभूत सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार, निर्यात-जन्य क्षेत्रों में उत्पादन को बढ़ाने में आधारभूत सुविधाओं को अभाव बाधा प्रस्तुत कर रहा है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि चाहे घरेलू माँग का प्रभाव कितना भी अधिक क्यों न हो, कुल उत्पादन का एक निश्चित माँग निर्यात के लिए आरक्षित किया जाना चाहिए।

2) **उपयुक्त तकनीकी की आपूर्ति**

यह बात ध्यान देने योग्य है कि केवल निर्यात क्षमता का विस्तार ही पर्याप्त नहीं है, इसके लिए उपयुक्त तकनीकी विकास आवश्यक है ताकि वस्तुएँ अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार की प्रतियोगिता में टिक सकें। हमारे देश एवं विश्व के तकनीकी विकास के स्तर में बड़ा अन्तर विद्यमान है। हमारी तकनीक देश की आवश्यकताओं की पूर्ति के अनुकूल हो सकती है लेकिन निर्यात की दृष्टि से यह काफी पिछड़ी हुई है। तकनीकी विकास के साथ इस बात की भी आवश्यकता है कि वस्तुओं के पैकिंग के स्तर की उत्कृष्टता पर भी ध्यान दिया जाए।

3) **मध्यवर्ती वस्तुओं की रियायती मूल्यों पर उपलब्धि**

भारत में प्लास्टिक, इस्पात, धातु, शीशा आदि औद्योगिक मध्यवर्ती वस्तुओं का अभाव होने के कारण इनकी कीमतें अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार की कीमतों से ऊँची उत्पादन-लागत पर ही तैयार हो पाते हैं और इनकी प्रतिस्पर्धा की शक्ति कम हो जाती है। इस वास्ते आवश्यक है कि भारतीय उत्पादकों को ये वस्तुएँ रियायती दरों पर उपलब्ध करवाई जाएँ।

4) **निर्यातों की सीमाबद्धता**

अब तक हमारा प्रयत्न रहा है कि देश की घरेलू माँग को पूरा करने के बाद जो कुछ अवशेष रहता है उसका निर्यात कर दिया जाए। लेकिन नियोजित निर्यातों के लिए यह आवश्यक है कि उन सभी वस्तुओं के उत्पादन के लिए प्रयास किए जाने चाहिए जिनके लिए आसानी से बाज़ार उपलब्ध हो सकें। लेकिन यदि हम विश्व के आयातों में शामिल होने वाली वस्तुओं पर एक नज़र डालें तो मालूम होता है कि हम उन सभी वस्तुओं को उत्पादन करने में असमर्थ हैं जिनकी विश्व के बाज़ारों में माँग की जाती है। इसलिए इस बात का निर्णय बहुत

MADHYAM IAS

सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए कि निर्यातों के लिए भारत को किन वस्तुओं का उत्पादन करना चाहिए। भारत को जहाँ तक सम्भव हो सके पूँजी-गहन, शक्ति अथवा परिवहन-गहन वस्तुओं के उत्पादन में हिस्सा नहीं लेना चाहिए।

5) भंडार-गोदाम सुविधाओं का विस्तार

द्रुतगामी उपभोक्ता वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं के लिए विदेशों में महत्त्वपूर्ण व्यापारिक केंद्रों में भंडारों एवं गोदामों का निर्माण किया जाना चाहिए। आजकल विदेशी विक्रेता वस्तुओं के स्टॉक अपने पास रखने में रुचि नहीं रखते। उनका प्रयास यही रहता है कि वे निर्यातकर्ताओं से अल्प-सूचना पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में वस्तुएँ प्राप्त करते रहें। यद्यपि भंडारों के निर्माण में काफी लागत आती है, लेकिन दीर्घकालीन दृष्टि से यह उपाय लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। इनकी सहायता से बाज़ारों के साथ निकटवर्ती एवं सुदृढ़ संबंध स्थापित किए जा सकते हैं।

6) व्यापार-सूचना की आपूर्ति

आवागमन और सूचना के माध्यमों के तेज विकास के कारण बाज़ार की परिस्थितियाँ बहुत तेजी से बदलती रहती हैं। कोई एक उत्पादक अथवा उपकर्मी इस प्रकार की व्यवस्था करने में असमर्थ होता है कि उसे ये सब जानकारी सुलभ हो। इस तरह की सुविधाएँ उपलब्ध करवाने के लिए एक संगठनात्मक ढाँचा विकसित करना होगा।

7) बाज़ारों की विविधता एवं आकार में वृद्धि

निर्यात-सम्वर्धन के वास्ते एक ओर हमें नए बाज़ारों में बड़ी मात्रा में बिक्री करने के प्रयास करने होंगे। इस वास्ते हम निम्न बातों की सिफारिश करेंगे। (i) हम अपनी परम्परागत निर्यात की वस्तुओं के बाज़ारों में प्रतिस्पर्धा में पिछड़ चुके हैं। हमें प्रयास करने होंगे कि इस तरह की वस्तुओं के बाज़ारों में हम अपनी प्रभुता बना पाएँ। इन वस्तुओं में प्रमुख हैं : चाय, मसाले, पटसन, चमड़े का सामान, अभ्रक एवं अन्य कृषि-जन्य पदार्थ। (ii) खली, बासमती, चावल, समुद्री उत्पाद आदि वस्तुओं के निर्यातों में भारी बढ़ोतरी की सम्भावनाओं पर ध्यान देना होगा। (iii) रसायन, इंजीनियरी का सामान, आभूषण, सिले-सिलाए कपड़ों, हथकरघा एवं सॉफ्टवेयर आदि के निर्यातों में पिछले कुछ वर्षों के दौरान हर्षवर्धक वृद्धि हुई है। हमें इनकी गति और तेज करनी होगी।

अन्त में, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि एक सुदृढ़ एवं कुशल घरेलू आर्थिक ढाँचे का निर्माण करके ही हम एक स्वस्थ निर्यात क्षेत्र की स्थापना कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 4

1) आर्थिक-विकास की वर्तमान अवस्था में निर्यात सम्वर्धन की आवश्यकता की चर्चा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत से निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए भारत सरकार द्वारा उठाए गए तीन कदम बतलाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) निर्यातों को बढ़ाने के लिए हमें क्या कदम उठाने चाहिए।

.....

.....

.....

.....

.....

23.9 सारांश

एक विकासशील अर्थव्यवस्था में विकासक्रम के दौरान आयातित वस्तुओं की माँग निरन्तर बढ़ती ही जाती है। चूँकि निर्यात उस गति से नहीं बढ़ पाते परिणामतः निर्यातों और आयातों में एक असंतुलन उत्पन्न होता है जोकि भुगतान-शेष में घाटे के रूप में परिलक्षित होता है इस घाटे की आपूर्ति विदेशों से ऋण लेकर की जाती है। भुगतान-शेष के घाटों का स्थायी समाधान तभी मिल सकता है जबकि देश से निर्यातों की मात्रा में भारी वृद्धि हो। इस वास्ते निर्यात-सम्वर्धन नीति का निर्माण करना होगा।

MADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

23.10 शब्दावली

भुगतान-शेष : एक देश के सभी आर्थिक अन्तरराष्ट्रीय संव्यवहारों का वार्षिक लेखा-जोखा

व्यापार-शेष : एक देश की केवल दृश्य मदों के लेन-देन का वार्षिक लेखा-जोखा

चालू खाता : एक देश की दृश्य एवं अदृश्य मदों के लेन-देन का वार्षिक लेखा-जोखा

पूँजी खाता : एक देश की विदेशों से पूँजी में लेन-देन का वार्षिक लेखा-जोखा

पत्राधान निवेश : विदेशियों द्वारा देशी कम्पनियों के अंशपत्रों, बॉण्ड , डिम्बेंचर दृश्य एवं अदृश्य मदों की बिक्री से प्राप्त आगम उनकी खरीद पर किए गए भुगतान से कम होती है।

आयात सघनता : किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त आदानों में आयातों का अनुपात

रियायती सहायता : आसान शर्तों पर ऋण के रूप में उपलब्ध विदेशी सहायता।

23.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Reserve Bank of India : Balance of Payments Manual

Reserve Bank of India : Report on Current and Finance

Government of India : Economic Servey

Vijay Joshi and I.M.D. Little : India's Economic Reforms 1991-2001

23.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 23.2 का पहला पैरा देखें।

2) उप-भाग 23.2.1 देखें।

3) उप-भाग 23.2.1 देखें।

4) उप-भाग 23.2.1 का आखिरी पैरा देखें।

बोध प्रश्न 2

1) उप-भाग 23.4.4 देखें।

2) भाग 23.5 पर अच्छी तरह से गौर करें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 23.6 पढ़ें।

2) भाग 23.6 पर गौर करें।

3) भाग 23.6 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) उप-भाग 23.7.1 देखें।

2) उप-भाग 23.7.2 देखें।

3) भाग 23.8 का भलीभाँति अध्ययन करें।

MAADHYAM IAS 'way to achieve your dream'

इकाई 24 विदेशी पूँजी एवं बहुराष्ट्रीय निगम

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 पूँजी अंतरण एवं आर्थिक विकास

- 24.2.1 विदेशी पूँजी की भूमिका
- 24.2.2 विदेशी पूँजी के संघटक

24.3 बहु-राष्ट्रीय निगम

- 24.3.1 बहु-राष्ट्रीय निगमों की विशेषताएँ
- 24.3.2 बहु-राष्ट्रीय निगमों का महत्त्व
- 24.3.3 बहु-राष्ट्रीय निगमों के पक्ष में तर्क
- 24.3.4 बहु-राष्ट्रीय निगमों के विपक्ष में तर्क
- 24.3.5 बहु-राष्ट्रीय निगमों का नियमन

24.4 भारत में विदेशी पूँजी

- 24.4.1 विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति

24.5 नई आर्थिक नीति एवं 1991–99 के दौरान नीतिगत परिवर्तन

- 25.5.1 नई नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

24.0 उद्देश्य

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो सकेंगे कि :

- आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी की भूमिका की चर्चा कर सकें;
- विदेशी पूँजी के संघटकों की पहचान कर सकें;
- बहु-राष्ट्रीय निगमों की विशेषताएँ बतला पाएँ;
- भारत में काम कर रही कुछ प्रमुख बहु-राष्ट्रीय निगमों और उनके उत्पादों की पहचान कर सकेंगे;
- विकासशील अर्थव्यवस्था में बहु-राष्ट्रीय निगमों के विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कर सकें;
- भारत में विदेशी पूँजी के प्रति उदार नीति की आवश्यकता पर प्रकाश डाल सकें; तथा
- उदार नीति के प्रति घरेलू उपक्रमियों की प्रतिक्रिया की समीक्षा कर सकें।

24.1 प्रस्तावना

एक विकासशील अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के आरंभिक चरण में विदेशी पूँजी के अंतर्वाह का बहुत महत्त्व है। आधुनिक आर्थिक विकास इतिहास में बहुत से ऐसे देश मिल जाएँगे जिन्होंने औद्योगिक रूप से अधिक उन्नत राष्ट्रों से विदेशी पूँजी प्राप्त करके अपना आर्थिक विकास किया है। आइए इस संदर्भ में हम भारत के अनुभवों की समीक्षा करें।

24.2 पूँजी अंतरण एवं आर्थिक विकास

24.2.1 विदेशी पूँजी की भूमिका

एक विकासशील अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी की भूमिका निम्न के संदर्भ में आँकी जा सकती है :

1) बचत अंतराल (Saving Gap)

आर्थिक विकास के वास्ते पूँजी निर्माण की दर बढ़ाने की आवश्यकता होती है। पूँजी निर्माण की दर बढ़ाने के लिए निवेश के स्तर में वृद्धि करनी होती है। अल्पविकसित देशों में बचत के अभाव में निवेश की मात्रा को नहीं बढ़ाया जा सकता। अल्प बचत निम्न आय स्तर, धीमी विकास की दर एवं उपभोग की बढ़ती आवश्यकताओं का संयुक्त परिणाम होती है। अपेक्षित निवेश के स्तर में जब घरेलू बचतें कम होती हैं तो इस अंतराल को विदेशी पूँजी की सहायता से पूरा किया जा सकता है।

हम इस बात को अंकगणित की सहायता से सहज ही समझ सकते हैं। राष्ट्रीय आय लेखा की मौलिक धारणा को निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

$Y=C+I+(X-M)$ ..... (1)

जहाँ,

Y = सकल राष्ट्रीय उत्पाद

C = समग्र उपभोग व्यय

I = निवेश व्यय

X = वस्तुओं एवं सेवाओं के निर्यात तथा शेष-विश्व से प्राप्त आय

M = वस्तुओं एवं सेनाओं के आयात तथा शेष-विश्व को भुगतान की गई आय

MADHYAM IAS

इन समस्त खर्चों से समानरूपी आय का सृजन होता है, कुल आय एवं कुल व्यय बराबर होते हैं। कुल आय के एक भाग को उपभोग पर खर्च कर दिया जाता है तथा शेष आय बचत का रूप धारण करती है। अर्थात्

$Y=C+S$ ..... (2)

चूँकि समग्र आय व समग्र व्यय बराबर होते हैं अतः समीकरण (1) और समीकरण (2) को निम्न रूप में भी व्यवस्थित किया जा सकता है :

$C+I+(X-M)=C+S$ ..... (3)

समीकरण (3) को पुनर्व्यवस्थित करने पर हमें निम्न परिणाम प्राप्त होता है :

$I=S+(M-X)$ ..... (4)

समीकरण (4) से स्पष्ट है कि किसी अर्थव्यवस्था में निवेश की मात्रा का निर्धारण उपलब्ध बचत के स्तर तथा विदेशों से पूँजी के शुद्ध अंतर्वाह (M-X) पर निर्भर करता है। इस अंतर्वाह से निवेश योग्य कोषों में वृद्धि हो जाती है। इससे विकासशील अर्थव्यवस्था दो रूपों में लाभांवित होती है।

पहला, इस अंतर्वाह से निवेश संबंधी निर्णय प्रभावित होते हैं। विकास के कुछ कार्यक्रम उन्हीं परिस्थितियों में अनुकूल परिणाम प्रस्तुत करते हैं जबकि उनके विभिन्न संघटकों में एक-साथ निवेश किया जाता है। विदेशी पूँजी की उपलब्धता इस प्रकार के निवेश सुलभ करवाती है।

दूसरा, जब विदेशी पूँजी की सहायता से बड़े आकार के विकास कार्यक्रम आरंभ किए जाते हैं तो इसके प्रभाव में रोज़गार और निवेश के अन्य अवसर सहज ही प्रकट हो जाते हैं। इन अवसरों का लाभ उठाने के लिए घरेलू उपक्रम और बचत भी आगे बढ़ते हैं। परिणामतः साधनों में समग्र वृद्धि कहीं अधिक हो पाती है।

2) **व्यापार अंतराल एवं विदेशी विनिमय अंतराल (Trade Gap and Foreign Exchange Gap)**

एक विकासशील अर्थव्यवस्था के समक्ष दो संरचनात्मक कठिनाइयाँ होती हैं: i) सकल राष्ट्रीय उत्पाद की वृद्धि दर को बनाए रखने के लिए आदानों की न्यूनतम आवश्यकताएँ, तथा ii) निर्यातों की एक ऊपरी सीमा जहाँ तक निर्यातों से प्राप्त आगम आवश्यक आयातों की आपूर्ति करने में अपर्याप्त होते हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि इन सीमाओं को पार न किया जाए तो वास्तविक विकास दर घरेलू बचतों से अपेक्षित विकास दर से कम रहेगी। इन सीमाओं का प्रभाव निम्न परिस्थितियों में और अधिक गंभीर होगा :

क) यदि कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ जैसे पूँजीगत उपकरण एवं तकनीकी जानकारी देश में उपलब्ध नहीं है और विदेशी स्रोतों से ही प्राप्त की जा सकती हैं, अथवा

ख) औद्योगीकरण के लिए विदेशी साधन घरेलू साधनों के ही इस प्रकार पूरक हैं कि विदेशी साधनों के अभाव में घरेलू साधन भी अप्रयुक्त रहते हैं।

MADHYAM IAS

उपरोक्त परिस्थितियों में विदेशी पूँजी की उपलब्धता के परिणामस्वरूप राष्ट्र के समक्ष विकास क्रम में प्रयुक्त होने वाले साधनों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है और अर्थव्यवस्था तेज गति से विकास के मार्ग पर बढ़ सकती है।

3) **तकनीकी एवं प्रबंधीयक अंतराल (Technical and Managerial Gap)**

तीव्र आर्थिक विकास के वास्ते आधुनिक तकनीकी व प्रबंधकीय क्रियाओं की अवहेलना नहीं की जा सकती। विकासशील अर्थव्यवस्था में ये अंतराल इस कारण उत्पन्न होते हैं कि यहाँ विकसित देशों की तुलना में तकनीकी विकास का स्तर बहुत नीचा होता है।

विदेशी पूँजी का कार्य उपरोक्त तीन अंतरालों को भरना होता है ताकि तीव्र विकास के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार हो सके।

24.2.2 विदेशी पूँजी के संघटक

विदेशी पूँजी का अंतर्वाह दो रूपों में हो सकता है : (क) विदेशी सहायता, तथा (ख) निजी विदेशी निवेश।

विदेशी सहायता (Foreign aid) में विदेशी सरकार तथा संस्थाओं से प्राप्त ऋणों एवं अनुदानों को सम्मिलित किया जाता है। विदेशी ऋणों में सबसे बड़ी कठिनाई इनके पुनर्भुगतान की होती है।

विदेशी पूँजी के रूप में निजी विदेशी निवेश (Private Foreign Investment) का विशेष महत्त्व

होता है हालाँकि अर्थशास्त्रियों में इस बारे में मतभेद हैं कि क्या यह आर्थिक विकास के लिए हितकर होती है अथवा अहितकर। जो अर्थशास्त्री इसके प्रतिकूल प्रभावों की ओर ज्यादा ध्यान रखते हैं वे ये तर्क दिया करते हैं कि ऐसा निवेश पूँजी गहन होता है, अनुचित तकनीकी का प्रयोग करता है तथा देश में आय-वितरण को दूषित करता है। इनका यह भी तर्क है कि विदेशी निवेश के भुगतान-शेष पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं।

इसके विपरीत विदेशी पूँजी के समर्थकों का यह दावा है कि इसके सहयोग से तकनीकी विकास, प्रबंधकीय जानकारी का विकास, निर्यातों में वृद्धि तथा विकास-दर की गति में तेजी लाना संभव हो पाता है। जहाँ ऋणों के कारण ऋण-सेवा का बोझ तथा ऋणों के पुनर्भुगतान की जिम्मेदारी बनी रहती है, निवेश के रूप में प्राप्त पूँजी मात्र लाभांश की हकदार होती है। लाभांश प्राप्त करने की आवश्यक शर्त है कि पूँजी का लाभप्रद और उत्पादक क्षेत्रों में निवेश किया जाए जबकि ऋणों के साथ ऐसी बाध्यता नहीं होती।

निजी पूँजी निवेश के दो प्रमुख स्रोत निम्नलिखित हैं :

1) विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (Foreign Direct Investment) यह निम्न में से किसी भी रूप में हो सकते हैं: (i) विदेशी कम्पनियों की ब्रांचों द्वारा निवेश, (ii) विदेशी कम्पनियों की अनुशंगी कम्पनियों द्वारा निवेश, एवं (iii) विदेशी-नियंत्रण वाली कम्पनियों द्वारा निवेश।

2) पत्राधान निवेश (Portfolio Investment) जब विदेशी नागरिक भारतीय कम्पनियों के अंशपत्रों को खरीदते हैं और बदले में जिस पूँजी का अंतर्वाह होता है उसे पत्राधान निवेश कहते हैं।

वर्तमान में, निजी विदेशी पूँजी का निवेश विशेष रूप से बहु-राष्ट्रीय निगमों द्वारा किया जाता है। ये निगम पर्याप्त मात्रा में तकनीकी ज्ञान की व्यवस्था भी करते हैं। अब हम संगठन के इस रूप की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करेंगे।

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 1

1) एक विकासशील अर्थव्यवस्था में किन तीन अंतरालों की पूर्ति विदेशी पूँजी द्वारा की जाती है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) विकासशील अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी की आवश्यकता की समीक्षा कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

24.3 बहु-राष्ट्रीय निगम

बहु-राष्ट्रीय निगम से आशय उस उद्यम से है जो कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को स्वीकार करता है अर्थात् जो एक से अधिक देशों में आय सृजित करने वाली परिसम्पत्तियों पर स्वामित्व या नियंत्रण रखता है अथवा जो अंतरराष्ट्रीय उत्पादन में संलग्न होता है।

24.4.1 बहु-राष्ट्रीय निगम की विशेषताएँ

बहु-राष्ट्रीय निगम में अनेक विशेषताएँ विद्यमान होती हैं जिनमें कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

i) **बड़ा आकार (Giant Size)** : बहु-राष्ट्रीय निगमों की परिसम्पत्तियों का मूल्य खरबों डालरों में होता है और इनको असाधारण लाभ प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए विश्व की सबसे बड़ी बहु-राष्ट्रीय निगम, रॉयल डच्य शेल, की विदेशी परिसम्पत्तियों का मूल्य $69 बिलियन आँका गया है जोकि पाकिस्तान ($40 बिलियन), नाइजीरिया ($34 बिलियन), या फिलीपीन्स ($45 बिलियन) जैसे देशों के सकल घरेलू उत्पाद से भी ज्यादा है।

ii) **अंतरराष्ट्रीय कार्यविधि (International Operation)** : इस प्रकार के निगम का नियंत्रण एक ही संस्था में होता है, लेकिन इसकी गतिविधियाँ एक से अधिक देशों में फैली हुई होती हैं। बहु-राष्ट्रीय निगम का मूल संगठन एक देश में होता है, जबकि इसकी शाखाएँ कई देशों में फैली होती हैं। प्रत्येक शाखा अपने जनक संगठन के लिए कार्य करती है और इसके लिए यह स्थानीय पूँजी या प्रबंध पर निर्भर नहीं रहती। शाखाओं के ऊपर विदेशी जनक कम्पनी का पूर्ण नियंत्रण होता है। विदेशी नियंत्रण की मात्रा 51 प्रतिशत से लेकर 100 प्रतिशत हो सकती है। इस प्रकार, बहु-राष्ट्रीय निगम में स्वामित्व एवं नियंत्रण के बीच समन्वय स्थापित किया जाता है।

iii) **अल्पाधिकारी ढाँचा (Oligopolistic Structure)** : संविलियन एवं नियंत्रण की प्रक्रिया की सहायता से कुछ ही समय में बहु-राष्ट्रीय निगम की शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। शक्ति के केंद्रीयकरण और बड़ा आकार मिलकर एक बहु-राष्ट्रीय निगम की शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। शक्ति के केंद्रीयकरण और बड़ा आकार मिलकर एक बहु-राष्ट्रीय निगम को अल्पाधिकारी स्वरूप प्रदान करते हैं।

iv) **स्वाभाविक उद्‌गम (Spontaneous Evolution)** : बहु-राष्ट्रीय निगम सामान्यतया स्वाभाविक रूप से विकसित होते हैं, इसके लिए पूर्वायोजन की आवश्यकता नहीं होती। इसका प्रायः शनैः-शनैः विकास होता है। बहुत-सी फर्में समय के साथ अंतरराष्ट्रीय रूप धारण कर लेती हैं। कई बार मजदूरी-दरों मे भेद होने अथवा अच्छी व्यापारिक दशाओं को देखते हुए बहु-राष्ट्रीय निगम कई देशों में अपनी शाखाओं की स्थापना करते हैं।

v) **संसाधनों का सामूहिक स्थानांतरण (Collective Transfer of Resources)** : एक बहु-राष्ट्रीय निगम संसाधनों के बहु-पक्षीय स्थानांतरण को संभव बनाता है। इस प्रकार के स्थानांतरण में तकनीकी ज्ञान, मशीनरी, कच्चा माल, प्रबंधकीय सेवाएँ आदि शामिल की जाती हैं। एक बहु-राष्ट्रीय निगम के पास आधुनिकतम तकनीकों, विपणन प्रणालियों, प्रबंध एवं कुशील वित्तीय व्यवस्था आदि का एक अद्‌भुत सम्मिश्रण होता है।

MADHAM IAS

24.3.2 बहु-राष्ट्रीय निगमों का महत्त्व

बहु-राष्ट्रीय निगम का विश्व की आर्थिक प्रणालियों पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि बहु-राष्ट्रीय निगम के अंतरराष्ट्रीय सौदों का प्रभाव कई देशों के परम्परागत पूँजी-प्रवाह और अंतरराष्ट्रीय व्यापार पर पड़ता है। आजकल विश्व की अर्थव्यवस्था में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

24.3.3 बहु-राष्ट्रीय निगमों के पक्ष में तर्क

बहु-राष्ट्रीय निगम के कार्य-संचालन के कारण बहुत से लाभ उत्पन्न होते हैं। प्रायः यह कहा जाता कि बहु-राष्ट्रीय निगमों के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :

i) अल्पविकसित देशों में तकनीकी ज्ञान का अभाव होता है। इन देशों में शोध एवं विकास के लिए आवश्यक साधनों की कमी होती हैं। इनके द्वारा उत्कृष्ट कोटि की तकनीक प्रदान की जाती है। इनके द्वारा अल्पविकसित देशों को विकसित तकनीक, उत्कृष्ट उत्पादन की विधियाँ तथा परिष्कृत क्षमता आदि उपलब्ध हो पाती हैं।

ii) बहु-राष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों को विकसित देशों से पूँजी की व्यवस्था करने में सहायता देते हैं। इस प्रकार, ये अतिरेक पूँजी वाले देशों का कम पूँजी वाले देशों की ओर स्थानांतरित करते हैं।

iii) अल्पविकसित देशों का अन्य देशों के साथ सम्पर्क नहीं होता। बहु-राष्ट्रीय निगम अतिथेय देश में संयोजन प्रभाव को उत्पन्न करते हैं। ये निगम संयोजित उद्योगों के विकास में भी सहयोग देते हैं। यह संयोजन आगे की ओर अथवा पीछे की ओर हो सकता है।

iv) बहु-राष्ट्रीय निगम ज्ञान के आधार को विकसित करने में मदद करते हैं। इनकी सहायता से मानवीय संसाधनों का विकास होता है। ये ज्ञान एवं अनुभव को एक देश से दूसरे देश में ले जाते हैं।

v) बहु-राष्ट्रीय निगमों की कार्यविधियों का अतिथेय देश के भुगतान-शेष पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। इनके पास विश्वव्यापी बाज़ार उपलब्ध होता है जिसकी सहायता से ये विकासशील देशों के निर्यातों में वृद्धि कर सकते हैं।

vi) बहु-राष्ट्रीय निगम अतिथेय देशों में अपनी शाखाएँ स्थापित करके बड़ी मात्रा में रोज़गार के अवसरों का निर्माण करते हैं। ये दो प्रकार से रोज़गार का सृजन करते हैं। पहला, निगम में वृद्धि करके, तथा दूसरा, तकनीकी ज्ञान का विकास करके। बहु-राष्ट्रीय निगम अल्पविकसित देशों में निवेश की दर को ऊँचा उठाने में भी सहायता प्रदान करते हैं।

24.3.4 बहु-राष्ट्रीय निगमों के विपक्ष में तर्क

पहला, बहु-राष्ट्रीय निगम प्रायः लाभ के उद्देश्य को ध्यान में रखकर ही कार्य करते हैं। ये अतिथेय देश के सर्वांगीण विकास में रुचि नहीं लेते। ये अपने लाभों को अधिकतम बनाने के लिए कोई भी अनुचित या अनैतिक कदम उठा सकते हैं।

दूसरा, बहु-राष्ट्रीय निगम जो तकनीक लाते हैं वह पूँजी गहन होती है। यह तकनीकी विकसित देशों के लिए श्रयेस्कर होती है। ये अतिथेय देश की आवश्यकताओं, परिस्थितियों और वातावरण को ध्यान में रखकर उचित तकनीक का चयन करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करते।

MAADHYAM IAS

तीसरा, तकनीकी का स्थानांतरण बहुत खर्चीला सिद्ध होता है। बहु-राष्ट्रीय निगम तकनीक प्रदान करने के लिए अत्यधिक फीस, रायल्टी तथा अन्य लागतें वसूल करते हैं।

चौथा, बहु-राष्ट्रीय निगम क्षेत्रीय असमानताओं को उत्पन्न करते हैं। ये अल्पविकास के महासागर में समृद्धि एवं विकास का केवल टापू निर्मित करने में ही सफल होते हैं।

पाँचवाँ, बहु-राष्ट्रीय निगमों की उपस्थिति एक देश के दीर्घकालीन औद्योगिक विकास में बाधा प्रस्तुत करती है। बहु-राष्ट्रीय निगमों के क्रिया-कलापों के कारण स्थानीय निगम क्रियाशील है तो उसकी प्रतियोगिता में स्थानीय फर्में टिक नहीं पाती हैं।

छठा, यद्यपि बहु-राष्ट्रीय निगमों का विकासशील देशों के तकनीकी विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है लेकिन व्यवहार में इनकी निष्पादनता संतोषप्रद नहीं रही है। वैज्ञानिक शोध में इनका योगदान बहुत नगण्य रहा है।

सातवाँ, बहु-राष्ट्रीय अपनी व्यापारिक क्रियाओं में भ्रष्ट एवं अनुचित विधियों को अपनाते हैं। संयुक्त राष्ट्र की एक रिपोर्ट में ऐसी ही भ्रष्ट विधियों पर प्रकाश डाला गया है। अंतरराष्ट्रीय सौदों में की जाने वाली भ्रष्ट कार्यविधियों में अनुचित प्रतिस्पर्धा तथा नियंत्रित व्यवहार विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके अंतर्गत कीमतों को उच्चे पर निर्धारित करना, कीमत विभेद, तथा बाज़ार संबंधी अनेक विकृतियाँ शामिल हैं।

अंततः, बहु-राष्ट्रीय निगम सामान्य आवश्यकता की वस्तुओं के स्थान पर विलासिता-संबंधी अनावश्यक कम उपयोगी वस्तुओं का उत्पादन करते हैं।

24.3.5 बहु-राष्ट्रीय निगमों का नियमन

MAADHYAM IAS

अधिकांश विकासशील देश इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि बहु-राष्ट्रीय निगमों की उपस्थिति से स्थानीय साधनों का कुशलता से उपयोग किया जा सकता है, लेकिन उनकी उपस्थिति से देश की क्रियाओं पर नियंत्रण लगाए जाने लगे हैं। नियंत्रण निम्न रूप धारण कर सकते हैं :

पहला, राष्ट्रीयकरण के भय से बहु-राष्ट्रीय के भय से बहु-राष्ट्रीय निगमों की क्रियाएँ नियंत्रित बनी रही हैं। यद्यपि राष्ट्रीयकरण को केवल असाधारण स्थिति में ही अपनाया जाना चाहिए, लेकिन इसका भय ही बहु-राष्ट्रीय निगमों को अनुशासनबद्ध कर देता है।

दूसरा, सरकार उन विशेष उद्योगों में सहयोग की स्वीकृति दे सकती है जहाँ पर बहु-राष्ट्रीय निगमों की लाभप्रद उपस्थिति हो सकती है।

तीसरा, बहु-राष्ट्रीय निगमों को विशेष समय अवधि तक निवेश के लिए स्वीकृति दी जा सकती है। इस प्रकार एक निश्चित समयावधि के उपरांत विदेशी कम्पनियों पर नियंत्रण लगाए जा सकते हों अथवा धीरे-धीरे उपनिवेश की नीति को अपनाया जा सकता है।

चौथा, सरकार बहु-कर प्रणाली को अपना सकती हैं तथा बहु-राष्ट्रीय निगमों पर ऊँची दर से कर लगाए जा सकते हैं।

अंततः, बहु-राष्ट्रीय निगमों को इस बात के लिए बाध्य किया जा सकता है कि अपने खोज, शोध व विकास का एक निश्चित भाग आतिथेय देश के लिए आरक्षित कर दें।

बोध प्रश्न 2

1) बहु-राष्ट्रीय निगम क्या है?

.....

.....

.....

.....

.....

2) बहु-राष्ट्रीय निगमों की चार प्रमुख विशेषताएँ बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

3) बहु-राष्ट्रीय निगमों के चार प्रमुख लाभ बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4) बहु-राष्ट्रीय निगमों की चार प्रमुख कमियाँ बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

24.4 भारत में विदेशी पूँजी

भारत की नियोजित अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी को एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया जाता है। योजनाकाल के आरंभिक चरण में विदेशी पूँजी का प्रयोग घरेलू निवेश के सहायक के रूप में किया जाता था। विदेशी निवेशकर्ताओं को अनेक प्रकार की छूट ओर प्रोत्साहन दिए जाते थे। लेकिन बाद के वर्षों में भारतीय एवं विदेशी उपक्रमियों के बीच तकनीकी सहयोग के बारे में समझौते होने लगे। इधर पुनः पिछले कुछ वर्षों के दौरान विदेशी पूँजी के प्रति भारत के रवैये में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी पूँजी की मात्रा व भूमिका का विश्लेषण करने से पहले हम उपरोक्त संदर्भ में सरकार की नीति की विवेचना करेंगे।

24.4.1 विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति

भारत में विदेशी निवेशकर्ताओं को उन सभी औद्योगिक नीति प्रावधानों का अनुपालन तो करना ही होता है जोकि घरेलू निवेशकर्ता करते हैं साथ ही विदेशी सहयोग के नियमन के लिए सरकार द्वारा अलग से नियम और कानून बनाए गए हैं।

स्वतंत्र भारत में विदेशी पूँजी के प्रति अपने दृष्टिकोण को सरकार ने औद्योगिक नीति प्रस्ताव 1948 में स्पष्ट किया। इस प्रस्ताव में निजी विदेशी पूँजी के सुविचारित नियमन पर बल दिया गया। अन्य बातों के अलावा, इस प्रस्ताव में यह दोहराया गया कि विदेशी सहयोग से जो भी उपक्रम स्थापित किए जाएँगे उन सभी उपक्रमों में भारतीय बहुमत ही होना चाहिए। वर्ष 1949-50 वित्तीय आयोग की नियुक्ति की गई। आयोग ने सिफारिश की कि निम्न दो परिस्थितियों में विदेशी निवेश को स्वीकृति दी जानी चाहिए : एक, उन सार्वजनिक उपक्रमों में जिनमें आयातित पूँजीगत वस्तुओं की आवश्यकता है; तथा दो, उन नए निजी उद्योगों में जिनमें घरेलू उपक्रमी या तो रुचि नहीं रखते या जिनके लिए समुचित तकनीकी जानकारी देश में ही उपलब्ध नहीं है। 6 अप्रैल 1949 को सरकार ने विदेशी पूँजी के संबंध में अपनी नीति की घोषणा की। इसी नीति के महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों को अब तक अपनाया गया है। इनमें से कुछ प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं।

i) एक बार विदेशी पूँजी को स्वीकृति प्रदान करने के बाद इसे घरेलू पूँजी के समान दर्जा प्रदान किया जाएगा।

ii) विदेशी पूँजी पर प्राप्त होने वाले लाभों को निवेशकर्ता देश में भेजने की सुविधा प्रदान की जाएगी।

iii) सिद्धांत रूप से एक उद्यम का स्वामित्व एवं प्रभावपूर्ण नियंत्रण भारतीयों के हाथों में होगा।

iv) यदि किसी समय विदेशी उद्यमों का अधिग्रहण या राष्ट्रीयकरण किया जाएगा तो बदले में पर्याप्त और समुचित मुआवज़ा दिया जाएगा।

v) विशेष परिस्थितियों में सरकार कुछ समय के लिए विदेशी पूँजी को पूर्ण नियंत्रण की स्वीकृति दे सकता है लेकिन यह कदम प्रत्येक उद्यम की स्थिति को ध्यान में रखकर ही उठाया जाएगा।

संक्षेप में, सरकार ने यह निश्चय किया कि विदेशी पूँजी के साथ विभेद की नीति को नहीं अपनाया जाएगा। इस पूँजी पर प्राप्त होने वाले लाभों तथा मूल पूँजी को निवेशकर्ता देश में भेजने के लिए स्वतंत्र होंगे। इस बात पर ध्यान दिया गया कि उद्यमों में बड़े पदों पर भारतीयों की नियुक्ति को प्राथमिकता दी जाएगी। उपरोक्त बातों को ध्यान में रखकर पंचवर्षीय योजनाओं में इस प्रकार से विदेशी पूँजी के निवेश व सहयोग को आमंत्रित किया गया ताकि यह राष्ट्रीय लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं के अनुकूल हो। उन विदेशी उद्यमियों को प्राथमिकता प्रदान की जाएगी जोकि पूँजी के साथ तकनीकी ज्ञान की भी व्यवस्था करते हैं।

उपरोक्त सिद्धांतों के अनुसार ही भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अंतर्गत विदेशी पूँजी के संबंध में सरकारी नीति का निर्माण किया गया है। इस संदर्भ में वर्ष 1951 से होने वाली सम्पूर्ण अवधियों को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

पहला चरण जोकि वर्ष 1951 से आरंभ की गई प्रथम योजना से शुरू होता है वर्ष 1965 तक चला। इस अवधि में विदेशी पूँजी के प्रति उदार रवैया ही अपनाया गया। देश के औद्योगिक

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

विकास में योगदान देने के लिए प्रेरित करने के लिए विदेशी पूँजी को अनेक प्रकार की छूट और प्रोत्साहन किए गए।

दूसरा चरण छठे दशक के मध्य से आरंभ होता है। इस चरण में विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति में नम्रता की जगह कठोरता ने ली। विदेशी पूँजी के अंतर्वाह पर कड़े नियंत्रण लगा दिए गए। मोटे तौर से नीति यह थी कि विदेशी पूँजी की सीमाएँ सीमित ही रखी जाएँ।

तीसरा चरण सातवें दशक के अंत से आरंभ हुआ। इस दौरान पुनः विदेशी पूँजी की ओर उदारपूर्ण व्यवहार दिखलाया गया। विदेशी प्रत्यक्ष निवेश के अंतर्वाह से अनेक तरह की रुकावटें हटा लीं गईं।

विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी नीति का चौथा चरण वर्ष 1991 में अपनाए गए आर्थिक सुधार के कार्यक्रम से आरंभ होता है। नए आर्थिक सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत विदेशी निवेशकर्ताओं को सरकार द्वारा अनेक रियायतें और प्रोत्साहन प्रदान किए गए हैं।

24.5 नई आर्थिक नीति एवं 1991-1999 के दौरान नीतिगत परिवर्तन

जुलाई 1991 में सरकार द्वारा घोषित औद्योगिक नीति में विदेशी पूँजी निवेश एवं विदेशी टेक्नॉलोजी के स्थानांतरण के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों के बारे में निर्णय लिए गए हैं। इनमें से कुछ एक प्रमुख का उल्लेख हम इस प्रकार कर सकते हैं : (i) प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी पूँजी के अंश पूँजी में 51 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष निवेश की स्वीकृति दी जाएगी। (ii) प्रत्यक्ष निवेश के अंतर्वाह से संबद्ध कानूनों और सरकारी व्यवहारों की पुनः इस दृष्टि से जाँच की जाएगी कि यह विदेशी पूँजी के अंतर्वाह में रुकावट न पैदा करें। (iii) अनेक ऐसे विषय और मुद्दे जो विदेशी निवेश के प्रवाह में बाधा बन सकते हैं उनके औचित्य पर पुनः विचार किया गया है। इन मुद्दों में शामिल हैं : विदेशी नागरिकों को घरेलू उपक्रमों में रोज़गार प्रदान करना, विदेशी निगमों को भारत में जायदाद आदि खरीदने की अनुमति देना, विदेशी ब्रांड नामों का भारतीय उत्पादों के लिए प्रयोग, पेटेण्ट अधिकार आदि।

उपरोक्त सभी नीतिगत परिवर्तन इस बात का संकेत देते हैं कि सरकार विदेशी पूँजी निवेश में विशेष रुचि दिखला दे रही है। सरकारी नीति में विदेशी सहायता की अपेक्षा विदेशी निवेश को ओर भारती झुकाव स्पष्ट दिखलाई दे रहा है। इस झुकाव के लिए अनेक कारक जिम्मेदार हैं। पहला, निवेश के रूप में प्राप्त पूँजी पर निश्चित रकम में ब्याज चुकाने की जिम्मेदारी नहीं होती, बल्कि निवेशित पूँजी लाभांश की हकदार होती है और यह तभी मिल पाते हैं यदि सम्बद्ध उपक्रम अपनी कार्यकुशलता के अनुसार लाभ कमा पाते हैं अन्यथा नहीं। दूसरा, निवेशित पूँजी को प्रायः वापिस लौटाया नहीं जाता। वस्तुतः निवेशित पूँजी पर जो लाभांश प्राप्त होते हैं विदेशी निवेशकर्ता इस लाभांश का भी घरेलू उद्योगों में पुनर्निवेश ही कर देते हैं। इस तरह आय के प्रेषण का भी भय निर्मूल ही होता है। तीसरा, विदेशी पूँजी के साथ ही विकसित तकनीक का भी अंतर्वाह होता है। क्रमशः यह तकनीक घरेलू उपक्रमों को भी उपलब्ध हो पाती है। परिणामस्वरूप घरेलू उद्योगों की कार्यकुशलता एवं प्रतिस्पर्धा शक्ति में सुधार होता है। इस प्रकार विदेशी पूँजी स्थायी आर्थिक विकास का सुडौल आधार प्रस्तुत करती है।

MADHYAM IAS

24.5.1 नई नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन

आर्थिक सुधारों के कार्यक्रमों में विदेशी पूँजी को विशेष प्राथमिकता का दर्जा प्राप्त है। वस्तुतः यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आर्थिक कार्यक्रम की सफलता एक बहुत हद तक विदेशी पूँजी की उपलब्धि पर निर्भर करती है। इस संदर्भ में हमें दो बातों पर ध्यान देना होगा : (अ) घरेलू उपक्रमियों की प्रतिक्रिया एवं (ब) विदेशी उपक्रमियों की प्रतिक्रिया।

अ) **घरेलू उपक्रमियों की प्रतिक्रिया (Response of the Domestic Industries)** घरेलू उपक्रमियों के संदर्भ में हमें दो पहलुओं पर ध्यान देना होगा : (i) उपक्रमियों की आशंकाएँ, एवं (ii) संभावित अनुकूल लाभ।

i) उपक्रमियों की आशंकाएँ (Apprehension of Domestic Enterpries) विदेशी पूँजी के प्रति सरकारी उदारता से घरेलू उपक्रमी आशंकित हैं। इसके अनेक कारण हैं :

क) पिछले छः वर्षों के दौरान अनेक विदेशी उपक्रमियों ने स्थानीय उपक्रमियों की साझीदारी में निवेश किए। किंतु जैसे ही उपक्रम की सार्थकता संदेहप्रद प्रतीत हुई उन्होंने संबंध विच्छेद करना ही सरल तरीका समझा। स्थानीय उपक्रम को परिणामस्वरूप भारी झेलनी पड़ी।

ख) कभी-कभी स्थानीय उपक्रम में विदेशी पूँजी ने अल्प-अंश लेना ही स्वीकार किया। किंतु उपक्रम की प्रगति एवं सफलता से मोहित होकर इन्होंने अंशपूँजी में 51 प्रतिशत अथवा अधिक अर्थात् अपने बहुमत होने की माँग पेश कर दी।

ग) यह भी देखा गया कि 51 प्रतिशत बहुमत प्राप्त करने के बाद भी ऐसे ही संयुक्त उपक्रम के समानांतर ही इन्होंने नए नियम का गठन किया जिसमें इन्होंने 100 प्रतिशत पूँजी अपने स्वामित्व में रखीं।

घ) ऐसे मशीनों और उपकरणों को विदेशों से लाया गया जोकि तकनीकी दृष्टि से उन देशों में पुराने और व्यर्थ ठहराए जा चुके थे।

ङ) जल्दी और भारी लाभ कमाने की होड़।

च) उत्पादों के विनिर्माण में इन्होंने रुचि नहीं दिखलाई बल्कि इनका उत्साह बाहर से लाई वस्तुओं की बिक्री में अधिक रहा।

छ) उच्च प्रबंध में भारतीयों की अपेक्षा विदेशियों की नियुक्ति को प्राथमिकता दी गई।

ii) संभावित अनुकूल लाभ (Likely Positive Gains) — **पहला,** विदेशी कम्पनियों के भारत में आने के साथ ही अनेक घरेलू उद्यमियों में नई प्रेरणा जाग्रत हुई है। प्रतिस्पर्धा का डटकर मुकबला करने के लिए उन्होंने लंगोटी कस ली है।

दूसरा, अनेक बहु-राष्ट्रीय निगम भी यह समझने लगे हैं कि भारत में अपनी व्यावसायिक क्रियाओं के विस्तार के लिए यह आवश्यक है कि वे स्थानीय उद्यमियों का सहयोग प्राप्त करें। ऐसी परिस्थिति में स्थानीय उद्यमी परस्पर हित में सहयोग पर विचार कर सकते हैं। और लाभांवित हो सकते हैं।

तीसरा, विदेशियों के साथ संयुक्त उपक्रमों की स्थापना के साथ ही विकसित तकनीक का अंतर्वाह प्रारंभ हो जाएगा। वैकल्पिक रूप में, विकसित तकनीक प्राप्त करने के लिए भारतीय उपक्रमियों को विदेशी स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है और बदले में एक मुश्त फीस आदि के रूप में भारी रकम चुकानी पड़ती है।

MADHYAM IAS

चौथा, बदली हुई परिस्थितियों में यह संभव नहीं प्रतीत होता कि बहु-राष्ट्रीय निगम लाभांश आदि के रूप में अर्जित अपनी राय को वापिस अपने देश में प्रेषण करने में उत्साहित होंगे। बदलते परिवेश में जब प्रतिस्पर्धा का बोल-बाला है किसी भी उत्पादक के लिए यह आवश्यक है कि वह अर्जित अतिरेकों का पुनर्निवेश करे। बहु-राष्ट्रीय निगमों से भी यही अपेक्षा की जाती है और यदि ऐसा होता है तो परिणामतः निवेश की राशि में हुई वृद्धि से घरेलू उपक्रमी भी लाभांवित होंगे।

अंततः, हालाँकि यह स्पष्ट है कि अभी तक विदेशी कम्पनियों ने प्रमुखतः तेज बिकने वाली उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में ही अधिक रुचि दिखलाई है, किंतु इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उच्च-तकनीकी क्षेत्र एवं उपरिढाँचे की ओर भी विदेशी पूँजी का प्रवाह जारी है। इन क्षेत्रों में किए जाने वाले निवेश से अपेक्षित लाभ कुछ समय बाद ही उजागर होंगे तत्काल नहीं। इसी तरह कारों, टिकाउ उपभोक्ता वस्तुओं, सफेद वस्तुओं आदि विलासिता क्षेत्र में किए जाने वाले निवेश में भी न केवल हमारे निर्यातों की संभावनाएँ बढ़ती हैं बल्कि इनके उत्पादन से एक बड़ी मात्रा में नए रोज़गार के अवसरों की उत्पत्ति होती है। इन सबके सुखद और अनुकूल परिणाम ही सामने आने चाहिए।

आ) **विदेशी पूँजी की प्रतिक्रिया (Response of the Foreign Capital)** – नई नीति के प्रति विदेशी पूँजी की प्रतिक्रिया उतनी उत्साहवर्धक नहीं रही है जितनी कि मूलतः अपेक्षित थी जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :

तालिका-1 : विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का अंतर्वाह

($ मिलियन)

वर्ष	स्वीकृति	वास्तविक अंतर्वाह
1991	325	155
1992	1781	233
1993	3559	574
1994	4332	958
1995	11245	2100
1996	11142.0	2383
1997	15752.0	3330

MAADHYAM IAS

तालिका-1 से निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :

i) पिछले छः वर्षों के दौरान भारत सरकार द्वारा स्वीकृत विदेशी निवेश प्रस्तावों में निरंतर वृद्धि जारी है।

ii) वास्तविक अंतर्वाह जोकि प्रारंभिक चरण में मात्र बूँद-बूँद में आ रहे थे अब क्रमशः अपेक्षाकृत कुछ तेज गति से आ रहे हैं हालाँकि इनकी गति अभी बहुत धीमी है।

iii) गति कितनी धीमी है इस बात का अनुमान ऐसे लगाया जा सकता है कि पिछले छः वर्षों के दौरान किए गए अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप वर्ष 1997 में लगभग $3.1 बिलियन मूल्य की विदेशी पूँजी प्रत्यक्ष निवेश के रूप में भारत पहुँची जबकि पड़ौसी देश चीन में पिछले 10 वर्षों में निरंतर $20 बिलियन मूल्य का निवेश प्रतिवर्ष होता रहा है।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि विदेशी पूँजी के मार्ग में अभी कुछ रुकावटें हैं जिनकी ओ ध्यान देना होगा और जिन्हें पार करना होगा। इन रुकावटों में से कुछ प्रमुख निम्नलिखि हैं :

पहला, विदेशी निवेशकर्ताओं के दृष्टिकोण से भारत में हाल ही में किए गए नीतिगत परिवर्तनों के कारण जो परिवेश उत्पन्न हुआ है वह पुराने परिवेश से कितना भिन्न है कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता है। विदेशी पूँजी तो एक प्रवाह है जोकि उस ओर बह जाएगा जहाँ ढलाव इसके अधिक अनुकूल है। अर्थात् विदेशी निवेशकर्ता तो इस बात में अधिक रुचि रखते हैं कि क्या भारतीय परिवेश अन्य प्रतियोगी देशों की तुलना में उनके लिए बेहतर है अथवा नहीं। यदि भारतीय परिवेश उनके लिए बेहतर है तभी विदेशी पूँजी का बहाव भारत की ओर होगा अन्यथा नहीं।

भारतीय परिवेश पर यदि हम दृष्टि डालें तो विदेशी पूँजीपतियों के दृष्टिकोण से हमें दो गुण दिखलाई देते हैं। एक भारत में मजदूरी दरें अर्थात् श्रम की लागत अपेक्षाकृत कम है, तथा दो, भारत में विस्तृत घरेलू बाज़ार की संभावनाएँ हैं। इन दोनों गुणों से विदेशी निवेशकर्ता लाभांवित हो सकते हैं।

परंतु जब हम निम्न मजदूरी दरों की बात करते हैं तो हम इस तथ्य को नहीं भुला सकते कि भारतीय श्रमिकों की उत्पादकता भी अपेक्षाकृत नीची है। उदाहरणस्वरूप, इस बात के बावजूद कि पिछले 45 वर्षों के दौरान श्रम उत्पादकता में बहुत सुधार हुआ है वर्ष 1990 में औसतन भारतीय श्रमिकों द्वारा प्रति व्यक्ति 3,261 मूल्य का उत्पादन किया गया जोकि श्रीलंका, पाकिस्तान, बांग्लादेश और फिलिपींस आदि देशों में उत्पादित मात्रा से भी कहीं कम था। श्रमिकों की उत्पादकता बहुत कुछ उपलब्ध औद्योगिक संबंधों से भी प्रभावित होती है। इस संदर्भ में उपलब्ध परिस्थितियों को बहुत अनुकूल नहीं समझा जा सकता।

MADHYAM IAS

भारत का विस्तृत घरेलू बाज़ार निःसंदेह निवेशकर्ता को आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान करता है। किंतु, नई नीति के अंतर्गत कुछ शर्तें ऐसी हैं जो विदेशी निवेशकर्ता को हतोत्साहित करती हैं। उदाहरणस्वरूप, विदेशी निवेशकर्ता अर्जित लाभांश को केवल उसी परिस्थिति में अपने देश में प्रेषित कर सकता है जब वह बराबर मूल्य की विदेशी मुद्रा अर्जन करता है। अर्थात् विदेशी उपक्रमियों को मात्र घरेलू बाज़ार के प्रलोभन में ही नहीं पड़ना होगा बल्कि उन्हें भारत में उत्पादित सामान का विदेशों को निर्यात करना होगा। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में यह कार्य सरल नहीं लगता। इसके लिए विदेशी उपक्रमियों को अथक परिश्रम करना होगा। विदेशी बाज़ारों में अपनी प्रतिस्पर्धा बनाए रखने के लिए उपक्रमियों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे विकसित तकनीक, उपकरणों और कच्चे माल का आयात करें। वे ऐसा करते हैं तो उनकी उत्पादन लागत बढ़ती है। पुनः प्रतिस्पर्धा का प्रश्न सामने आ खड़ा होता है।

दूसरा, नई नीति के अंतर्गत विदेशी पूँजी के लिए भारत में प्रवेश के लिए तो दरवाजे खुले छोड़ दिए गए हैं किंतु वर्तमान नीति के अंतर्गत भारत में निवेश की नई पूँजी को वापिस ले जाने के प्रावधान स्पष्ट नहीं हैं। अर्थात् भारत सरकार एक समुचित निकास नीति (Exit Policy) का निर्माण अब तक नहीं कर पाई है। सरकार इस तरह की नीति के निर्माण पर विचार तो कर रही है किंतु, अब तक ऐसी नीति की स्पष्ट रूपरेखा सामने नहीं आती, विदेशी निवेशकर्ता में उत्साह का अभाव दिखना स्वाभाविक है।

तीसरा, यद्यपि विदेशी निवेशकर्ता सरकार की आर्थिक सुधार कार्यक्रम में आस्था के प्रति तो आश्वस्त हैं किंतु सरकारी कार्यालयों में क्या उनके साथ वैसा ही व्यवहार किया जाएगा और

उतनी कार्यकुशलता का परिचय दिया जाएगा। जैसाकि उन्हें अपने देश अथवा कुछ अन्य चुने हुए विकासशील देशों में प्राप्त होता है इस बारे में वे चिंतायुक्त हैं। इस दिशा में कारगर कदम उठाने की आवश्यकता है अन्यथा लालफीताशाही समस्त कार्यक्रम को उलट-पुलटकर छोड़ देगी।

अंततः, विदेशी निवेशकर्ता इस बारे में भी आश्वस्त होना चाहेंगे कि भारत द्वारा जो तुलनात्मक लाभ प्रस्तुत किए जा रहे हैं वे भारत में पाई जाने वाली तुलनात्मक लागतों से कम तो नहीं है। विदेशी उपक्रम भारत में रहन-सहन की दशा का अध्ययन करना चाहेंगे। वे यह भी जानना चाहेंगे कि उनके द्वारा किए जाने वाले उत्पादन के लिए आवश्यक मध्यवर्ती वस्तुएँ घरेलू बाज़ारों में उपलब्ध होंगी। विदेशी उपक्रमी संचार, टेलीफोन, ऊर्जा आदि प्राथमिक सेवाओं की सुलभता के बारे में भी आश्वस्त होना चाहेंगे।

संक्षेप में, विदेशी पूँजी के आगमन का हम फूलों से स्वागत करने की प्रतीक्षा में हैं तो लेकिन पहले हमें इस रास्ते में बीछे काँटों को हटाने के प्रयास करने होंगे।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न में से सही कथन का चयन करें :

   i) भारत में विदेशी पूँजी के प्रवेश को कभी अनुमति नहीं दी गई। ( )

   ii) वर्ष 1991 के बाद से सभी विदेशी नागरिक भारत में किसी भी तरह की उत्पादन इकाई लगाने के लिए पूरी तरह से स्वतंत्र हैं। ( )

   iii) विदेशी विनिमय नियमन एक्ट, 1973 केवल विदेशियों पर लागू होता है, भारतीयों पर नहीं। ( )

   iv) विदेशी पूँजी की ब्याज भुगतानों के रूप में निरंतर सेवा करने की आवश्यकता होती है। ( )

2) भारत में विदेशी पूँजी के प्रति अपनाई गई नीति के चार प्रमुख सिद्धांत बतलाएँ।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

24.6 सारांश

भारत में जिस तरह की विकास युक्ति अपनाई गई यह ही था कि हम उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रा में विदेशी वित्तीय संसाधनों का प्रयोग करें। आयोजन के प्रथम चार दशकों में विदेशियों से ऋणों के माध्यम वित्तीय संसाधन प्राप्त करने को हमने प्राथमिकता दी। विदेशियों द्वारा भारत में निवेश करने की ओर हमने कड़ा रुख ही अपनाया। किंतु, इस प्रकार की नीति अपनाने के परिणामस्वरूप हमारे ऊपर ऋणग्रस्तता का बोझ निरंतर बढ़ता गया। सन् 1991

में अपनाए गए आर्थिक सुधार कार्यक्रम के अंतर्गत हमारे विदेशी पूँजी के प्रति व्यवहार में भी परिवर्तन आया। परिणामतः अब हम ऋणों की अपेक्षा निवेश के रूप में विदेशी पूँजी की प्राप्ति की ओर अधिक उत्साह दिखला रहे हैं और इस प्रवाह को आवश्यक प्रोत्साहन दे रहे हैं।

24.7 शब्दावली

बचत अंतराल : उपलब्ध घरेलू बचत की मात्रा का अपेक्षित निवेश राशि से कम होना।

विदेशी विनिमय अंतराल : उपलब्ध विदेशी विनिमय राशि का विकास कार्यक्रमों की आवश्यकताओं की तुलना में अपर्याप्त होना।

तकनीकी अंतराल : देश में घरेलू तकनीक का स्तर विकसित देशों में प्रचलित तकनीक के स्तर से नीचा होना।

पत्राधान निवेश : निगमीय क्षेत्र द्वारा जारी अंशपत्रों, बॉण्डों एवं डिम्बेचरों की खरीद पर किया जाने वाला खर्च।

बहु-राष्ट्रीय निगम : वे निगम जो एक से अधिक देशों में उत्पादन इकाइयाँ स्थापित करते हैं और आर्थिक संव्यवहार करते हैं।

राष्ट्रीयकरण : सरकार द्वारा निजी पूँजी और उपक्रम से संचालित उत्पादन इकाइयों का अधिग्रहण।

24.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Vijay Joshi and I.M.D. Little : Indias Economic Reforms 1991-2001.

Reserve Bank of India : Report on Currency and Finance.

भारत सरकार : आर्थिक सर्वेक्षण

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

24.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) उपभाग 24.2.1 देखिए।

2) उपभाग 24.2.2 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 24.3 में पहला भाग देखिए।

2) उपभाग 24.3.1 देखिए।

3) उपभाग 24.3.3 देखिए।

4) उपभाग 24.3.4 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) दिए हुए कथनों में से कोई भी कथन नहीं है।

2) उपभाग 24.4.1 देखिए।

इकाई 25 आर्थिक सुधार संबंधी संकल्पनाएँ और औचित्य

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 उदारीकरण की संकल्पनाएँ
  25.2.1 उदारीकरण संबंधी कार्य
  25.2.2 उदारीकरण से लाभ
  25.2.3 उदारीकरण के संबंध में प्रगति
25.3 विश्वव्यापीकरण की संकल्पना
  25.3.1 विश्वव्यापीकरण के कारक
  25.3.2 विश्वव्यापीकरण क्या कोई नई घटना है?
  25.3.3 विश्वव्यापीकरण के लाभ
  25.3.4 विश्वव्यापीकरण और राज्य
25.4 निजीकरण की संकल्पना
25.5 भारत में आर्थिक सुधारों का औचित्य
  25.5.1 आर्थिक सुधारों के घटक
25.6 सारांश
25.7 शब्दावली
25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

MAADHYAM IAS

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित का उत्तर दे पाएँगे :

- 'उदारीकरण', 'निजीकरण' और 'विश्वव्यापीकरण' जैसे विभिन्न शब्दों के अर्थ;
- भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में उदारीकरण की आवश्यकता और उनका महत्त्व;
- निजीकरण के रूप;
- विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय;
- विश्वव्यापीकरण की विधियाँ या उसके कारक; तथा
- आर्थिक सुधारों का औचित्य।

25.1 प्रस्तावना

1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना के शुरू होने के बाद के प्रथम चार दशकों में देश का औद्योगीकरण करने के लिए योजना की युक्ति को अपनाया गया। योजनाओं का कार्यान्वयन मिली-जुली अर्थव्यवस्था के ढाँचे के अंतर्गत किया गया, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्रक और सरकार द्वारा (अधिक पक्वनावधि, आय की कम दर तथा भारी निवेश की आवश्यकताओं के कारण) तथा निजी क्षेत्रक के अंतर्गत मुख्यतः उपभोक्ता वस्तु उद्योगों को रखा गया। प्रत्येक आनुक्रमिक पंचवर्षीय योजनाओं के चार मुख्य उद्देश्य ये थे– 'तेजी से आर्थिक संवृद्धि', 'आधुनिकीकरण', 'स्वाबलंबन' और 'सामाजिक न्याय'। विदेशी बाज़ारों की प्रतियोगिता से देशीय बाज़ार को संरक्षण प्रदान करने के लिए तटकर की दरें ऊँची करके और अन्य प्रकार के प्रतिबंधों को लगाकर देश को स्वाबलंबी बनाने का प्रयास किया गया।

स्वाबलंबन के उद्देश्य को पूरा करने के लिए वास्तविक नीति के जिन प्रमुख साधनों का उपयोग किया गया वे थे उद्योग विकास और विनियमन अधिनियम (IDRA), 1951 के अंतर्गत व्यापक औद्योगिक लाइसेंस प्रणाली और संरक्षक विदेश व्यापार प्रणाली। इसने केवल उद्योग में प्रवेश को ही नहीं रोका बल्कि क्षमता का प्रसार किया तथा प्रौद्योगिकी, उत्पाद-मिश्रण और आयात घटकों को बढ़ावा भी दिया। इसके अतिरिक्त एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापारिक अधिनियम (MRTP) 1969 के द्वारा आर्थिक शक्ति के संकेंद्रण पर प्रतिबंध लगाया गया। अंततः भारत में विदेशी निवेश के विनियमन के लिए विदेशी विनिमय विनियमन अधिनियम (FERA) 1973 का प्रयोग किया गया। इन्होंने अत्यधिक संरक्षित उद्योग प्रणाली का निर्माण किया, जिसमें न तो समुचित आंतरिक प्रतियोगिता हो सकती थी और न ही औद्योगिक विकास के लिए सही रूप से आयोजन हो सकता था।

भारतीय अर्थव्यवस्था को योजनाबद्ध ढाँचे से निकालकर उसे बाज़ार-उन्मुख बनाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने 1991 में बहुत बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार कार्यक्रमों को शुरू किया। इसके लिए सरकार ने नीतियों संबंधी अनेक निर्णय लिये; जिनका उद्देश्य था राजकोषीय अनुशासन, सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों (PSEs) के निजीकरण, उदारीकरण के संवर्धन, देशीय वित्तीय बाज़ारों पर नियंत्रण को हटाने और विदेशी निवेश को आकर्षित करने को प्रोत्साहन प्रदान करना। ये आर्थिक सुधार आमतौर पर तीन जातिवाचक शब्दों (generic terms) के अंतर्गत आते हैं– उदारीकरण, निजीकरण और विश्वव्यापीकरण।

25.2 उदारीकरण की संकल्पनाएँ

उदारीकरण आर्थिक नीति में परिवर्तन की प्रक्रिया है। पिछले दशक में उदारीकरण समस्त विश्व में आर्थिक नीति का प्रतीक रहा है। प्रायः सभी देशों में आर्थिक कार्यकलापों में निजी उद्यम की भूमिका को बढ़ाने के संबंध में महत्त्वपूर्ण कदम उठाएँ हैं। ऐसे प्रयास पूर्वी यूरोप के पहले की केंद्रीकृत योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था और लैटिन अमेरिका में तथा यहाँ तक कि यूरोप के उन्नत मिली-जुली अर्थव्यवस्थाओं तक में हुए हैं। (i) केंद्रीकृत योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था जैसे कुछ देशों में प्रणाली में आमूल परिवर्तन आ गए हैं (ii) लैटिन अमेरिका के अनेक देशों में विकास को बढ़ावा देने के संबंध सैद्धांतिक परिवर्तन आ गए हैं तथा (iii) यूरोप की कुछ अर्थव्यवस्थाओं में मिली-जुली अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका के संबंध में समायोजन आया है।

25.2.1 उदारीकरण संबंधी कार्य

उदारीकरण की नीतियों को कार्यान्वित करने के लिए अनेक विशेष प्रकार के कार्य किए गए हैं– (i) प्रणाली में आमूल परिवर्तन, जैसे कि पूर्वी यूरोप की केंद्र से नियंत्रित अर्थव्यवस्थाओं में, (ii) विकास को बढ़ावा देने के संबंध में विचारधारा में बहुत अधिक बदलाव, जैसा कि लैटिन अमेरिका के देशों में तथा (iii) सरकार की भूमिका में समायोजन, जैसे कि यूरोप के विकसित अर्थव्यवस्थाओं में हुआ।

प्रणाली को बदलने के फलस्वरूप आवश्यक हो गया कि समस्त अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन कार्य से सरकार अपने को अलग कर ले तथा बाज़ार अर्थव्यवस्था के उपयुक्त संस्थागत और कानूनी ढाँचे की स्थापना की जाए। उत्पादन की व्यवस्था के लिए जो अर्थव्यवस्थाएँ मुख्यतः निजी उद्यम पर निर्भर रहती हैं, उनमें राज्य की भूमिका बहुत घट गई है तथा उसे नया रूप दिया गया है। संक्रमण एवं बाज़ार अर्थव्यवस्थाओं में निजी क्षेत्रक के कार्यकलापों के मार्ग-निर्देशन संबंधी सरकारी नियम-कानूनों में बहुत कमी हुई है तथा दिन-प्रतिदिन उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओं के अनुसार इन नियम-कानूनों को नया रूप दिया गया है, जैसे कि वित्त और पर्यावरण संरक्षण से संबंधित समस्याएँ।

25.2.2 उदारीकरण से लाभ

सभी देशों में विदेशों के साथ लेन-देन उदारीकरण की युक्तियों का प्रमुख घटक रहा है। ऐसा इसलिए कि अंतरराष्ट्रीय व्यापार, निवेश और पूँजी संचलन का उदारीकरण करने से दक्षता के आबंटन में सुधार आ सकता है और अर्थव्यवस्था में अधिक गति आ सकती है, जिससे आर्थिक संवृद्धि तेजी से हो सकती है। व्यापार की निर्बन्धता के बढ़ने से निम्नलिखित प्रकार के लाभ हो सकते हैं :

i) बाहर के देशों के साथ प्रतियोगिता के कारण नवीन प्रक्रियाओं और देशीय फर्मों की उत्पादिता में सुधार।

ii) अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता और विशेषता के बढ़ जाने से उपभोक्ताओं को लाभ होता है क्योंकि वे अनेक प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं में से चुनाव कर सकते हैं तथा उपर्युक्त की कीमतें भी कम हो जाती हैं।

iii) उत्पादक विपरीत बाह्य परिवर्तनों के अनुकूल अपने को बना पाते हैं तथा उन्हें कम जोखिमों का सामना करना होता है।

iv) उत्पादन के कारकों की गतिशीलता बढ़ जाती है, विशेषतः पूँजी और प्रौद्योगिकी किसी देश को स्थिर तुलनात्मक लाभ के बंधन से मुक्त कर सकती है तथा सतत आर्थिक संवृद्धि और उत्पादिता लाभ के लिए साधन उपलब्ध होते हैं।

v) पूँजी संचलन के उदारीकरण का अर्थ होता है कि देशीय बचतों और देशी निवेश के बीच के संबंध में ढील दी जा सकती है, जिससे अभिप्राय है कि देश के अंदर यदि बचत कम होती है तो उससे देश में निवेश में कमी नहीं होगी तथा इसके विपरीत यदि देश में यदि अधिक धन की बचत होने लगती है तो उनका निवेश उन देशों में होना चाहिए जहाँ उनकी आवश्यकता होगी।

25.2.3 उदारीकरण के संबंध में प्रगति

परंतु जहाँ तक व्यापार, निवेश और वित्त का संबंध है, उदारीकरण विभिन्न गतियों से और विभिन्न प्रकार से हुआ है। अभी भी अनेक ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें उदारीकरण आंशिक रूप में ही हुआ है – जिनमें कृषि एवं कपड़ा उद्योग शामिल हैं, जो विकासोन्मुख देशों के लिए विशेष महत्व के हैं, परंतु अंतरराष्ट्रीय व्यापार का उदारीकरण बहुत अधिक हुआ है।

निवेश का उदारीकरण बहुत अधिक असमान प्रकार से हुआ है जो परिवर्तन किए गए उनके अंतर्गत आते हैं– विदेशी निवेशकों को जिन बाधाओं का सामना करना होता है उन्हें कुछ कम करना या उन्हें बिल्कुल ही समाप्त कर देना, उनके कार्यों के संबंध में मापदंड स्थापित करना, अधिकाधिक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) को आकर्षित करने के लिए प्रोत्साहन देना तथा समुचित रूप से बाज़ार के प्रचालन के संबंध में कुछ कदम उठाना। इसके अतिरिक्त उदारीकरण के इन कार्यों के साथ-साथ प्रायः कुछ अन्य उपाय भी किए गए, जिनका उद्देश्य संचालन निगमों (TNCs) के लिए उपयुक्त वातावरण तैयार करना था, विशेषतः विदेशी निवेशकों को बेहतर संरक्षण प्रदान करके।

व्यापार के उदारीकरण और प्रत्यक्ष विदेशी प्रणाली के साथ-साथ विदेशी लेन-देनों का उदारीकरण भी किया गया। विकासोन्मुख देशों में वित्तीय उदारीकरण प्रायः कम उन्नत कोटि का रहा है, परंतु इस संबंध में परिवर्तन बड़ी तेजी से हुआ है। अनेक विकासोन्मुख देशों में अनिवासी निवेशकर्ताओं द्वारा देश के अंदर निवेश को प्रायः छूट दे दी गई है। जहाँ तक बाह्य लेन-देनों का प्रश्न है, अधिकाधिक विकासोन्मुख देशों ने हाल के वर्षों में पूँजी खाता मुद्रा-परिवर्तन (capital account convertibility) को अपना लिया है। निवासियों के बीच विदेशी मुद्रा में लेनदेनों के उदारीकरण के संबंध में बहुत अधिक प्रगति हुई है। निवासियों को प्रोत्साहित किया जाने लगा है कि देश के अंदर के बैंकों में विदेशी मुद्रायें जमा करें। व्यापार और निवेश के उदारीकरण पर क्षेत्रीय एकीकरण के प्रयासों के प्रसार और गहनता का प्रभाव पड़ा है।

MADHYAM IAS

बोध प्रश्न 1

1) आर्थिक सुधारों से आप क्या समझते हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

2) उदारीकरण शब्द की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) देशीय उदारीकरण और बाह्य उदारीकरण में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
way to achieve your dream

25.3 विश्वव्यापीकरण की संकल्पना

विश्वव्यापीकरण की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी जा सकती है, जो इस बात पर निर्भर करेगी कि हम किस स्तर पर जोर देना चाहते हैं। समस्त विश्व को विश्वव्यापीकरण की बात की जा सकती है, किसी एक देश के किसी विशेष कंपनी के, किसी व्यवसाय की किसी विशेष शृंखला के या किसी कंपनी के अंतर्गत के कार्य के विश्वव्यापीकरण की।

समस्त विश्व के स्तर पर विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय होता है देशों के बीच बढ़ती हुई आर्थिक परस्पर निर्भरता, जो सीमाओं के आर-पार वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी और विशेषता के बढ़ते हुए प्रवाह में दिखाई पड़ती है। निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ इसके स्पष्ट प्रमाण हैं :

- 1989 और 1999 के बीच वस्तुओं और सेवा में सीमा पर व्यापार में वृद्धि की औसत दर प्रतिवर्ष 6.1 प्रतिशत थी जो इसी अवधि में विश्व के जी.डी.पी. की औसत वार्षिक वृद्धि पर (3.1 प्रतिशत) की दुगनी थी।

- 1980 और 1999 के बीच प्रत्यक्ष विदेशी निवेश विश्व के GDP के 4.8 प्रतिशत से बढ़कर 9.4 प्रतिशत हो गया।

- 1970 में जी.डी.पी. के अनुपात के रूप में बांडों और ईक्विटियों में सीमा पार लेन-देन यू.एस., जर्मनी और जर्मनी में 5% थे। 1999 तक इन देशों से संबंधित ये अंक बढ़कर क्रमशः 149 प्रतिशत, 202 प्रतिशत और 87 प्रतिशत हो गए।

किसी विशेष देश के स्तर पर विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय होता है कि किसी देश की अर्थव्यापीकरण शेष विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ किस स्तर तक जुड़ी है।

विश्वव्यापीकरण में दिन-प्रतिदिन प्रगति होने के बावजूद विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था के साथ सभी देशों का एकीकरण समान रूप से नहीं हुआ है। किसी देश की अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापी एकीकरण को मापने के लिए कुछ प्रमुख सूचक हैं– जी.डी.पी. के अनुपात के रूप में निर्यात और आयात, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और पोर्टफोलियों मैनेजमेंट के आवक और जावक प्रवाह तथा टेक्नॉलोजी हस्तांतरण से संबंधित रॉयल्टी का आवक और जावक प्रवाह।

किसी विशेष उद्योग के स्तर पर विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय होता है किसी देश के उस उद्योग से किसी कंपनी की प्रतिस्पर्धा स्थिति किसी अन्य देश की ऐसी स्थिति पर कहाँ तक परस्पर निर्भर है। कोई उद्योग जितना ही अधिक विश्वव्यापी होगा उसे अन्य देशों में प्रौद्योगिकी, कौशल, विनिर्माण शक्ति, ब्रांड और/या पूँजी के संबंध में उतना ही अधिक लाभ होगा। उद्योगों के विश्वव्यापीकरण पर सभी बाज़ारों में कुछ विश्वव्यापी कंपनियों का प्रभुत्व होता है जो अनेक देशों में उनके कार्यों का समायोजन करती है। उदाहरणार्थ खिलाड़ियों के जूता-उद्योग पर नाइक, रीबुक और अडिडैस का प्रभुत्व है। भेशज-निर्माण उद्योग का विश्वव्यापीकरण दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। आँकड़ों से पता चलता है कि इस उद्योग में सीमा के आर-पार व्यापार की तुलना में सीमा के आर-पार निवेश अधिक तेजी से बढ़ा है।

किसी विशेष कंपनी के स्तर पर विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय होता है कि किसी कंपनी में अपनी आय और परिसम्पत्तियों के आधार का विस्तार अन्य देशों में कहाँ तक किया है और नियंत्रित कंपनियों के बीच पूँजी, वस्तुओं और तकनीकी जानकारी का आवागमन कितनी मात्रा में हो पाता है। अत्यधिक विश्वव्यापीकरण की गई कंपनी का एक अच्छा उदाहरण टोयाटा है। 12 देशों में उसके पूर्णतः या अंशतः स्वामित्व के अंतर्गत की उसकी संबद्ध कंपनियों में हुआ। इसके अतिरिक्त टोयाटा ने जापान से अपने देशीय उत्पादन का 38% विदेशी बाज़ारों को निर्यात किया तथा अपनी संबद्ध कंपनियों के आपसी व्यापार को भी प्रोत्साहन दिया। उदाहरणार्थ, दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्रीय ढाँचे के अंतर्गत टोयाटा ने थाईलैंड से डीज़ल इंजनों का, फिलिपीन्स से ट्रांसमिशन का, मलेशिया से स्टियरिंग गियरों का तथा इंडोनेशिया से इंजनों का निर्यात किया। किसी कंपनी के विश्वव्यापीकरण के मुख्य सूचक हैं – विक्रय-आय तथा परिसंपत्ति के आधार का अंतरराष्ट्रीय प्रसार, मध्यवर्ती तथा तैयार माल का फर्मों के बीच व्यापार तथा प्रौद्योगिकी का फर्मों के बीच प्रवाह।

25.3.1 विश्वव्यापीकरण के कारक

विश्वव्यापीकरण के होने का कारण यह है कि विशिष्ट कंपनियों के विशिष्ट प्रबंधक ऐसे निर्णय लेते हैं जिनके फलस्वरूप, पूँजी, वस्तुओं और/या तकनीकी जानकारी का सीमाओं के आर-पार प्रवाह बढ़ती हुई मात्रा में होता है प्रबंधक ऐसे निर्णय अधिकाधिक मात्रा में इसलिए लेते हैं कि विश्वव्यापीकरण अधिक व्यवहार्य और वांछनीय होता जा रहा है। इस संबंध में निम्नलिखित चार प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं :

1) अधिकाधिक देश निर्बाध बाज़ार की विचारधारा को अपनाते जा रहे हैं।

   जिन देशों का उद्योगीकरण हो चुका है तथा जिनका उद्योगीकरण अभी हो रहा है वहाँ के आर्थिक नीति निर्धारक अब योजना की तुलना में बाज़ार के संबंध में अधिक सोच-विचार करने लगे हैं। इसके संबंध में बहुत कुछ लिखा गया है।

2) आर्थिक संकेंद्रण विकसित देशों की ओर विकासोन्मुख देशों की ओर से बढ़ता जा रहा है।

   आर्थिक उदारीकरण के फलस्वरूप प्रतियोगिता, कुशलता, नवीन प्रक्रियाओं, नए पूँजी-निवेश तथा तेजी से आर्थिक संवृद्धि को बढ़ावा मिलता है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जिन

विकासोन्मुख अर्थव्यवस्थाओं ने बाज़ार तंत्र को अपनाया है वे उन्नत अर्थव्यवस्थाओं के नजदीक आती जा रही है। इस प्रकार विश्व के आर्थिक आकर्षण का केंद्र बदलता जा रहा है। जो भी कंपनी अपना विस्तार करना चाहती है उसे उस स्थान पर जाना पड़ता है जहाँ संवृद्धि हो रही है। विश्व के शीर्षस्थ 500 उद्योग निगमों में से अधिकतर के लिए संवृद्धि की संभावनाएँ देशीय बाज़ार में बहुत ही कम हैं।

3) प्रौद्योगिकीय प्रगति सदा ही संचार में सुधार लाती जा रही हैं।

   1980 से हवाई परिवहन, दूर-संचार और कंप्यूटरों की लागतें बहुत ही अधिक घटी हैं। परिवहन लागतों के कम होने के फलस्वरूप माल का भाड़ा घटता जा रहा है जहाँ तक कंप्यूटरों और दूर-संचार का संबंध है, इनकी लागतों के घटने तथा वीडियो कन्फरेन्सिंग और ई-मेल प्रौद्योगिकियों का हाल में व्यापक रूप से प्रयोग के फलस्वरूप दूर-दूर पर होने वाले कार्यों के बीच समायोजन अधिक विश्वसनीय और कुशलतापूर्वक किया जाने लगा है।

4) सीमाओं को व्यापार, निवेश और प्रौद्योगिक हस्तांतरण के लिए खोलने से कंपनियों के लिए केवल नए बाज़ार के अवसर ही प्राप्त नहीं होते बल्कि देशीय बाज़ारों में बाहर के प्रतियोगियों का प्रवेश भी होता है। प्रतियोगिता के बढ़ने के साथ ही साथ निम्नलिखित के संबंध में प्रतियोगियों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ जाती है– ग्राहकों की सेवा करने, बड़े पैमाने की किफायतों को प्राप्त करने, इष्टतम स्थान पर लागत को घटाने और किस्म में सुधार लाने और प्रौद्योगिकीय विश्वव्यापीकरण ऐसी प्रक्रिया हो गया है जिसमें विकास अपने आप ही होने लगता है।

25.3.2 विश्वव्यापीकरण क्या कोई नई घटना है?

लोगों के बीच आम धारणा है कि इस समय जो विश्वव्यापीकरण विश्व की अर्थव्यवस्था के स्वरूप को बदल रहा है वह बिल्कुल नई घटना है तथा यह भूतकाल से मूलतः निम्न हैं लेकिन यह धारणा सही नहीं है। विश्वव्यापीकरण कोई नई बात नहीं हैं। बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों की विश्व अर्थव्यवस्था अनेक वर्षों में उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्षों की अर्थव्यवस्था के ही जैसी हैं इसके अतिरिक्त इतिहास से हम बहुत कुछ सीख सकते हैं, क्योंकि 'हमारे वर्तमान में भूतकाल छिपा होता है'।

25.3.3 विश्वव्यापीकरण के लाभ

प्रो. दीपक नायर ने जोर देकर कहा है कि विश्वव्यापीकरण के द्वारा अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण का लाभ केवल उन्हीं देशों को होगा जिन्होंने उद्योगीकरण और विकास के लिए आवश्यक आंधार तैयार कर लिया है। इसका अर्थ होता है मानव संसाधनों के विकास और भौतिक आधारिक संरचना के निर्माण में निवेश करना। इसका अर्थ है कृषि क्षेत्रक में उत्पादिता को बढ़ाना। इसका अर्थ है व्यष्टि स्तर पर औद्योगिकीय और प्रबंधकीय क्षमता प्राप्त करना। इसका अर्थ है ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना जो बाज़ार के कार्यों का नियमन और विनियमन कर सकें तथा उन्हें सुविधाजनक बना सकें। इनमें से प्रत्येक लक्ष्य की पूर्ति के लिए सरकार की ओर से हस्तक्षेप आवश्यक होता है। जो देश इन पूर्व शर्तों का सृजन नहीं कर पाए हैं वे आय का विश्वव्यापीकरण किए बिना ही कीमतों का विश्वव्यापीकरण कर देंगे। इस प्रक्रिया में उपभोग के स्वरूपों और जीवन शैलियों के रूप में इन देशों की जनसंख्या के छोटे से भाग का विश्व अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण तो हो जाएगा लेकिन जनसंख्या के बहुत बड़े भाग की हालत और भी बदतर हो जाएगी।

25.3.4 विश्वव्यापीकरण और राज्य

विश्वव्यापीकरण ने यदि राजनैतिक अर्थ में नहीं तो आर्थिक अर्थ में राष्ट्र-राज्यों की स्वायत्तता को तो कम कर दिया है। फिर भी स्वतंत्रता की कुछ ऐसी मात्रा है जिसका उपयोग उद्योगीकरण और विकास के लिए

किया जाना चाहिए। विश्वव्यापीकरण के संदर्भ में विकास की किसी समुचित युक्ति का उद्देश्य होना चाहिए। राष्ट्रीय हित और विकास के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आर्थिक अवसरों का निर्माण करना।

समय, स्थान और दृष्टि से विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया एक समान नहीं रही है। इस प्रक्रिया में अंतर्निहित असमानताओं और असमितियों के चलते मुख्यतः राजनैतिक कारणों से उन्नीसवीं सदी के अंत में असमान रूप से विकास हुआ। परंतु आज के समय में मुख्यतः आर्थिक कारणों से ये असमान रूप से विकास करेंगी। खतरा यह है कि कुछ देशों में तो सम्पन्नता बिल्कुल ही नहीं आ पाएगी। विकास की प्रक्रिया से इन देशों को दूर रखने के फलस्वरूप विश्व के निवासियों के बीच की आर्थिक दूरी बढ़ती जाएगी। परंतु यह ऐसी स्थिति को ऐसे विश्व में बनाए रखना कठिन होगा जहाँ प्रदर्शन-प्रभाव सशक्त है तथा जिसमें विश्वव्यापीकरण के फलस्वरूप उपभाग के स्वरूप को उन्नत करने तथा जीवन शैली को और आधुनिक करने के प्रति लोगों की आकांक्षाएँ बढ़ती जा रही हैं। आर्थिक वंचन (economic deprivation) के फलस्वरूप सामाजिक असमानता और राजनैतिक पृथकता (राजनीति के प्रति उदासीनता) बढ़ेगी।

प्रो. नायर का कहना सही है कि विकासोन्मुख देशों के राष्ट्र राज्य इन समस्याओं से बच नहीं सकते। विश्वव्यापीकरण के समर्थकों को यह मानना होगा कि न तो हम इतिहास के अंत तक पहुँचे हैं और न ही भूगोल के अंत तक। इतिहास के अंत तक हम इस अर्थ में नहीं पहुँचे हैं कि बाज़ार पूर्वी यूरोप के देशों के लोगों के जीवन स्तर में सुधार नहीं ला सके तथा वहाँ के साम्यवादी अपनी नीतियों में कुछ हेर-फेर करके चुनाव प्रक्रिया में भाग लेकर पुनः एक-एक करके सभी देशों का शासन अपने हाथ में लेने लगे हैं। भूगोल के अंत में हम इसलिए नहीं पहुँचे हैं कि राष्ट्र राज्यों का अस्तित्व राजनैतिक शून्यता में नहीं हो सकता तथा उन्हें अपनी जनता के जीवन स्तर को सुधारने का प्रयास करना होगा। इसके अतिरिक्त राज्य की सामरिक आर्थिक और राजनैतिक भूमिका होती है जिसे स्वीकार करना होगा और उन्हें पूरा करना होगा। यदि ऐसा नहीं किया गया तो इतिहास अपने को पुनः दुहराएगा और विश्वव्यापीकरण के फलस्वरूप असमान विकास होगा।

MADHYAM IAS

कितनी ही मात्रा में क्यों हो, परंतु विश्वव्यापीकरण हो चुका है तथा इसमें कमी आने की संभावना नहीं है। दिन-प्रतिदिन बढ़ते हुए विश्वव्यापीकरण के प्रति चिंता व्यक्त की जाने लगी है। आम धारणा यह है कि विश्वव्यापीकरण से श्रमिकों का अहित होता है, विशेषतः अकुशल श्रमिकों का। राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से विश्वव्यापीकरण के लाभ तो हैं, लेकिन राष्ट्र के विशेष समूहों के लिए समायोन लागतें भी होती हैं : विश्वव्यापीकरण जीतने वाले और हारने वाले प्रकट होते हैं। आयात प्रतियोगिता के फलस्वरूप विस्थापित श्रमिक समूहों का आयोजन धीरे-धीरे तथा महत्त्वपूर्ण लागतों के साथ होता है, जैसे कि नए अवसरों और पुनः स्थापन के संबंध में सूचना प्राप्त करने की आवश्यकता तथा फार्म या उद्योग से संबंधित ज्ञान की क्षति। नीति निर्धारकों को चाहिए कि वे संभाव्य विस्थापन को ध्यान में रखें तथा सुनिश्चित कर लें कि जो लोग विस्थापित होते हैं उनकी हालत और भी खराब न हो। इसलिए पुनः प्रशिक्षण कार्यक्रमों की आवश्यकता है। जिससे विपरीत सामाजिक-आर्थिक प्रभावों को न्यूनतम किया जा सके और बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था में विस्थापित श्रमिकों को पुनः काम दिया जा सके। किसी पुनर्गठन के फलस्वरूप जिन संसाधनों को बचाया जाता है, उनका उपयोग राज्य द्वारा किए जाने वाले आवश्यक निवेश में किया जा सकता है। यह कार्य अधिक कुशल और आरोही कराधान नीति के द्वारा किया जा सकता है, जिससे देश के अंदर संसाधनों का निर्माण हो सके। इस संबंध में मुख्य चुनौती है सरकार के कार्यों का बाज़ार की शक्तियों के साथ मेल बैठाना, जिससे विश्वव्यापीकरण के अंतर्गत विकास की गति को तेज किया जा सके। इस ढाँचे के अंतर्गत विचार करने की बात यह है कि व्यष्टि-आर्थिक नीतियों का निर्धारण करने संबंधी सरकार के प्रयासों और उनकी क्षमता पर विश्वव्यापीकरण का किस सीमा तक विपरीत प्रभाव पड़ेगा। सुमित राय, (1997)

विश्व के अत्यंत निर्धन लोगों का एक तिहाई भाग भारत में रहता है, अतः विश्व की निर्धनता को घटाने में अर्थव्यवस्था का उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण करने तथा अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण करने का विशेष महत्त्व है। सैद्धांतिक रूप से यदि हम देखें तो विश्वव्यापीकरण के ढाँचे में

देशीय और अंतरराष्ट्रीय नीतियों पर जोर देना होगा। इस संबंध में एक ऐसा प्रकार विज्ञान (typology) सोच निकालने की आवश्यकता है जो किसी विकासोन्मुख देश के आर्थिक ढाँचे को परिभाषित कर सके जिससे विश्व के साथ आदान-प्रदान को तथा अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के साथ अनुकूल के क्षेत्र को भली-भाँति समझा जा सके। भारत को एक बहुत बड़ी, बंद तथा संरक्षित अर्थव्यवस्था कहा जा सकता है, जो उद्योगीकरण की प्रक्रिया से गुजर रही है, जिसमें व्यापार और निवेश की सीमित भूमिका है, यहाँ प्रतिव्यक्ति आय कम है, कृषि क्षेत्रक तथा इस अर्थव्यवस्था में असमानता बहुत ही अधिक है। ऐसी स्थिति में सबसे पहले इस बात पर जोर देना चाहिए। कृषि के क्षेत्रक में विकास हो सके, जिसके अंतर्गत आधारिक संरचना, ऋण और प्रौद्योगिकी में निवेश करना शामिल है। इसके साथ ही साथ संस्थागत तंत्र की स्थापना करना भी आ जाता है जिससे अत्यधिक असमान कृषि ढाँचा का सुधार किया जा सके। सच्चाई तो यह है कि उद्योगजनित पदार्थों के लिए देश के अंदर माँग को बढ़ाने में कषि में विकास का बहुत बड़ा योगदान होता है। इसके लिए आवश्यक होता है निम्नलिखित के संबंध राज्य की ओर से महत्त्वपूर्ण रूप से हस्तक्षेप किया जाए– कौशल प्रौद्योगिकी और प्रशिक्षण का निर्माण करने, अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देने, जिसमें ऋण के संबंध में सहायता भी शामिल है तथा प्रौद्योगिकी की प्रक्रिया को आकार प्रदान करने, जिसमें निजी क्षेत्रक की *भी बहुत बड़ी भूमिका होती है। इन* कार्यों में रोज़गार के अवसरों को लाने और गरीबी कम करने संबंधी नीतियों का भी बहुत अधिक योगदान होता है, जिनसे विशेषता बाज़ार अर्थव्यवस्था के संक्रमण काल में सामाजिक समर्थन और मानव-पूँजी की व्यवस्था होती है। दूसरी बात यह है कि बाहरी देशों के संबंध में अपनाई जाने वाली नीतियाँ देश के अंदर अपनाई जाने वाली नीतियों की पूरक होनी चाहिएँ। अर्थात् प्रत्यक्ष विदेशी निवेश इस प्रकार होने चाहिए कि देश के अंदर के विकास ढाँचे को बल मिल सके। परंतु इन सबके लिए आवश्यक है कि श्रम बाज़ार के अधिक लचीला होने, सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक के अधिक कुशल होने, चयनात्मक निजीकरण तथा यहाँ तक कि बीमार सार्वजनिक उद्योगों को बंद करने की आवश्यकता और उनकी गुंजाइश के संबंध में भलीभाँति मूल्यांकन किया जाए।

उदारीकरण और बढ़ते हुए विश्वव्यापीकरण का अर्थ है भारतीय अर्थव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होने देना। इसके लिए अनेक लक्ष्यों को सामने रखना होता है– जैसे कि समष्टि आर्थिक स्थायित्व, संवृद्धि और निर्धनता में कमी करना। भारत इन लक्ष्यों के अनुसार कहाँ तक कार्य कर सकेगा और नई प्रक्रिया के ऋणात्मक प्रभाव को कहाँ तक कम कर सकेगा। यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उदारीकरण के पहले की आर्थिक समस्याओं का समाधान कहाँ तक किया जाता है। इस ढाँचे के अंतर्गत नीति निर्धारकों के लिए सबसे बड़ी चुनौती यह है कि संवृद्धि को बढ़ावा देने और गरीबी को कम करने के लिए बाज़ार की शक्तियों के साथ सरकार के कार्यों का कहाँ तक तालमेल बैठाया जाता है। निम्नलिखित के पुनःपरीक्षण के संबंध में सरकार को महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी होगी– आर्थिक संवृद्धि में कृषि का योगदान, असमान कृषि ढाँचे में सुधार लाने की गुंजाइश तथा कृषि और उद्योग क्षेत्रकों के निवेश का स्वरूप। इसके साथ ही साथ गरीबी कम करने संबंधी समुचित नीतियाँ अपनानी होंगी, तथा रोज़गार के कार्यक्रमों तथा स्वास्थ्य और शिक्षा संबंधी नीतियों को भी अपनाना होगा, जिससे मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और मानव पूँजी का सृजन हो सके। इन सबके साथ चयनात्मक उदारीकरण की नीतियों को भी अपनाना होगा, जिससे अर्थव्यवस्था को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अधिक प्रतियोगी बनाया जा सके।

इस विश्लेषण से पता चलता है कि अर्थव्यवस्था में संवृद्धि लाने और गरीबी दूर करने के लक्ष्य को पूरा करने तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अर्थव्यवस्था को अधिक प्रतियोगी बनाने के संबंध में सरकार को प्रमुख भूमिका अदा करनी होगी। इसके लिए आवश्यक होगा आर्थिक संवृद्धि को तेज करने में कृषि की भूमिका के संबंध में पुनः विचार करना, ढाँचा और प्रौद्योगिकीय सहायता में सुधार करना तथा मूल उद्योगों को सहायता प्रदान करना। इनके साथ ही साथ रोज़गार कार्यक्रमों को चलाने और मानव पूँजी में निवेश पर भी जोर देना होगा, जिनमें पोषण, स्वास्थ्य और शिक्षा में सुधार लाना शामिल है। सार्वजनिक और निजी क्षेत्रक को अधिक कुशल बनाकर इन कार्यों को करना होगा : जिससे विश्वव्यापीकरण के संबंधी लाभों को अधिकतम किया जा सके।

बोध प्रश्न 2

1) विश्वव्यापीकरण से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) विश्वव्यापीरकण के बढ़ने के चार कारक बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) विश्वव्यापीकरण से कौन-कौन से लाभ संभव हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.4 निजीकरण की संकल्पना

निजीकरण का अर्थ अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग होता है। सीमित अर्थ में इससे अभिप्राय होता है स्वामित्व को सार्वजनिक हाथों (अज्ञात नौकरशाहों और राजनीतिज्ञों के) से लेकर निजी हाथों (ज्ञात व्यक्तियों के) में देना। व्यापक अर्थ में इससे अभिप्राय होता है प्रतियोगिता को बढ़ावा देना अर्थात् बाज़ारीकरण और उदारीकरण की स्थिति लाना, जिसमें माँग और पूर्ति किसी केंद्रीय प्राधिकरण द्वारा निदेशित या नियंत्रित नहीं होती बल्कि उन्हें मुक्त रूप से अपना कार्य करने दिया जाता है। इन दिनों के बीच की स्थितियाँ निम्नलिखित होती हैं– सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों (PSUs) की ईक्विटी के बहुत बड़े भाग या एक छोटे भाग को सरकार निजी क्षेत्रक को बेच देती है। सार्वजनिक क्षेत्रक को उद्यमों (PSEs) के कुछ कार्यों को निजी क्षेत्रक द्वारा कराया जाता है, कुछ क्षेत्रक या उद्योग जो अब तक सार्वजनिक क्षेत्रक के बीच समझौता ज्ञापन (MOU) हस्ताक्षरित किया जाता है। उपर्युक्त सभी ढंगों से कार्य किए गए हैं और उनके अलग-अलग परिणाम निकले हैं। इसके अतिरिक्त विश्व में निजीकरण को अलग-अलग नामों से जाना जाता है। उदाहरणार्थ यू.के. में विराष्ट्रीयकरण (denationalisation), मैक्सिको में विनिगमन (disincorporation), आस्ट्रलिया में प्राथमिकताकरण (prioritisation), न्यूज़ीलैंड में परिसंपत्ति विक्रय कार्यक्रम (asset-sales program), थाईलैंड में रूपांतरण (transformation), श्रीलंका में लोककरण (people-isation) और पाकिस्तान में विनिवेश (disinvestment) के नाम से।

1983 में प्रकाशित पेंनगिइन अर्थशास्त्र परिभाषा कोश (Penguin Dictionary of Economics) में

निजीकरण को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया गया : (क) राष्ट्रीयकृत उद्योगों या अन्य वाणिज्य उद्यमों में सरकार के स्वामित्व अधीन ईक्विटियों का विक्रय, जिसके द्वारा संगठन पर सरकार का नियंत्रण बना रह सकता है, समाप्त भी हो सकता है; (ख) संकल्पना के रूप में निजीकरण जिसके अंतर्गत विराष्ट्रीयकरण भी आ जाता है (जहाँ सरकार अपनी होल्डिंगें बेच देती है); (ग) विनियमन को हटाना (जहाँ कानूनी पाबंदियों को हटा दिया जाता है, जिससे निजी उद्यम प्रतियोगिता करने की स्थिति में आ जाते हैं), तथा फ्रैंचाइजिंग (जब किसी निश्चित समय के लिए ठेका दिया जाता है– इस स्थिति में निजी क्षेत्रक उत्पादन करता है तथा सार्वजनिक क्षेत्रक उत्पादित माल को लोगों तक पहुँचाता है)।

उपर्युक्त परिभाषा कोश के बाद संस्करण में निजीकरण की पुनः परिभाषा की गई। इसके अनुसार सरकार के स्वामित्व के अधीन ईक्विटियों के विक्रय के अतिरिक्त निजीकरण के अन्य रूप हैं : सरकार द्वारा समर्थित कार्टेल पर विनियमन को हटाना तथा मुख्यतः सरकारी कर्मचारियों द्वारा लिए जाने वाले कार्यों को निजी क्षेत्रक को उप-ठेके पर देना। इस समय मुख्य रूप से चुनौती है बाज़ार के साथ राज्य के कार्यों का तालमेल बैठाना जिससे विश्वव्यापीकरण के अंतर्गत विकास को बढ़ावा दिया जा सके। इस प्रक्रिया में गरीब लोगों की ओर से भी प्रमुख भूमिका होनी चाहिए।

निजीकरण के अंतर्गत निम्नलिखित अनेक संभावनाएँ आ जाती हैं जिनके एक छोर पर तो विराष्ट्रीयकरण है और दूसरे छोर पर बाज़ार का अनुशासन होता है :

1) सार्वजनिक परिसंपत्तियों (फर्मों या फर्मों के भागों– आंशिक निजीकरण) या निजी परिसम्पत्तियों का निजी व्यक्तियों को हस्तांतरण (विक्रय)।
2) व्यक्तिगत सार्वजनिक आपूर्ति कार्यों को निजी व्यक्तियों को हस्तांतरण (अर्थात् उप-ठेके पर देना), कार्यात्मक निजीकरण भी।
3) लाभ-उन्मुख प्रबंध के अर्थ में निजी व्यवसाय प्रबंध का संक्रमण।
4) सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंध में स्वायत्तता की मात्रा को बढ़ाना।
5) औपचारिक प्रावधानों और कार्य करने के संबंध में अधिकार के प्रत्यायोजन के अर्थ में विकेन्द्रीयकरण।
6) निर्णय लेने, योजना बनाने और कार्य करने के संबंध में अधिकार के प्रत्यायोजन के अर्थ में विकेन्द्रीयकरण।
7) जिन शर्तों के अधीन निजी फर्में कार्य करती हैं उन्हीं के अनुरूप सार्वजनिक उद्योगों को भी करना।
8) बाज़ार प्रक्रियाओं द्वारा प्रतियोगिता को बढ़ावा देना (या प्रोत्साहनों की बाज़ार जैसी प्रणालियाँ)।
9) 'प्राकृतिक एकाधिकार' के परंपरागत दलीलों पर ध्यान देते हुए सरकारी एकाधिकारों को समाप्त करना।
10) मजदूरी तथा कार्यों और रोजगार संबंधी जो शर्तें निजी क्षेत्रक पर लागू होती हैं, उन्हें अपनाना। नौकरियों का निजीकरण करना।
11) लोकोपयोगी सेवाओं के स्वरूप और क्षेत्र में एकपक्षीय कटौती करना।
12) सार्वजनिक संसाधनों का निजीकरण।
13) *लोक राजस्व* (public revenue) *का निजीकरण :* सार्वजनिक निवेशों से प्राप्त होने वाली आय को निजी लाभ का रूप देना, या सार्वजनिक पूँजी और उसकी आय तक निजी क्षेत्र की पहुँच होने देना।
14) *विराष्ट्रीयकरण : अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता का दबाव :* विदेशी बाज़ारों में बढ़ते हुए कार्य, पूँजी शेयरों और विदेशियों द्वारा बेचने के अधिकार का उत्तरदायित्व देना।

25.5 भारत में आर्थिक सुधारों का औचित्य

1991 में जब नई सरकार ने कार्यभार संभाला तब उसके सम्मुख दो कार्य थे :

1) राजकोषीय घाटों और भुगतान शेष घाटों को कम करके व्यष्टि-आर्थिक स्थिरता को पुनः स्थापित करना, और

2) आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया को पूरा करना अर्थात् संरचनात्मक समायोजन जिसे पिछले दस वर्षों में क्रमिक रूप में और रुक-रुककर आंशिक आधार पर किया गया था।

वर्तमान आर्थिक सुधारों के घोषित लक्ष्य एक क्रांतिकारी कदम है। इन सुधारों का लक्ष्य निम्नलिखित को प्राप्त करना था :

i) राजकोषीय, मौद्रिक और विनिमय दर नीतियों द्वारा स्थायित्व और समष्टि आर्थिक संतुलन स्थापित करना,
ii) उदार व्यापार प्रणाली की स्थापना, जिससे अन्य विकासोन्मुख देशों के समान ही आयात-लाइसेंस और तटकर दरों की कठिनाइयाँ न हों,
iii) ऐसी विनिमय दर प्रणाली जिसके अंतर्गत रुपये को परिवर्तनीय बना दिया जाए, कम से कम भुगतानों शेषों के चालू खाता लेन-देनों के लिए,
iv) सही विनियमों के साथ प्रतियोगी वित्त प्रणाली
v) अनेक नियंत्रणों से मुक्त उद्योग क्षेत्रक, और
vi) स्वायत्त, प्रतियोगी और सुप्रवाही सार्वजनिक उद्यम क्षेत्रक।

निवेश, उत्पाद-मिश्रण, कीमत निर्धारण आदि के संबंध में निर्णय लेने की प्रक्रिया में अधिकार के अधि-संकेंद्रण के फलस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों के पास पर्याप्त रूप में स्वायत्तता नहीं रही जिससे वे व्यवसाय के रूप में टिके रहें। दूसरी ओर चूँकि देशीय बाज़ार संरक्षित था अतः निजी उद्यमों के लिए आवश्यक नहीं था कि वे कार्य-कुशलता में सुधार लाएँ और अपने उत्पादों को बेहतर बनाएँ। नीति-निर्धारकों का मानना था कि अर्थव्यवस्था के उद्योग और विदेशी व्यापार क्षेत्रक पर कठोर नियंत्रण प्रणाली के होने के कारण ही पिछले 40 वर्षों से भारत में संवृद्धि की दर धीमी और अपर्याप्त रही। इसीके फलस्वरूप इस देश में आर्थिक सहायता और अकुशलता की अर्थव्यवस्था हो गई है। इसी पृष्ठभूमि में 1991 में नई आर्थिक नीति (NEP) की शुरुआत हुई, जिसका सबसे प्रमुख भाग नई उद्योग नीति (NIP) था। 1991 की नई उद्योग नीति भारत में व्यापक संरचनात्मक समायोजन (structural adjustment) कार्यक्रम का एक प्रमुख भाग था जिसकी शुरुआत इस घोषित उद्देश्य के साथ की गई कि 1951-1990 के बीच की अवधि में जिस योजनाबद्ध आर्थिक विकास की नीति को अपनाया गया था उसके स्थान पर एक ऐसी नीति अपनाई जाए कि अर्थव्यवस्था की कार्यप्रणाली में मूलभूत रूप से परिवर्तन आ जाए।

उदारीकरण आर्थिक नीति में परिवर्तनों की एक प्रक्रिया है जिसकी 1991 से विशेष रूप से शुरुआत घोषित राज्य नीति के रूप में की गई थी। इसकी अपनी आर्थिक, राजनैतिक और अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) और विश्व बैंक की ओर से आर्थिक सहायता से की गई। बाद में इसे एशियाई विकास बैंक (ADB) से भी आर्थिक सहायता मिली। इस सुधार पैकेज (जिसे आमतौर पर नई आर्थिक नीति कहा जाता है) के अंतर्गत समष्टि– आर्थिक स्थिरीकरण नीतियाँ और संरचनात्मक समायोजन नीतियों के क्षेत्र आ जाते हैं।

गल्फ युद्ध के बाद की अवधि में अर्थात् 1990-91 में भारत की भुगतान शेष के संबंध में स्थिति अत्यंत खराब हो गई थी। इसके साथ राजकोषीय घाटा बढ़ता जा रहा था, मुद्रा स्थिति की दर बढ़ रही थी तथा विदेशी मुद्रा रिज़र्व कम होता जा रहा था।

25.5.1 आर्थिक सुधारों के घटक

नीतियों में प्रमुख परिवर्तनों को आर्थिक सुधार या उदारीकरण कहा जाता है। संक्षेप में ये परिवर्तन निम्नलिखित होते हैं :

1) समष्टि आर्थिक स्थिरीकरण के उपाय, जिसके अंतर्गत आते हैं (क) भुगतान शेष संकटों की व्यवस्था, (ख) राजकोषीय घाटे का प्रबंध और (ग) मुद्रा नीतियों में सुधार।
2) क्षेत्रकों के संबंध में प्रमुख संरचनात्मक समायोजन सुधार, जिसके अंतर्गत निम्नलिखित आते हैं :

(क) व्यापार नीति (और संबंधित नीति) में सुधार, (ख) उद्योग नीति में सुधार, (ग) सार्वजनिक क्षेत्रक के संबंध में नीति सुधार, (घ) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (NRIs) सहित, प्रौद्योगिकी और ईक्विटी सहभागिता को आकर्षित करने की नीतियाँ, (च) भारतीय रिज़र्व बैंक से निवेश के लिए शीघ्रता से अनुमोदन प्राप्त हो सके, इसके लिए प्रशासनिक सुधार, (छ) कर-ढाँचा में सुधार, (ज) पूँजीगत पदार्थों और उपभोक्ता पदार्थों के संबंध में टैरिफ सुधार, (झ) वित्तीय क्षेत्रक मे सुधार तथा (ञ) कृषि और उससे संबंधित क्षेत्रों में सुधार।

3) सामाजिक लागतों को बाँटने के उपायों का सुधार, जिसके अंतर्गत आते हैं (क) सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) में सुधार तथा (ख) राष्ट्रीय नवीकरण योग्य कोष (NRF) की स्थापना।

जुलाई 1991 की नई उद्योग नीति (NIP) के चलते कुछ मूलभूत नीति परिवर्तन किए गए, जैसे कि लाइसेंस प्रणाली को लगभग समाप्त कर देना, (MRTP) और (FERA) में निहित कठिनाइयों में कमी करना, सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए सुरक्षित उद्योगों की संख्या को घटाना, विदेशी प्रौद्योगिकी समझौतों और 51% विदेशी ईक्विटी के लिए स्वतः स्वीकृति राज्य विद्युत बोर्डों की नई भूमिका को स्पष्ट करना, आधारिक पूँजीगत पदार्थों का निर्बाध रूप से आयात, उपभोक्ता वस्तुओं के लिए टैरिफ में कमी, पिछड़े हुए क्षेत्रों के लिए परिवहन सहायता, राष्ट्रीय नवीकरण कोष, लघु आकार के उद्योगों पर नियंत्रण को हटाना तथा FDI, नई प्रौद्योगिकी और (NRI) निवेश को आकर्षित करने के लिए उदार नीति। इन अत्यंत उदार नीतियों का लक्ष्य था प्रतियोगी परिवेश का निर्माण करके भारत के उद्योगों की उत्पादिता और कार्य-कुशलता में वृद्धि करना।

बोध प्रश्न 3

1) निजीकरण से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) निजीकरण क्या केवल विराष्ट्रीकरण को ही कहा जाता है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) उन परिस्थितियों के संबंध में संक्षेप में वितरण दीजिए जिनके अंतर्गत भारत में आर्थिक सुधार कार्यक्रम की शुरुआत की गई।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

4) भारत में आर्थिक सुधार कार्यक्रम के उद्देश्य क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

25.6 सारांश

जुलाई 1991 में भारत सरकार ने आर्थिक सुधार संबंधी बहुत पैमाने पर कार्यक्रम शुरू किया, जिसका उद्देश्य था भारतीय अर्थव्यवस्था को योजनाबद्ध ढाँचे से निकालकर बाज़ार उन्मुख व्यवस्था की ओर ले जाना। इस संबंध में हमने इस इकाई में उदारीकरण, निजीकरण तथा विश्वव्यापीकरण संकल्पनाओं की व्याख्या की है। उदारीकरण आर्थिक नीति में परिवर्तन की प्रक्रिया है। विश्वव्यापीकरण का अर्थ है वस्तुओं, पूँजी, प्रौद्योगिकी और श्रम का गमनागमन होना। विश्वव्यापीकरण समस्त विश्व के अर्थ में, एक देश के अर्थ में, किसी विशेष उद्योग के अर्थ में, किसी कम्पनी के अर्थ में, किसी व्यवसाय शृंखला के अर्थ या किसी कम्पनी के अंतर्गत कार्य के अर्थ में हो सकता है। जहाँ तक भारत का संबंध है विश्वव्यापीकरण से संभावित लाभों को अधिकतम करने के संदर्भ में विश्वव्यापीकरण की नीतियों को पुनः निर्धारित करने की आवश्यकता है। निजीकरण को हम दो अर्थों में ले सकते हैं। सीमित अर्थ में और व्यापक अर्थ में। सीमित अर्थ में इससे अभिप्राय होता है 'स्वामित्व को सरकार के हाथ में से लेकर निजी हाथ में देना'। व्यापक अर्थ में इससे अभिप्राय होता है प्रतियोगिता को प्रोत्साहन देना। अर्थात् बाज़ारीकरण या उदारीकरण। इस स्थिति में माँग और पूर्ति किसी प्राधिकरण द्वारा निर्देशित या नियंत्रित नही होते बल्कि उन्हें मुक्त रूप से कार्य करने दिया जाता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

25.7 शब्दावली

उदारीकरण (Liberalisation) : वह नीति जिसके द्वारा उद्योग पर लगाए गए विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों और प्रतिबंधों को हटाने का प्रयास किया जाता है।

संरक्षण (Protection) : वह नीति जिसके द्वारा तटकर और गैर-तटकर रोधों को बढ़ाकर विदेशी प्रतियोगिता से देशीय उत्पादकों को संरक्षण प्रदान किया जाता है।

विराष्ट्रीयकरण (Denationalisation) : किसी उत्पादन इकाई के स्वामित्व और उसकी पूँजी को सरकार के हाथ से लेकर निजी उद्यम के हाथ में देना।

विश्वव्यापीकरण (Globalisation) : वस्तुओं, सेवाओं और पूँजी के निर्बाध प्रवाह पर अवरोधों को हटाना।

निजीकरण (Privatisation) : निजी पूँजी और उद्यम की भूमिका को बढ़ाना।

25.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Gupta, Anand P.(1996) : "Political Economy of Privatisation in India", *Economic and Political Weekly*, September 28.

Kalirajan, K.P. and R.T. Shand (1996) :"Public Sector Enterprises in India: Is Privatisation the only answer?" *Economic and Political Weekly*, Sept. 28.

Gupta, G.S. (1996) : Privatisation: Theory, Issues and Practices (in *National Workshop on Economic Liberalisation: Consumer, Investor and Environment Interest*, proceedings of a workshop, November 1-3, Consumer Education and Research Centre, Ahmedabad).

Nayyar, Deepak (1995) :"*Globalisation, The Past in Our Present*" (Presidential address at the 78th Annual Conference of Indian Economic Association, Chandigarh, December 28-30).

Oman, Charles (1995) : "*Globalisation and Regionalisation: The Challenge for Developing Countries*", OECD, Paris.

Roy, Sumit (1997) : "Globalisation, Structural Change and Poverty: Some Conceptional and Policy Issues". *Economic and Political Weekly*, Aug. 16-30.

United Nations (1996) : UNCTAD's Secretary General's Report on Globalisation and Liberalisation, UN, USA, New York.

Shonughtyer, Mathew J. and Philip Swagel (1997) : "Does Globalisation Lower Wages and Export Jobs? IMF, Washington. D.C; USA

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 25.1 देखिए।

2) उपभाग 25.2.1 देखिए।

3) उपभाग 25.2.2 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 25.3 देखिए।

2) उपभाग 25.3.1 देखिए।

3) उपभाग 25.3.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 25.4 देखिए।

2) भाग 25.4 देखिए।

3) भाग 25.5 देखिए।

4) भाग 25.5 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 26 भारत में निजीकरण

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 सार्वजनिक उद्यमों द्वारा संतोषजनक कार्य न करने के कारण
26.3 निजीकरण
26.4 निजीकरण का औचित्य
  26.4.1 निजीकरण के पक्ष में दलीलें
26.5 निजीकरण की तकनीकें
  26.5.1 निजीकरण के प्रकार
26.6 निजीकरण के क्षेत्र
26.7 निजीकरण के संबंध में भारत का अनुभव
  26.7.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों की विनिवेश युक्तियाँ
  26.7.2 निजीकरण से संबंधित समस्याएँ
26.8 सारांश
26.9 शब्दावली
26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारत में निजीकरण से संबंधित वाद-विवादों की व्याख्या की गई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप निम्नलिखित का उत्तर दे सकेंगे :

- निजीकरण के संबंध में वाद-विवाद के कारण;
- भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्योग (PSEs) इतना अधिक अकुशल क्यों है;
- भारत के सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यम किस पर्यावरण में कार्य कर रहे हैं;
- निजीकरण के औचित्य;
- निजीकरण के विभिन्न तकनीक;
- भारत में निजीकरण के क्षेत्रों की पहचान;
- निजीकरण के संबंध में प्रगति; तथा
- भारत में निजीकरण के अनुभव से संबंधित समस्याएँ।

26.1 प्रस्तावना

विश्व में आज परिस्थितियाँ ऐसी होती जा रही हैं कि उनसे बाध्य होकर कोई भी देश अपनी अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना करने से बच नहीं सकता। भारत में सार्वजनिक उद्यम क्षेत्रक बहुत बड़ा है। इस क्षेत्रक में लगभग 1,300 उद्यम है। जिनका स्वामित्व और प्रबंध केंद्रीय सरकार, राज्य सरकारों, संघ राज्य-क्षेत्र सरकारों तथा स्थानीय सरकारों के हाथ में हैं। अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रकों में इस समय सार्वजनिक उद्यमों की प्रधानता है, जैसे कि भूतल सिंचाई, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में जल पूर्ति, रेलवे, नदी परिवहन, बंदरगाह, डाक सेवाएँ, दूर संचार, खनन (हाइड्रो कार्बन और कोयला सहित), पंजीकृत विनिर्माण का एक तिहाई भाग (विशेषतः स्टील, पैट्रोकेमिकल्स, पूँजीगत पदार्थ, फर्मासूटिकल्स, उर्वरक), बिजली पैदा करना और उसका वितरण, तेल और गैस का उत्पादन और विपणन, हवाई परिवहन, बस परिवहन का एक

तिहाई भाग, भंडारण, बैंकिंग और बीमा।

यद्यपि अलग-अलग सार्वजनिक उद्यमों के कार्य निष्पादन में अंतर तो है परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इनमें से अधिकतर में आवश्यकता से अधिक कर्मचारी कार्य पर लगे हैं और अनेकों में कार्यकुशलतापूर्वक नहीं होता। केवल केंद्रीय क्षेत्रक के उद्योगों में 2,10,000 करोड़ रुपये का निवेश हुआ है और जिन उद्यमों में यह धन लगा है उनकी संख्या 242 है। इनमें 104 इकाइयाँ बीमार हैं। इनमें से 60 के संबंध में जांच के लिए BIFR को कहा गया है। बीमार इकाइयों में बहुत अधिक धन लगा है। ये इकाइयाँ अनुत्पादक हैं तथा इनमें इतनी अधिक संख्या में लोग काम करते हैं कि उनमें सबके लिए पर्याप्त मात्रा में काम नहीं है। इसीलिए भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक में सुधार लाना एक प्रमुख मुद्दा बन गया है। आज़ादी के बाद जो लोग देश में सामाजिक और आर्थिक न्याय का प्रयास कर रहे थे उनका मानना था कि ऐसा सार्वजनिक क्षेत्रक को मजबूत बना कर ही किया जा सकता है। परंतु आज कल्याणकारी राज्य को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उनके कारण सार्वजनिक क्षेत्रक के कार्यकलापों का विश्लेषण करना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। कल्याणकारी राज्य एवं सार्वजनिक क्षेत्रक का कार्यकुशल होना ऐसी दो प्रक्रियाएँ जो एक समान भले ही न हो परंतु उनके बीच घनिष्ठ संबंध है। भारत में आर्थिक सुधारों के दौरान कठिनाई तब आती है जब इसके लिए सार्वजनिक क्षेत्रकों का सुधार करना पड़ता है। निजीकरण अब केवल सैद्धांतिक बाध्यता ही नहीं बल्कि आर्थिक आवश्यकता भी हो गया है।

26.2 सार्वजनिक उद्यमों द्वारा संतोषजनक कार्य न करने के कारण

भारत के सार्वजनिक उद्यम इतना अधिक अकुशल क्यों हैं? इसका उत्तर हम पाते हैं उस पर्यावरण के रूप में जिसमें भारत के सार्वजनिक उद्यम कार्य करते हैं तथा सार्वजनिक उद्यमों के प्रबंधकों पर ऐसे पर्यावरण के पड़ने वाले प्रभाव के रूप में। नए, बेहतर और कम खर्चीली वस्तुओं को बनाने, नए बाज़ारों को विकसित करने, पूँजी और वर्तमान लागतों को न्यूनतम करने तथा लाभ को अधिकतम करने के संबंध में इन प्रबंधकों को ये ही पर्यावरण प्रभावित करते हैं। ऐसे पर्यावरण के उदाहरण निम्नलिखित हैं– सार्वजनिक उद्यमों के वास्तविक प्रबंध के साथ सरकार का बहुत अधिक सक्रिय होना, जिसके फलस्वरूप प्रशासनिक मंत्रालय अपने को निदेशक मंडल से भी ऊपर का प्रबंधक मानते हैं, सार्वजनिक उद्यमों के कार्यों में संसद भी अनेक प्रकार से दखल देता रहता है, जैसे कि इन उद्यमों के कार्यों के संबंध में संसद में प्रश्न पूछे जाना उनके संबंध में संसदीय जांच-पड़ताल आदि, तथा संविधान के अनुच्छेद 26 का विस्तार करके उद्योग, विनिर्माण और वाणिज्य संबंधी सार्वजनिक उद्यमों को 'राज्य' के समान मानना जिससे उनका दायित्व अनेक प्रकार से बढ़ जाता है।

26.3 निजीकरण

'निजीकरण' शब्द का प्रयोग अनेक विचारों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। इस संबंध में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विचार है विराष्ट्रीयकरण (सार्वजनिक उद्यम के स्वामित्व को सरकार के हाथ से लेकर निजी हाथ में देने के अर्थ में)। एक दूसरा विचार है उदारीकरण तथा विनियमों को हटाना, जिनके फलस्वरूप प्रतियोगिता की शक्तियों को बल मिलता है। परंतु निजीकरण की संकल्पना का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हैं, इस अर्थ में हम केवल यही नहीं देखते कि किसी उद्यम का स्वामित्व किसके हाथ में है बल्कि यह भी देखते हैं कि किसी उद्यम को बाज़ार शक्तियों को अनुशासन में कहाँ तक लाया गया है। निजीकरण के अंतर्गत अनेक प्रकार की संभावनाएँ आ जाती हैं– इसके लिए एक छोर पर तो विराष्ट्रीयकरण है और दूसरे छोर पर बाज़ार का अनुशासन होता है। सुविधा के लिए हम व्यष्टि (उत्पादक राज्य के रूप में रॉलबैक) समष्टि (उत्पादक, नियामक, सुविधाजनक तथा कल्याणकारी के रूप में राज्य का रौलबैक), तथा मेगा (सभी आयामों मे रोलबैक जिसके अंतर्गत गैर आर्थिक विनियम भी आ जाते हैं)। उत्पादक राज्य से

संबंधित व्यष्टि निजीकरण का संबंध मुख्यतः सार्वजनिक उद्यम से होता है।

26.4 निजीकरण का औचित्य

निम्नलिखित कारणों से निजीकरण का मुद्दा अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है :

1) सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों (PSEs) की एकाधिकारी स्थिति के फलस्वरूप उनमें अक्षमता आती है।
2) प्रतियोगिता के अभाव के कारण PSEs के कार्यों पर विपरित प्रभाव पड़ता है।
3) PSEs द्वारा संतोषजनक कार्य न करने का कारण नौकरशाही भी रही है। वह इन उद्यमों को कुशलता पूर्वक चला नहीं सकी।
4) यू.के. तथा यू.एस.ए. जैसे विकसित देशों में निजीकरण करके PSEs की पुनःसंरचना करना आम बात हो गई है।
5) निजीकरण के संबंध में समस्त विश्व में बौद्धिक विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद शुरू हुआ तथा लोकमत के दबाव का भी इस संबंध में प्रभाव पड़ा।
6) कुछ सहायता देने वाली एजेंसियों ने शर्त लगा दी कि वे सहायता तभी दे पाएँगी जब निजीकरण किया जाए। इससे निजीकरण की प्रक्रिया को बल मिला।
7) स्वयं PSEs के प्रबंधकों ने कुछ ऐसे सुझाव दिए कि निजीकरण के संबंध में विचार करना पड़ा।

26.4.1 निजीकरण के पक्ष में दलीलें

निजीकरण के समर्थकों का कहना है कि निजीकरण के चलते निम्नलिखित कारणों से आर्थिक कार्यनिष्पादन में सुधार आएगा :

i) इसके चलते उस पर्यावरण में सुधार आएगा, जिसमें सार्वजनिक उद्यम कार्य करते हैं, जिससे प्रबंधकों को कार्यकुशल बनने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। इन सबके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था अधिक सक्षम बन पाएगी।
ii) निजीकरण ऐसी स्थितियों को ला सकता है जिससे और अधिक निवेश हो सके। निवेश की मात्रा बढ़ने से उत्पादक रोजगार अवसरों की मात्रा बढ़ेगी जिससे गरीबी दूर करने में मदद मिलेगी।
iii) निजीकरण के फलस्वरूप उपभोक्ताओं को भी लाभ हो सकता है।
iv) सार्वजनिक उद्यमों में सुधार लाने में निजीकरण सहायक हो सकता है। ये उद्यम निम्नलिखित विभिन्न प्रकार के कार्यकलापों में लगे हैं : इस्पात का विनिर्माण, जहाज़ों का निर्माण, विद्युत शक्ति पैदा करना तथा उसका वितरण, देशीय और अंतरराष्ट्रीय एयरलाइनों को चलाना, तेल का पता लगाना, निकालना और उसे परिष्कृत करना, देशीय और अंतरराष्ट्रीय दूरसंचार जाल की व्यवस्था करना, होटलों को चलाना, पोलिएस्टर फिल्म का विनिर्माण करना, कंडमों का उत्पादन, फल का गूदा और जूस निकालना तथा बैंकों, जीवन बीमा, सामान्य बीमा और इलेक्ट्रॉनिक मनोरंजन व्यवसाय को चलाना, आदि आदि। निजीकरण के फलस्वरूप उपर्युक्त से संबंधित अनेक विरूपताएँ दूर होंगी तथा सरकार अपना ध्यान उन कार्यों पर केंद्रित कर सकेगी, जिन्हें अब तक वह नहीं कर सकी है परंतु केवल वही इन्हें कर सकती है।
v) भारत के सार्वजनिक क्षेत्रक के बहुत बड़ी मात्रा में घाटे को कम करने में निजीकरण सहायक हो सकता है। ऐसा तीन प्रकार से हो सकता है : (क) सार्वजनिक उद्यमों के विक्रय से प्राप्त धन का उपयोग सार्वजनिक, क्षेत्रक के घाटे को पूरा करने के लिए किया जा सकता है, (ख) इस धन का उपयोग देश के अंदर के ऋण तथा विदेशी ऋण जैसे बकाया सरकारी ऋण की मात्रा को घटाने के लिए किया जा सकता है तथा (ग) यह धन ऋण भुगतान के भार को घटा कर घाटे में कमी ला सकता है।
vi) आशा की जाती है निजीकरण के फलस्वरूप धन का अर्जन होगा, जिसका उपयोग सामाजिक आधारिक संरचना के वित्तपोषण और गरीबी दूर करने के लिए किया जा सकेगा।

MADHYAM IAS way to achieve your dream

बोध प्रश्न 1

1) भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक की इकाइयों द्वारा संतोषजनक ढंग से कार्य न कर पाने के चार कारण बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) व्यष्टि निजीकरण और समष्टि निजीकरण में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारत में निजीकरण के पक्ष में चार दलीलें दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

26.5 निजीकरण की तकनीकें

विभिन्न विशेषज्ञों ने निजीकरण का वर्गीकरण निम्नलिखित तकनीकों में किया है :

1) **शेयरों का सार्वजनिक विक्रय :** किसी पब्लिक लिमिटेड कंपनी के शेयरों को चालू प्रतिष्ठान के रूप में जनता के सम्मुख विक्रय के लिए ऑफर किया जाता है।
2) **शेयरों का निजी विक्रय :** सरकारी स्वामित्व के अधीन के किसी उद्यम के सभी शेयरों का विक्रय किसी व्यक्ति या क्रेताओं के समूह को किया जाता है। कोई निजी निगमित क्षेत्रक भी इसे खरीद सकता है।
3) **किसी सरकारी स्वामित्व के उद्यम में नया निजी निवेश :** प्राथमिक शेयर निर्गमन में अभिदान निजी क्षेत्रक या जनता करती है।
4) **सरकारी उद्यमों की परिसंपत्तियों का विक्रय :** सार्वजनिक क्षेत्रक की परिसंपत्तियों को शेयरों के रूप में नहीं बल्कि निजी विक्रय के रूप में किया जाता है।
5) **छोटी इकाइयों के रूप में पुनर्गठन या विखंडन :** किसी नियंत्रक कंपनी की यदि अनेक नियंत्रित कंपनियाँ हों तो उनका निजीकरण अलग-अलग किया जा सकता है।
6) **प्रबंधक/कर्मचारी इकाई को खरीद लेते हैं :** किसी इकाई के प्रबंधक या कर्मचारी उस इकाई में प्रबंधक हित (controlling interest) प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा वे सरकार या वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेकर उस इकाई के शेयरों को खरीद कर करते हैं।

7) पट्टा और प्रबंध संविदा : इकाई का स्वामित्व सरकार के हाथ में रहता है, परंतु उसे चलाने और उसका रख-रखाव का पूर्ण दायित्व पट्टेदार अपने ऊपर ले लेता है। प्रबंध संविदा के अंतर्गत प्रबंध और कामकाज पर नियंत्रण पर होने वाले खर्चों का वहन प्रबंधक करते हैं।

26.5.1 निजीकरण के प्रकार

भारत के संदर्भ में नीति के पहल के रूप में निजीकरण की संकल्पना प्रायः तीन व्यापक रूप में की जाती है– ग्रीनफिल्ड निजीकरण, कोल्ड निजीकरण और विनिवेश या डाइवेस्टिचर (विशेषतः आपात निजीकरण)। इन तीनों प्रकार की विशेषताओं को संक्षेप में नीचे दिया जा रहा है :

1) ग्रीनफील्ड निजीकरण

इस विधि के अंतर्गत प्रवेश पर अवरोधों को, विशेषतः सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए संरक्षण को हटा दिया जाता है और निजी क्षेत्रक के प्रवेश को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। इस विधि के अंतर्गत निम्नलिखित प्रकार से काम किया जाता है :

क) निजी क्षेत्रक के प्रवेश पर लगाए गए अवरोधों को हटा लिया जाता है तथा उसे उन आर्थिक कार्यकलापों को करने दिया जाता है जो अब तक सार्वजनिक क्षेत्रक के लिए संरक्षित हैं,

ख) सार्वजनिक क्षेत्रक की एजेंसियों को कोई नया निवेश या कोई नया कार्यकलाप नहीं करने दिया जाता,

ग) निजी क्षेत्रक अपने कार्यों के स्तर को बढ़ा सके इसके लिए उनके साथ अधिमानी व्यवहार किया जाता है,

घ) जिस उद्यम में निजी क्षेत्रक और सार्वजनिक क्षेत्रक साथ-साथ कार्य कर रहे हों, जैसे कि संयुक्त क्षेत्रा में, उनमें निजी क्षेत्रक के अंश को बढ़ा दिया जाता है।

2) कोल्ड निजीकरण या प्राक्सी निजीकरण

MAADHYAM IAS

इस विधि के अंतर्गत निम्नलिखित प्रकार से सार्वजनिक उद्यमों को निजी उद्यम के समान कार्य करने की स्थिति में लाया जाता है :

क) बैंक/पूँजी बाज़ार से सीधे ही वित्तीय सहायता लेने के संबंध में उन्हें वित्तीय स्वायत्तता प्रदान की जाती है,

ख) निवेश निर्णयों को लेने के संबंध में उन्हें स्वायत्तता प्रदान की जाती है,

ग) कीमतों, उत्पादन आदि को निश्चित करने की स्वतंत्रता उन्हें देने के संबंध में समझौता ज्ञापन (MOU) हस्ताक्षरित किया जाता है,

घ) दी जाने वाली आर्थिक सहायता तथा पारस्परिक संबंध को स्पष्ट कर दिया जाता है,

च) निगमों को स्थापित करने की प्रणाली का आश्रय लिया जाता है, इससे आशय है कि ऐसे उद्यमों के कार्य में सरकार का संबंध दूर से रहे, इसके लिए किसी विभागीय उद्यम को निगमित निकाय का रूप दे दिया जाता है।

3) विनिवेश या डाइवेस्टिचर

विनिवेश या डाइवेस्टिचर तब होता है जब किसी उद्यम (उद्यम के रूप में गठित सार्वजनिक कार्यकलापों) के शेयरों को सरकार के स्वामित्व या उसकी एजेंसियों के स्वामित्व से निजी क्षेत्रक को सौंपा जाता है। यह कार्य शेयरों को वेचकर या उनका हस्तांतरण करके किया जाता है। जब किसी ऐसे उद्यम को निजी क्षेत्रक को सौंपा जाता है जिसमें घाटा हो रहा हो तथा सरकार उसे चलाने में असमर्थ हो तो उसे आपात विनिवेश कहा जाता है।

इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि इस तकनीक के विश्लेषण के वैकल्पिक विधियाँ भी हैं। उदाहरणार्थ तकनीकों का विभाजन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

क) वित्तपोषण का निजीकरण (अर्थात सरकारी सेवाओं की कीमत लेना)।
ख) उत्पादन या वस्तुओं का निजीकरण (निर्माण या रख-रखाव कार्य को ठेके पर देना या निजी क्षेत्रक को मताधिकार प्रदान करना)
ग) विराष्ट्रीयकरण या भार कम करना (सरकार के स्वामित्व के अधीन शेयरों और परिसंपत्तियों का विक्रय) और
घ) उदारीकरण (प्रतिबंधों को हटाना और प्रतियोगिता को बढ़ावा देना)।

बोध प्रश्न 2

1) निजीकरण की पाँच तकनीकों का विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) ग्रीनफील्ड निजीकरण और प्राक्सी निजीकरण में अंतर बताइए।

.....

.....

.....

.....

.....

) विनिवेश शब्द की परिभाषा दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

26.6 निजीकरण के क्षेत्र

कुछ ऐसे महत्त्वहीन और कम प्राथमिकता वाले कार्यकलापों को सरकार के दायित्व से अलग करना जिन्हें सार्वजनिक क्षेत्रक में होना ही नहीं चाहिए था। इसके अतिरिक्त जो उद्यम घाटे में चल रहे हैं और उनके उपचार के लिए यदि सार्वजनिक क्षेत्रक के अंतर्गत कोई उपाय नहीं दिखाई देता तथा ऐसी स्थिति में उन्हें बंद करने की नौबत दिखाई दे रही है तो उनका निजीकरण करना ही उचित होगा। जहाँ तक सार्वजनिक क्षेत्रक की कार्यकुशलता की समस्या का निजीकरण द्वारा समाधान का प्रश्न है, इससे इस समस्या का समाधान तो नहीं होता, भले ही उसे कुछ समय तक टाला जा सके। अच्छा तो यही होगा कि स्वामित्व का निजीकरण करने के पहले आंशिक निजीकरण करने का प्रयास किया जाए।

MAADHYAM IAS

26.7 निजीकरण के संबंध में भारत का अनुभव

26.7.1 भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों की विनिवेश युक्तियाँ

पिछले दो दशकों में विकसित एवं विकासोन्मुख दोनों प्रकार के देशों ने बाज़ार उन्मुख सुधारों के एक भाग के रूप में सरकार के स्वामित्व के अधीन उद्यमों में विनिवेश की युक्ति को अपनाया है। 1991-92 में भारत सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों (PSO) के सुधार के रूप में इक्विटियों में विनिवेश की प्रक्रिया की शुरुआत की। PSUs के शेयरों के विनिवेश की समुचित युक्तियों के निर्धारण के लिए भारत सरकार ने 1993 में डॉ. सी.रंगराजन की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की। इसके अतिरिक्त अगस्त 1994 में भारत सरकार ने श्री जी.वी. रामकृष्णन की अध्यक्षता में पाँच सदस्यों का एक सार्वजनिक क्षेत्रक विनिवेश आयोग (Public Sector Disinvestment Commission) का गठन किया। तथ्य उसे कहा गया कि जिस PSU का मामला उसके पास भेजा जाए तथा उसके लिए वह एक दीर्घकालीन विनिवेश कार्यक्रम बनाए। इस आयोग के विचारार्थ विषय बहुत ही व्यापक थे तथा उससे यह निर्धारित करने को कहा गया कि प्रत्येक PSU में कितनी मात्रा में विनिवेश की आवश्यकता है, विनिवेश का प्रकार क्या होना चाहिए और विनिवेश की प्रक्रिया किस क्रम में होनी चाहिए। विनिवेश कमीशन की दीर्घकालीन युक्ति के चार उद्देश्य थे : (i) विनिवेश को सुविधापूर्ण बनाने के लिए जहाँ आवश्यक हो वहाँ PSUs को मजबूत बनाना, (ii) कर्मचारियों के हित की रक्षा करना, (iii) स्वामित्व का आधार व्यापक बनाना और (iv) सरकार के लिए आय की मात्रा को बढ़ाना।

आयोग का मत था कि PSU में विनिवेश करने के पहले उनकी पुनःसंरचना कर देनी चाहिए। उनके इस प्रकार से सोचने का आधार यह था कि विश्व में अनुभव यह रहा है कि विनिवेश के पहले पुनःसंरचना करने से शेयरों का मूल्य बढ़ जाता है तथा शेयरों से आय भी अधिकतम होती है।

आयोग इस पक्ष में था कि उद्योग की श्रेणी, प्रतियोगी स्थिति और लाभप्रदता जैसे इकाइयों के विभिन्न पहलुओं के संबंध में ध्यान रखते हुए अलग-अलग स्थितियों में अलग विनिवेश युक्तियाँ अपनाई जाएँ। इसी के अनुसार इस आयोग ने PSUs को विनिवेश के लिए दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया। ये श्रेणियाँ थीं– कोर समूह और गैर-कोर समूह। कोर समूह के अंतर्गत के PSU वे हैं जिनके लिए बाज़ार बहुत अधिक है। इन PSUs के संबंध में निजी क्षेत्रक चूँकि अभी तक पूर्णतः परिपक्व नहीं हो पाया है, अतः इस समय सार्वजनिक क्षेत्रक का विनिवेश अधिकतम 49 प्रतिशत तक ही सीमित रखा जाएगा। गैर-कोर समूह वाले उद्योग इकाइयाँ वे कही जाती हैं जिनमें निजी क्षेत्रक ने पहले से ही बहुत अधिक मात्रा में निवेश किया है। PSUs के शेयरों के यथार्थ मूल्य को बढ़ाने के उद्देश्य से बिनिवेश आयोग ने सिफारिश किया कि विनिवेश करने के पहले कोर और गैर-कोर दोनों ही प्रकार के PSUs की पुनः संरचना कर देनी चाहिए।

आयोग ने तीन वर्ग के PSUs के लिए स्वायत्तता के क्रमिक प्रत्यायोजन की सिफारिश की थी, अर्थात् सभी PSUs को सामान्य स्वायत्तता, औसत दर्जे के निष्पादकों के लिए अतिरिक्त अधिकार तथा सक्षम निष्पादकों के लिए अतिरिक्त स्वायत्तता। आयोग ने सभी PSUs को अधिक स्वायत्तता के लिए बोर्ड को प्रत्यायोजित किए जाने वाले नीति निर्णयों के संबंध में निम्नलिखित सिफारिशें की थीं।

1) बाहर से नियुक्ति करके बोर्ड को पेशेवर बनाना।
2) अल्पमत वाले शेयरधारियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए निर्वाचित निदेशकों का प्रावधान।
3) मंत्रिमंडल की नियुक्ति समिति की सहमति लिए बिना ही शीर्षस्थ प्रबंधकों का चयन।
4) प्रतिभाशाली व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिए शीर्षस्थ प्रबंधकों के वेतन और उन्हें दिए जाने अन्य प्रोत्साहनों को तर्कसम्मत बनाना।
5) उत्पादों और सेवाओं के कीमत-निर्धारण में स्वायत्तता।

6) किए जाने वाले कार्यों का नियमित अंतराल पर परीक्षण द्वारा उत्तरदायित्व का निर्धारण।

7) वाणिज्यिक सक्षमता के रूप में प्रायोजनाओं के मूल्यांकन के लिए जाँच पूर्व बोर्ड की स्थापना करना।

8) सूचना देने की प्रणाली को अधिक पारदर्शी बनाकर निवेशकों को आकर्षित करना।

स्वायत्तता के क्षेत्रों के संबंध में ऊपर जो सिफारिशें की गई हैं वे सभी सार्वजनिक क्षेत्रों के उद्यमों (PSUs) पर लागू होंगी, परंतु इसके साथ ही साथ PSUs में औसत दर्जे के निष्पादकों के बोर्डों को अतिरिक्त अधिकार होगा कि वे अपनी नियंत्रक कंपनियों को परिसंपत्तियों का हस्तांतरण कर सकते हैं। कुछ शर्तों के अधीन उन्हें निवेश संबंधी निर्णय लेने की भी स्वतंत्रता होगी। इन PSUs के लिए निवेश सीमाओं को कंपनी के टर्नओवर और मध्यकाल में कोषों के लिए उनकी आवश्यकता के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि PSUs में सक्षम निष्पादकों को अधिकार होगा कि सरकार से पहले अनुमति लिए बिना ही वे संयुक्त उद्यम स्थापित कर सकते हैं। निवेशों के संबंध में उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता होगी, परंतु इस संबंध में उन्हें इस शर्त को पूरा करना होगा कि उनकी प्रायोजनाओं का वित्त पोषण और मूल्यांकन बैंक या संस्थागत ऋणदाता करें।

स्वायत्तता प्रदान करने के लिए सरकार ने कोर श्रेणी के अंतर्गत ऐसे नौ PSUs की पहचान की है जिनमें भलीभाँति कार्य हो रहा है। आमतौर पर इन्हें नवरत्न कहा जाता है। ये हैं– BHEL, BPCL, HPCL, IPCI, IOC, NTPC, ONGC, SAIL और VSNL। सभी PSUs में होने वाले लाभ में से 75% उपर्युक्त PSUs में ही होता है। भारत सरकार ने इन्हें स्वायत्तता देकर व्यवस्था की है कि ये उद्यम पूँजीगत व्यय कर सकते हैं, साधनों को जुटा सकते हैं तथा प्रौद्योगिकी के संबंध में ठेका कर सकते हैं। लघु रत्न कहे जाने वाले (नवरत्न के अतिरिक्त) 97 लाभ कमाने वाले सार्वजनिक क्षेत्रक के उपक्रमों को वित्तीय एवं कामकाज की स्वायत्तता देने की भी सरकार ने घोषणा की है। परंतु इन PSUs को दी जाने वाली स्वायत्तता की मात्रा नवरत्नों को दी जाने वाली स्वायत्तता से कम है।

सही ढंग से कार्यान्वयन हो सके इसके लिए आयोग ने एक स्थायी अधिकृत ग्रूप (Standing Empowered Group) को बनाने की सिफारिश की। इस ग्रूप के सदस्य होंगे PSUs के प्रशासनिक मंत्रालय का सार्वजनिक उद्यमों का विभाग तथा संबंधित PSUs के प्रधान कार्यपालक अधिकारी (CEO)। परंतु विनिवेश आयोग ने केवल यही सिफारिश की है कि किन कंपनियों में विनिवेश करना है, उसने सरकार के ऊपर छोड़ दिया है कि वह किस प्रकार से विनिवेश करे। आयोग ने विक्रय की विधियों से संबंधित मार्गनिर्देश भी दिए हैं, जिसमें छोटे निवेशकों और कर्मचारियों को PSUs के शेयरों का विक्रय और मध्यवर्तियों का चयन शामिल है, जिससे विनिवेश के संबंध में पारदर्शी और प्रतियोगी पद्धतियाँ हो सकें। आयोग ने अपने अनेक रिपोर्टों में अनेक PSUs में विनिवेश के संबंध में विशेष रूप से सिफारिशें भी की। इस प्रकार विनिवेश आयोग ने विनिवेश के संबंध आधार नियम और बुनियादी पैरामीटर बनाया। इस संबंध में जैसे-जैसे कार्य होगा, अनुभवों से हम और अधिक सीखते जाएँगे।

देश के आर्थिक सुधार कार्यक्रम के एक अंश के रूप में दिसंबर 1991 में रुग्ण औद्योगिक कंपनी अधिनियम (SIVCA) 1985 का संशोधन किया गया, जिससे सार्वजनिक उद्यमों को औद्योगिक और वित्तीय पुनर्निमाण बोर्ड (BIFR) के क्षेत्र में लाया जा सके। इसके फलस्वरूप 1998 के अंत तक 138 रुग्ण सार्वजनिक उद्यमों को BIFR के साथ पंजीकृत कराया गया। BIFR ने सिफारिश की है कि इनमें से 14 का समापन कर दिया जाए, लेकिन इनमें से किसी का भी समापन अभी तक नहीं किया जा सका। अनेक सार्वजनिक उद्यमों का नियंत्रण और प्रबंध निजी क्षेत्रक को सौंप दिया गया है लेकिन उनकी ईक्विटी का बहुत बड़ा भाग सार्वजनिक क्षेत्रक के हाथ में ही रखा गया और इन इक्विटियों की मात्रा इतनी अधिक होती है कि सरकार प्रबंध कार्यों में हस्तक्षेप कर सकती है। निजीकरण के संबंध में भारत का जो अनुभव रहा है, उसके अंतर्गत पूर्ण निजीकरण या सही निजीकरण की स्थितियाँ भी है, जिनके अंतर्गत सार्वजनिक उद्यमों का नियंत्रण और प्रबंध निजी क्षेत्रक को सौंप दिया गया (हालाँकि प्रबंधकीय हस्तक्षेप के बिना ही

कुछ सार्वजनिक क्षेत्रक इक्विटी होल्डिंग को कायम रखा जा सकता है)।

भारतीय अर्थव्यवस्था को निजीकरण की ओर ले जाने के लिए बहुत बड़ी पहल करने की आवश्यकता है। इस संबंध में निम्नलिखित जैसे कुछ कदम उठाने होंगे :

i) लोगों को विश्वास दिलाना होगा कि विकल्प लागतें इतनी अधिक है कि होटलों को चलाने, पोलिएस्टर फिल्मों का विनिर्माण करने, कंडमों का निर्माण करने तथा फ्रूट पल्प और जूस का उत्पादन करने का काम भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक में कराना उचित नहीं होगा। वास्तव में ये सभी काम निजी क्षेत्रक के लिए हैं।

ii) सरकार को चाहिए कि वह इस देश में सही ढंग से निर्धारित निजीकरण नीति की घोषणा करे। ऐसी नीति में कम से कम निम्नलिखित प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर होना चाहिए : निजीकरण क्यों किया जाए? निजीकरण किसका किया जाए? निजीकरण कब किया जाए? निजीकरण के लिए कौन सा संगठन नोडल एजेन्सी होगा तथा इसके संघटन, शक्ति और दायित्व क्या होंगे? निजीकरण के कार्य में सार्वजनिक उद्यमों के कर्मचारियों का समर्थन प्राप्त करने के लिए किन संस्थागत तंत्रों का प्रयोग करना होगा? निजीकरण के कार्यक्रम में भारत विदेशी निवेशकों द्वारा किस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा करेगा?

iii) भारत में निजीकरण के प्रबंध के लिए क्षमता का निर्माण। निजीकरण एक कठिन प्रक्रिया है। इसके अंतर्गत सरकार के राजनैतिक उद्देश्यों और किसी सार्वजनिक उद्यम के व्यावसायिक आवश्यकताओं में मेल बैठाना तथा सक्षमताओं का निर्माण करना आते हैं। इसलिए अत्यंत आवश्यक होगा कि ऐसा प्रशिक्षण कार्यक्रम बनाया जाए कि निजीकरण की प्रक्रिया के विभिन्न संघटकों के प्रबंध के संबंध चुने हुए सार्वजनिक क्षेत्रक के प्रबंधकों और सरकारी कर्मचारियों को आवश्यक जानकारी और कौशल प्रदान किया जा सके।

iv) इस प्रस्तावित पहल के फलस्वरूप निजीकरण के बाद के समय में भारत के अनुभवों का मूल्यांकन किया जा सकेगा। इसके चलते निम्नलिखित पर निजीकरण के प्रभाव का आकलन करने के लिए बहुत कुछ कार्य करने होंगे : (i) कुशलता और निवेश, (ii) लोकवित्त और भुगतान शेष, (iii) रोजगार, (iv) प्रबंध कार्य और युक्तियाँ, तथा (v) प्रबंधकों के कौशल, अभिवृत्तियाँ और व्यवहार। निजीकरण के बाद के अनुभवों के इस प्रकार से मूल्यांकन के फलस्वरूप हम ऐसी बातें सीखेंगे जिससे निजीकरण से होने वाले लाभ को अधिकतम करने में हमें मदद मिल सके।

26.7.2 निजीकरण से संबंधित समस्याएँ

निजीकरण कोई सरल विकल्प नहीं है। इस संबंध में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं तथा उनका समाधान करना आसान कार्य नहीं होता। इनमें से कुछ प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं (जी.एस. गुप्ता, 1996) :

1) निजीकरण के लिए सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों (PSFs) का चयन
2) कर्मचारियों की ओर से विरोध
3) परिसंपत्तियों या इक्विटी का मूल्य निर्धारण
4) विनिवेश की मात्रा
5) विक्रय की विधि या प्राथमिकता
6) राजनैतिक अस्थिरता

ये समस्याएँ बहुत अधिक जटिल हैं तथा इनका समाधान ढूँढना आसान नहीं है। विदेशी निवेशकों को अनुमति देने के संबंध में निर्णय लेना, विशेषतः उपभोक्ता वस्तु क्षेत्रक में, बहुत कठिन कार्य होता है।

विनिवेश किसके पक्ष में किया जाए? वित्तीय संस्थाओं के पक्ष में किया जाए या सामान्य जनता के बीच बेच दिया जाए। प्रबंधकीय नियंत्रण यदि सरकार अपने हाथ में रखती है तो कार्यकुशलता में सुधार लाना संदेहास्पद होगा। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि राजनैतिक विचारों के कारण निजीकरण की नीति को विपरीत मोड़ दिया जाएगा। कर्मचारियों के संगठन निजीकरण और विनिवेश समिति के विरोध में दबाव बनाए हुए हैं।

बोध प्रश्न 3

1) भारत में अपनाई जा रही विनिवेश युक्ति का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) भारत में सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों को स्वायत्तता के और अधिक प्रत्यायोजन के संबंध में सुझाव दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

3) भारत में निजीकरण से संबंधित प्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

26.8 सारांश

भारत में सामूहिक रूप से निजीकरण के संबंध में बहस तो अभी भी चल रही है, फिर भी सरकार ने इस संबंध में कार्य करना शुरू कर दिया है, क्योंकि महसूस किया जाता है कि ऐसा किए बिना अर्थव्यवस्था की उदारीकरण और बाज़ारीकरण की गति उत्कृष्ट अवस्था (take of stage) को प्राप्त नहीं कर पाएगी। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं : (i) इस्पात, दूरसंचार, विद्युत, एयर लाइनों, बंदरगाहों आदि कोर क्षेत्रकों में निजी कंपनी क्षेत्रक का प्रवेश होने देना, (ii) सार्वजनिक उद्यमों को और अधिक बजट सहायता न देना, (iii) अभिज्ञात सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों (identified PSUs) में जनता को ईक्विटी जारी करना और (iv) अभिज्ञात PSUs को पूरी तरह से बेच देना। निजीकरण के संबंध में जैसे-जैसे प्रगति होती है, वैसे-वैसे इस संबंध में एक व्यापक नीति बनाने की आवश्यकता हो जाती है। इस नीति में कम से कम निम्नलिखित के संबंध में उत्तर का होना आवश्यक है– निजीकरण क्यों किया जाए? निजीकरण किसका किया जाए? निजीकरण कब किया जाए? कौन सा संगठन निजीकरण के लिए नोडल एजेन्सी का काम

करेगा और उसका गठन किस प्रकार का होगा? तथा उसके अधिकार और दायित्व क्या होंगे? निजीकरण के लिए सार्वजनिक क्षेत्रक के कर्मचारियों का सहयोग प्राप्त करने के लिए कौन सा संस्थागत तंत्र बनाया जाएगा? निजीकरण के कार्यक्रम के संबंध में भारत विदेशी निवेशकों की ओर से किस प्रकार की भूमिका की अपेक्षा करेगा?

निजीकरण करने मात्र से ही सरकार के लिए समस्याएँ समाप्त नहीं हो जातीं। जल, बिजली आदि एकाधिकारी संस्थाओं पर नियंत्रण की आवश्यकता होती है। निजीकरण सभी प्रकार के रोगों का इलाज नहीं है, क्योंकि समाज के कमजोर तबके के लोगों के हित में सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो जाता है। देश के अंदर के जटिल राजनैतिक हित और आर्थिक प्रोत्साहन निजीकरण की प्रक्रिया के विपरीत में जाते हैं। निजीकरण का कार्य 1991 से ही चल रहा है, फिर भी अभी तक इसमें कोई विशेष प्रगति नहीं हो पाई है। विनिवेश के संबंध में सरकार ने जो लक्ष्य निर्धारित किया था। उनमें से केवल 10% तक को ही पूरा किया जा सका है। निजीकरण के कार्यक्रम को यदि सफल बनाना है तो एक योजनाबद्ध ढाँचे के अंतर्गत इस संबंध विधिवत् रूप से कार्य करना होगा।

26.9 शब्दावली

विराष्ट्रीयकरण **(Denationalisation)** : राष्ट्रीयकरण का प्रतिबिंब अर्थात अब तक जिन ईक्विटियों का नियंत्रण सरकार के स्वामित्व में हैं उसे निजी क्षेत्रक को हस्तांतरित कर देना।

विभाग उद्यम **(Departmental Enterprise)**: वे उत्पादन इकाइयाँ जिनका गठन सरकार के विभाग के रूप में होता है।

विनिवेश **(Disinvestment)** : सरकारी ईक्विटियों को पूर्णतः या अशतः निजी क्षेत्र को बेच देना।

सरकारी कंपनी **(Government Company)**: ऐसा उपक्रम जिसकी ईक्विटियों का 50% या उससे अधिक सरकार के स्वामित्व में होता है।

औने-पोने बेचना **(Sell-off)** : किसी इकाई में सरकार के कुल स्वामित्व या अधिकांश स्वामित्व को निजी उद्यम के हाथ में दे देना।

MAADHYAM IAS

26.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Datt, Ruddar and K.P.M. Sundharan (2000) : *Indian Economy*, S.Chand & Co., New Delhi (Chap.13).

Ganesh, G. (1998) : *Privatisation Experience Around the World* (Chapters 1, 2 & 7) Mittal Publications, New Delhi.

Gouri, Gecta (1996) : Privatisation and Public Sector Enterprises in India: Analysis of Impact of a Non-Policy, *Economic and Political Weekly,* Nov. 30.

Gupta, Anand (1996) : Political Economy of Privatisation in India, *Economic & Political Weekly*, September 28.

Gupta, G.S. (1998) : Privatisation: Theory, Practices and Issues, *The Indian Economic Journal*, Vol. 46, Oct.-Dec. (No.2).

Ramanadhan, V.V. (1989) : *Privatisation in Developing Countries* (Chapters 1, 8 and 20), Routledge, London.

Dingra, I.C. (2000) : *The Indian Economy: Environment & Policy; Sultan* Chand & Sons, New Delhi (Chapter 19).

Tandon, Pankaj (1997) : Efficiency of Privatised Firms: Evidence and Implications, *Economic and Political Weekly*, December 13.

26.11 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 26.2 देखिए।

2) भाग 26.3 देखिए।

3) भाग 26.4 देखिए।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 26.5 देखिए।

2) उपभाग 26.5.1 देखिए।

3) उपभाग 26.5.1 देखिए।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

बोध प्रश्न 3

1) उपभाग 26.6.1 देखिए।

2) उपभाग 26.6.2 देखिए।

3) उपभाग 26.6.3 देखिए।

इकाई 27 भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापीकरण

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 विश्वव्यापीकरण और अर्थव्यवस्था
27.3 विश्वव्यापीकरण के लाभ
27.4 विश्वव्यापीकरण और भारतीय उद्योग
27.5 1991 से नीतियों में परिवर्तन
27.6 वित्तीय बाज़ारों का विश्वव्यापीकरण
27.7 विश्वव्यापीकरण की समस्याएँ
27.8 विश्वव्यापीकरण के लिए आवश्यक प्रयास
27.9 सारांश
27.10 शब्दावली
27.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

27.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने से आप भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के संबंध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। यह इकाई निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर देने में आपकी सहायता करेगी :

- विश्वव्यापीकरण की क्या वास्तविकता है और क्या भारत इसे अपना सका है?;
- विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया में निहितार्थों का परीक्षण।;
- भारत की अर्थव्यवस्था पर विश्वव्यापीकरण के प्रभाव का विश्लेषण।;
- विश्वव्यापीकरण की चुनौतियों का विभिन्न क्षेत्रक किस प्रकार से सामना करते हैं?;
- भारत की अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के लिए किन नीतियों का पालन करना होता है?; तथा
- सर्वोत्तम संभव परिणाम प्राप्त करने के लिए कौन सी स्थितियाँ आवश्यक होती हैं?

MADHYAM IAS "way to achieve your dream"

27.1 प्रस्तावना

हाल के वर्षों में जनसंपर्क माध्यमों और विज्ञान जगत् में विश्वव्यापीकरण के प्रति जितनी रुचि रही है उतना और किसी भी विशेष घटना के प्रति नहीं रही है। पिछले लगभग दस वर्षों से राष्ट्र का पूरा ध्यान आर्थिक सुधारों पर केन्द्रित रहा है। भारतीय अर्थव्यवस्था में विनियंत्रण, उदारीकरण और विश्वव्यापीकरण शब्द जब से आए, तभी से लोगों का उत्साह इनके प्रति ज्यों का त्यों कायम है। आमतौर पर किए जाने वाले किसी भी वाद-विवाद में इन शब्दों का प्रयोग अक्सर ही किया जाता है। आम आदमी इन शब्दों का अर्थ तो नहीं जानता, लेकिन वह इतना अवश्य जानता है कि इनसे अभिप्राय है उनके जीवन में मूलभूत परिवर्तनों को लाना। शिक्षित जनता अनुमान लगाती है कि उदारीकरण से अभिप्राय है नियमों और प्रणालियों की सख्ती को कम करना, जिससे व्यवसाय को अधिक कुशलतापूर्वक चलाया जा सके तथा विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय होता है देशों के बीच व्यापार, प्रौद्योगिकी और निवेश के मुक्त प्रवाह पर लगाए गए संरक्षक अवरोधों को हटाना। यह भी माना जाता है कि व्यापार और उद्योग को पृथक्करण और परिरक्षित स्थिति से निकाल कर उन्हें प्रतियोगी पर्यावरण में लाने की आवश्यकता है। इसके लिए आवश्यक

होगा कि विनिर्माता, व्यापारी, श्रमिक या उपभोक्ता अपने को स्थितियों के अनुकूल बनाएँ।

इस समय मुख्य समस्या यह है कि यह सब कैसे किया जाए कि न्यूनतम हानि तथा अधिकतम लाभ हो। आमतौर पर इन तीन परस्पर संबंधित शब्दों और विशेषतः विश्वव्यापीकरण के संबंध में अनेक गोष्ठियों और कार्यशालाओं में विचार-विमर्श किए गए हैं। फिर भी जो लोग इन नीतियों के संबंध में बहुत कुछ जानते हैं, उन्होंने सरल शब्दों में इनकी व्याख्या अब तक नहीं की। नीति निर्धारक एवं गोष्ठियों में भाषण करने वाले लोग प्रायः यह मानकर चलते हैं कि विश्वव्यापीकरण के उद्देश्यों को सभी लोग भलीभांति जानते हैं। अतः अपने लेखों और भाषणों में वे इसी बात पर जोर देते हैं कि विश्वव्यापीकरण लाने के उपाय और साधन क्या हैं?

27.2 विश्वव्यापीकरण और अर्थव्यवस्था

विश्वव्यापीकरण की कुछ बहुत स्पष्ट विशेषताएँ हैं (के.एल.चुध, 1922)। विश्वव्यापीकरण उपभोक्ताओं के हितों पर जोर देता है तथा प्रतियोगिता को बढ़ावा देता है। यह सहकारी उद्यम है, जिसमें उपभोक्ताओं की सेवा कार्य में संगठन और जनता एक दूसरे के पूरक और सम्पूरक का काम करते हैं। इसी कारण आज यह अंतरराष्ट्रीय प्रवृत्ति चल पड़ी है कि किसी एक देश से कच्चे माल को प्राप्त किया जाए, किसी दूसरे देश में उससे उत्पादन किया जाए और फिर उत्पादित माल को समस्त विश्व में बेचा जाए। इसके फलस्वरूप विश्वव्यापीकरण प्रत्येक देश की भूमिका के बीच सहयोग बढ़ाता है। विश्वव्यापीकरण उत्पादों की गुणवत्ता के प्रति विश्वास पैदा करता है तथा ऐसी गुणवत्ता की गारंटी के रूप में विनिर्माता अपने उत्पादों का ब्रांड नाम देते हैं। इसका अर्थ है सीमाओं से मुक्त विश्व, जिसमें मुद्रा, विचारों और विशेषज्ञता का मुक्त रूप से आदान-प्रदान होता है तथा साझेदारी को बढ़ावा मिलता है, जिससे उपभोक्ताओं की सेवा भलीभाँति की जा सके। विश्वव्यापीकरण लोगों की गुणवत्ता पर निर्भर करता है जब तक लोग बहुत अच्छे नहीं होंगे तब तक किसी प्रकार की पहल, नवीन प्रक्रिया या समाधान संभव नहीं होगा। लोगों की गुणवत्ता और उनका प्रशिक्षण तथा उनकी दूरदृष्टि और प्रतिबद्धता विश्वव्यापीकरण की बुनियाद होते हैं।

MADHYAM IAS

विश्वव्यापीकरण के अंतर्गत व्यवसाय समष्टि दृष्टिकोण से व्यष्टि दृष्टिकोण की ओर मोड़ लेता है। इस संबंध में महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि विभिन्न देशों के व्यक्तियों और फर्मों के बीच कितना अधिक सम्पर्क और सहयोग हो पाता है। विश्वव्यापीकरण स्थान निर्धारण के संबंध में पूर्णतः विकेन्द्रीयकरण करना होता है। यह मानव संसाधनों का अंतरराष्ट्रीयकरण करेगा तथा भौगोलिक सीमाओं को हटाएगा।

विश्वव्यापीकरण इस बात पर जोर देता है कि निर्यात क्षेत्रक को राष्ट्र के व्यापक आर्थिक समुच्चयों का एवं प्रमुख अंग होना चाहिए। जब निर्यात प्रमुख आर्थिक समुच्चय का एक अंग होता है, तब औद्योगिक संवृद्धि बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात क्षेत्रक पर निर्भर हो जाती है। जब औद्योगिक उत्पादन को निर्यात क्षेत्रक से संबद्ध कर दिया जाता है तब अप्रत्यक्ष रूप से अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रकों, विशेषतः बैंकिंग और सेवा क्षेत्रक, का भी निर्यात क्षेत्रक के साथ एकीकरण हो जाता है। अंततः संवृद्धि पर निर्भर करता है, अतः देशीय अर्थव्यवस्था के विकास की दर विश्व अर्थव्यवस्था के विकास की दर से अधिक नहीं हो सकती।

27.3 विश्वव्यापीकरण के लाभ

विश्वव्यापीकरण के लाभ क्या हैं? इनमें से कुछ को नीचे दिया जा रहा है :

i) प्रतियोगी पर्यावरण के होने के कारण संसाधनों के आबंटन में सुधार।
ii) अंतरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के साथ आदान-प्रदान होने से अच्छी प्रौद्योगिकी, आगतें तथा मध्यवर्ती वस्तुएँ प्राप्त होती हैं।
iii) तकनीकी जानकारी और बड़े पैमाने की किफायतों का हस्तांतरण।

विश्वव्यापीकरण से अभिप्राय है पूर्ण प्रतियोगी बाज़ार प्रणाली, जिसमें आयात या निर्यात पर कोई अवरोध नहीं होता। लेकिन ऐसे पर्यावरण के लिए कंपनी क्षेत्रक को कुछ पूर्व शर्तों को पूरा करना होता है वे शर्तें हैं– विश्वव्यापी दृष्टि (global vision) और विश्वव्यापी क्षमता (global capability)। विश्वव्यापी दृष्टि से अभिप्राय है कि कंपनियों में योग्यता होनी चाहिए कि वे गतिशील प्रतियोगी पर्यावरण का विश्लेषण कर सकें तथा उनकी युक्तियाँ नई विश्वव्यापी अवसरों के अनुकूल होनी चाहिए अर्थात् उनमें विश्लेषण और नेतृत्व की क्षमता होनी चाहिए। इसके विपरीत विश्वव्यापी क्षमता से अभिप्राय है सही समय पर और सही स्थान पर उत्पादक मानवीय, प्रौद्योगिकीय और वित्तीय संसाधनों को एकत्रित करना और उनका उपयोग करना।

27.4 विश्वव्यापीकरण और भारतीय उद्योग

विश्वव्यापीकरण किए गए बाज़ार का मार्ग तीव्र गति से जाने के लिए होता है। धीमी गति से चलने वालों के लिए इस पर स्थान नहीं होता। इस बात को भलीभाँति पूर्वक समझना आवश्यक होता है। जब कोई देश अपने बाज़ारों को खोल देता है और विदेशों से नये निवेशकों और नई प्रौद्योगिकियों को आमंत्रित करता है, तब प्रमाणित पूर्तिकर्ता अपनी अच्छी किस्त की वस्तुओं, प्रौद्योगिकियों और सेवाओं को प्रतिभोगी कीमतों पर बेचने के लिए उस देश में आ सकते हैं। इस संबंध में चिंता की जाती है कि विश्वव्यापीकरण एकतरफा यातायात (one way traffic) बन जाएगा और स्थानीय बाज़ारों में आयात की गई वस्तुओं की भरमार हो जाएगी, जिससे देशीय उद्योगों और देश के श्रमिकों की हालत खराब हो जाएगी। परंतु हम यह भी जानते हैं कि पिछले पाँच दशकों में भारत के उद्योगों ने आधुनिक प्रौद्योगिकियों और कुछ उच्च कोटि के मानकों को आत्मसात कर लिया है, अतः कहा जा सकता है कि विश्वव्यापीकरण की आसान चुनौतियों का सामना करने की क्षमता उनमें है। आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान क्षमता का पूरी तरह से उपयोग करने और पड़ने वाले दबावों का सामना करने की युक्तिपूर्ण योजना बनाई जाए। जो कुछ भी हो, आज प्रश्न यह नहीं है कि विश्वव्यापीकरण है परंतु समस्या यह है कि जब कोई व्यवसाय विश्वव्यापीकरण के मार्ग पर चलता है तो उसे किन विधियों का प्रयोग करना होता है।

MAADHYAM IAS
www.to achieve your dream

विश्वव्यापी प्रतियोगिता की क्षमता के लिए सूचना-अनिवार्यताओं पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उत्पाद अधिमानों (product preferences), प्रौद्योगिक विकल्पों, कीमत-प्रवृत्तियों, प्रतियोगियों की शक्तियों और कमजोरियों, निवेश के स्रोतों आदि विषयों पर भारतीय उद्योग और व्यवसाय के पास उच्च कोटि की सूचना और जानकारी होनी चाहिए। उपर्युक्त के अभाव में कोई भी उद्योग आज के घातक प्रतियोगिता वाले विश्व-बाज़ार में टिक नहीं सकता।

कंपनियों के लिए आवश्यक हो जाता है कि सरकार द्वारा व्यवस्थित उदार पर्यावरणों का लाभ उठाते हुए वे प्रौद्योगिकी और डिज़ाइन, सामग्री प्राप्त करने, विनिर्माण प्रक्रियाओं, गुणवत्ता-स्तर, वित्त तकनीकों तथा निर्यात संवर्धन के लिए विपणन की गतिशीलता के रूप में अपने कामकाजों के सभी पक्षों को चुस्त बना दें। कंपनी की आंतरिक कार्यकुशलता में सुधार लाने तथा बाहर की बाज़ार सुविधाओं के संबंध में तुरंत अनुमान लगाने के लिए प्रभावी प्रबंध सूचना और नियंत्रण प्रणाली आवश्यक होती है। माल की सुपुर्दगी के संबंध में समय से निर्णय और उत्तर, गुणवत्ता का सुनिश्चित मानक, ग्राहकों के हित की नीतियाँ और लक्ष्य उन्मुखता आदि ऐसी शर्तें हैं जिन्हें विश्व बाज़ार में टिके रहने के लिए पूरा करना आवश्यक है।

प्रबंध के सभी क्षेत्रों में उत्पादिता में सुधार लाना होगा तथा सार्थक परामर्श सेवाओं और HRD तकनीकों के द्वारा समस्त श्रम शक्ति को नई वास्तविकताओं से अवगत कराना होगा। प्रत्येक कर्मचारी और अधिकारी में भावना पैदा करनी होगी कि ऊँचे लक्ष्यों की ओर बढ़ने की आवश्यकता है। लागत पर नियंत्रण और बरबादियों को रोककर कीमतों में कमी की जा सकती है, जिससे अधिक आर्डर प्राप्त होंगे और इस प्रकार बिक्री के बढ़ने से लाभ की मात्रा बढ़ेगी। इन्हीं विधियों को अपनाकर जापान विश्व बाज़ार में नेता बन गया।

प्रतियोगिता प्रगति के लिए चालक शक्ति रही है। कार्यों और उपलब्धियों की पूर्णतः नई प्रणाली लाने के लिए अभिवृत्तियों और कार्य-विधियों को नया रूप देने की आवश्यकता हैं। प्रबंधक और पर्यवेक्षक यदि सिद्ध करना चाहता है कि लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता है तो उसके नेतृत्व का आधार दृष्टांत होना चाहिए, आदेश नहीं। सराहनीय कार्य-निष्पादन के लिए सभी श्रेणी के कर्मचारियों को सम्मान एवं पुरस्कार देना उत्पादिता बढ़ाने में प्रोत्साहन का काम करता है।

व्यापार और निवेश उदारीकरण की नीतियों का बाह्य उन्मुखता को लाने में बहुत बड़ा हाथ होता है, जिससे देशीय लागत ढाँचे पर बाह्य लेखा परीक्षण भी हो जाता है। विपणन युक्तियाँ इस प्रकार की बनाई जानी चाहिए कि जो वर्तमान विश्व की आर्थिक पुनः संरचना के अनुरूप हो। प्रत्येक लक्ष्य देश की परंपरा और संस्कृति के अनुरूप विपणन युक्तियाँ बनाई जानी चाहिए तथा लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यकतानुसार उनमें समय-समय पर संशोधन भी किए जाने चाहिए। युक्तियों का केन्द्र लचीलापन और प्रभावी स्थानीय संपर्क होने चाहिए। इस संबंध में निम्नलिखित तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं :

1) भारत को विश्व का प्रमुख उत्पादन केंद्र बनाना। अनेक क्षेत्रकों में, विशेषतः कृषि-आधारित उद्योगों में, भारत के पास कार्यकुशलता और निवेश के साधन हैं, जिनके फलस्वरूप विश्व में सबसे कम उत्पादन लागत इस देश में होती है। इन निवेशों की सहायता से विश्व बाज़ार के एक भाग को आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। इस संबंध में आवश्यकता इस बात की है कि बाहर के साझेदारों के साथ संबंध कायम किया जाए तथा प्रत्येक क्षेत्रक के अनुरूप राष्ट्रीय नीति निर्धारित की जाए।

2) भारत की कंपनियाँ विश्व के बाज़ारों में जाएँ तथा विदेशों में भारत की बहु-राष्ट्रीय कंपनियाँ (multi-national) बन जाएँ। पहले वे अंतरराष्ट्रीय बाज़ारों पर कब्जा करें और आगे चलकर समस्त विश्व में उत्पादन केंद्र भी बना लें। कुछ क्षेत्रकों में भारत को प्राकृतिक लाभ प्राप्त है, जैसे कि ज्ञान पर आधारित सेवाएँ तथा अनेक प्रकार के कृषि, औद्योगिक और फैशन उत्पाद।

3) विदेशी निवेशकों को आकर्षित करके उनके विश्व बाज़ार के लिए भारत को उनका आधार बनाना। भारत विश्व के उन देशों में से एक है जिनके पास बहुत बड़ी प्रशिक्षित जनशक्ति है। ऐसी जनशक्ति के अंतर्गत कृषक, वैज्ञानिक, इंजीनियर और पेशेवर व्यक्ति, उदयकर्ता तथा कुशल श्रमिक आ जाते हैं। विकसित देशों की तुलना में भारत में उपर्युक्त लोगों पर कम लागत आती है, जिससे भारत को बहुत अधिक प्रतियोगी लाभ प्राप्त होता है।

चालू खाते पर रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय बना देने से भारत में केवल विदेशी निवेश की मात्रा ही नहीं बढ़ जाएगी बल्कि निर्यात-आयात भी बढ़ जाएगा।

यदि भारत विदेशी निवेश को आकर्षित करने में सफल होता है, विशेषतः आधारिक संरचना के क्षेत्र में, तो सरकार के लिए संभव होगा कि वह ग्रामीण क्षेत्रक में इसका पुनः निवेश कर सके। कुल अर्थव्यवस्था पर इसका लाभकारी प्रभाव होगा क्योंकि भारत की सम्पन्नता पूर्णतः ग्रामीण और कृषि अर्थव्यवस्था पर निर्भर है। इससे भारत में दूसरी बार हरित क्रांति को लाने में मदद मिलेगी।

विश्व की अर्थव्यवस्था में सफलतापूर्वक भाग लेने के लिए भारत के लिए आवश्यक है कि वह सामरिक संबंधों को कायम करे– केवल व्यापार गुटों (trading blocks) के ही बीच नहीं, बल्कि निगमों के भी बीच भी, केवल विदेशी साझेदारों और भारत के बीच ही नहीं बल्कि भारतीय उद्योगों के अंतर्गत भी साझेदारी को कायम करना आवश्यक है।

बोध प्रश्न 1

1) विश्वव्यापीकरण से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) किसी अर्थव्यवस्था के लिए विश्वव्यापीकरण से क्या निहितार्थ होता है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) भारतीय उद्योग के लिए विश्वव्यापीकरण के निहितार्थों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

27.5 1991 से नीतियों में परिवर्तन

विश्वव्यापीकरण दो बातों को मान कर चलता है: (1) समष्टि स्तर पर राजनैतिक इच्छाशक्ति है, जो सरकार द्वारा पालन की जाने वाली विभिन्न नीतियों में प्रतिबिंबित होती है तथा (2) व्यष्टि स्तर पर कंपनी इच्छाशक्ति है, जिसकी स्थापना विश्वव्यापी दृष्टि और क्षमता के होने पर होती है। सरकार ने अपनी नीतियों में परिवर्तन किए हैं। इस संबंध में हम निम्नलिखित नीति-परिवर्तनों के संबंध मे विचार कर सकते हैं :

i) जुलाई 1991 में रुपये का लगभग 20 प्रतिशत दो स्तरीय अवमूल्यन। ऐसा करने का प्रयोजन यह था कि विश्व विनिमय करने के समान भारत के विनिमय दरों को तथा निर्यात को अतिरिक्त प्रोत्साहन प्रदान किया जा सके जिससे आयात-अवरोधों से हुई क्षतियों को पूरा किया जा सके।

ii) उदारीकृत विनिमय दर प्रबंध प्रणाली (LERMS) के अंतर्गत रुपये की आंशिक परिवर्तनीयता प्रणाली को शुरू करना और फिर चालू खाते में रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता को आने देना।

iii) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (FDI) को उदार कर दिया गया है तथा कुछ औद्योगिक क्षेत्रकों की 51%, 74% तथा 100% ईक्विटी अब विदेशी निवेशकों के हाथ में हो सकती है।

iv) जिन उत्पादों के लिए आयात लाइसेंस की आवश्यकता होती है, उनकी सूची को बहुत छोटा कर दिया गया है, जो इस बात का द्योतक है कि वस्तुओं के नियंत्रण के स्थान पर अब राजकोषीय नियंत्रण किया जा रहा है (सभी मात्रात्मक प्रतिबंधों को 1 अप्रैल 2001 तक हटा दिया जाएगा)।

v) आयात शुल्कों को कम कर दिया गया है।

vi) आयात किए जा रहे पूँजीगत पदार्थों के लिए भुगतान यदि ईक्विटी सहभागिता (equity participation) के लिए प्राप्त विदेशी मुद्रा से किया जाता है तो ऐसे पूँजीगत पदार्थों का आयात किसी विशेष लाइसेंस के बिना ही किया जा सकता है।

vii) अनेक मदों का विकेंद्रीकरण कर दिया गया है तथा जो मदें प्रारंभ में सरकारी एजेंसियों के क्षेत्र में थी उन्हें अब निजी कंपनियों के लिए मुक्त किया जा रहा है।

viii) विदेशी संस्थागत निवेशकों (FIIS) को भारतीय पूँजी बाज़ार में निवेश करने की अनुमति दी जाती है। वास्तविकता तो यह है कि SEBI ने अनेक विदेशी संस्थागत निवेशकों को इस कार्य के लिए मान्यता प्रदान कर दी है और उन्होंने निवेश करना शुरू कर दिया है।

ix) भारतीय कंपनियों द्वारा EURO को फ्लोट करने के संबंध में मार्गदर्शी सिद्धांत जारी किए गए हैं।

x) विश्वव्यापीकरण के संबंध में एक प्रमुख कदम रहा है विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (FERA), 1973 में संशोधन करना। इसके फलस्वरूप इसके नियामक प्रावधानों को अत्यधिक शिथित करके FERA नई और उदार उद्योग, व्यापार और विनिमय दर नीतियों के अनुरूप कर दिया गया है। इस अधिनियम ने 40% से अधिक अनिवासी ईक्विटी वाली कंपनियों पर अनेक प्रतिबंधों को हटा दिया है तथा विदेशों में संयुक्त उद्यमों को स्थापित करने वाली भारतीय फर्मों पर से FERA नियंत्रणों को हटा दिया है। इस अधिनियम ने उन सभी परिवर्तनों को कानून का रूप दे दिया है जिन्हें भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) या केंद्रीय सरकार ने अधिसूचना जारी करके किया है। इन परिवर्तनों का संबंध जिन विषयों से है वे हैं– तकनीकी और प्रबंध सलाहकारों की नियुक्ति के संबंध में FERA कंपनियों को दी जाने वाली सुविधाएँ। ब्रांचों को खोलने, भारत में FERA कंपनियों द्वारा अचल संपत्ति को अधिग्रहण करना। उनके द्वारा धन ऋण पर लेना या निक्षेप को स्वीकार करना। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम को अधिक औचित्यपूर्ण बनाने के प्रयास में FERA, 1973 की लगभग आधे दर्जन धाराओं को इस अधिनियम से निकाल दिया गया क्योंकि समय के साथ-साथ इनका औचित्य समाप्त हो गया था। (वास्तविकता तो यह है कि स्वयं FERA 1973 का ही निरसन कर दिया गया है और उसके स्थान पर एक अधिक उदार कानून बनाया गया है जिसे विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम (FEMA) कहा जाता है)।

xi) विदेशों में भारतीय संयुक्त उद्यमों (IJVA) को स्थापित करने के संबंध में मार्गदर्शी सिद्धांत निश्चित किए गए है, जिसके फलस्वरूप 90% प्रस्ताव स्वतः अनुमोदन विधि के अंतर्गत आ जाएँगे। इस संबंध में मुख्य प्रयोजन है विदेशों में संयुक्त उद्यमों और पूर्णतः स्वामित्व के अधीन की नियंत्रित कंपनियों में भारत के ईक्विटी निवेश को उदार बनाना तथा भारतीय कंपनियों द्वारा विदेशों में सहयोगी कंपनियों में सुधार लाना।

xii) जिन विदेशी प्रौद्योगिकी करारों के अंतर्गत उच्च प्राथमिकता वाले उद्योग आते है उन्हें एक निश्चित सीमा तक स्वतः अनुमोदन दे दिया जाता है।

xiii) भारतीय कंपनियाँ यदि कुछ शर्तों को पूरा कर देती हैं तो वे अब RBI से पहले से अनुमति लिए बिना ही विदेशी तकनीशियनों को अपनी सेवा में ले सकती हैं।

xiv) विदेशी निवेश को सुविधा प्रदान करने और उनका संवर्धन करने के लिए विदेशी निवेश संवर्धन बोर्ड (FIPB) का गठन किया गया है।

उपर्युक्त किए गए उपायों से यह सिद्ध हो जाता है कि उद्योगों के विश्वव्यापीकरण में सहायता कार्य को सरकार गंभीरतापूर्वक ले रही है जहाँ तक उद्योगों का प्रश्न है वे संरचनात्मक सुधारों के प्रति अधिकाधिक

रुचि दिखा रहे हैं। विश्वव्यापी सामरिक उपस्थिति बनाने के लिए एक औद्योगिक गठन का निर्माण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेक बहु-राष्ट्रीय कंपनियाँ (MNCs) भारतीय बाज़ार में प्रवेश कर रही हैं तथा भारत के व्यवसायी बढ़ी तेजी से विदेशों में उद्योग स्थापित कर रहे हैं।

विश्वव्यापी प्रतियोगिता की स्थिति में यदि अपने को जीवित रखना है तो भारतीय कंपनियों को अपने व्यवसाय की पुनः संरचना करनी होगी। इसके लिए उन्हें आने वाले परिवर्तनों को भलीभाँति समझना होगा। यह जानना होगा कि कार्यान्वयन की प्रक्रिया क्या है तथा किन समस्याओं का समाधान करना है।

27.6 वित्तीय बाज़ारों का विश्वव्यापीकरण

भारत अंतरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ारों का अधिकाधिक उपयोग करता है। विनिमय दर और ब्याज दर में उतार-चढ़ाव इस समय मुख्य चर हैं। विनिमय दरों की परिवर्तनशीलता पूँजी संचलन का आसन्न कारण तथा उसका प्रभाव बन गई है। किसी एक वित्तीय बाज़ार में होने वाली गतिविधियों का दूसरे बाज़ार में शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है। आज वित्तीय बाज़ार है : (a) क्षेत्र के संबंध में विश्वव्यापी, (b) जिसमें मुद्रा और अन्य वित्तीय परिसंपत्तियों में अंतर स्पष्ट नहीं है तथा तरलता में अविच्छिन्नता होती है, (c) जिनमें बैंकिंग प्रणाली द्वारा वित्तीय मध्यस्थता तथा अन्य गैर-बैंकिंग मध्यस्थता के बीच का अंतर अत्यंत अस्पष्ट होता जा रहा है और इसी के फलस्वरूप, (d) जहाँ वित्तीय संस्थाएँ अपने विशिष्ट गुणों को खोती जा रही हैं। गहन प्रतियोगिता के बीच भौगोलिक दूरी का स्थान व्यापारिक जगत् में होने वाली आर्थिक क्रियाओं ने ले लिया है। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि अंतरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ार में मुद्रा का लेन-देन करने वाले तथा उनके साथ व्यापार करने वालों को अच्छे अवसर प्राप्त हो रहे हैं। इस समय विश्व का वित्तीय बाज़ार जितना सुबद्ध है तथा वह जितनी प्रकार की सेवाएँ प्रदान कर रहा है, वैसी स्थिति पहले कभी नहीं रही थी।

पूँजी संचलन, विनिमय दरों और ब्याज दरों में प्रवृत्तियों से भारत प्रभावित होता है। देशीय वित्तीय क्षेत्रक यदि अधिक उदार है तो अंतरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ारों के साथ वह अच्छी तरह से पारस्परिक कार्यकलाप कर सकता है। भारत केवल अन्य देशों में होने वाली घटनाओं के उत्तर में कार्य करता रहा है। इसका अर्थ है कि वह घटनाओं का सामना करने वाला (events taker) है, घटनाओं को बनाने वाला (events maker) नहीं है। फिर भी बाहरी घटनाओं के प्रति तदर्थ उत्तर की नहीं बल्कि संरचित उत्तर की व्यवस्था की आवश्यकता है। अंतरराष्ट्रीय बाज़ारों के साथ बाज़ारों के संबंधों को बढ़ाने के विवेकपूर्ण अनुक्रमी स्वरूप के निर्धारण का भी यह विषय है।

ऐसे संबंध के लिए सोच-विचार कर बनाए गए ढाँचे के रूप में बहुत सावधानी पूर्वक कदम उठाने होंगे। भारत की वित्तीय संस्थाओं और व्यवसाय की अंतरराष्ट्रीय वित्तीय बाज़ारों के कामकाजों में क्रमिक और संरचित रूप में प्रवेश करना तो चाहिए परंतु उसके साथ ही साथ आगे आने वाले वर्षों में भारतीय वित्त क्षेत्रक को यदि कार्यकुशल, स्पन्दनशील और सही ढंग होना चाहिए। विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया में दो स्पष्ट चुनौतियाँ होती हैं : (i) कंप्यूटरीकरण के द्वारा प्रौद्योगिकी की कोटि को उच्च करना और (ii) अंतरराष्ट्रीय वित्त बाज़ार के साथ संबंध को बढ़ाना और उसे मजबूत करना। भारत के वित्तीय क्षेत्रक ने अपने कामकाजों का यंत्रीकरण और कंप्यूटरीकरण करना देर से शुरू किया है। इस संबंध में खेद की बात तो यह है कि नई प्रौद्योगिकी की शुरुआत भी धीमी गति से हुई है। इससे भी अधिक खेद की बात यह है कि संस्थापित हार्डवेयर का उपयोग उसकी क्षमता के अनुसार नहीं हो रहा है। इस स्थिति को समाप्त करना होगा। नरसिम्हम समिति ने कंप्यूटरीकरण पर रंगराजन समिति के विचार की पुष्टि की है। आर्थिक नीति के स्तर पर अंतरराष्ट्रीय वित्त बाज़ार के साथ संबंध कायम करने के प्रश्न का ब्याज दरों पर नियंत्रण को हटाने और भारतीय रुपये को परिवर्तनशील बनाने के साथ घनिष्ठ संबंध है।

27.7 विश्वव्यापीकरण की समस्याएँ

बाहर की ओर देखने वाली तथा विश्वव्यापीकरण की नीति की अपनी कीमत होती है क्योंकि राष्ट्रीय

नीतियों के निर्धारण के संबंध में इसकी कुछ बाध्यताएँ होती हैं। ये बाध्यताएँ निम्नलिखित हैं :

i) अंतरराष्ट्रीय आर्थिक पर्यावरण में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। औद्योगिक देशों में जब आर्थिक उतार-चढ़ाव होते हैं तो उन पर आश्रित विकासोन्मुख देशों को इन आर्थिक आघातों को सहना पड़ता है।

ii) एक ओर तो निर्यात-आयात के लिए किए गए निवेश और गुणक के द्वारा पैदा की हुई आय के बीच संबंध होता है तथा दूसरी ओर पैदा की हुई आय तथा आयात-प्रवृत्ति द्वारा आयातों के बीच संबंध होता है। ऐसा इसलिए होता है कि सीमांत उपभोग प्रवृत्ति के बहुत अधिक होने के कारण विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में विकासोन्मुख अर्थव्यवस्थाओं में आय-गुणक-प्रभाव अधिक होता है। इसके फलस्वरूप विकसित अर्थव्यवस्थाओं की अपेक्षा विकासोन्मुख अर्थव्यवस्थाओं में पैदा की गई माँग भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। कुछ दी हुई परिस्थितियों में मांग में हुई यह वृद्धि देश के अंदर कीमत स्तर को ऊँचा कर देगी और यदि सीमांत आयात प्रवृत्ति घटती नहीं है तो इसके फलस्वरूप आयात इतना अधिक हो जाएगा कि आयात में समानुपातिक वृद्धि निर्यात में समानुपातिक वृद्धि से अधिक हो जाएगी और इस प्रकार व्यापार का संतुलन बिगड़ जाएगा।

iii) इसके फलस्वरूप इन बाज़ारों में माँग पक्ष में कार्टेल जैसी स्थिति हो जाएगी तथा देशों के अंदर तथा देशों के बीच पूर्तिकर्ताओं के बीच प्रतियोगिता जारी रहेगी। बाज़ार की इन परिवर्तित स्थितिओं के अनुरूप भारत को अपने आप को बनाना होगा। विश्व बाज़ार में अपने अंश को बढ़ाने की बात दूर की रही ऐसी स्थितियों में तो भारत के लिए अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए भी काफी संघर्ष करना होगा। अतः भारत के लिए उचित तो यही लगता है कि विश्व की वर्तमान स्थिति में वह निर्यात द्वारा संवृद्धि की प्रणाली पर बहुत अधिक आश्रित न रहे।

इस निष्ठुर बाज़ार-उन्मुख विश्व में भारत की मदद करने को जो भी गोडफादर तैयार होगा वह अपनी कीमत अवश्य ही ले लेगा। विश्वव्यापीकरण की प्रक्रिया को पीछे नहीं मोड़ा जा सकता। सफल वे ही लोग होते हैं, जो खतरा मोल लेने को तैयार रहते हैं। अधिक से अधिक यही किया जा सकता है कि विश्वव्यापीकरण की गति थोड़ी सी धीमी कर दी जाए। परंतु विश्वव्यापीकरण का लाभ उठाने के लिए कुछ शर्तों को पूरा करना होता है। इसके लिए अपनी अर्थव्यवस्था में सुधार करना आवश्यक होता है। भारत के लिए बहुत ही कम विकल्प हैं। एक तो यह है कि रुपये का मूल्य मुक्त रूप से गिरने दिया जाए। यदि रुपये के मूल्य का 'मूल्याओस' हो जाता है तो आयात द्वारा कीमतों में वृद्धि को रोकने की आशा समाप्त हो जाएगी।

विश्वव्यापी शासन के लिए वर्तमान ढाँचा कमजोर, तदर्थ और अप्रत्याशित है क्योंकि इसके अंतर्गत अंतरराष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक निर्णयों को लेने का काम अनेक संस्थाएँ करती है तथा इन संस्थाओं पर सम्पन्न देशों का प्रभुत्व है, जो प्रायः दुर्बल और गरीब विकासोन्मुख देशों के हितों के विपरीत काम करते हैं। अहितकर अंतरराष्ट्रीय आर्थिक पर्यावरण के बने रहने के कारण उदारीकरण, बाज़ार-उन्मुख सुधारों तथा बाहर की ओर दृष्टि वाली नीतियों के द्वारा विकासोन्मुख देशों का गतिरोध दूर करने का सतत प्रयास बेकार सिद्ध होगा। बाज़ारों में प्रवेश न होने देने, ऋण-भार, विश्वव्यापी मुद्रा, वित्तीय और व्यापार प्रणालियों में असमता, प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण पर अवरोधों, रियायती संसाधनों के प्रवाह के कम होते जाने तथा विकासोन्मुख देशों में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रवाह के अनिच्छुक होने के कारण विकासोन्मुख देशों का तेजी से विकास नहीं हो पा रहा है।

देश की अनेक समस्याएँ और मुद्दे विश्वव्यापी एकीकरण के मार्ग में बाधक सिद्ध हो रहे हैं। ये निम्नलिखित हैं : (i) आय में अत्यधिक असमानता, (ii) अपर्याप्त आधारिक संरचना, (iii) अनुसंधान सुविधाओं की कमी तथा (iv) नौकरशाही के ढाँचे की समस्याएँ।

प्रो. पी.आर. ब्रह्मानंद के अनुसार (1993) अर्थव्यवस्थाओं के लिए आवश्यक आधारिक संरचनाओं की व्यवस्था किए बिना ही उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे बाज़ार प्रणालियों के कार्यों को करें। इन आधारिक

संरचनाओं के घटक हैं : भंडार-गृह, संचार ढाँचा, व्यापारिक प्रतिष्ठान, संगठित स्टॉक एक्सचेंज, भावी बाज़ार, ब्रांचों के साथ बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएँ, रोजगार कार्यालय, वाणिज्य-समाचार पत्र, विज्ञापन माध्यम, आदि। इस प्रकार बाज़ार का रूपांतरण शून्य में करने का प्रयास किया जा रहा है। भूमि, पूँजी और वित्तीय परिसंपत्तियों के रूप में निजी संपत्ति की उचित व्यवस्था नहीं की जा सकी है। बाज़ार अर्थव्यवस्था के लिए सूचना-आधार नहीं के बराबर है। जो काम सरकार को करने हैं उन्हें वह छोड़ती जा रही है, परंतु उसके लिए कोई नई संस्थागत व्यवस्था नहीं कर रही है। पूँजीवादी संस्थाओं और कानूनी ढाँचे का निर्माण किए बिना पूँजीवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। इसके फलस्वरूप संक्रमण प्रक्रियाओं में लेनदेन की लागतें बहुत अधिक बढ़ गई हैं तथा अनौपचारिक वित्तीय, व्यापारिक और सूचना मध्यस्थ बहुत अधिक लाभ कमा रहे हैं। इसके फलस्वरूप विभिन्न सापेक्ष उत्पादन शृंखलाओं में लचीली आपूर्ती अनुसूचीओं के लिए अंतर्निहित आधार नहीं बन पाया है। इसके फलस्वरूप आयात पर बहुत अधिक दबाव पड़ रहा है तथा भुगतान शेष प्रतिकूल हो गया है।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व बैंक (World Bank) और विश्व व्यापार संगठन (WTO) विकसित देशों की ओर से विकासोन्मुख देशों के लिए प्रहरी के रूप में उभर कर आ रहे हैं। इन देशों को दिए जाने वाले ऋण विकसित देशों में उत्पादित वस्तुओं के लिए माँग पैदा करते हैं। ऋण लेने वाले देशों पर दबाव बढ़ता जाएगा कि वे अपनी विनिमय दरों को नीची करें। इसके अतिरिक्त उन पर यह भी दबाव बढ़ेगा कि वे आयात शुल्कों की दर घटाएँ तथा देशीय बाज़ारों को आयातित वस्तुओं के लिए मुक्त करें।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर चिंता का विषय है कि विश्व की प्रमुख अर्थव्यवस्थाएँ बहुत बड़ी सुस्ती की अवस्था (recessionary phase) से गुजर रही हैं तथा अपनी आंतरिक और अंतरराष्ट्रीय प्राथमिकताओं का संतुलन बनाए रखने के लिए वे अधिकाधिक अंतर्मुखी होती जा रही हैं। अतः एक ओर तो वे विश्वव्यापीकरण करने और अपनी अर्थव्यवस्था को अन्य अर्थव्यवस्थाओं के लिए खोलने की बात करती हैं, परंतु दूसरी ओर वे NAFTA, पैसिफिक बेसिक ट्रेड ब्लॉक आदि जैसे प्रतिबंधित व्यापार गुट भी बनाती जा रही हैं। इस प्रकार इस समस्त प्रक्रिया में अवसर भी हैं और बाधाएँ भी हैं। देश के अंदर की बाधाओं को तो आवश्यक सुधारों द्वारा दूर किया जा सकता है परंतु विकसित देशों की संरक्षण-नीतियों के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था को बाहर के लिए खोलने संबंधी व्यापार नीतियों और संरचनात्मक सुधारों की गति धीमी हो सकती है।

UNCTAD के व्यापार और विकास रिपोर्ट (TDR) 1997 के अनुसार अदृश्य शक्ति (बाज़ार) विश्वव्यापी स्तर पर और बहुत थोड़े से प्रतिकारी दबावों के अधीन कार्य करती है। इसने देशों को आगाह करना शुरू कर दिया है कि बाज़ारों और आर्थिक खुलेपन (economic openness) में उनके विश्वास को राजनैतिक घटनाएँ डिगा सकती हैं, क्योंकि इस बात के सबूत बढ़ते जा रहे हैं कि 'धीमी' से विकास तथा बढ़ती हुई असमानताएँ विश्व अर्थव्यवस्था की स्थायी विशेषताएँ बनती जा रही हैं।

विकासोन्मुख देशों के नीति-प्रयासों के साथ ही साथ अनुकूल विश्वव्यापी परिवेश भी होने चाहिए। विश्वव्यापीकरण की असंगतियों में एक यह है कि विश्व अर्थव्यवस्था का उदारीकरण अब तक ऐसे असंतुलित रूप में हुआ है कि विकासोन्मुख देशों को जिन क्षेत्रों में तुलनात्मक लाभ हो सकता है, उनमें उनके साथ भेदभाव किया जाता है, जिसके फलस्वरूप उनके विकास की संभावनाएँ अपेक्षाकृत कम हो रही हैं। इस प्रकार विकासोन्मुख देश जिन क्षेत्रकों में अधिक प्रतिस्पर्धी हैं, उनमें वस्तुओं के व्यापार का उदारीकरण अधिक धीमी गति से हुआ है। प्रमुख व्यापार गुटों ने अपने कृषि क्षेत्रक को संरक्षण देना जारी रखा है।

उत्तर के श्रम बाज़ार की समस्याओं के समाधान के लिए दक्षिण में विनिर्मित वस्तुओं के निर्यात के प्रति नए प्रकार के संरक्षण की व्यवस्था करने का प्रयास किया जा रहा है। पूँजी और कुशल श्रम के संचलन की स्वतंत्रता पर प्रतिबंधों को तो हटा लिया गया है परंतु अकुशल श्रम के आवागमन पर लगाए गए अनेक प्रतिबंधों को हटाने के संबंध में कोई कार्यवाही नहीं की गई है।

परंतु उत्तर में आर्थिक संवृद्धि की दर को गिरने से यदि रोका नहीं गया तो विकासोन्मुख देशों को सहायता देने के संबंधी सभी प्रयास व्यर्थ होंगे। तीव्र गति से संवृद्धि और पूर्ण रोज़गार की नीतियों को पुनः अपनाने की आवश्यकता केवल इसीलिए नहीं है कि ऐसा करने से उत्तर में अत्यधिक बेरोजगारी तथा बढ़ती हुई मजदूरी में असमानता की समस्या को दूर करने में मदद मिलेगी, बल्कि इसकी इसलिए भी आवश्यकता है विश्वव्यापीकरण के प्रति जनसंख्या के दुष्प्रभाव (backlash) के खतरे को कम किया जा सके, अन्यथा विश्वव्यापी आर्थिक एकीकरण के लाभ जाते रहेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) भारतीय वित्त बाज़ारों के लिए विश्वव्यापीकरण के निहितार्थों पर प्रकाश डालिए।

.....

.....

.....

.....

2) विश्वव्यापीकरण से संबंधित तीन समस्याओं का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

27.8 विश्वव्यापीकरण के लिए आवश्यक प्रयास

MADHYAM IAS

विश्व में विश्वव्यापीकरण होने तो लगा है लेकिन अधिकतर संगठन अभी तक इसके लिए तैयार नहीं हैं। फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि अगली सदी में विकासक्षम होने के लिए सभी संगठनों, चाहे वे देश के अंदर के हों या अंतरराष्ट्रीय, के लिए आवश्यक होगा कि उनका दृष्टिकोण विश्वव्यापी हो, उनका कामकाज भले ही विश्वव्यापी न हो। विश्वव्यापी संगठन उन विभिन्न नई और परिष्कृत शक्तियों का परिणाम है जिन्होंने पिछले दशक में विश्व की अर्थव्यवस्था को एक रूप दिया है। ये हैं : (i) वित्त का आक्रामक और बड़ी मात्रा में संचयन तथा अपेक्षाकृत मुक्त प्रवाह वाला संसाधन टर्नर, (ii) सुपरिभाषित एवं कुशल संचार माध्यम, (iii) सूचना का हस्तांतरण और नियंत्रण प्रणाली, (iv) प्रौद्योगिकी का विकास तथा प्रयोग जिससे कम लागत पर वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा (v) विश्वव्यापी प्रवृत्तियाँ।

वाणिज्य मंत्रालय द्वारा नियुक्त उद्योग और सरकार के एक संयुक्त कार्य-ग्रुप (working group) ने सिफारिश की है कि भारतीय उद्योग तथा वस्तुओं और सेवाओं की अंतरराष्ट्रीय बाज़ारों में कंपनियों जैसा विज्ञापन का अभियान चलाया जाए। इसने दो चरणों वाली संवर्धन विधि का सुझाव दिया। पहले तो समस्त देश की छवि को उजागर किया जाए, जिससे इस देश के विरोध में कही जाने वाली बातों का उत्तर दिया जा सके। उसके बाद व्यापार और निवेश चलाया जाए।

सरकार और उद्योग यदि साथ-साथ कार्य करते हुए विशेष, निरंतर और समन्वित प्रयास करके भारत की छवि में सुधार ला सकें तो अंतरराष्ट्रीय व्यापार का प्रसार करने तथा इस देश में बनी वस्तुओं और सेवाओं का निर्यात करने में काफी मदद मिलेगी। भारत जैसे अनेक विकासोन्मुख देशों की छवि विश्व में बहुत अच्छी नहीं है। इसलिए आवश्यक है कि क्रेताओं और निवेशकों के एक लक्ष्य गुट में इस देश की वस्तुओं और सेवा के प्रति विश्वास पैदा कराया जाए।

इस संदर्भ में इस कार्य-ग्रूप ने उन बारह विभिन्न संवर्धन तकनीकों की सिफारिश की है जिनका प्रयोग अन्य देशों ने भी किया है। ये हैं : (i) सामान्य आर्थिक माध्यमों में विज्ञापन, (ii) व्यापार मेलों और प्रदर्शनियों में भाग लेना, (iii) क्षेत्रकपरक माध्यमों में विज्ञापन, (iv) चुने हुए देशों को ट्रेड मिशन, (v) व्यापार और निवेश अवसरों पर सामान्य सूचना गोष्ठियाँ, (vi) प्रत्यक्ष डाक अभियान, (vii) चुने हुए देशों का उद्योग या क्षेत्रकपरक मिशन, (viii) क्षेत्रकपरक गोष्ठियाँ, (ix) फर्मपरक अनुसंधान और उसके बाद बिक्री, (x) व्यापार और निवेश परामर्श सेवाओं का प्रावधान, (xi) आवेदन पत्रों पर शीघ्र कार्यवाहियाँ और (xii) निवेश-उत्तर तथा व्यापार-उत्तर सेवाओं का प्रावधान।

इसके अतिरिक्त वाणिज्य मंत्रालय, वित्त मंत्रालय, विदेश मंत्रालय तथा अनेक व्यापार मंडलों जैसे अनेक निकायों का संबंध इसके साथ है तथा इस संबंध में कोई राष्ट्रीय और समन्वित प्रयास नहीं किए जा रहे हैं। संवर्धनात्मक कार्यों को किसी एजेन्सी के हाथ में दे देना चाहिए, जिसका स्वामित्व और वित्तपोषण सरकार और उद्योग के हाथ में संयुक्त रूप से हो। परंतु इसके क्रिया-कलापों पर लागू होने वाले कायदे-कानून सामान्य प्रशासनिक सेवाओं पर लागू होने वाले कायदे-कानूनों से भिन्न होने चाहिए, यह सोसाइटी के रूप में पंजीकृत होनी चाहिए तथा इसे गैर-सरकारी निजी क्षेत्रक को संगठन के रूप में चलाया जाना चाहिए और इसकी कार्य-संस्कृति सरकार से भिन्न होनी चाहिए।

इसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि इसके कर्मचारी बहुविज्ञानीय पेशेवर व्यक्ति होने चाहिएँ जिन्हें सरकार से नहीं बल्कि निजी क्षेत्रक से लिया गया हो। भारत की अर्थव्यवस्था तथा इसके उद्योग जैसे-जैसे विश्व की ओर उन्मुख होते जाएँगे वैसे-वैसे भारतीय उद्योगों के लिए आवश्यक हो जाएगा कि वे विस्तार के संबंध में विशेष रूप से ध्यान दें। विश्वसनीयता को बनाने के लिए आवश्यक है कि काफी लंबे समय तक लगातार प्रयास किया जाए। इसे ध्यान में रखते हुए कंफडरेशन ऑफ इंडियन इन्डस्ट्रीज़ (CII) ने भारतीय उद्योगों के लिए Do's और Don't बनाए हैं, जिससे वे अंतरराष्ट्रीय व्यापार में भारतीय कंपनियों द्वारा प्रभावशाली ढंग से कार्य में सहायता कर सकें।

भारतीय अर्थव्यवस्था में आज जो संरचनात्मक सुधार किए जा रहे हैं, उनके पक्ष में सफाई देते हुए इन सुधारों के समर्थकों ने इस विवाद के केंद्र में प्रतियोगिता के प्रश्न को ला खड़ा किया है। उनकी दलीलें निम्नलिखित हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व की अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण करना आवश्यक है। विश्वव्यापीकरण की अपेक्षा है कि भारत के उत्पादक विश्व के बाज़ार में प्रतियोगी बनें। इन सुधारों के द्वारा ही वे प्रतियोगी हो सकते हैं। अतः सफलतापूर्वक विश्वव्यापीकरण के लिए ये सुधार पूर्व-आवश्यकताएँ हैं।

हाल के वर्षों में विश्वव्यापीकरण अपने आप में ही उद्देश्य बन गया है। यह खतरनाक है और हास्यास्पद भी है। विश्वव्यापीकरण को अपने आप में लक्ष्य नहीं मानना चाहिए। यह अंतिम लक्ष्य का साधन मात्र है। अंतिम लक्ष्य तो अर्थव्यवस्था में सुधार लाना है। संक्रमण काल से गुजरती हुई अर्थव्यवस्थाओं को यदि अप्रत्याशित आपत्तियों से बचना है तो विशेषज्ञों को इस लक्ष्य को समझना होगा। संक्रमण शब्द से अभिप्राय बेचैनी से होता है और अत्यंत प्रत्याशाओं से भी। यदि हमें लगभग 100 करोड़ लोगों की प्रत्याशाओं को पूरा करना है तो उनकी बेचैनियों का सामना करना होगा। अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के लिए आंतरिक अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाना आवश्यक होता है। यदि विश्वव्यापीकरण का अंतिम लक्ष्य दिया हुआ है और अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण करने की पूर्व आवश्यकताएँ भी यदि दी हुई है तो अर्थव्यवस्था में सुधार लाने का अंतिम लक्ष्य साधन भी लगता है और साध्य भी। इस प्रकार से सरल रूप से व्याख्या करना बेचैनियों को दूर करने और प्रत्याशाओं को पूरा करने की सही विधि है।

विश्वव्यापीकरण की सैद्धांतिक मनोहरता का अपना ही आकर्षण है। इसके संदर्भ में यदि हम फर्मों के एक छोटे से सेट द्वारा परिवर्तनों का सामना करने का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि भारत में सफलता और असफलता के आंशिक स्पष्टीकरण को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। लेकिन भारत को ऐसे व्यावहारिक एवं लाभकारी प्रयोगों की आवश्यकता है जो फर्मों और व्यक्तियों के बहुत बड़े सेट पर लागू

हो। इसके लिए दृढ़ नीतियों की आवश्यकता होती है, जिससे अंतरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में भारत के स्थान को ऊँचा उठाने में सहायता मिल सके। इसके लिए आवश्यक है कि भारत पता लगावे कि वो किस क्षेत्र में कुशल है, जिससे वह सर्वोत्तम संभव परिणाम को प्राप्त कर सके। भारत और इसकी फर्में किस क्षेत्र में कुशल हैं, इसे पता लगाने की राष्ट्रीय स्तर पर प्रक्रिया की शुरुआत अभी तक नहीं की जा सकी है और विश्वव्यापीकरण के संबंध में सभी बातें इच्छामूलक और समय-पूर्व हैं। विश्वव्यापीकरण के लिए स्थैतिक और गतिक दोनों ही प्रकार की दक्षताओं की आवश्यकता होती है, हालाँकि स्थैतिक दक्षता (static efficiency) की तुलना में गतिक दक्षता की अधिक आवश्यकता होती है। परंतु भारत ऐसी अवस्था में है कि यह निश्चित नहीं है कि अर्थव्यवस्था की स्थैतिक दक्षता कितनी है। जो देश स्थैतिक दक्षता के संबंध में निश्चित नहीं है वह उन गतिक अतिरिक्त विकल्पों के संबंध में निश्चित नहीं हो सकता जो सफलता प्राप्त करने के लिए आवश्यक होते हैं। राज्यों में पावर ब्लैकआउट का होना इस बात का उदाहरण है कि स्थैतिक दक्षता कितनी अविश्वसनीय और अनिश्चित है।

बोध प्रश्न 3

1) उन पाँच नई शक्तियों का वर्णन कीजिए जो विश्व अर्थव्यवस्था को आकार देती हैं।

.....

.....

.....

.....

.....

2) कुछ नई संवर्धन-तकनीकों का वर्णन कीजिए जिन्हें अपनाना भारत के लिए आवश्यक है।

.....

.....

.....

.....

.....

27.9 सारांश

देश की परेशानियों को कम करने और सम्पन्नशाली भविष्य की प्रत्याशाओं को पूरा करने के लिए आवश्यक है कि भारत यह जाने कि वह किन क्षेत्रों में कुशल है। अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रकों में यदि फर्मों को प्रतियोगी लाभ प्राप्त होता है तो भविष्य अवश्य ही सुनहरा होगा। अनेक क्षेत्रकों और उद्योगों में प्रतियोगी लाभ महत्त्वपूर्ण तत्त्वों के एक सेट पर निर्भर करता है जो अनेक क्षेत्रकों पर लागू होते हैं। इस सेट के अंतर्गत परिवहन सुविधाएँ, प्रशिक्षित श्रम, ऊर्जा, शिक्षा और स्वास्थ्य आ जाते हैं। निर्विवाद रूप से यह सेट अर्थव्यवस्था के केंद्र में होता है। इसकी स्थैतिक दक्षता में सुधार लाने की आवश्यकता है। तकनीकी संभाव्यता सेट को कायम रखने और उसका विस्तार करने के लिए यह आवश्यक है। ऐसा करने से विश्वव्यापीकरण का होना सुनिश्चित हो जाएगा।

"प्रत्येक वस्तु की उत्पादन लागत की पृष्ठभूमि में एक कहानी होती है। यह कहानी नवीन प्रक्रिया की, तकनीकी प्रगति की, आधुनिक श्रम प्रक्रिया की, कठोर श्रम की, पुरातन श्रम प्रक्रिया की या प्रदूषण की

हो सकती है। सभी वस्तुओं पर कीमत स्टीकर लगाकर बाज़ार इन कहानियों को दबा देता है तथा बहुत बातों को छिपा देता है। यह स्थिति उस अंधेरी रात जैसी है जिसमें सभी घोड़े धुंधले दिखाई पड़ते हैं। आज कोई भी देश बंद दरवाजों के पीछे नहीं रह सकता। अतः तृतीय विश्व के देशों के लिए आवश्यक है कि वे अपना विश्वव्यापीकरण करें। लेकिन विश्वव्यापी बाज़ार की आवश्यकताओं के अनुरूप किसी अर्थव्यवस्था को बनाने के समय यह भी याद रखना चाहिए कि विश्वव्यापीकरण विकास की प्रक्रिया को नहीं लाता बल्कि विकास की प्रक्रिया सफल विश्वव्यापीकरण की स्थिति को लाती है तथा इस प्रकार उसे भी शक्ति प्राप्त होती है।" (कल्याण, के. सान्याल, 1993)

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर अमर्त्य सेन उद्योग और वाणिज्य पर सरकारी नियंत्रण को हटाने के पक्ष में हैं तथा वे विश्वव्यापीकरण का भी समर्थन करते हैं, बशर्ते कि जन-कल्याण की उपेक्षा न की जाए। निस्संदेह रूप से वे मानते हैं कि सही नीतियों का पालन करने से विश्वव्यापीकरण अधिक सम्पन्नता को लाएगा।

27.10 शब्दावली

प्रतिवाही प्रभाव (Backwash Effects) : यह स्थिति तब आती है जब अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र में संवृद्धि का अन्य क्षेत्रों में संवृद्धि पर विपरीत प्रभाव पड़ते हैं।

साझा बाजार (Common Market) : वह क्षेत्र (जिसमें प्रायः अनेक देश होते हैं) जिसमें सभी एक समान शर्तों पर व्यापार कर सकते हैं।

विनिमय दर (Exchange Rate) : वह दर जिस पर एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा के साथ विनिमय हो सकता है।

वित्त पूँजी (Financial Capital) : किसी कंपनी की भौतिक परिसंपत्ति के विपरीत चल संपत्ति।

लोकोपयोगी सेवाएँ (Public Utility) : बिजली, गैस, परिवहन, आदि जैसी अनिवार्य वस्तुएँ या सेवाएँ। कोई कंपनी या उद्यम जो इनमें से कुछ अनिवार्य वस्तुओं या सेवाओं का एकमात्र पूर्तिकर्ता है और इसके फलस्वरूप उस पर किसी न किसी रूप में सरकारी नियंत्रण रहता है।

व्यापार गुट (Trade Blocks) : कुछ देशों के समूह का संघ जो असदस्य देशों के खिलाफ सदस्य देशों के हितों की रक्षा करने के लिए बनाया जाता है। ऐसे व्यापार गुटों के कुछ उदाहरण है– यूरोपीय संघ (EU), उत्तरी अमेरिका मुक्त व्यापार करार (NAFTA), ASEAN, APEC आदि। इन व्यापार गुटों के सदस्यों ने परस्पर व्यापार के सभी प्रतिबंधों को समाप्त कर दिया है। EU के 15 देशों ने एक आंतरिक बाज़ार बनाया है। अन्य क्षेत्रीय व्यापार गुट भी इसी दिशा की ओर बढ़ रहे हैं। आगे आने वाले कुछ वर्षों के अंतर्गत ही उन्होंने अपने अंतरराष्ट्रीय व्यापार के सभी अवरोधों को समाप्त करने का निर्णय किया है। अंतरराष्ट्रीय व्यापार के 60% से भी अधिक इस समय वर्तमान मुक्त व्यापार

MADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

क्षेत्रों या योजनाबद्ध मुक्त व्यापार क्षेत्रों के अंतर्गत ही हो रहा है। ऐसी स्थितियों में व्यापार में अधिक तेजी से विस्तार होता है।

27.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Bhalla, G.S. (1995) :Glaobalisation and Farm Policy (Presidental Address delivered at the 54th Annual conference of the Indian Association of Agricultural Economics at Kolhapur) *Business Line,* January 12-27.

Brahmananda, P.R. (1993) : Global Economy, Plea for Realistic Scenario, *Financial Express,* December 30 & 31, January 1, 1993.

Chandra, Nirmal Kumar (1995) : China's Tryst with Globalisation, *Economical & Political Weekly*, Jan.28.

Chugh K.L. (1992) : The Role of Corporation in the New India, speech at the 81st Annual Genral Body Meeting of ITC Ltd., *Observer of Business and Politics.* August 10.

Dhingra, I.C. (2000) : *The Indian Economy: Environment and Policy*, Sultan Chand & Sons, New Delhi.

Kumar, T. Krishna (1996) : Management of Development in the Newly Emerging Global Economic Environment, *Economic and Political Weekly,* June 22.

Malhotra, R.N. (1989) : Globalisation of the International Economy and its Implications for Developing Countries in Asia, *Reserve Bank of India Bulletin,* October.

Narasimham. M. (1989) : *Globalisation of Financial Markets in India,* Exim Bank Commencement Day Annual Lecture 1989, Mumbai.

Palkhiwala, Nani A (1995) : Making Indian Industry Globally Competitive, *Forum of Free Enterprise,* Mumbai, May-June.

Patel, I.G. (1996) : Equity in a Global Society, *Forum of Free Enterprise,* Bombay, Jan-Feb.

Petras, James and Chronis Polychroniou (1997) : Critical Reflecitons on Globalisation *Economic and Political Weekly,* Sept. 6.

Rao, S.L. (1996) : Globalising Indian Companies, *The Economic Times,* March 4.

Roy, Sumit (1997) : Globalisation Structural Change and Poverty, Some Conceptual and Policy Issues, *Economic & Political Weekly,* Aug. 16-23, 1997.

OECD (1997) : *The World in 2020: Towards a New Global Age,* OECD; Paris.

Sanyal, Kalyan K (1993) : Paradox of Competitiveness and Globlisation of Underdevelopment, *Economic and Political Weekly,* June 19.

Verma, Kewal (1996) : When Globalisation Boomerangs, *Business Standard,* January 12.

27.12 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 27.2 देखें

2) भाग 27.2 देखें

3) भाग 27.4 देखें

बोध प्रश्न 2

1) भाग 27.6 देखें

2) भाग 27.7 देखें

बोध प्रश्न 3

1) भाग 27.8 देखें

2) भाग 27.8 देखें।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

इकाई 28 आर्थिक सुधार और सामाजिक न्याय

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 1990 में अर्थव्यवस्था के सम्मुख समस्याएँ
  28.2.1 आर्थिक सुधारों की आवश्यकता
  28.2.2 आर्थिक सुधारों के उद्देश्य
28.3 आर्थिक सुधारों का पैकेज
  28.3.1 सुधारों से आशय
28.4 आर्थिक सुधारों की प्रगति
28.5 आर्थिक सुधार और सामाजिक न्याय
  28.5.1 मानवीय चेहरे के साथ सुधारों की आवश्यकता
28.6 सारांश
28.7 शब्दावली
28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

28.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दे सकेंगे :

- 1990 दशक के शुरू होने के समय से भारत को किन गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा;
- जून 1991 में बनी नई सरकार ने तात्कालिक कार्यों पर किस प्रकार ध्यान दिया;
- आर्थिक नीति की दिशा में परिवर्तन करने का क्या औचित्य था;
- नई आर्थिक नीति के पैकेज के तत्व क्या हैं;
- नीति के विभिन्न पक्षों के सापेक्ष महत्त्व क्या रहे हैं;
- सुधार प्रक्रिया की प्रगति की क्या गति रही है; तथा
- आर्थिक सुधारों संबंधी उपाय क्या सामाजिक न्याय के प्रति अधिक संवेदनशील रहे हैं;

28.1 प्रस्तावना

कुछ लोगों का मानना है नेहरुवादी विकास मॉडल गलत था। समाजवाद के असफल होने का कारण यह था कि यह सतत आधार पर धन पैदा न कर सका। फिर भी गरीबी और असम्पन्नता अभी भी समाजवाद के प्रमुख विषय उसी प्रकार से बने रहे हैं जैसे कि पहले थे। भारत के प्रमुख उद्देश्य में परिवर्तन नहीं हुआ है लेकिन संवृद्धि की युक्तियों को बदलने की आवश्यकता है जो बातें विशेषतः भारत के लिए है उन्हें ध्यान में रखना होगा। समाजवाद की स्वाभाविक विशेषता की जड़ें बहुत गहरी हैं। 1990-91 में हुए विदेशी मुद्रा संकट का कारण योजना-मॉडल नहीं, बल्कि रक्षा-सामग्रियों के आयात पर किया गया बहुत अधिक व्यय था।

युक्तियों को बदलने के संबंध में लोग मौन रूप से एकमत हैं। पर्यावरण में सुधारों की प्रक्रिया के संबंध में मुख्य प्रश्न 'राज्य और शुद्ध बाजार' के बीच 'निरर्थक वाद-विवाद' नहीं बल्कि यह प्रश्न है कि निम्नलिखित के संक्रमण की व्यवस्था कैसे की जाए : (i) सरकार की ओर से अत्यधिक हस्तक्षेप से कम हस्तक्षेप, (ii) पहले जिन गलत क्षेत्रों में हस्तक्षेप किया जाता था उसके स्थान पर पहले उपेक्षित महत्त्वपूर्ण

क्षेत्रों में हस्तक्षेप करना और (iii) नीति के साधनों के रूप में एक रूप (मात्रात्मक नियंत्रण पर निर्भरता) से दूसरे रूप (कीमतों पर निर्भरता) को। दोष योजना में नहीं बल्कि उसके अति केंद्रीयकरण में है।

आयात प्रतिस्थापन पर आधारित स्वावलंबन की युक्ति के साथ-साथ निर्यात संवर्धन की युक्ति का भी प्रयोग करना होगा। 1950 के दशक से 1965 तक तेजी से औद्योगिक संवृद्धि की प्रथम अवस्था की विशेषता यह थी कि सरकार ने सार्वजनिक निवेश के रूप में प्रोत्साहन प्रदान किया। 1980 के दशक में हुई तेजी (boom) को सरकारी व्यय के रूप में सार्वजनिक उपभोग से बल मिला। ऐसी स्थिति को बहुत समय तक कायम नहीं रखा जा सकता था, जिसके फलस्वरूप सरकार को राजकोषीय घाटे की स्थिति का सामना करना पड़ा और अर्थव्यवस्था में भुगतान संतुलन संबंधी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं लेकिन इस संबंध में मुख्य बात यह है कि मुद्रा-प्रसरण की सभी अवस्थाओं का आधार अब तक सार्वजनिक निवेश रहा है या सार्वजनिक व्यय। भारत में अब तक किए गए आर्थिक सुधारों और नीति परिवर्तनों में समग्र माँग को बढ़ाने की निम्नलिखित दो विधियों पर जोर दिया गया है :

i) निजी निवेश की प्रमुखता
ii) मुख्यतः निजी उपभोग द्वारा प्रसार, जिसमें निर्यात भी शामिल है

आर्थिक सुधारों के संदर्भ में निजी निवेश-देशीय और विदेशी के व्यवहार के संबंध में बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ है। आर्थिक सुधारों में सरकार की भूमिका की समीक्षा अथवा सामान्य रूप में बाज़ार की तुलना में राज्य की समीक्षा प्रतिबिंबित होती है। 1990 के दशक के प्रारंभिक वर्षों तक यदि सभी नहीं, तो अधिकतर अर्थव्यवस्थाओं ने बाज़ार की तुलना में सरकार की भूमिका के संबंध में पुनः विचार करना तथा उसे घटाना शुरू किया। इस नई घटना में हम 'सरकार की असफलता' और 'बाजार की असफलता' के बीच नया आदान-प्रदान स्पष्ट रूप से देखते हैं, जिसे सरकार और बाज़ार के बीच संबंध की नई वास्तविकता भी कहा जा सकता है।

28.2 1990 में अर्थव्यवस्था के सम्मुख समस्याएँ

अर्थव्यवस्था की पुनः संरचना के लिए उठाए जाने वाले कदमों के संबंध में विचार करने के पहले स्पष्ट रूप से यह जानना आवश्यक है कि 1990 में भारतीय अर्थव्यवस्था के सम्मुख कौन-कौन सी प्रमुख समस्याएँ थीं।

निम्नलिखित के संबंध में विचार करें :

1) बहुत बड़ी मात्रा में राजकोषीय घाटा, उसका मुख कारण है आय से अधिक व्यय का होना।

2) बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी ऋण, जिसके संबंध में ऋण-सेवा अनुपात और ऋण-निर्यात बहुत अधिक था जिसके फलस्वरूप देश की उधार-पात्रता में कमी हुई तथा ऋणों की चुकौती की समस्याएँ गंभीर हो गईं।

3) समस्त अर्थव्यवस्था में कार्य-कुशलता के स्तर का नीचा होना, जिसके फलस्वरूप संसाधनों की बहुत अधिक बरबादी होती है।

4) उद्योग क्षेत्रक में सुस्ती की स्थिति, कृषि उत्पादन में गतिहीनता तथा अर्थव्यवस्था में संवृद्धि की कम आशा की स्थिति का होना। इनके साथ-साथ ही गंभीर मुद्रास्फीति की समस्याएँ भी उठ खड़ी होना।

1991 के मध्य में देश और अर्थव्यवस्था के सम्मुख गंभीर स्थिति थी। भुगतान संतुलन की स्थिति इतनी अधिक खराब हो गई थी तथा विदेशी मुद्रा रिज़र्व इतना कम हो गई थी कि ऋण के भुगतान में चूक की स्थिति आने वाली थी। 1985-1990 के बीच भारतीय अर्थव्यवस्था ने वास्तविक संवृद्धि के रूप में देश के अंदर बहुत ही अच्छा किया था लेकिन राजकोषीय स्थिति बहुत तेजी से खराब हो गई थी। बजट घाटा

तथा समस्त राजकोषीय घाटा में बहुत तेजी से वृद्धि हुई और दूसरी ओर ब्याज के भुगतान में बहुत अधिक वृद्धि हुई। 1970 के दशक के अंत में केंद्र और राज्यों के राजकोषीय घाटे का कुल योग सकल देशीय उत्पाद (GDP) के लगभग 7.5 प्रतिशत था, लेकिन 1991 तक यह बढ़कर लगभग 11 प्रतिशत हो गया। केवल केंद्रीय सरकार का राजकोषीय घाटा 1970 के दशक के अंत में 6% से भी कम था लेकिन इसी अवधि में यह बढ़कर 8.5% हो गया। इसके फलस्वरूप केंद्रीय सरकार के बजट के विभिन्न मदों में से सबसे बड़ी मद ऋण-भुगतान हो गया, अर्थात् 1980-81 में यह GDP का 2 प्रतिशत था परंतु 1990-91 तक यह बढ़कर GDP के लगभग 4 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार 1990 के दशक में देश का राजकोषीय घाटा इतना अधिक हो गया कि वह धारणीय नहीं (unsustainable) था।

28.2.1 आर्थिक सुधारों की आवश्यकता

निम्नलिखित कारणों से सुधार अति आवश्यक थे :

1) भारत की साख-पात्रता के गिर जाने के कारण वाणिज्य ऋण का मिलना कठिन हो गया।

2) कुवेत संकट के बाद पश्चिम एशिया से कोष का प्रवाह बंद हो गया, 1991 के दशक के प्रारंभिक वर्षों में NIR ने अपनी जमा राशि में से बहुत भाग वापस ले लिया तथा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश बहुत ही कम था।

3) सोवियत संघ के विघटन के बाद उसके राज्यों द्वारा विदेशी सहायता की माँग करने तथा संयुक्त राज्य अमेरिका (USA) में देश के अंदर खर्च की माँग बढ़ने के कारण निर्धन देशों को सहायता की रकम दिन प्रतिदिन घटने लगी।

4) समस्त विश्व में पुरानी प्रवृत्तियों के समाप्त होने तथा विश्वव्यापी बाज़ार के आविर्भाव होने के फलस्वरूप भारत के लिए अपनी आर्थिक नीति में सुधार लाने की कार्यवाही करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं रहा।

MADHYAM IAS

फिर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि आर्थिक सुधार केवल इन आर्थिक बाध्यताओं के ही फलस्वरूप हुए। 1980 के दशक से ही समष्टि आर्थिक सुधारों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। परमिट राज की नियंत्रण प्रणाली बदनाम हो चुकी थी। इस प्रकार इस प्रणाली को समाप्त कर देने का समय आ गया था। सभी जानते हैं कि संरचनात्मक समायोजन करना कठिन विकल्प होता है। इस विकल्प को कठिन इसलिए कहा जाता है कि इसके कुछ ऐसे निहितार्थ होते हैं जिन्हें आम जनता पसंद नहीं करती, कम से कम अल्प काल में।

भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए 1991 युग-प्रवर्तक वर्ष था। राजकोषीय और भुगतान संतुलन संकटों से अर्थव्यवस्था को बचाने के लिए दृढ़ कदम उठाए गए। कई दशकों से अर्थव्यवस्था जिन जंजीरों में जकड़ी हुई थी उससे मुक्त कराने के लिए उद्योग, विदेश व्यापार और निवेश के क्षेत्रों में व्यापक बाज़ार उन्मुख सुधार किए गए। आर्थिक सुधार के कई आयाम होते हैं। आमूल सुधार कार्यक्रमों के अंतर्गत आर्थिक प्रणाली के सभी प्रमुख पक्ष आ जाने चाहिए। जून 1991 से भारतीय अर्थव्यवस्था स्थिरीकरण-कार्यक्रम के दौरान से गुजर रही है। आपातिक घटनाओं का सामना करने के लिए यह आघात चिकित्सा (Shock therapy) है। यह कार्यक्रम लघु कालीन है तथा इसे एक-दो वर्षों के अंदर पूरा करना है। इसकी सफलता के लिए निर्णायक परीक्षा है : क्या यह टिकाऊ संवृद्धि के लिए स्थितियों को लाता है? इस संकट ने आवश्यक कर दिया कि व्यापार, उद्योग और वित्त के क्षेत्रकों में अनेक संरचनात्मक परिवर्तन किए जाए जिससे अर्थव्यवस्था में संवृद्धि के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाए।

28.2.2 आर्थिक सुधारों के उद्देश्य

जून 1991 में जब श्री पी.वी. नरसिम्हराव के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी सत्ता में आई तब इसके समक्ष निम्नलिखित दोहरे कार्य थे :

1) राजकोषीय और भुगतान-संतुलन घाटे को कम करके समष्टि-आर्थिक स्थिरता को पुनः लाना, और

2) आर्थिक सुधार की प्रक्रिया को पूरा करना अर्थात् संरचनात्मक समायोजन, जिसे पिछले दस वर्षों में आंशिक और क्रमिक रूप से किया गया है।

इस समय चल रहे आर्थिक सुधारों के जो लक्ष्य घोषित किए गये हैं, वे देखने में क्रांतिकारी लगते हैं। इन सुधारों के लक्ष्य निम्नलिखित को प्राप्त करना है :

1) राजकोषीय, मुद्रा और विनिमय दर की नीतियों द्वारा स्थिरीकरण और समष्टि-आर्थिक संतुलन,

2) अन्य विकासोन्मुख देशों के ही समान उदार व्यापार प्रणाली जिसमें आयात के लिए लाइसेंस की व्यवस्था न हो,

3) ऐसी विनिमय दर प्रणाली जो रुपया को परिवर्तनीय बनाए, कम से कम भुगतान संतुलन के चालू खाता लेन-देनों के लिए,

4) प्रतियोगी वित्तीय प्रणाली सही विनियमों के साथ,

5) अनेक नियंत्रणों के मुक्त उद्योग क्षेत्रक, और

6) स्वायत्ता, प्रतिस्पर्धी और सही सार्वजनिक उद्यम।

इन सभी उपायों का लक्ष्य एक ही है। वह है प्रणाली की कार्यकुशलता में सुधार लाना। अनेक नियंत्रणों वाले विनियम तंत्र ने अर्थव्यवस्था की क्षमता को घटा दिया है, यहाँ तक कि सार्वजनिक क्षेत्रक में परस्पर प्रतियोगिता भी घटा दिया है। आर्थिक सुधारों या नई आर्थिक नीति (NEP) का जोर इस बात पर है कि अर्थव्यवस्था में अधिक प्रतियोगी पर्यावरण बनाया जाए, जिससे प्रणाली की उत्पादिता और कार्यकुशलता में सुधार लाया जा सके। यह कार्य फर्मों के प्रवेश पर लगाएँ अवरोधों और उनकी संवृद्धि पर लगाए गए प्रतिबंधों को दूर करके किया जा सकता है।

MAADHYAM IAS
'way to achieve your dream'

28.3 आर्थिक सुधारों का पैकेज

यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि आर्थिक सुधार पैकेज क्या है तथा उतना ही महत्त्वपूर्ण यह भी जानना है कि वह क्या नहीं है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नीतियों के निम्नलिखित तीन सेटों को मिलाकर आर्थिक सुधारों का पैकेट बनता है (अरुण घोष, 1992):

i) अर्थव्यवस्था का स्थिरीकरण, जिसका अर्थ है समग्र माँग और समग्र पूर्ति में संतुलन कायम करना। इनके बीच असंतुलन के कारण ही 1980 के दशक में केंद्रीय सरकार के बजट में लगातार ही घाटे की स्थिति बनी रही। जिसकी अभिव्यक्ति देश के अंदर बढ़ती हुई मुद्रास्फीति तथा बाहरी देशों को भुगतान में घाटे की स्थिति के रूप में हुई। इस संदर्भ में जो नीतियाँ अपनाई गईं वे बजट और ऋण नीतियों से संबंधित थी।

ii) भारतीय उद्योग को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धी बनाने के प्रयोजन से भारतीय अर्थव्यवस्था की पुनःसंरचना करना। इस संदर्भ में जो नीतियाँ अपनाई गई, वे थीं उद्योग और विदेश व्यापार नीति, वित्तीय संस्थाओं (जिसमें बैंक भी आ जाते हैं) की उधार देने की नीतियाँ, सरकारी व्यय और सार्वजनिक निवेश का स्वरूप, जिसके अंतर्गत आते हैं सार्वजनिक क्षेत्रक से संबंधित नीतियाँ तथा बीमार इकाइयों के संबंध में उठाए गए कदम, सामान्य रूप में आर्थिक सहायता और विशेषतः छोटे-छोटे व्यवसायों और छोटे फार्मों को आर्थिक सहायता।

iii) भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापीकरण, वस्तुओं (उपभोक्ता वस्तुओं सहित) के आयात प्रतिबंधों को हटाना (चरणों में), सीमाशुल्कों को घटाना, विदेशी पूँजी (अल्पकालीन पूँजी सहित) का अंतःप्रवाह

मुक्त रूप से होने देना, सेवा क्षेत्रक (विशेषतः बैंकिंग, बीमा और जहाजरानी के संबंध में) में विदेशी पूँजी का प्रवेश होने देना तथा रुपये की पूर्णतः परिवर्तनीयता।

28.3.1 सुधारों से आशय

डा. अरुण घोष के अनुसार अर्थव्यवस्था के कार्यकलापों और उसकी भविष्य की दिशा के लिए तीन सेटों वाली इस विधि के महत्त्वपूर्ण आशय होते हैं। इनसे अभिप्राय होता है भूतकाल से पूर्णतः संबंध विच्छेद तथा इनसे अनेक मसले उत्पन्न होते हैं जिन्हें नीचे दिया जा रहा है :

क) जो विकास किए जाने हैं उनके स्वरूप की वांछनीयता,
ख) विभिन्न नीतियों के समय तथा उनके क्रम (नीतियों में बार-बार परिवर्तन, जिनके फलस्वरूप भारत की अर्थव्यवस्था में अनिश्चितता की स्थिति आती है),
ग) नीति के विभिन्न पक्षों का सापेक्ष महत्त्व, जहाँ तक उनका संबंध शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार और अर्थव्यवस्था के विश्वव्यापीकरण के प्रावधानों से संबंधित देश के अंदर की प्राथमिकताओं के साथ है,
घ) नीतियों के पैकेज का संभावित परिणाम।

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि स्थिरीकरण नीतियों का प्रयोजन गलतियों को सुधारना और अल्पकाल में अर्थव्यवस्था की आंतरिक स्थिति को ठीक करना है परंतु संरचनात्मक सुधार का उद्देश्य मध्यकाल में आर्थिक संवृद्धि की गति को तेज करना है। संरचनात्मक सुधार की नीतियाँ तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक कि कुछ मात्रा में स्थिरीकरण न किया जाए। लेकिन स्थिरीकरण अपने आप में ही तब तक पर्याप्त नहीं होगा जब तक कि संरचनात्मक सुधार न किए जाएँ, जिससे हाल में बार बार उठ खड़ी समस्याओं का सामना किया जा सके। मोटे तौर पर संरचनात्मक सुधार जिन क्षेत्रों में किए गए, वे थे उद्योग लाइसेंस और विनियमन, विदेश व्यापार और निवेश तथा वित्त क्षेत्रक। जहाँ तक विदेश व्यापार नीति का संबंध है, उसका लक्ष्य यह था कि आयातों के संबंध में प्रणाली को उदार बनाया जाए तथा आयातों और निर्यातों में घनिष्ठ संबंध कायम किया जाए। एक दूसरा उद्देश्य टैरिफ दरों को घटाना है। आयात शुल्कों के संबंध में नीति क्रमिक रही है तथा उच्च लागत वाली अर्थव्यवस्था से बचने के लिए भारत में टैरिफ दरों को क्रमशः घटा दिया गया है। जहाँ तक विदेशी निवेश का संबंध है, नई नीति के उपायों से निश्चित रूप में भूतकाल से संबंध विच्छेद हो जाता है। जहाँ तक रुपये के विनिमय दर अवमूल्यन का संबंध है, एक्जिम स्क्रिप स्कीम, आंशिक विनिमेयता योजना, एकीकृत विनिमय दर तथा आगे चलकर चालू खाने पर पूर्ण विनिमेयता का मुख्य उद्देश्य यह है कि निर्यात की तुलना में आयात बहुत अधिक न हो जाए।

28.4 आर्थिक सुधारों की प्रगति

आर्थिक सुधारों के तत्त्व क्या रहे हैं? यह कार्यक्रम जब से चलाया गया तब से जिन प्रमुख आर्थिक नीति निर्णयों को घोषित किया गया उनकी सूची को दिया जा रहा है :

1) रुपये का अवमूल्यन : दो शीघ्रगामी चरणों में लगभग 19% ।

2) व्यापार नीति में सुधार : निर्यात सहायिकी (export subsidy) को समाप्त कर दिया गया। EXIM स्क्रिम लागू की गई, परंतु बाद में अगस्त 1994 से इसके स्थान पर व्यापार खाते पर रुपये की तथा कथित आंशिक विनिमेयता (40:60 फार्मूला), एकीकृत विनिमय दर तथा चालू खाते पर रुपये की पूर्ण विनिमेयता लागू की गई।

3) मुख्यतः सामरिक महत्त्व की वस्तुओं और खतरनाक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले 6 उद्योगों को छोड़कर अन्य उद्योगों से संबंधित लाइसेंस प्रणाली को समाप्त कर दिया गया।

4) एकाधिकार और विरोधक व्यापारिक व्यवहार (MRTP) अधिनियम के उस पूरे के पूरे अध्याय को समाप्त कर दिया गया जिसका दिखावे के रूप में उद्देश्य था आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण को रोकना।

5) विनिमेयता खंड (Convertibility clause) को समाप्त कर दिया गया। इस खंड की सहायता से सावधि ऋण देने वाली वित्तीय संस्थाएँ अपनी सुविधा अनुसार कीमत और समय पर औद्योगिक ऋणों को ईक्विटी में परिवर्तित कर देती थीं।

6) विदेशी निजी निवेश के लिए नियमों और विधियों में बहुत अधिक उदारीकरण। अधिकतर उद्योगों में 50% ईक्विटी सहभागिता की मंजूरी देने के लिए विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम (FERA) को उदार बनाया गया। FERA के स्थान पर अब विदेशी मुद्रा प्रबंध अधिनियम (FEMA) बनाया गया है।

7) सार्वजनिक क्षेत्रक के अनन्य आधिपत्य में कमी कर दी गई है। अब केवल पाँच उद्योग (रक्षा से संबंधित उद्योग, ऐटोमिक एनर्जी, खनिज तेल और खनन) ही सुरक्षित रखे गए हैं। परंतु निजी क्षेत्रक इन उद्योगों के संबंध में आवेदन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त लाभ कमाने वाले कुछ सार्वजनिक उद्यमों में आंशिक रूप से निजीकरण किया जाने लगा है। इस प्रकार (i) सार्वजनिक क्षेत्रक को सामरिक, हाई-टैक एवं अनिवार्य आधारिक संरचनाओं तक सीमित किया जा रहा है, (ii) सार्वजनिक क्षेत्रक के बीमार उद्यमों के मामलों को BIFR को सौंपा जाना, (iii) सार्वजनिक क्षेत्रक के उद्यमों (PSUs) के शेयर धारण (shareholding) के एक भाग का विनिवेश करना (iv) MOU प्रपत्र द्वारा PSU को अधिक स्वायत्तता देना, तथा (v) बीमार इकाइयों को बंद किए जाने या PSU में कर्मचारियों को विवेकपूर्ण ढंग से काम पर लगाने के फलस्वरूप कर्मचारियों की यदि छँटनी होती है तो उनके हित में उचित कार्य करना।

8) काले धन की समस्या की जड़ पर ही धावा बोला जाने लगा। कुछ उपाय तो काले धन के अर्जन (प्रवाह) पर रोक लगाने के संबंध में किए गए तथा कुछ अर्जित काले धन (स्टॉक) को उत्पादन कार्य के लिए सरकारी अधिकार में लेने के संबंध में किए गए।

MAADHYAM IAS

9) राजकोषीय नीति सुधार : इन सुधारों ने (क) सरकारी व्ययों में कटौती करने का निर्णय लिया, (ख) व्यक्तिगत आय करों, कंपनी करों, उत्पादन शुल्कों और सीमा शुल्कों की दरों को कम किया तथा उनका सरलीकरण किया।

10) अब तक शुरू किए गए वित्तीय क्षेत्रक सुधार निम्नलिखित है :

   क) निजी क्षेत्रक में म्युचुअल फंड की मंजूरी दे दी गई,
   ख) वैधानिक तरलता अनुपात (SLR) को कम कर दिया गया और बहुत ही अधिक कम किया गया, बैंकिंग क्षेत्रक को निजी क्षेत्रक के लिए खोल दिया गया तथा शीघ्र ही बीमा क्षेत्रक में भी निजी क्षेत्रक के प्रवेश की अनुमति दी जाएगी।

11) स्टील उद्योग पर विनियमन को हटा दिया गया।

12) लघु उद्योगों और बहुत ही छोटे उद्यमों में बनी वस्तुओं के संबंध में नीति घोषणा।

13) स्वर्ण-नीति में सुधार : बैगेज नियमों के अधीन सोना का आयात करने की मंजूरी।

14) आयात संबंधी सूची को कम करना। अब बहुत थोड़ी सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके आयात की अनुमति नहीं है।

फिर भी ध्यान देने की बात यह है कि प्रक्रिया अभी तक पूरी नहीं हुई है। जो कार्य अब तक नहीं किए जा सके हैं वे अनेक हैं तथा उन्हें तीन व्यापक श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, वे हैं : (i) अब

तक जो कुछ भी किया गया है वह अभी शुरुआत मात्र है। इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाना है और उपर्युक्त क्षेत्रों में उन्हें और सशक्त करना है, (ii) ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिन्हें अभी तक स्पर्श तक नहीं किया गया और (iii) इन सुधारों की शुरुआत करने के बाद कुछ ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जिनके संबंध में कल्पना भी नहीं की गई थी। उनके संबंध में विचार करने और उनका समाधान करने की आवश्यकता है।

कुल मिलाकर हम देखते हैं कि 1960 और 1970 के दशकों के लाइसेंस परमिट राज की तुलना में उपर्युक्त पैकेज नीति-चिंतन के संबंध में पूर्ण परिवर्तन है। 1970 और 1980 के दशकों में नियंत्रणों को कम करने के संबंध में कुछ उपाय तो किए गए लेकिन इस समय जो कुछ किया जा रहा है उसकी तुलना में वे कुछ भी नहीं थे। एक के बाद दूसरे नीति-वक्तव्यों को सरकार ने इतनी शीघ्रता से घोषित करना ज़ारी रखा कि उससे भारतीय घटनाओं के प्रेक्षक बहुत ही प्रभावित हुए। निर्णयों को लेने में तीव्रता सचमुच ही अद्‌भुत थी। लेकिन सुधारों के मूल लक्ष्यों के अंतर्गत जो प्राप्त करना आवश्यक होता है उसके परिप्रेक्ष्य में यदि हम संबंधित नीतियों का परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि नीति निर्णयों का रिकार्ड बहुत प्रभावशाली नहीं रहा। अब तक जो कुछ हुआ है वह अच्छी शुरुआत मात्र है, फिर भी अभी बहुत कुछ करना बाकी है। किए जाने वाले कार्यों की सूची बहुत लंबी है।

बोध प्रश्न 1

1) जून 1990 में अर्थव्यवस्था को जिन चार समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनके संबंध में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

MAADHYAM IAS

2) भारत में आर्थिक सुधारों को अपनाने के कारण क्या थे?

.....

.....

.....

.....

.....

3) आर्थिक सुधार पैकेज से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

भारत में आर्थिक सुधारों की प्रगति का परीक्षण कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

28.5 आर्थिक सुधार और सामाजिक न्याय

प्रमुख विचारणीय विषय यह नहीं है कि आर्थिक सुधारों के उपाय गरीबों के विरोध में हैं या नहीं, बल्कि यह है कि क्या वे वास्तव में गरीबों के हित में हैं। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि क्या आर्थिक सुधारों में स्पष्ट रूप से न्याय संगति (equity) का आयाम है। वास्तविकता तो यह है कि नौकरी से छँटनी किए गए श्रमिकों के लिए बनाए गए राष्ट्रीय नवीकरण कोष (NRF) सहित सामाजिक क्षेत्र में खर्च की जाने वाली नीतियों को 'सेफ्टी नेट' कहा जाता है अतः ऐसी नीतियों से आशय होता है ईक्विटी हानियों की प्रतिपूर्ति करना। यह आवश्यक नहीं कि इनके फलस्वरूप आय की वर्तमान संरचना और देश में असमानता की स्थिति में सुधार हो।

ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें सरकार की ओर से हस्तक्षेप विशेषतः इसलिए आवश्यक होता है कि यह सुनिश्चित किया जा सके कि कार्यकुशलता के लाभ के साथ-साथ आर्थिक सुधार के उपायों का साम्या (equity) पर भी सकारात्मक प्रभाव पड़े। ये क्षेत्र निम्नलिखित हैं : (i) रोज़गार, (ii) भोजन की सुरक्षा, (iii) स्वास्थ्य, (iv) शिक्षा, (v) प्रौद्योगिकी तथा (vi) पर्यावरण/साम्या आर्थिक सुधार उपायों का स्पष्ट लक्ष्य तो नहीं है, फिर भी यह आवश्यक है कि ऐसा हो। इसके साथ ही साथ भारत के संदर्भ में साम्या के अर्थ की स्पष्ट परिभाषा भी विकसित की जानी चाहिए।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि सुधार के कार्यों के सामाजिक प्रभाव का आकलन करते समय हानियों (equity losses) के रूप में सुधार कार्यों की 'संक्रमण लागतों' तथा वर्तमान आर्थिक प्रणाली की असमान स्वरूप के फलस्वरूप भूतपूर्व सामान्य हानियों के बीच अंतर करना आवश्यक होता है। परंतु वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था के असमतावादी परिणामों और आर्थिक सुधार संबंधी उपायों के विशिष्ट उत्पाद के बीच भ्रम नहीं होना चाहिए।

अधिक साम्या के लिए सरकारी सहायता की माप करते समय केवल बजट आबंटन के संबंध में ही विचार करना सही नहीं होगा, बल्कि संसाधन आबंटन की रक्षता के संबंध में भी विचार करना होगा। इस संबंध में प्रश्न यह उठेगा कि यदि राजकोषीय स्थिरीकरण के कारण कुल आबंटन में कमी की जाती है तो क्या वर्तमान संसाधनों के भलीभाँति उपयोग में सामाजिक सुधारों से मदद मिलेगी?

आर्थिक सुधार कार्यों का अर्थ यह नहीं है कि अर्थव्यवस्था और समाज के सभी क्षेत्रों से सरकार अपना हाथ खींच ले। कुछ क्षेत्रों में सरकारी हस्तक्षेप/सहायता की कम आवश्यकता होगी लेकिन स्वास्थ्य, शिक्षा और समाज-कल्याण जैसे क्षेत्रों में सरकार को बहुत कुछ करना होगा।

शिक्षा, स्वास्थ्य और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के संबंध में अधिक जोर इस बात पर है कि इन सेवाओं का प्रावधान करना अभी भी महत्त्वपूर्ण है तथा सार्वजनिक क्षेत्रक में इन सेवाओं की गुणवत्ता का सुधार करने के संबंध में पर्याप्त रूप से ध्यान नहीं दिया जा रहा है। इसके विपरीत इन सेवाओं के क्षेत्र में बढ़ते हुए निजीकरण के फलस्वरूप दोहरे प्रकार का ढाँचा बन गया है, जिसमें अधिक मूल्य अधिक गुणवत्ता वाला निजी क्षेत्रक बढ़ता जा रहा है जबकि कम मूल्य कम गुणवत्ता वाले सार्वजनिक क्षेत्रक में गतिरोध की स्थिति आ गई है। यदि सरकार अधिक धन का निवेश नहीं करती है तथा इन सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार नहीं लाती है तो समाज पर बुरा असर पड़ेगा और राष्ट्र को क्षति होगी।

यदि वित्तीय आबंटन सार्वजनिक सहायता की माप नहीं है, तो इस बात का भी कोई प्रमाण भी नहीं है कि संसाधनों के उपयोग के संबंध में सरकार पहले की अपेक्षा अधिक वचनबद्ध है। इसलिए इस समय

सरकार के सम्मुख वास्तविक चुनौती यह नहीं है कि वह सामाजिक क्षेत्रकों में अपनी भूमिका को कम कर दे बल्कि यह है कि वह जनता की आवश्यकताओं के अनुरूप अधिक कार्य करे।

आर्थिक सुधार के लिए लोकप्रिय आधार तभी बनेगा जबकि आम जनता यह महसूस करे कि उनके जीवन स्तर में सुधार हो रहा है। विनियमन को हटाना, नौकरशाही को समाप्त करना, विनियंत्रण, विनिवेश आदि ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा सरकार जनता के आर्थिक जीवन से अपने संबंधों को कम करती है। व्यवसाय-समाज तो यही चाहता है, लेकिन जनता तो चाहती है कि सरकार अपने कार्यक्षेत्र में कमी न करे बल्कि वह अपने कार्यों को अधिक कुशल और मानवोचित बनाए। क्योंकि सरकार की ओर से कम कार्य सरकार की ओर से अच्छे कार्य का स्थान नहीं ले सकता। (संजय वारू, 1993)

प्रो. वी.एस. व्यास ने केंद्रीय सरकार को आगाह किया है कि घाटे को कम करने के लिए वह शिक्षा, स्वास्थ्य, आधारिक संरचना तथा मानव संसाधन विकास जैसे क्षेत्रकों पर बिना सोचे समझे सरकारी खर्चों को कम न करे। घाटे को कम करने के जोश में विकास के लिए महत्वपूर्ण खर्चों को कम करना उचित नहीं है। राजकोषीय समायोजन और आर्थिक सुधार केवल ड्राइंग रूम में विचार-विमर्श के विषय नहीं हैं। संक्रमण की अवधि में आर्थिक अव्यवस्था से गरीब लोगों पर भार पड़ता है, जिसमें समायोजन की आवश्यकता है। सामाजिक सुरक्षा के उपायों के संबंध में हम कुछ भी कहें, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस कार्य के लिए हमारे पास संसाधन नहीं हैं, इतना कहना मात्र पर्याप्त नहीं है कि समायोजन के भार का वहन सम्पन्न लोगों और मध्यम वर्ग को करना होगा। ऐसा इसलिए कि समाज के सम्पन्न लोगों की आय इतनी अधिक है कि वे संरचनात्मक समायोजन के भार से अपनी रक्षा कर सकते हैं।

28.5.1 मानवीय चेहरे के साथ सुधारों की आवश्यकता

तकलीफ सहे बिना समायोजन नहीं हो सकता, फिर भी संक्रमण को सामाजिक लागतों को कम करने के लिए जो कुछ संभव हो सके वह करना चाहिए, विशेषतः गरीबों पर पड़ने वाले भार को कम करने के लिए पूर्ति पक्ष की पुनः संरचना से, जो संरचनात्मक सुधारों के बाद में आती है, श्रमिकों पर अवश्य ही भार पड़ेगा। ऐसी स्थिति में **'मानवीय चेहरे के साथ समायोजन'** मुहाबिरु निरर्थक और भ्रांतिजनक बन जाएगा। (दीपक नायर, 1992)

इस संदर्भ में हम निम्नलिखित विचार से सहमत हो सकते हैं :

सुदृढ़ समष्टि-आर्थिक नीतियों का समुचित सामाजिक लक्ष्यों तथा संवृद्धि पर दीर्घकालीन बाधाओं को दूर करने के साथ तालमेल बैठाना होगा। ऐसे तालमेल के लिए कोई सरल मार्ग तो नहीं है, फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि नीतियों, जनमत और राजनैतिक व्यवहार को आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। सचाई तो यह है कि इन सभी में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। (आई.जी. पटेल)

नीति निर्धारकों को इस बात की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि भारत के साथ किए गए किसी भी प्रकार के प्रयोग (वह कितने भी भले इरादे से किया गया हो) में 100 करोड़ लोगों के कल्याण को ध्यान में रखना चाहिए, केवल 20% ऊपर के तबके के लोगों के ही कल्याण को नहीं, जो पश्चिम के बाज़ार की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं, इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में यदि उच्च कोटि की प्रौद्योगिकी आ जाती है तो उद्योग प्रणाली के दर्जे को ऊँचा उठा दिया जाता है और निर्यात में बढ़ोत्तरी हो जाती है। परंतु यदि देश में गरीबी की रेखा से नीचे के लोगों की हालत में सुधार नहीं होता तो आर्थिक सुधार के कार्यक्रम को सफल नहीं माना जा सकता। विश्वव्यापीकरण की संकल्पना में गरीबों के लिए कोई प्रावधान नहीं है, यदि उनकी सुरक्षा के उपाय न किए जाएँ।

भारत में संरचनात्मक समायोजन के मानवीय चेहरे और राजकोषीय स्थिरीकरण का अनुमान लगाते समय हम पूछ सकते हैं कि हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GDP) में खाद्य सहायिकी (food subsidy) का अंश क्या है? यह GDP के 1% से ऊपर है। ऐसी स्थिति में इसके संबंध में हम चिंता क्यों करें, जब हमारी

जनसंख्या का 40% गरीबी की रेखा के नीचे है? खाद्य सहायिकी में हेरफेर न करें बल्कि उसे और अच्छा बनाएँ। सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) द्वारा लोगों को उचित कीमतों पर खाद्यानों की पूर्ति करनी चाहिए, ऐसा विशेषतः इसलिए कि भारत में PDS की निर्गम कीमतों के साथ मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों का गहरा संबंध होता है।

डॉ. वी.एस. व्यास ने PDS के प्रति सरकार के रुख में असंगतता के प्रति ध्यान आकर्षित किया है। एक ओर तो वह PDS द्वारा गरीबों की मदद करना चाहती है परंतु दूसरी ओर खाद्यानों की कीमतों को बढ़ा रही है। कीमत वृद्धि के मुद्रास्फीति प्रभाव से डॉ. व्यास चिंतित हैं और उनका कहना है कि "अधिक साहसपूर्ण और वांछनीय कदम होगा आगतों पर सहायिकी को कम करना। राजकोषीय घाटे को कम करने के प्रयास में सरकार सामाजिक परिणामों के प्रति उदासीन होती जा रही है।" ऐसा करना मुद्रास्फीति की दर को एक सीमा के नीचे रखने की सरकार की इच्छा के विपरीत है। खाद्यान्नों की कीमतों को बढ़ाने के कुछ प्रयोजनों की पूर्ति तभी हो सकती है जब सरकार राजकोषीय अनुशासन को गंभीरता से ले तथा वह आयगत व्ययों पर कड़ाई से रोक लगाए। यदि अनुत्पादक सरकारी व्ययों को कम नहीं किया जाता तो इसका मुद्रास्फीति पर प्रभाव पड़ सकता है। खाद्य पदार्थों की कीमतें अत्यंत संवेदनशील विषय हैं और इतिहास इस बात का गवाह है कि इन कीमतों को बढ़ाकर स्थिरीकरण और समायोजन कार्यक्रमों को बदनाम किया गया है।

यह घोषित करके कि जनजाति क्षेत्रों और कुछ अन्य पिछड़े हुए क्षेत्रों में खाद्यान्नों को सस्ते दाम पर बेचा जाएगा, सरकार ने PDS द्वारा गरीबों की मदद करने का प्रयास किया है। नगरीय क्षेत्रों के संपन्न वर्ग के लोगों को वह PDS से वंचित कर सकती है, जिसका अर्थशास्त्री समर्थन करते हैं लेकिन सभी पक्ष के राजनीतिज्ञ विरोध करते हैं। देखना यह है कि क्या सरकार अपने इस प्रयास में सफल हो पाती है या यह प्रयास भ्रष्टाचार आदि के चपेट में आ जाता है। गरीबों का यदि सचमुच कल्याण करना है PDS बास्केट के स्वरूप को बदलना होगा। चीनी तथा खाद्य तेलों जैसे उच्च कोटि के खाद्य पदार्थों को PDS द्वारा सहायिकी देने का कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। अच्छा तो यह होगा कि पिछड़े हुए में वितरण किए जाने वाले खाद्यान्नों का बहुत बड़ा भाग मोटा अनाज हो। चूँकि सम्पन्न लोग ऐसे खाद्यान्नों को पसंद नहीं करते अतः वितरण में भ्रष्टाचार कम होगा। गरीबों की मदद करने का एक दूसरा साधन है कम मजदूरी पर ग्रामीण रोज़गार कार्यक्रमों को चलाना, जिसमें वे ही लोग काम करने जाएँगे जिन्हें सचमुच ही रोज़गार की आवश्यकता है।

राजकोषीय समायोजन, जिसका लक्ष्य सरकार की आय और व्यय के बीच के बहुत बड़े अंतर को कम करना था, व्यापक आर्थिक स्थिरीकरण कार्यक्रम का केंद्र था।

प्रोफेसर दीपक नायर के अनुसार समायोजन की गुणवत्ता बहुत अच्छी नहीं है। इसके तीन कारण हैं : (क) राजकोषीय संकट का यह सही समाधान नहीं है, (ख) आर्थिक संवृद्धि में यह बाधक सिद्ध हो सकता है और (ग) समायोजन असमान रूप में हो सकता है। ऐसे समय में जब व्यय-समायोजन के द्वारा हम गरीबों पर बहुत बड़ा भार डाल रहे हैं, साम्या के सिद्धांत (equity principle) की माँग है कि धनी और सम्पन्न तबके के लिए प्रत्यक्ष करों को चुकाकर गरीबों के भार को कम करें।

इस प्रकार, जैसा कि प्रोफेसर दीपक नायर ने लिखा है, ऐसा लगता है कि बजटों में किए गए राजकोषीय प्रावधान में यह बताने पर ध्यान नहीं दिया गया कि समायोजन क्यों करना पड़ा। बजट बनाने वाले वास्तविकता के बजाए रूप के और गुणवत्ता के बजाए मात्रा के संबंध में अधिक चिंतित थे। इसके अतिरिक्त समायोजन का प्रभाव प्रतिगामी रहा है। 1980 के दशक में सरकार और जनता को ऐसे दौर से गुजरना पड़ा जब साधन बहुत ही कम थे। ऐसी अपव्ययिता के समय में सम्पन्न लोगों ने बहुत ही लाभ उठाया। परंतु आज उन्हें समायोजन का भार नहीं उठाना पड़ रहा है जबकि गरीब लोग ये भार उठा रहे हैं।

प्रो. ए.एम. खुसरो का मत है कि नई नीति का प्रभाव केवल सम्भ्रांत उद्योग और वाणिज्य समाज पर पड़ा है। ये हैं– आयातकर्ता, निर्यातकर्ता, व्यापारी, कुछ विनिर्माता और अनिवासी भारतीय (NIR)। इस नीति

के संबंध में तर्क यह दिया जाता है कि इन तत्वों को यदि पूरी आज़ादी दे दी जाए तथा वे सुधरी हुई कार्यकुशलता के साथ प्रतियोगी उत्पादन करने लगें तो विभिन्न क्षेत्रकों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि होगी। बढ़े हुए उत्पादन के लिए अधिक श्रमशक्ति की आवश्यकता होगी तथा उत्पादन और पूर्ति में सुधार होने के फलस्वरूप मुद्रास्फीति पर रोक लगेगी, जिससे आम जनता को लाभ होगा। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि इस नीति को कार्यान्वित नहीं किया जाता है तो समय के साथ-साथ उत्पादन और रोजगार की मात्रा में कमी होती जाएगी। अंततः आम जनता इस नीति के संबंध में अपना निर्णय रोजगार, कीमतों, उत्पादित वस्तुओं की उपलब्धता तथा मुद्रास्फीति की दर में गिरावट पर इसके प्रभाव के आधार पर देगी। लेकिन यह सब इस बात पर निर्भर करेगा कि कार्यान्वयन का प्रथम चरण सफल हो पाता है ग नहीं। यही कारण है कि अधिक महत्त्वपूर्ण बात नीतियों को कार्यान्वित करना है।

बोध प्रश्न 2

1) 'सामाजिक चेहरे के साथ समायोजन' से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

2) सुरक्षा के उपायों (safety net) से आप क्या समझते हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

3) इस समय चल रहे आर्थिक सुधार के कार्यक्रमों में सार्वजनिक वितरण प्रणाली (PDS) की भूमिका का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

28.6 सारांश

सुधार का कार्य चुनौतीपूर्ण होता है। सुधार के प्रति प्रतिबद्धता के साथ-साथ गरीबी को दूर करने के संबंध में भी ध्यान देना चाहिए। परिवर्तन की प्रक्रिया के परिणामों का सामना करने के लिए सुरक्षा के उपाय किए गए हैं। हमारे सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में सन्निहित सामाजिक नीति की आवश्यकताओं के अनुसार की हालतों में सुधार पर जोर दिया गया है। योजना की प्रक्रिया में इसे शामिल करना होगा। अतः यह उचित है कि बाज़ार की प्रक्रिया यदि योजना की प्रक्रिया को विरूपित करती हैं तो सरकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह सुविधावंचित लोगों की मदद करे। यदि बाज़ार का उल्लंघन नहीं किया जाता बल्कि उसकी

विकृतियों को दूर करने का प्रयास किया जाता है तो समता के साथ-साथ संवृद्धि के सामाजिक लक्ष्यों को कायम रखा जा सकता है। सुधार की प्रक्रिया को इसी आधार पर बनाए रखा जा सकता है।

जहाँ तक मानवीय चेहरे के साथ-साथ आर्थिक सुधार का प्रश्न है, इस संबंध में जो प्रगति हुई है वह लक्ष्य के अनुरूप नहीं है। उदारीकरण के नौ वर्षों बाद भी जनसंख्या का बहुत बड़ा भाग विकास में हुई प्रगति से वंचित है। अभी तक स्पष्ट संकेत नहीं मिल पाया है कि मानवीय चेहरे के संबंध में उदारीकरण के लक्ष्यों की पूर्ति कहाँ तक हो पाई है। इस संबंध में मात्रात्मक लक्ष्यों की तुलना करना संभव नहीं है क्योंकि आर्थिक सुधार के उपाय इसकी गति की दिशा बताते हैं, स्पष्ट लक्ष्य को नहीं। मानवीय चेहरे की ओर सुधार की गति बहुत धीमी है। सुधार के उपायों के ढाँचे के अंतर्गत पुनः वितरण प्रणाली को शामिल करने की आवश्यकता है।

दीर्घकालीन युक्तियों के लिए निम्नलिखित सात मुद्दों पर राष्ट्र का ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है : (i) बचत की दर में तेजी से वृद्धि, विशेषतः सार्वजनिक क्षेत्रक और निजी कंपनी क्षेत्रक की बचत दर में, (ii) निर्यात में तेजी से वृद्धि को राष्ट्र का आर्थिक प्रयास बनाना, (iii) अधिक निर्यात करने के संबंध में ध्यान देना, (iv) कर वसूल करने की बेहतर प्रणाली, (v) सामाजिक न्याय की ओर अधिक ध्यान देना, (vi) आधुनिकीकरण की पारिस्थितिक लागत पर ध्यान दिए बिना पर्यावरणी आर्थिक संवृद्धि पर अधिक ध्यान नहीं दिया जा सकता, और (vii) गाँवों का विकास करना जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि और उद्योग क्षेत्रकों में रोज़गार के अवसर पैदा हों। इससे ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पन्नता आएगी तथा नगरों में भीड़-भाड़ कम होगी।

28.7 शब्दावली

अवमूल्यन **(Devaluation)** : दो मुद्राओं के बीच के नियत विनिमय दर का गिरना।

मूल्यओस **(Depreciation)** : ऐसी स्थिति जिसमें पूर्ति और/या माँग की शक्तियों में परिवर्तन के फलस्वरूप अन्य मुद्राओं की तुलना में किसी मुद्रा का मूल्य गिर जाता है।

विनिमेयता **(Convertibility)** : मुद्रा का एक गुण जिसके अनुसार उसे किसी अन्य मुद्रा या सोना के रूप में मुक्त रूप से बदला जा सकता है।

व्यापार स्थिति **(Terms of Trade)** : निर्यातों की कीमतों और आयातों की कीमतों के बीच का संबंध।

घाटा **(Deficit)** : ऐसी स्थिति जिसमें चालू आधार पर आय से व्यय अधिक होता है या किसी विशेष समय बिंदु पर परिसंपत्तियों से देयताएँ अधिक होती हैं।

28.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

Baru, Sanjay (1993) : "NEP: The Equity Dimension", *The Economic Times*, March 25.

Chona, Jag M. (1992) : "Adjustment: Contours of the Human Face", *The Economic Times*, March 23-24.

Datta, Bhabatosh (1992) : "Alternative Strategy: The Basic Issues", *Business Standard*, August 26.

Datt, Ruddar (1993) : "Impact of New Economic Policy", *Financial Express,* January 27.

_____ (2000) : *Indian Economy* (Chapter-13), S. Chand & Co. Ltd., New Delhi.

Ghosh, Arun (1992) : "Self-reliance, Recent Economic Policies and Neo-Colonialism", *Economic and Political Weekly*, April 25.

Government of India (1993) : Economic Reforms: Two years After and the Task Ahead.

Khusro, A.M. (1991) : Old order changeth yielding place to New, First VKRV Rao Memorial Lecture delivered at the 74th Annual Conference of the Indian Economic Association at Anantapur (AP), December, 28.

Nayyar, Deepak (1992) : "Perceptions (interview column)", *The Economic Times,* February 18 and 25.

_____ : "(1994), Fiscal Adjustment: Why and For Whom?" *Times of India,* February 27.

Patel, I.G. (1991) : "New Economic Policies: A Historical Perspective", *IIM-B Foundation Day Lecture 1991,* Bangalore, October 21.

Sen, Chiranjib (1998) : "The Budget, Government Style and Sustainability of Economic Reforms in India", *Economic and Political Weekly*, November 7.

Singh, Ajit Kumar (1993) : "Social Consequences of New Economics Policies", *Economic and Political Weekly*, February 13.

Vyas V.S. (1993) : "New Economic Policy and Vulnerable Sections- Rationale for Public Intervention", *Economic and Political Weekly*, March 6.

MAADHYAM IAS

28.9 बोध प्रश्नों के उत्तर अथवा दिशा-संकेत

बोध प्रश्न 1

1) भाग 28.2 देखें।

2) उपभाग 28.2.1 देखें।

3) भाग 28.3 देखें।

4) भाग 5.4 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 28.5 देखें।

2) भाग 28.5 देखें।

3) भाग 28.5 देखें।